❑
प्रथम सस्करण १९९५ ई , वि स २०५२, वीर स २५२१

❑
सम्पादक

शान्ति चन्द्र मेहता
'महत्ता सदन', ए-४ कुभानगर, चित्तौड़गढ़ (राज.)

❑
प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ
बीकानेर ३३४००५

❑
मूल्य ७० रुपये मात्र

❑
आवरण कानसिह सोलकी

❑
मुद्रक

साखला प्रिण्टर्स
सुगन निवास, चन्दन सागर
बीकानेर ३३४००१

प्रस्तावना

यह पुस्तक जैन आम्नगम के सम्मान्य एव पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा. के राणावास प्रवचनो पर आधारित तथा श्री शातिचन्द्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन मे जैन दर्शन एव अध्यात्म साधना के समग्र सूत्र समाहित है। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचाराग के वाक्यो को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एव चिरतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधको के लिए एक सजीवनी है जिसमे समता-योग एव ध्यान की क्रमागत एव सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्राजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एव दिशादर्शक है और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एव आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश हैं। इस आकलन की एक अपूर्व एव अनुपम विशेषता यह भी है कि यहा किसी अन्य पुरुष को सबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्वो का मात्र बौद्धिक विवेचन नही किया गया है अपितु आचाराग की भाति ही प्रथम-पुरुष मे ही हर अध्याय का प्रारभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चितन से इतना क्रमागत एव गुफित है कि यह ग्रथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष मे अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नही, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिको के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एव पथ-बधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खडन-मडन नही है। जैन दर्शन एव सिद्धात का कोई भी सूत्र अविवेचित नही रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्म्य से ऊर्ध्वारोहण कर अनत-चेतन स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक सकीर्ण स्वार्थों से सचालित तथाकथित प्रगति एव मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओं, अध-परपराओं, साम्प्रदायिक मताग्रहो, सामाजिक कुरीतियो का समीक्षण और इनके दुष्प्रभावो मे मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए यहा समस्त गुणस्थानो, सवर-निर्जरा एव तप के समस्त भेद-प्रभेदो एव ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियो का विवेचन उपलब्ध है। सक्षेप मे यह पुस्तक सप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एवं साधना के सूत्रों का सक्षिप्त एव सुगम सार सत्य है।

कलकत्ता
दिनाक २६ ५.९५

डॉ भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

सम्पादकीय

आचार्य श्री नानेश द्वारा उपदेशित एव मेरे द्वारा सम्पादित ग्रथ 'आत्मसमीक्षण' का देर से ही सही, प्रकाशन हो रहा है—यह अतीव हर्ष का विषय है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य की महानता आत्म-चिन्तन से ही जन्म लेती है। आत्मा अपने कार्यों तथा कर्मों की कर्त्ता तो होती ही है, किन्तु जब तक उसके मूल स्वरूप की अतल गहराइयो से गभीर चिन्तन नही फूटता, तब तक उसकी वृत्तियॉ एव प्रवृत्तियॉ सम्यक् ज्ञान एव विवेक के समीप भी नही पहुँचती। इनका प्रादुर्भाव चिन्तन के प्रारम्भ के साथ ही होता है और ज्यो ज्यो चिन्तन की सूक्ष्मता बढ़ती जाती है, आत्मा की आन्तरिक आखे खुलती जाती है। तब आत्मा कर्त्ता के साथ ही अपनी विज्ञाता और द्रष्टा भी बनती है।

आत्मा का विज्ञाता एव द्रष्टा भाव ही उसकी जागृति का परिचायक होता है। आत्मा जब पल-पल अपने स्वरूप, क्रिया-कलापो तथा गति-क्रमो को देखती और समझती रहती है, तब वह पूर्ण जागरूक हो जाती है—सावधान रहती है कि किसी भी पल, किसी भी कदम पर उसके द्वारा ऐसा कोई विचार, उच्चार या कार्य न हो जो किसी भी प्राणी का किचित् मात्र भी अहित करता हो अथवा स्वय अपनी ही विकास गति मे बाधा डालता हो। ऐसे ही आत्म-जागृति स्व-पर कल्याण की उत्प्रेरक बनती है।

प्रस्तुत ग्रंथ ग्यारह अध्यायो मे विभाजित किया गया है, जिसके प्रथम और अन्तिम अध्याय को प्रारभिक तथा उपसहारात्मक बना कर बीच के नौ अध्यायो मे इसी उत्कृष्ट आत्म चिन्तन के प्रतीक नौ सूत्रो का भावपूर्ण विश्लेषण दिया गया है कि ऐसा ही आत्म चिन्तन प्रबुद्धता को प्राप्त होता हुआ 'आत्मसमीक्षण' का स्वरूप ग्रहण करे। चिन्तन उत्प्रेरक होता है तो समीक्षण उपलब्धि। सरलार्थ मे समान रूप से निरन्तर अपने आपको देखते और समझते रहने की प्रक्रिया को समीक्षण कहा जा सकता है। समीक्षण के फलस्वरूप ही आत्मा अपने श्रेष्ठ पराक्रम के लिए सन्नद्ध बनती है। समीक्षण के सतत अभ्यास के उपरान्त आत्मा का यह स्वभाव हो जाता है कि वह निरन्तर जागरूक रहे और परमात्म पद तक गति करने का सत्प्रयास करे। उक्त नौ सूत्रो के शीर्षक मात्र से, मेरा विश्वास है कि पाठक अपनी आन्तरिकता के प्रति उन्मुख होगे एव इस ग्रन्थ को पूरा पढ़ने, निरन्तर पढ़ते रहने तथा मनन करते रहने के अपने सकल्प को स्थिर कर सकेगे।

सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्तम पुरुष मे लिखा गया है ताकि आरम्भ से अन्त तक पाठक सारी विषय-वस्तु को निजात्मा पर आरोपित करता हुआ चले और स्वाभाविक रूप से आत्म चिन्तन के प्रवाह मे बहने लगे। कौन जाने, किसका चिन्तन प्रवाह उसे गहराई तक डुबोता हुआ आत्मविभोर बना दे। वस्तुत इस ग्रन्थ रचना का यही सार्थक लक्ष्य है।

आचार्य नानेश मात्र एक साधक ही नही, वल्कि अपने आप मे विकसित चेतना एव उदात्त साधना के एक प्रतीक बन गये है, अत उनके उपदेश से निसृत प्रत्येक शब्द अपने गूढ़ार्थ के साथ आत्म-सचेतक बन जाता है। इस ग्रन्थ मे उनका यही प्रभावोत्पादक प्रकाशमान स्वरूप गुफित है जो पाठको को प्रभावित करेगा कि वे इन प्रकाश-कणो को आत्मसात् करे एव अपने जीवन को 'ज्ञान-क्रियाभ्या मोक्ष ' के पथ पर गतिमान वनावे। मै अपने सम्पादन को भी इसी दृष्टि से सफल मानना चाहता हूँ।

आचार्य श्री के उपदेश किसी भी प्रकार की विसगति अथवा भूल से ऊपर उठे हुए होते है। अत इस ग्रन्थ मे जहाँ कही कोई विसगति अथवा भूल दृष्टि या प्रतीति मे भी आवे तो उसका दायित्व मेरा अपना है और उसके लिए मै अग्रिम रूप से क्षमाप्रार्थी हूँ।

—शान्ति चन्द्र मेहता
'महत्ता सदन'
ए-४, कुमानगर,
चित्तौड़गढ़ ३१२००१ (राज.)

महावीर जयन्ती
१३ अप्रैल १९९५

प्रकाशकीय

भारतीय सस्कृति की प्राणी-करुणा से ओतप्रोत जीवनधारा की अमल, अमर प्रवाहयात्रा का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रमण सस्कृति मे साधुमार्ग का विशिष्ट महत्त्व है। साधुमार्गी परम्परा ने गुणपूजा के पवित्र भावो से समाज को प्रभावित करते हुए उत्कृष्ट पथ का दिशा-निर्देश किया है। जीवन-व्यवहारो को आत्मसयम से निर्देशित कर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हेतु मानव-मात्र को दिशाबोध प्रदान करने वाली श्रमण सस्कृति की प्रतिनिधि धारा साधुमार्ग मे ज्योतिर्धर, क्रातदर्शी और शातक्राति के सूत्रधारो आचार्यों की ज्योतित रत्नमालिका मे वर्तमान शासन नायक जिन शासन प्रद्योतक, समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, परमपूज्य आचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री नानालाल जी म सा. अद्भुत प्रतिभा और मेधा के धनी तथा आदर्श सगठन कौशल के साकार रूप है।

अपनी अनन्य शास्त्रीय निष्ठा और आगमिक ग्रथो के तलस्पर्शी ज्ञान के साथ ही साथ आचार्य श्री नानेश क्रिया के क्षेत्र मे अपने स्वय के आचरण और अपनी शिष्यमडली के शुद्धाचार हेतु अहर्निश सजग रहते है। शास्त्र के दिशा-निर्देश को अपनी जीवन साधना के बल पर, अपने उज्ज्वल चरित्र और दृढ़ आचार के द्वारा परमपूज्य आचार्य-प्रवर ने जन-जन के समक्ष प्रत्यक्ष किया है। आचार्य श्री नानेश ने अपनी विहार यात्रा मे, इस पवित्र भारत भूमि के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, डगर-डगर तक पाव पैदल चलते हुए, इस देश के सभी धर्म, पथ, जाति के निवासियो को अपने पावन अमृतमय उपदेशो से लाभान्वित किया है। जन-जन के साथ गत ५६ वर्षों से निरन्तर सवाद करते हुए, उनके सुख-दुख मे उन्हे धैर्य बधाते हुए, सहस्र-सहस्र जनो की अनन्त जिज्ञासाओं का अविचल धैर्य से समाधान करते हुए आचार्य श्री नानेश अपनी मर्यादा के साथ विचरण करते रहे है।

इस अनथक लोकयात्रा मे विचक्षण मेधा और प्रखर प्रतिभा तथा उससे भी वढ़कर मातृममतायुक्त सवेदनशील अत करण से आचार्य-प्रवर ने लोकजीवन का अवलोकन किया और घोर विषमता से त्रस्त पीड़ित मानवता के परित्राण हेतु उनकी अमृतवाणी से 'समता' का सन्देश लोकमगल हेतु प्रवाहित हो उठा। समता के धरातल पर समाज जीवन को एक आधार-अधिष्ठान मिला और तदनन्तर आचार्य-प्रवर की अन्वेषिणी वुद्धि ने लोकहित के लिए 'आत्मसमीक्षण' के कालजयी सत्य-तथ्य की ओर जन-जन का ध्यान आकर्षित किया।

पीड़ित लोक जीवन का भटकाव असह्य था। आत्म शाति की खोज मे भटक रहे प्राणियो की दशा देखी नहीं जा रही थी। ध्यान से शाति की सभावना है, मात्र इतना जान कर जन-जीवन ध्यान के पीछे पगलाया-वौराया सा दौड़ चला। ध्यान-साधना के नाम पर अनेकानेक सस्थाए उभर आईं। ध्यान के शास्त्रीय आधार, ध्यान के मूल स्वरूप से सर्वथा अनजान, अज्ञ जन ध्यान के पुरोधा वन वैठे और जनता उनकी उपासक वन गई। ध्यान साधना के क्षेत्र मे एक अंधेरा सा छाने लगा। करुणामूर्ति आचार्य-प्रवर ने अधियारे मे उजियारे की भूमिका निभाई। आगम मर्मज्ञ आचार्यदेव ने शास्त्रवाणी - 'पण्णा समिक्खए धम्मे' के आधार पर अज्ञान समुद्र के गर्भ से निकालकर 'समीक्षण ध्यान' का 'अमृत कलश' समाज को सेवार्पित कर दिया।

'समीक्षण ध्यान' का आधार आगम है और इसके व्याख्याकार स्वय समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य श्री नानेश है, अत देखते-देखते समाज ने समीक्षण ध्यान की साधना को अपना लिया। आत्मसात् कर लिया। समीक्षण ध्यान पर बहुआयामी सामग्री का प्रकाशन हुआ और समीक्षण ध्यान के साधना शिविरो मे साधक उमड़ पड़े। करुणामूर्ति आचार्य-प्रवर ने समाज से 'आत्मसमीक्षण' का आह्वान किया। यह एक कालजयी आह्वान है और इसमे समतामय समाज-रचना कर सकने का अतुलित सामर्थ्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'आत्मसमीक्षण' आचार्य श्री नानेश के विचार सार, विचार नवनीत को अपने कलेवर मे समेटे है और व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए एक प्रकाश-स्तंभ की भाति की पथ-प्रदर्शक है। यह अद्भुत ग्रथ-रत्न विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र मे गुरुदेव की एक अपूर्व देन है। इसमे आत्मसमीक्षण के नव सूत्रो के साथ ही समता की जययात्रा तक का सागोपाग विवेचन है।

विश्वास है यह ग्रन्थ समाज के लिए एक प्रेरक शक्ति के रूप मे विश्व मानवता के लिए आगम साहित्य की अनमोल भेट होगी। परमपूज्य आचार्य गुरुदेव के विचार नवनीत को समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम हर्षित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्यश्री के भावो को पूर्ण रूप से आत्मसात करते हुए जो सम्पादन कार्य श्रीमान् शान्तिचन्द्र जी मेहता, चित्तौड़ ने किया इसके वास्ते हम श्री मेहता के प्रति अपना हार्दिक आभार ज्ञापित करते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना डॉ भानीराम वर्मा 'अग्निमुख' कलकत्ता ने लिखी है। इस पुनीत कार्य के वास्ते हम डॉ. 'अग्निमुख' के हृदय से आभारी है।

आचार्य श्री का जीवन परिचय लिखने के वास्ते हम डॉ आदर्श सक्सेना के आभारी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तम मुद्रण तथा कवर पृष्ठ डिजाइनिग वगैरह मे अपना अमूल्य परामर्श/सुझाव देने के वास्ते हम श्री दीपचन्द जी साखला, साखला प्रिण्टर्स के भी आभारी है।

प्ररतुत ग्रथ के प्रकाशन मे हमे देशनोक के दानवीर, शिक्षाप्रेमी लूणिया परिवार का उदात्त अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। लूणिया परिवार का सक्षिप्त परिचय प्रकाशकीय के सत्वर पश्चात् इसी ग्रथ मे प्रकाशित है।

आचार्यप्रवर के प्रेरक विचारो को सकलित, सम्पादित और प्रकाशित करने मे पूर्ण सावधानी वरती गई है, फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो तदर्थ हम क्षमाप्रार्थी है।

भवदीय

रिधकरण सिपानी	चम्पालाल डागा	धनराज बेताला	पीरदान पारख
अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	मत्री	सयोजक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर

गुमानमल चोरड़िया　　सरदारमल काकरिया　　डा. सजीव भानावत

मोहनलाल मूथा　　केशरीचन्द सेठिया

सदस्यगण, साहित्य समिति

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य नानेश - संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नान्हा दीप,
हर रहा है तिमिर जग का
सहज शान्त अभीत।

छोटा सा दीपक, गॉव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित, सुसंस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड़ अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा मे सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जला कर अमानिशा को मगलकारी दीपावली मे परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है। तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है—

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति पर च दिवंति ।।

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई भी तो नही। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुद साक्षात् ब्रह्म ही तो थे जिन्हे श्रद्धालुजन भक्तिभाव से नमन करते है—'वटस्य पत्रस्य पुट शयानम् बालमुकुन्दम् शिरसा नमामि' और उन्हीं के सरक्षण मे नव सृष्टि का विकास सभव हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्त्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता—क्योंकि 'उत्तमत्त गुणेहि चेव पविज्झई'। उत्तमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की ही पूजा होती है—'गुण पूजास्थान न च लिग न च वय'। यही देखकर तो पू आचार्य गणेशीलाल जी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्व-पीठिका की दिशा में उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो—'ई घणा भोला टाबर है, यॉं पे अतरो मोटो वोझ मती नाखो।'

परन्तु वोझ डालता कौन है ? दीपक से कोई कहता है—कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का वोझ तू उठा। वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प। इस सकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य वन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के वाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशमान हो उठे। इसी

संकल्प की पूर्ति मे 'नानादीप' ने दीपित सत-सतियो की एक सुदीर्घ शृखला ही सर्जित कर दी—एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई, सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति-परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिये। और जगती का ऑगन आचार्यश्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्वी शृखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असदिग्ध प्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाँच सौ वर्षो मे भी सम्पन्न नही हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियाँ अत्यत विषम थीं। एक अत्यत सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्वल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याए थीं। परन्तु 'दिवा समा आयरिया पण्णता'—आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जव श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाए भीषण रूप से आलोड़ित थी, इस सद्य प्रज्वलित दीपक ने साहसपूर्वक घोपणा की—

'सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पदचिह्नो पर नही चल सकता।'

और प्रारम्भ हुई लड़ाई—दिये की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ, झझावात शात हुआ, सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारो मे सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की। सवत् २०२० के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया कि वीतरागी सत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ जय-पराजय आदि के भावो से मुक्त होते है। सोना तप कर कुन्दन वनता है और सघर्पों मे स्थिरमति रहकर मनस्वी वन्दनीय वन जाता है —

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु ख न च सुख ।
तप्त तप्त पुनरपि पुन काचन कान्तवर्णम् ।।

अशान्ति, विरोध और सघर्ष से आलोड़ित जन सागर से इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियो का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतक, विरोध, शोपण, पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशो द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया है उसी की सुन्दर काव्यात्मक निदर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है—

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा मे यात्राओं, चातुर्मासो और उद्बोधनो के जो आयोजन हुए उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा—उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ़ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामण्डल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस सम्पूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्ठन मे समेट लेने के लिये आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद-अभेद नही जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भण्डार सब के लिये उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा मे कैसे बधती? प्रसग अनेक हो सकते है। परन्तु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तरकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट शृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो 'कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो ।' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्कसगत कहाँ बैठती थी? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई उसमे गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो—तव सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नही बन सकते थे? एक राजा भगीरथ ने गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति मे रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल मे उलझी अवधारणाओं को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बना कर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिन्तन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वो को पाखण्ड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बना कर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का सहज समाधान प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप मे मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान की पद्धतियो को परमात्म समीक्षण के दर्शन से आत्मसमीक्षण तक पहुँचाने मे आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से सबधित विविध चिन्तन धाराओं का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मे उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अधःपतन के मूल

कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता मे व्यवधान डालने वाले भी हैं —

पाँच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटैं दिवस अरु सझा ।

जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सकै कोई ।।

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए जो रमैया की दुल्हन को वाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नही दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का वखान करते हुए सत कवीर ने पहले ही कह दिया था—

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै ।

मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई विरला पेषै ।

मूसा वैठा वावि में, लारे साँपणि धाई,
उलटि मूसै सापिण गिली यह अचरज भाई ।

नाव मे नदिया डूवी जाई ।

आकाश के औंधे कुए से पाताल की पनिहारन जो जल भरती है उसे कोई विरला हस ही पीता है।

यह उलटवांसी नहीं, सत्य है, तत्त्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक मे यह चराचर जगत् किसी रूप मे अर्थवान वनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती मे विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अव अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया है। अव कहीं अधकार नही बचा है, कोना-कोना आलोकित है। वस आवश्यकता है उस आलोक को आत्मसात कर पाने की, जिसका मार्ग भी स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार—

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन।

कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया वन।।

—डॉ. आदर्श सक्सेना
वी-१७, शास्त्रीनगर, वीकानेर ३३४००३

अर्थ सहयोगी

शिक्षाप्रेमी, दानवीर लूणिया परिवार : एक संक्षिप्त परिचय

सघ को साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र मे उदारमना, दानी-मानी महानुभावो का सहयोग सदैव सहज ही सुलभ रहा है। प्रस्तुत पुस्तक 'आत्मसमीक्षण' के पुन प्रकाशन मे भी सघ को देशनोक के शिक्षाप्रेमी, दानवीर लूणिया परिवार का उदात्त अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। वस्तुत स्व श्री करणीदान जी लूणिया की इच्छा थी कि 'आत्मसमीक्षण' ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु अर्थ सहयोग प्रदान किया जावे। वे अपने पिताजी श्री सुगनचदजी लूणिया और माताजी श्रीमती कस्तूरी देवी जी लूणिया की स्मृति मे प्रकाशित करवाना चाहते थे किन्तु दिनाक २० जनवरी १९९३ को उनका देहावसान हो गया। श्री करणीदान जी लूणिया के सुपुत्रो ने अपने पिताजी की सद्इच्छा को पूर्ण करने हेतु इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराने हेतु मुक्तहस्त अर्थ सहयोग प्रदान किया। यह अर्थ सहयोग लूणिया परिवार के सुसस्कारो और मातृ-पितृ भक्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

परमपूज्य आचार्य गुरुदेव श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा के प्रति अनन्य निष्ठा और समर्पण के प्रतीक लूणिया परिवार ने श्रावक धर्म का आदर्श पालन करने की दिशा मे सदैव अग्रणी भूमिका निभाई है। स्व श्री सुगनचदजी लुणिया और उनकी धर्मपत्नी स्व श्रीमती किस्तूरीदेवी जी लूणिया के धर्म सस्कार उनके यशस्वी सुपुत्र स्वर्गीय श्री करणीदान जी लूणिया मे साकार देखे जा सकते थे। स्वर्गीय श्री करणीदान जी लूणिया का जन्म स. १९७५ की कार्तिक बदी १४ को हुआ था और उनका स्वर्गवास स. २०४९ की माघ बदी १३ को हुआ। इस प्रकार आपने यशस्वी ७४ वर्ष की आयु प्राप्त की। आपने ४० वर्ष तक रात्रिभोजन का त्याग रखा और ३० वर्ष तक चौविहार का पालन किया। अत्यन्त सरल जीवन के धनी श्री लूणिया जी के दिन भर मे २१ द्रव्य की मर्यादा थी। स २०३२ मे आपने आजीवन शीलव्रत अगीकार किया। सवत् २००६ मे आपने वर्ष भर मे कपड़ो पर १०० रुपये व्यय करने की मर्यादा ग्रहण की और उसे दृढ़तापूर्वक आजीवन निभाया। इस महगाई और उपभोक्तावादी युग मे उनका यह व्रत भारतीय सस्कृति के 'सम्पत्ति भगवान की' अर्थात् न्यास वृत्ति (ट्रस्टीशिप) का मूर्तिमन्त आदर्श था। आप श्री सु कु साड शिक्षा सोसायटी के उपाध्यक्ष, श्री जैन जवाहिर मडल के उपाध्यक्ष, श्री करणी गौशाला देशनोक के उपाध्यक्ष व सरक्षक तथा श्री करणी सुबोध शिक्षालय के अध्यक्ष रहे। वस्तुत. आपका जीवन सेवा समर्पित था। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सिरिया देवी जी लूणिया आदर्श सुश्राविका है। इस ग्रथ के प्रकाशन मे श्रीमती सिरिया देवी जी और उनके दोनो पुत्रो की धर्म प्रेरणा निर्णायक रही है।

आपके दोनो पुत्र भी समाजसेवी और उदारमना है। ज्येष्ठपुत्र श्री दीपचद जी लूणिया देशनोक नगरपालिका के अध्यक्ष रहे व समता युवा सघ देशनोक के भी अध्यक्ष रहे। आपके द्वितीय पुत्र श्री डालचन्द जी लूणिया भी साधुमार्गी जैन श्रावक सघ सूरत के कोषाध्यक्ष है। आपके ३ पौत्र व ८ पौत्रियो का भरा-पूरा परिवार है। सारा परिवार सुसस्कृत व जिनशासन को समर्पित है। इस शासननिष्ठ परिवार द्वारा इस ग्रन्थ को प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सहयोग हेतु संघ साधुवाद और आभार ज्ञापित कर हर्ष का अनुभव करता है।

सयोजक

प्रारम्भिकी

शास्त्र चूड़ामणि आचाराग सूत्र मे प्रभु महावीर ने फरमाया है—

जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे।

जे अण्णणारामे, से अण्णणदंसी।

—आ सू १।२।६,

अर्थात् जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है तथा जो अनन्यारामी है, वह अनन्यदर्शी है। प्रश्न उठता है कि साधना की किस प्रक्रिया को सफलता पूर्वक सम्पन्न कर लेने के पश्चात् अनन्यदर्शिता की अवस्था समुत्पन्न होती है तथा उससे अनन्य आनन्द की अनुभूति हो सकती हे ? अनन्यदर्शिता एव अनन्य आनन्द की अनुभूति मे क्या पारस्परिक सम्वन्ध एव सामजस्य है ?

आनन्द का अनुभव सदा काल प्रिय अनुभव है। ऐसे सुखकारी अनुभव को सभी जीवो ने सदा चाहा है, सदा चाहते है और सदा चाहते रहेगे। सभी जीवात्माओं की यह शाश्वत अभिलाषा होती है किन्तु उन्नतिकामी आत्माएँ ही सत्य आनन्दानुभूति के पथ पर अग्रगामी वन सकती है।

आनन्द की अनुभूति का विश्लेषण विभिन्न चरणो मे विभिन्न प्रकार से किया जाता हे तथा उन्हीं विविध विश्लेषणो के आधार पर सत्यानुभूति की शोध की जा सकती है। असत्य, भ्रम एव द्विधा के विकट वनो को धैर्यपूर्वक पार कर लेने पर ही आनन्द की सत्य अनुभूति साधक के अन्त करण मे अखूट सुख का दिव्य आलोक प्रसारित करती है।

जव जीव ससार के इस रगमच पर जन्म लेता है तो वह कोरा 'निज' नहीं होता, 'अन्य' के साथ जुड़ा होता है। फिर यह ससार तो जड़-चेतन का समन्वित क्रीडागण ही हे। जड़ दृश्यमान होता है और चेतन अदृश्य। स्वय चेतन के लिये भी अपना 'निज' अदृश्य रहता है जव तक कि वह उसे अनुभवगम्य नही बनाता, अभिप्राय यह है कि नवागत जीवात्मा का प्रथम परिचय सर्व ओर व्याप्त एव विस्तृत जड़ लीला से ही होता है। वचपन से योवन तक ओर आगे भी भौतिकता के ऐसे उत्तेजक दृश्य जीवात्मा अपनी इन्द्रियो के माध्यम से देखती, सुनती ओर अनुभव करती है कि ठोस तथ्यो के रूप मे वह उन्हीं को सवके वीच आसानी से जानती है।

यही कारण है कि सामान्य रूप से जीवात्माएं निज के निजत्व को न जानती हुई अन्य के प्रखर अस्तित्व को पहले जानती है। बालक का लालन-पालन जिन पदार्थों से होता है, वे अधिकाशत· भौतिक या कि अन्य होते है तथा आन्तरिक मनोभावनाओं का व्यक्तिकरण भी बालक पदार्थ प्राप्ति के रूप मे ही देखता है। अत. वह प्रारभ से पदार्थों की महत्ता को ही जानता है अर्थात् अन्य के साथ ही अपना प्रमुख सम्बन्ध मानता है। फिर यौवन काल मे तो राग रग मे भौतिक सुखो का आकर्षण उसे ललचाता है और वह उन्हीं को पाने, बनाये रखने एव भोगने की नाना हेयमय क्रियाओं मे बुरी तरह से उलझ जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि जीव अपने आनन्द के अनुभव का आरोपण सर्वप्रथम अन्य मे ही करता है—पदार्थों मे ही उस आनन्द को खोजता और उसे पा लेने का भ्रम पालता है। वह महसूस करता है कि जब वह मधुर सगीत सुनता है, सुन्दर दृश्य देखता है, सुगधमय वातावरण मे रमण करता है, सुस्वादकारी व्यजनो को चखता है, सुखद सस्पर्श से आह्लादित होता है अथवा इन सुखो की कल्पना भी करता है तो उसे आनन्द मिलता है।

तो क्या उसके इस आनन्दानुभव को सत्य कहा जायगा ? किन्तु, सत्यासत्य का निर्णय वह कई चरणो से गुजरने के वाद ही कर पाता है। उस समय तो वह क्षणिकता को भी समझ नही पाता और न ही उस आनन्द की नश्वरता को ही वह हृदय मे उतार पाता है। उसकी मनोदशा तो एक मदमत्त जैसी होती है कि जब वैसा आनन्द मिल रहा है तो उसे मतिभ्रम हो जाता है। वह उसमे झूमने लगता है और जब वही आनन्द टूटता है तो वह क्रुद्ध होकर उसे फिर से पा लेने के लिये दौड़ लगाने लगता है। यदि वह दौड़ की थकान मे सत्य को पाने की ओर न मुड़ सके तो उसी दौड़ धूप मे उसका अमूल्य जीवन विनष्ट हो जाता है।

भौतिकता वाले भोगो मे फस जाने तथा अन्य पदार्थों मे रमण करने की जीवात्मा की इस अज्ञान दशा को आत्मा का विभाव माना गया है। शाब्दिक अर्थ मे विभाव वह जो स्वभाव से विपरीत हो। इस पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर स्वभाव क्या होता है ? यदि आनन्द का ऐसा अनुभव आत्मा का विभाव है तो आत्मा का स्वभाव क्या होगा एव उस आनन्द का अनुभव कैसा होगा ?

शास्त्रो मे स्वभाव को ही धर्म कहा गया है—वत्थु सहावो धम्मो। जिस वस्तु का जैसा मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म होगा। उस धर्म पर अधर्म तब हावी होता है जब धर्म की मौलिक शक्ति क्षीण हो जाती है। तव स्वभाव पर विभाव हावी हो जाता है। एक लकड़ी का टुकड़ा पानी की सतह पर तैरता है—यह उसका मूल स्वभाव है। उस टुकड़े के साथ एक लौह खड बांध दिया जाय तो वह टुकड़ा तैरने की वजाय पानी मे डूब जायगा- उसे उसका विभाव कहना होगा। स्वभाव पर जो विकृतियो के लेप चढ़ते है, उन लेपो का भार स्वभाव को छिपा देता है और वे विकृतियाँ ही विभाव के रूप मे सक्रिय दिखाई देती है। लकड़ी के टुकड़े का तैरना स्वभाव, उसका लौह खड के भार से डूब जाना उसका विभाव हुआ तो विभाव से स्वभाव मे जाने की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो गई कि उसके भार को हटा लिया जाय।

एक तथ्य और कि स्वभाव मे रमण करने से सात्विक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो परिवर्धित होता हुआ सत्य एव शाश्वत आनन्द की स्थिति तक पहुँचता है। दूसरी ओर, विभाव मे भोगा जाने वाला आनन्द क्षणिक, नश्वर तथा कष्टान्त वाला होता है। विभाव से मिलने वाले आनन्द , दुष्परिणामो को योग कर ही सत्य आनन्द के अनुसधान की ओर गति प्रखर वनती है। विभाव से ्भ व मे लौटने की आकांक्षा भी तभी वलवती होती है।

अव आत्मा के स्वभाव एव विभाव की चर्चा करें। यह चर्चा शब्दो की कम और अन्तरानुभव की अधिक होती है—यह मानकर चलना चाहिये। विभाव की गति-स्थिति को तो सामान्यत· सभी मानव जानते पहिचानते है। उन्हे समझानी है स्वभाव की अवस्था। विकृत से विकृत एव पतित से पतित मानव के अन्तरग मे कुछ लहरे ऐसी होती है जो जव चलती है तो वैसे

मानव को भी भीतर से कुछ शिक्षा मिलती-सी प्रतीत होती है या कि भीतर की आवाज जैसे उसे जगाती है और इस अन्तरंगता मे उसे कुछ ऐसा आनन्द मिलता है जो उसे अनूठा लगता है। इन क्षणो को वह बेभानी मे भूल जाय—यह दूसरी बात है किन्तु विवेकशील व्यक्ति उन क्षणो को पकड़ लेता है, उनको बार-बार याद कराके उस आनन्द का बार-बार अनुभव करता है और अन्तत उन क्षणो को अधिकाधिक स्थायित्व देने के प्रयासो मे जुट जाता है।

विभाव से स्वभाव मे लौटने की यह प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती है और मानव को अनुभव कराती रहती है कि आनन्द का भ्रम या आभास कहॉ है और सच्चे आनन्द का अनुभव कहॉ ? एक साधक के अन्त करण मे ऐसा अभ्यास निरन्तर चलता है जिसके प्रभाव से विभाव क्षीण होता जाता है एव स्वभाव अधिकाधिक स्पष्ट एव प्रकाशमान।

मूलत यह प्रत्यावर्तन ही आत्मा की विकास यात्रा है जो उसे अन्य से हटाकर अनन्य बनाती है। इतना ही नही, अनन्यदर्शी बनाती है जिसके फलस्वरूप वह अनन्यदर्शी आत्मा अनन्य आनन्दमयी बन जाती है। इस अनन्यता मे ही निजत्व का सम्पूर्ण विकास समाहित होता है।

इस विकास यात्रा के गतिमान चरणो पर ध्यान देना आवश्यक है। इसका पहला चरण है कि साधक अपनी आत्मा का स्वय ज्ञाता बने। कोई हल्के विचार से कह सकता है कि अपनी ही आत्मा को जानना कौनसी बड़ी बात है। लेकिन उसे ही ऐसा करने को कहा जाएगा तो वह बड़ी दुविधा मे फस जायगा। क्योकि स्वय की आत्मा का स्वय ज्ञाता बन जाना एक महान् उपलब्धि है।

आत्मा जब तक अन्य को ही निज मानती रहती है तो वह भ्रम दशा साधारण नही होती। विभाव की विकृतियाँ उसे उत्थानगामी नही बनने देती। उत्थान की बात तो दूर, उसे उस पतन को पतन भी मानने से रोके रखती है। तब वह पौद्गलिक सुखो मे ही आनन्दाभास लेती है और उसे ही प्राप्य आनन्द मानती है। यह आत्मा की मूर्छावस्था होती है वैसी ही जैसी कि एक मद्यप की होती है। सुरा पिया हुआ व्यक्ति मॉ और पत्नि मे भेद नहीं कर पाता क्योकि वह अपने ज्ञान और विवेक को शून्य बना लेता है। ऐसी मूर्छावस्था से तब तक उद्धार सभव नही है जब तक कि आत्मा को अपने ही अस्तित्व का बोध न हो।

आत्मा के अस्तित्व का बोध हो जाने पर ही उसके रूप-स्वरूप को जानने की अभिलाषा जगेगी और उसके मूल स्वभाव को पहिचानने की जिज्ञासा। अत अपनी आत्मा का स्वय ज्ञाता बनना एक अति महत्त्वपूर्ण अवस्था है। आत्मा को जानने मे उसके अस्तित्व का अनुभव करना, उसके वर्तमान रूप-स्वरूप का ज्ञान करना तथा उसके मूल स्वभाव को पहिचानना यह सब कुछ समाया हुआ है। स्व का ज्ञाता साधक हाथ मे रखी हुई मणि के समान अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञाता हो जाने के पश्चात् दूसरा चरण है कि साधक अपनी आत्मा का दृष्टा बने अपनी आत्मा एव उसकी वृत्तियो व प्रवृत्तियो को प्रतिक्षण देखता रहे। जब साधक अपनी आत्मा के वर्तमान का एव उसकी तात्त्विकता का ज्ञाता हो जाता है तो वह दृष्टा होकर उनकी गति विगति का कठोर नियत्रक भी बन जाता है। प्रतिक्षण अपनी आत्मा याने कि अपनी अन्तरगता को देखने रहने का अर्थ है कि वह अपने जीवन मे पूर्ण रूप से सतर्क बन गया है। वह कभी भी कहीं भी अपनी आत्मा को अन्य मे भटकने नहीं देता—मनसा वाचा कर्मणा सदा आत्मगति को ऊर्ध्वगामी बनाये रखता है। वह साधक सफल अश्वारोही के समान अपनी साधी हुई लगाम से आत्मा को अनन्यदर्शिता एव अनन्य आनन्दानुभूति की दिशा मे आगे से आगे बढ़ाता जाता है।

निजात्मा का स्वय ही ज्ञाता एव दृष्टा होना इस कारण आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, क्योंकि एक ज्ञाता और दृष्टा साधक ही अपनी आत्मा को अनन्य बनाने के मार्ग पर गतिशील कर सकता है। और आत्मा को अनन्य बनाने का मार्ग है समता का मार्ग।

भारतीय दर्शनो मे जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो सर्व आत्माओं की समता के सिद्धान्त को निरूपित करता है। यह सिद्धान्त मूल आत्मिक स्वरूप की अवधारणा पर आधारित है। आत्मा का मूल स्वरूप दर्पण के समान एकदम स्वच्छ माना गया है। दर्पण पर जिस प्रकार बिना सार सम्हाल के धूल की परते जमती रहती है और उसकी प्रतिबिम्ब क्षमता घटती रहती है, उसी प्रकार आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप पर भी कर्म बधन के आवरण चढ़ते जाते है एव उसकी स्वरूप-तेजस्विता को ढकते जाते है। कर्मावृत्त आत्मा ससारी आत्मा होती है। यही आत्मा जब अपने सयम एव तप के बल पर उन आवरणो को मिटाती जाती है तो एक दिन उसका परम शुद्ध स्वरूप भी प्रकट हो जाता है और वही तब सिद्ध आत्मा बन जाती है।

इस सिद्धान्त की महत्ता इस अवधारणा मे है कि मूलत प्रत्येक आत्मा समान स्वरूपी होती है और इसी कारण समान व्यवहार की अधिकारी भी। ऐसा व्यवहार जो उनके कर्मावरणो को भी क्षीण करता जाय और उनके अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बनाता जाय। इस विचार की प्राभाविकता ससार के इसी रगमच पर भलीभाति अभिव्यक्त होनी चाहिये। न सिर्फ मानव जाति, वल्कि सम्पूर्ण प्राणी जगत् इस सिद्धान्त की सीमा मे समावेश पा जाता है। यही विश्व बन्धुत्व अथवा सम्पूर्ण वसुधा के एक परिवार की मान्यता मे आता है।

जव यह मान लिया जाता है कि ससार की सभी आत्माएँ समान है तथा समान लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा मे आगे वढ़ना चाहती है तो प्रत्येक मानव का यह सुनिश्चित ध्येय बन जाता है कि वह अपने इस पूरे परिवार की हित साधना मे विवेकशील बने। स्वार्थ के सकुचित दायरे को त्याग कर तव वह समग्र प्राणियों के विस्तृत हित के लिए अपनी मानसिकता का निर्माण करता है, वैसी ही वाणी उच्चरित करता है तथा तदनुकूल आचरण को पूर्णत्त्व प्रदान करने का प्रयास करता है। मानव हृदय का ऐसा ही हितैषी विस्तार समता का मगलमय मार्ग कहा जाता है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दु ख कोई नही चाहता, अत सवको सुख पहुँचाओ, किसी को भी दु ख न दो—यह समता का प्राथमिक पग होता है अहिसा का। किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना—यह अहिसा का नकारात्मक रूप है तो उसका सकारात्मक रूप होगा कि प्रत्येक प्राणी को अपने सामर्थ्य से भी आगे वढ़ कर सुख पहुँचाने की हितचिन्ता एव कार्य विधि मे लगे रहो। अहिसा के इस रूप से अनुपालन मे मनुष्य स्वार्थ की विकृति को त्यागता जायेगा और व्यापक हित से जुड़ता चला जायगा।

एक साधक जितना अधिक स्वार्थ से दूर होगा तथा परमार्थ मे सलग्र वनेगा, उतना ही अधिक वह समता की दिशा में अग्रगामी वनेगा। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है तथा जो एक को जान लेता है, वही सवको जानता है—इस सिद्धान्त के अनुसार समता की साधना मे निरत साधक अनन्य वनता जाता है—उसके लिये एक भी प्राणी—एक भी आत्मा अन्य नहीं रहती। तभी वह अनन्यदर्शिता की ओर कदम वढ़ाता है। अवधारणा मे समाने और आचरण मे उतरने पर ही दर्शिता का स्तर परिपुष्ट वन सकता है।

समता अवधारणा मे समा जाय—इसके लिए स्वय आत्मा स्वय की ज्ञाता बने। स्वस्वरूप से पूर्णतया परिचय पाने के पश्चात् ही ज्ञाता की अवस्था समुत्पन्न होती है। वह ज्ञाता अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को भी पहिचान लेता है तो उसके वर्तमान कर्मावृत्त स्वरूप को भी जान लेता है। इस दृष्टि से वह सर्व आत्माओं के मूल स्वरूप को उसी भाति मानते हुए उनकी कर्मावृत्तता की भी पहिचान प्रारभ करता है तथा प्रयास करता है कि वे आत्माएँ भी अपने वर्तमान स्वरूप को जानकर कर्मों को अनावृत्त करने की साधना की ओर गति करे। ऐसा आत्मीय सहयोग उसे सर्वात्माओं के साथ अनुराग भाव से जोड़ता है कि वे सब उसके साथ समान रूप से सम्बद्ध हैं।

अपनी परिपक्वता की ओर बढ़ती हुई समता की यह अवधारणा तब आचरण मे उतरती और व्यवहृत होती है जब साधक अपनी आत्मा का स्वय दृष्टा भी बन जाता है। वह दृष्टा तब अपने कर्त्ता होने पर नियत्रक लगाम लगा लेता है। वह करता है किन्तु साथ ही साथ देखता भी रहता है कि वह क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, जो कर रहा है वह कितना समतामय है तथा कितना समताहीन ? यह दृष्टि प्रतिक्षण सतर्क रहती है। इस कारण समता साधक की आत्मा जो कुछ भी करती है, वह अधिकाधिक समतामय होता है तथा समतामय होता जाता है।

यह दृष्टा भाव स्वय की आत्मा को सतत जागृत रखता है कि वह किसी भी स्तर पर सर्वात्म-हितैषिता से विलग न हो। सारा ससार उसकी स्नेहमयी समता की छाया मे आ जाता हे।

ज्ञाता और दृष्टा बनकर जब साधक अपनी आत्मा की समता को साध लेता है तब वह तीसरे चरण पर प्रतिष्ठित बनता है। वह होता है ध्याता का भाव। तब वह निरन्तर इस ध्यान मे रहता है कि उसकी प्रेरणा से अन्य सभी आत्माएँ भी समता के मार्ग पर अविचल बने ओर आगे बढे। तब वह अनन्यदर्शी बन जाता है और समता की सर्व स्नेहमयी रस धारा मे स्वय भी अवगाहन करता है तथा अन्य आत्माओं को भी अवगाहन कराता है। आत्मा की अनन्यदर्शिता ही अनन्त आनन्द की अनन्त अनुभूति प्रदान करती है। जो अनन्यदर्शी हे, वह अनन्य आनन्दी है ओर जो अनन्य आनन्दी है वह अनन्यदर्शी है—यह एक शाश्वत सिद्धान्त एव शाश्वत स्थिति हे।

महावीर प्रभु ने अपने इस शाश्वत सिद्धान्त के माध्यम से उन्नतिकामी आत्माओं को प्रेरणा दी है कि वे निरन्तर आत्म-समीक्षण करे ओर यह जाने कि वे अपने ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावों को विकसित बनाकर समता मार्ग पर निश्चल गति से अग्रगामी बन रही हैं अथवा मथर गति से लक्ष्य को पाने का प्रयास कर रही है। यदि गति मथर हे तो अपनी समता साधना की उत्कृष्टता से उसे उग्र बनाना होगा तथा समता के उच्च शिखर पर आरूढ़ बनकर अनन्यदर्शी एव अनन्य आनन्दी बनना होगा, क्योंकि वहा पहुचकर ही सदा के लिए शाश्वत आनन्द का स्थायी रसास्वादन लिया जा सकता हे। यही इस मानव जीवन का एव कर्म मुक्ति का चरम ध्येय हे।

किन्तु समता के सर्वोच्च शिखर पर आत्मा को पहुँचायेगा कौन ? कोई अन्य नहीं पहुँचायेगा, स्वय इसी आत्मा को अपने आत्म समीक्षण एव समतामय आचरण के आधार पर वहां पहुँचना होगा। आत्मा तो स्वय कर्त्ता है, वह किसी की आश्रित नहीं। इसकी जो मलिनता जाहिर होती है वह इसकी कर्मावृत्तता के कारण है। किन्तु जब और जितनी यह आत्मा कर्मों से अनावृत्त होती जाती है, तब और उतनी उसकी तेजस्विता, कर्मठता एव शक्ति सम्पन्नता भी अभिव्यक्त होती जाती है।

आत्मा के इसी मूल एव पूर्ण स्वरूप को प्रकट करने का सशक्त साधन है आत्म समीक्षण। समीक्षण का अर्थ है समतामयी दृष्टि से देखना। यह इस रूप मे देखने का काम करती है साधक की आत्मा, और वह देखती है उस दृष्टि से ससार की सभी आत्माओं को। इस दर्शिता से विकसित होती है उसकी अभेद दृष्टि कि उसकी अपनी आत्मा और ससार की अन्य सभी आत्माओं मे एक प्रकार से भेद नही है, एक प्रकार की समानता है। आत्म समीक्षण इस प्रकार एक ओर समता भावना को परिपुष्ट बनाता है तो दूसरी ओर आत्मा के ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावो को क्रमश विकास की ओर ले जाता है।

आत्म समीक्षण ही आत्मा के समतामय विकास का मूल मत्र है। आत्म-समीक्षण के ध्यान एव अनुष्ठान के वल पर आत्मा स्वयं ही स्वय को ऊर्ध्वगामी बनाती है। यह समीक्षण केवल दृष्टा भाव का ही परिचायक नहीं होता, अपितु दृष्टा एव ध्याता भाव के सामजस्य से जो एक समता दृष्टि विकसित होती है—यह समीक्षण उसी अवस्था का प्रतीक माना जाना चाहिये।

आत्म समीक्षण चिन्तन एव आचरण की वह प्रक्रिया है जो आत्मा मे उन्नति की आकाक्षा पैदा करती है, उसे विकास के पहले सोपान पर स्थापित करके विभाव के भटकाव को हटाकर स्वभाव मे प्रत्यावर्तित होने की प्रेरणा देती है और तब उसे ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावो का परिपक्व अभ्यास कराती है ताकि वह आत्मा समता के धरातल से उसके सर्वोच्च शिखर तक प्रगति करती ही रहे। अन्य को अपने समता क्षेत्र मे समाहित करके वह अनन्य बने और अनन्य आनन्द की अनुभूति लेते हुए अन्य आत्माओं को भी उस आनन्द से आप्लावित बनावे।

वर्तमान परिस्थितियो मे, जब कि लोगो का अधिक रूझान भौतिक एव पौद्गलिक सुखो की तरफ बढ़ रहा है, इस आत्म समीक्षण का महत्त्व अधिक प्रासगिक एव उपयोगी हो जाता है। अपनी वैभाविक परिणति के कारण अधिकाश आत्माएँ भौतिक सुखसाधनो से परिपूर्ण बाह्य परिवेश मे ही अपने आपको अनुरजित मानने लगी है या कि उसी विपरीत दिशा मे गति कर रही है। एक प्रकार से आज का मन-मानस ऐसी विभावपूर्ण वाहर की जिन्दगी जीने का ही अभ्यस्त हो रहा है। यह अभ्यास भी ऐसी जड़ स्थिति तक पहुँचता जा रहा है, जहाँ इन आत्माओं को अपने ही मूल-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की अन्तर्यात्रा प्रतिकूल प्रतीत होने लगी है। यदि इन्हे निज-विकास की पिपासा न रही, अपने अनन्य स्वरूप को विस्तृत वनाने की आकाक्षा न वनी और आचरण को श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम वनाने की अभिरुचि क्षीण होती रही तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान क्षति होगी। अत आवश्यक है कि आत्म समीक्षण का अभ्यास अपनाया जाय चिन्तन और कर्म मे तथा समीक्षण से समता की साधना की जाय।

आत्म समीक्षण के सतत अभ्यास से ही आत्मा को स्व-बोध होगा और वह तत्त्वो की हेयता, उपादेयता एव ज्ञेयता को भलीभाति जान सकेगी तथा तदनुसार तत्त्वो से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र को समुन्नत वना सकेगी। समता से विभूषित यही रत्न त्रय का मार्ग है जो आत्मा के समस्त कर्मावरणो को हटा कर उसे मुक्ति के अनन्त आनन्द मे सदा काल के लिए प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रस्तुत ग्रथ 'आत्म समीक्षण' मे इसी दृष्टि से उत्तम पुरुष मे लेखन किया गया है कि प्रत्येक आत्मा का, जो भी इसे पढ़े—यह भाव चिन्तन वन सके। इसका पठन करते हुए वह तल्लीन

वन सके कि यह सव कुछ उसके अपने चिन्तन के लिए है और उसके अपने समतामय उत्थान के लिए है। उत्तम पुरुष का प्रयोग एकात्मकता प्राप्त करने के लिए ही किया गया है—यह उत्तम पुरुष व्याख्याता या सम्पादक का नहीं है, मुख्य एव सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक का है कि वह इस चिन्तन के साथ अपने आत्म भावो को घनिष्ठ रूप से जोड़ ले। उत्तम पुरुष मे आध्यात्मिक विवेचन का अपना विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र मे भावना का महात्म्य होता है। इसी कारण अपनी ही आत्मा को सीधे सम्वोधित करने वाले लेखन को जव भावपूर्वक पढ़ा जाता है तो उसमे एक निजत्व का भाव समाविष्ट हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह सव कुछ सम्वोधन कोई अन्य नही कर रहा, वल्कि वह स्वय ही अपनी आत्मा को कर रहा है तथा आत्मा की गति-विगति का जो सम्पूर्ण विवेचन है, वह जैसे उसकी अपनी आत्मा से ही सम्वन्धित है। इसी आत्म जागृति के भाव से इस ग्रथ का प्रवचन-सम्पादन हुआ है और पाठको को भी उसी भाव से इस ग्रथ का पठन-पाठन एव अध्ययन करना चाहिये—ऐसी अपेक्षा की जाती है।

'आत्म समीक्षण' मे जिन नौ सूत्रो का प्रतिपादन किया गया है, वे आत्म-सम्वोधक एव प्रेरक सूत्र है। ये वताते है कि आत्मा के मूल एव शुद्ध स्वरूप से सम्वन्धित तत्त्व कौनसे है तथा उन्हे आचरण के माध्यम से पाने के लिये किस प्रकार का नित्य प्रति का चिन्तन वनना चाहिये, कौनसे आत्म विकास के सकल्प धारण करने चाहिये तथा आत्मा के पराक्रम का किस रूप मे विस्फोट किया जाना चाहिये कि वह अनन्यदर्शिता एव अनन्यानन्द अनुभूति के लक्ष्यो को प्राप्त कर सके एव समता के सम्पूर्ण आदर्श को साकार वना सके।

सभी प्रकार के वचन एव व्यवहार विचार के स्रोत से प्रस्फुटित होते हैं, अत यदि विचारो मे सर्व प्रथम समता का समावेश किया जाय तो वह समता वचन एव व्यवहार के प्रवाहो से सुप्रकट हो सकेगी। विचारो के स्वस्थ निर्माण का एक मात्र साधन है—चिन्तन, सतत चिन्तन, निरन्तर चिन्तन और उसी चिन्तन को समता की रस धारा मे डुवो कर प्रवहमान वनायेगा आत्म समीक्षण अर्थात् आत्मा को जानो, देखो, ध्याओ और अनन्त आनन्द मे निमज्जित हो जाओ।

अनुक्रम

अध्याय एक

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

आत्म-समीक्षण

'जे अण्णणदसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामे, से अण्णणदसी'

जो मनुष्य समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है, वह अनुपम प्रसन्नता मे रमण करता है।

और जो अनुपम प्रसन्नता मे रमण करता है, वह समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है।

आत्म-समीक्षण

श्री आचाराग सूत्र मे कहा गया है कि—

जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामे, से अण्णणदंसी

जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है और जो अनन्यारामी है वह अनन्यदर्शी है।

अन्तर्यात्रा का आनन्द

अनादिकालीन ससार परिभ्रमण के कारण आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर अधिकाशत अपने विभाव मे स्थित हो रही है। फिर भी यह हर्ष का विषय है कि अब सामान्य जीवन एक नये वैचारिक मोड़ पर आकर खड़ा हो गया है। वर्तमान विषम एवं विपरीत परिस्थितियो ने बुद्धिवादियो एव विचारको के हृदयो को आन्दोलित कर दिया है और वे इन ज्वलन्त परिस्थितियो के सदर्भ मे सोचने लगे हैं कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मानसिक तनावो से मुक्त होकर स्थायी सुखानुभव किया जा सके ? यही अन्तरदर्शन या अन्तर्यात्रा की ओर गति करने का आशाजनक सकेत है।

यही नही, स्वय वैज्ञानिक भी विज्ञान के तथाकथित विकास के प्रति सशक और चिन्तागग्र हो गये है कि क्या विज्ञान का यह अतिशय विकास स्वय मानव जीवन का ही घातक तो नहीं हो गया है ? छोटी-सी मशीन से लेकर कम्प्युटरी रोवोर्ट तक जो यह यात्रिक विकास हुआ है, उससे एक ओर तो मनुष्य की मानसिक यत्रणाएँ बढ़ गई हैं तो दूसरी ओर वायु प्रदूषण आदि दोषो से भाति-भाति के शारीरिक रोग फैल गये हैं।

यह स्थिति चौंकाने वाली बन गई है। सामान्य जन तक भी सोचने लगे हैं कि आज जिसे विकास कहा जा रहा है, क्या वह विकास भी है ? कहीं यह तो नही है कि यह विकास ही विनाश का रूप ले रहा है ? हम पूर्व वाले पश्चिम की दृश्यमान चमचमाती सभ्यता से आकर्षित हुए थे और उस दिशा मे दौड़ने लगे थे किन्तु अब वह मोड़ आ गया है जहाँ हम अपनी विपथगामिता को महसूस करने लगे है। इस कारण ही अब यह समझ फैलने लगी है कि विकास की जो दिशा हमने पकड़ी थी, वह गलत थी। हम अपना सुख अब तक बाहर ही बाहर खोजते रहे हैं और यही हमारी भूल थी। जो सुख वास्तव मे अपने ही भीतर मे बसा हुआ है और जिसे हम अन्तर्यात्रा को सफल बनाकर प्राप्त कर सकते हैं, वह भला बाहर कहाँ और कैसे मिलता ?

वैचारिक दृष्टि से सामान्यजन तक मे यह जो नया मोड़ आया है, इसे ही स्वस्थ रूप देकर हम आध्यात्मिक दिशा की ओर ले जा सकते है। आज करीब करीब सभी वर्ग—पूर्व के ही नही बल्कि पश्चिम के भी सभी वर्ग वैज्ञानिक विकास के इस भयावह रूप से सत्रस्त हो रहे हैं और अकुलत-व्याकुल होकर दूर के नये ढंग से नया नये रोगों की शोध कर रहे हैं। यह शोध की प्रवृत्ति ही हमे अन्तर्यात्रा की दिशा मे आगे बढ़ा सकेगी।

सुख के शोध की यह अन्तर्यात्रा हमे आरभ करनी होगी अपने ही मन से, क्योंकि यह मन बाह्य एव आभ्यन्तर जगत् के मध्य की कड़ी है। आज यह मन बाहर के विषयो मे ही भटक रहा है—इसको साधना पड़ेगा और उसे एकाग्र बनाकर भीतर गहराई मे उतारना होगा। मन की ऐसी साधना ही अन्तर्यात्रा की साधना बन सकेगी। इसमे चित्तवृत्तियो पर नियत्रण की क्षमता बढ़ानी होगी तो उनके सशोधन के विविध प्रयोग भी कार्यान्वित करने होंगे। चित्तवृत्तियाँ अशुभ योगो से शुभ योगो मे प्रवृत्ति करे—यह कोई सरल कार्य नही है। फिर यह आत्मा भी तो अनन्त काल से वैभाविक वातावरण मे चल रही है जिसके कारण चित्तवृत्तियो मे यह परिवर्तन लाना सहज रूप से सभव नहीं है। विपथ पर दौड़ते हुए चित्त को नियत्रण मे लेना एक भगीरथ कार्य है। कई साधको ने कई प्रयोग इस हेतु किये है किन्तु उनके कई प्रयोग इस दिशा मे विफल भी रहे है। कारण, जब तक आत्मा के मूल स्वभाव का सम्यक् ज्ञान नही हो तथा विपथ से मन को नियत्रित करने की सम्यक् विधि अपनाई नही जाय, तब तक कोई भी प्रयोग सफल नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे वीतराग देवो ने सयमीय साधना की प्रकीर्णता के बाद अन्तरज्ञान को पाकर जो मनस्साधना एव ध्यान का प्रयोग बताया है, उसी को केन्द्रस्थ बना कर साधना रूप अन्तर्यात्रा का श्रीगणेश किया जा सकता है।

आज प्राय· सम्पूर्ण जीवन बाह्य यात्रा मे ही व्यस्त बना हुआ है। चौबीसो घटे मनुष्य बहिर्दर्शन की दिशा मे ही दौड़ रहा है। बाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ से उसे तनिक भी अवकाश नहीं है कि वह अन्तर्यात्रा के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान भी करे। अत अन्तर्यात्रा विषयक चिन्तन का अभाव है। किन्तु वर्तमान युग की विषमताओं से वह अवश्य घबरा उठा है। इस घबराहट ने उसके मन में यह विवशता जरूर पैदा कर दी है कि भीतर मे सुख को खोजे। इस कारण वह आत्म चिन्तन की तरफ अव्यक्त रूप से मुड़ा है—यह कहा जा सकता है। उसकी इस मनोदशा मे यदि आत्म समीक्षण की भावना जगाई जाय और मन को सन्नद्ध बनाया जाय तो वह अपनी अन्तर्यात्रा के विषय मे चिन्तनशील बन सकेगा। चिन्तनशीलता की भूमिका पर यदि मनुष्य के मन को आरूढ़ कर दिया जाय तो निश्चय ही वह आत्म-साधना के प्रति आकृष्ट हो जायेगा।

एक बार जब मनुष्य के मन की साधक के रूप मे रचना हो जायगी, तब उसकी अन्तर्यात्रा की पिपासा अधिकाधिक तीव्र बनती जायेगी। मन की साधना मे उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी एव अनुभूति भी परिपुष्ट होगी। इसका वास्तविक कारण यह होगा कि उसके भीतर आनन्द का ऐसा स्रोत फूट निकलेगा जो उसे अनुपम लगेगा। इस आनन्द का रसास्वादन उसके अन्त करण मे समुचित मनोभूमि का निर्माण करेगा जिसमे फिर अपनी चित्तवृत्तियो पर नियत्रण कर लेना कठिन नहीं रह जायेगा। तब साधना मे भी एक नई दृढ़ता की ज्योति जाग जायेगी।

समीक्षण ध्यान साधना

मन की साधना के सम्बन्ध मे अगणित प्रयोग प्रचलित है जैसे हठयोग, भक्तियोग, लय योग, कर्मयोग, सहज योग आदि। इनमे से सहज योग की साधना अवश्य अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है जिसके माध्यम से तनाव मुक्ति एव शान्ति से साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि किसी भी आत्मदर्शन की साधना की प्रारभिक भूमिका मन की साधना ही होगी। मन की साधना में मुख्य रूप से चित्तवृत्तियों के नियत्रण एव संशोधन पर बल दिया गया है।

यद्यपि यह कार्य आसान नहीं है और अधिसख्य साधको के प्रयास विफल हो चुके हैं, फिर भी जो स्वानुभूति से प्रबोध लेते चलते हैं तथा स्थायी सुख का मार्ग खोजते हैं एक दिन सफलता उनके चरण अवश्य चूमती है।

स्वानुभूति की परिपुष्टता की दृष्टि से उपरोक्त प्रयोगो की श्रृखला मे जो समीक्षण ध्यान पद्धति का सृजन किया है, वह यदि निष्ठा के साथ साधको द्वारा अपनाई जाय तो विश्वास है कि स्वानुभूति की सक्षमता अभिवृद्ध की जा सकती है। मेरा यह विश्वास इस समीक्षण ध्यान पद्धति के सफल प्रयोगो पर आधारित है। कई साधक इस पद्धति को अपना रहे है और उन्हे इसके सुपरिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं।

समीक्षण ध्यान पद्धति है क्या? अपने समस्त जीवाजीव पदार्थों को सम्यक् प्रकार से देखना। क्या यह देखना इन चर्म चक्षुओं से सभव होगा? कतई नही। यह देखना सभव हो सकेगा मात्र ज्ञान चक्षुओं के माध्यम से और इस कारण पहले अपने ज्ञान चक्षुओं को उघाड़ना होगा। यह पहले अन्तर्चक्षुओं को खोलेगी। समीक्षण ध्यान साधना से पहले भूमिका की शुद्धि आवश्यकता बताई गई है। इस ध्यान की भूमिका है मानस पटल और ध्यान की सफलता के लिए पहले इसी पटल को विशुद्ध बनाना होगा।

ध्यान साधना का अर्थ होगा कि मनुष्य बाह्य जगत् से अपने आपको सकुचित बनावे तथा अपने अन्त करण मे प्रवेश करे। इसका उद्देश्य होगा विशृंखलित बनी चित्तवृत्तियो का विशोधनपूर्वक नियत्रण करना। अनन्तकाल से बहिर्मुखी बनी हुई इन वृत्तियों को सुनियोजित करने के लिए विशेष प्रकार की भूमिका की आवश्यकता होगी। किसान बीज वपन के पहले जैसे अपने क्षेत्र की शुद्धि करता है, वैसी ही कोशिश एक साधक को भी विकेन्द्रित वृत्तियो के नियत्रण से पहले स्थान, वातावरण की शुद्धि तथा सकल्पशक्ति की दृढता के रूप मे करनी होती है।

सर्वप्रथम मन की साधना के प्रति तीव्रतम सकल्प की आवश्यकता होगी। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने ही सकल्प, अपने ही विकास या पतन की दिशा का निर्धारण करते है। किसी भी दिशा मे अग्रगामी बनने के लिए सकल्पो की तीव्रता अपेक्षित होती है। सकल्प जितना सुदृढ होता है, तदनुसार उसका आचरण भी अधिक सक्रिय होता है। इसलिए साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहले सत्सकल्प की सुदृढ़ता वाछनीय और अनिवार्य है। सत्सकल्प की परिपूर्णता के साथ साधना निश्चित रूप से अधिक गतिशील होगी।

दृढ सकल्प के बाद स्थान तथा वातावरण का भी एक ध्यान-साधक के चित्त पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान साधना के लिये उपयोगी स्थान वही माना जायेगा, जो एकान्त, शान्त, नीरव तथा इन्द्रियाकर्षण के पदार्थों से रहित हो। स्थान यदि उपयोगी नहीं हो तो साधना मे विघ्न पड़ते रहते हैं जिनके कारण परिणाम प्राप्ति की अवधि लम्बी हो जाती है। इसलिये द्रव्य और भावरूप उभययुक्त शुद्धि वाले स्थान का चयन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार आस-पास का वातावरण भी साधक के ध्यान-सम्बल को डिगाने वाला नहीं, बढ़ाने वाला होना चाहिये। अन्तःप्रवेश के लिए सरलता अनिवार्य होती है और सहज सरल परिधान, स्थान तथा वातावरण की उपस्थिति मे साधना का सम्यक् विकास सरल बन जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार समय के साथ मे भी मन का तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अत समीक्षण ध्यान की साधना मे समय का निर्धारण भी आवश्यक होगा क्योंकि

नियमबद्ध समय पर स्वत ही साधना की स्मृति हो आयेगी तथा उसमे प्रवृत्त हो जाने की लगन लग जायेगी। समय की नियमितता सध जाने पर साधक के मन की क्रियाशीलता स्वचालित जैसी हो जायेगी। ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय ब्रह्म मुहूर्त्त याने कि रात्रि का अन्तिम प्रहर और सूर्योदय के साथ प्रथम प्रहर का समय माना गया है।

तब यह समीक्षण ध्यान अपने विधि क्रम से साधा जाना चाहिये। ध्यानारभ से 'आधा घटा पूर्व साधक को निद्रा त्याग देनी चाहिये ताकि दैहिक चिन्ताओं से निवृत्त होकर वह यथासमय साधना मे प्रवृत्त हो सके। तब साधक सामान्य आसन पर माला, मुखवाचिका आदि साधन सामग्री लेकर बैठे और यथा सुविधा सामायिक या सवर का प्रत्याख्यान ले। वन्दन-नमन द्वारा साधक पहले अपने प्रमाद को भी मिटावे तो अपनी वृत्तियो मे मान को हटाकर नम्रता का सचार भी कर दे। विधिपूर्वक वन्दन तीन बार आवर्तन सहित वन्दन करने से वक्षस्थल की मास पेशियो मे नये रक्त का सचार होगा इससे प्राण वायु की ग्रहण क्षमता बढ़ जायेगी। फिर पद्मासन से बैठकर साधक ध्यान मे बैठ जावे—किसी प्रकार का तनाव अपने भीतर न उठने दे। सहज भाव से मेरूदड सीधा और सरल रहे। ध्यान की इस मुद्रा मे निरहंकारी वृत्ति की स्पष्ट झलक होनी चाहिये।

इस विध ध्यान मे स्थित हो जाने के बाद यो समझिये कि अपनी अन्तर्यात्रा का यह आरम्भ है। इस यात्रा का आरभ ही आन्तरिक चिन्तनशीलता को उभारता है कि सारा जीवन और सारा समय हमने सासारिक विषयो के पीछे लगा रखा है तो क्या मात्र इस मामूली से समय की ध्यानावस्थितता से काम चल जायेगा ? तब भीतर ही भीतर एक असन्तोष उमड़ने घुमड़ने लगता है और ध्यान के लिए अधिक उत्साह व अधिक समय की अभिलाषा जागती है—अन्तर्दर्शन की पिपासा बलवती होती है। इस चिन्तन के साथ साधना के लिए समुचित एव सहयोगी मनोभूमि का निर्माण होता है जिसके कारण चित्तवृत्तियो को सम्यक् दिशा मे मोड़ना अधिक कठिन नही रहता।

सकल्प की दृढ़ता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण व स्थान की पवित्रता तथा विनय-विवेकपूर्वक त्याग भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना को श्रेष्ठ सम्पुष्टि प्राप्त हो जाती है। तब साधक को मन की गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा उसे समझकर आवश्यक निर्देश सकल्पित किये जाने चाहिये। यह प्रयास होना चाहिये कि मन कम से कम साधना की निर्धारित कालावधि मे तो दिये गये निर्देशो का पालन करे ही। उसकी सारी बहिर्गमिता की दौड़ तब तक के समय के लिए तो शान्त कर दी जानी चाहिये। साधक के संकेतो के विपरीत उसका मन एक क्षण के लिये भी नही चले—इसका निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिये। जितने दृढ़ संकल्प के साथ साधक अपने मन को निर्देश देगा, वस्तुत मन भी उतनी ही सक्रियतापूर्वक उन निर्देशो का अनुसरण करने लगेगा। निर्देशो का सकल्प के साथ सयुक्त होना आवश्यक है। साधक जब अपने ऊर्जायुक्त सकल्प का सहयोग लेगा तो मन की समस्त वृत्तियाँ अपने केन्द्र का अतिक्रमण करने मे समर्थ नही रह सकेगी। किसी प्रकार की आधी उन वृत्तियो को अपने साथ बहा नहीं सकेगी। लेकिन यह सब सभव हो सकेगा तीव्रतम सकल्प के साथ निश्चित अवधि तक इन्द्रियो एव मन पर सम्यक नियत्रण रखने के कठिन प्रयास के माध्यम से ही। परमोच्च भावना और परमात्मा की साक्षी से लिया गया ऐसा संकल्प, उस अवधि मे इन्द्रियो को उनके विषयो के आकर्षण विकर्षण मे लिपटने नहीं देगा। वे पापजनक असत्य वृत्तियो मे भी नहीं जा सकेगी तो वर्ण रस, गध, स्पर्श

आदि के प्रलोभन मे भी नहीं गिरेगी। ऐसे सकल्प से इन्द्रियो को प्रशस्त सवल मिल जायेगा जिसका आश्रय लेकर वे समस्त प्राणियो की रक्षा मे सावधान बन जायेगी और विश्वमैत्री की उच्च भावना के अनुसार कार्य करेगी।

समीक्षण ध्यान मे केन्द्रस्थ होने के लिये मन के स्वरूप एवं उसकी गतिविधि को बारीकी से समझना जरूरी है। वस्तुत. मन एक बालक के समान स्वभाव वाला होता है नादान और चंचल। चंचलता के कारण यह सभव होता है कि किसी भी चीज का उपयोग विकास के लिये नहीं, विनाश के लिए कर दिया जाता है। एक बालक के हाथ मे कुल्हाड़ी आ जाय तो वह उस का उपयोग सबसे पहले अपने घर के दरवाजो पर ही करना शुरू कर देगा। उस समय जितने स्नेह, जितने विवेक और जितनी कुशलता से बालक को समझाया जा सकता है, मन को सही राह पर लगाने के लिए उससे भी अधिक स्नेह, विवेक और कुशलता की आवश्यकता होगी। इसका कारण यह है कि मन हर समय क्रियाशील रहता है और उसकी क्रियाशीलता जितनी अनुपयोगी होती है, वह शैतान का घर बनता जाता है। इसलिये मन की विपथगामिता को रोकने तथा उसे सम्यक् दिशा मे प्रवर्तित करने के लिये भी अद्भुत कौशल चाहिये। यही कौशल समीक्षण ध्यानाभ्यास से प्राप्त होता है। मन को काम चाहिये—क्रिया चाहिये, आप उसे सही काम और क्रिया दे देते है तो वह और दौड़ेगा एव आपके उद्देश्य को सफल बनाने मे जुट पड़ेगा। यदि आप उसे व्यवस्थित दिशा नही दे पाते हैं तो वह बिगड़ैल बच्चे की तरह इधर उधर भटकेगा ही। तब वह विध्वस के सूत्रो को ही पकड़ता रहेगा। अत. मन के मननपूर्ण स्वभाव को एक साधक समझे और उसकी गतिशीलता को शुभता की ओर मोड़े। मन तो हर समय गति करेगा ही इसलिए उसे स्थिर नहीं करना है बल्कि उसकी गति को शुभ मोड़ देना है। मनरसाधना का यही अर्थ है कि मन की गति-दिशा को परिवर्तित कर लेना। उसे असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मोड़ लेना ही इस साधना का ध्येय है। यह मानस-परिवर्तन आत्मा को उसके विभाव से निकाल कर स्वभाव मे अवस्थित बना देगा।

संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मों से सपृक्त बनी हुई है जिससे उसका मूल विशुद्ध रूप मलिन हो गया है। इस मैल को अनियन्त्रित मन और इन्द्रिया बढ़ाती ही जाती हैं जो परत-दर-परत बहुत गाढ़ा और चिकना हो गया है। इस मैल को दूर करने का एक ही उपाय है कि विकार बढ़ाने वाली इन्द्रियों पर ही अपना अनुशासन स्थापित किया जाय और इसमे सहायता करता है समीक्षण ध्यान अर्थात् वृत्तियो के संशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण की साधना। इस साधना का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि मन को गतिहीन बना दिया जाय अथवा वृत्तियो का अवरुंधन कर दिया जाय। वृत्तियो के सशोधन, उदात्तीकरण तथा रूपान्तरण का कार्य करेगी समीक्षण ध्यान साधना, जो मन की गति को रोकेगी नहीं, शुभ दिशा मे मोड़ देगी। साधक मन की गति को मोड़ेगा और मन इन्द्रियों को मोड़ेगा। यह क्रम चलता रहेगा और नियन्त्रण का चक्र भी सुचारु रूप से घूमता रहेगा।

समीक्षण ध्यान के परिप्रेक्ष्य मे 'समीक्षण' का अर्थ सदर्भ स्पष्ट हो जाना चाहिये। समीक्षण शब्द का अर्थ है सम्यक् रीति से अथवा समतापूर्वक देखना निरीक्षण करना। यह शब्द दो शब्दों सम्+ईक्षण के संयोग से बना है। इसका भावार्थ यह हुआ कि अपनी ही वृत्तियो को हम सम्यक् रीति से समभाव पूर्वक देखें और निरन्तर उनका निरीक्षण करते रहें। फलस्वरूप चित्तवृत्तियो की कलुषितता हमारी नजर मे आयेगी तो यह भी समझ मे आयेगा कि उनका परिशोधन कैसे किया

जाय ? समीक्षण ध्यान हमारे ज्ञान-चक्षु खोलेगा ही नही, बल्कि वह स्वय ज्ञान-चक्षु रूप बन जायेगा। एक साधक कालुष्य को देखेगा तभी उसका परिशोधन भी कर सकेगा। अपनी प्रारभिक भूमिका मे वह केवल अपनी चित्तवृत्तियो का सम्यक् निरीक्षण ही कर सकेगा। निरीक्षण से ही वह जान सकेगा कि मन किन-किन अशुभ प्रवृत्तियो मे गतिशील हो रहा है ? उन प्रवृत्तियो के उद्दीपक हेतु क्या-क्या है ? इस जानकारी के बाद ही उन वृत्तियो की अशुभता से शुभता मे प्रवृत्ति हेतु साधक अपने प्रयासो को तेज कर सकेगा। इस प्रकार का अनुचितनपूर्ण निरीक्षण ही समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा।

समीक्षण की इस प्रक्रिया के साथ व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध स्थूल चिन्तन की ओर मुड़ना होगा। व्यक्ति अकेला नहीं होता, वह अपनी सामाजिकता से भी बधा हुआ होता है और इसलिये उसे समाज, परिवार अथवा अन्य सगठनो से सम्बन्धित प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होना पड़ता है। यह उसकी व्यावहारिक अनिवार्यता है। इसलिये अपनी साधना के समय साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि विवशतावश उसको अपने समाज या अन्य सगठनो से सम्बन्धित अशुभ प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होना पड़ता है यह उसकी आत्मिक दुर्बलता है। अशुभ को अशुभ रूप मे स्वीकार कर लेने से भी साधना को बल ही मिलता है। ऐसा ही विचार अपने अनैतिक आचरण के प्रति भी उठना चाहिये और साथ-साथ उस दुर्बलता को यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का भी मानस बनना चाहिये। विवशताजन्य असत्प्रवृत्तियो के प्रति पश्चात्ताप की भावना उभरनी चाहिये। इससे प्रायश्चित लेने की धारणा बनेगी क्योकि प्रायश्चित उस भूल के प्रति सावधानी रखने के भाव का गहरा अंकन कर देता है। मन पर गभीर प्रभाव को अंकित बनाये रखने का सरल उपाय यह है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक इच्छित वैषयिक पदार्थ उसे न दिये जाय जिससे उसकी आसक्ति टूटती चली जाय। टूटती हुई आसक्ति मे उसको जो सकल्पपूर्वक निर्देश दिये जायेगे, उसकी पालना वह अवश्य करेगा। निर्देश देने के समय यह ध्यान मे रखा जाना चाहिये कि मन की उन वृत्तियो का भी रूपान्तरण हो जो विवशता, प्रमाद अथवा दुर्बलता के घेरो मे बधी हुई है। उन वृत्तियो को भी जब परिमार्जित करने का पुरुषार्थ प्रकट होगा, तब समीक्षण ध्यान का भी वैज्ञानिक रूप अधिक सक्रिय बन जायेगा। यह सही है कि सभी भूलो या त्रुटियो का एक साथ परिमार्जन नहीं हो सकेगा किन्तु स्थूल वृत्तियो को शुभता की ओर मोड़ने के साथ सूक्ष्म दोषो पर भी साधक की दृष्टि अवश्य चली जायेगी। इस प्रकार जब तक चित्त मे समीक्षण के प्रति उत्साह, उमग और मन की गहरी भूख बनी रहे तब तक साधक आत्मावलोकन अथवा व्यवहार-दर्शन की इस प्रक्रिया मे सलग्न बना रहे। चिन्तन का समय इस तरह बढ़ाया जाता रहे कि उससे मन ऊबे नही। क्योकि शुरू मे ही मन ऊब जायेगा तो वह चिन्तनशीलता आगे नहीं बढ़ सकेगी।

समीक्षण का द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश मे मनोवृत्तियो का समायोजन करने के बाद आत्म लक्ष्य मे प्रवेश का समीक्षण का द्वितीय चरण प्रारभ होता है। और यह चरण होता है आदर्श स्थिरता का। किसी भी उच्च आदर्श की स्थिरता के अभाव मे साधना मे अबाध गति उत्पन्न नहीं होती है। साधना का ही प्रश्न नहीं, किसी भी शुभ कार्य के प्रति तब तक समर्पित भाव उत्पन्न नहीं होता है जब तक कि कोई आदर्श-कल्पना सामने न हो। एक व्यवसायी भी अपने व्यवसाय को प्रारभ करने से पूर्व

किसी समर्थ सफल व्यवसायी को आदर्श मानकर ही व्यवसाय के क्षेत्र मे आगे बढ़ सकता है। ठीक इसी प्रकार साधना के क्षेत्र मे कदम बढ़ाने से पहले किसी आदर्श को सामने रखना अनिवार्य है। किन्तु यह आदर्श परमोच्च एव परम श्रेष्ठ होना चाहिये। यह आदर्श जितना उच्चतम होगा, उतनी ही साधना की गति ऊर्ध्वगामी बनेगी। इसलिये अपना आदर्श निर्धारण करने मे जागृत वृत्ति की आवश्यकता होती है।

प्रश्न है कि आदर्श कैसा होना चाहिये? आदर्श वही हो जो अपने लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान बन सके। वह लक्ष्य क्या है? वह लक्ष्य है आत्मा को सर्वविशुद्ध रूप प्रदान करके सिद्धावस्था तक पहुँचाने का। साधक का प्रथम चिन्तन इस दृष्टि से आदर्श का अनुचिन्तन ही होगा जो यह भान दिलाता है कि यह मानव-जीवन मात्र इसी जीवन तक सीमित नही है। यह विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करते हुए ऐसे सशक्त साधन के रूप मे मिला है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। इस जीवन और अन्य दुर्लभ प्राप्तियो के पश्चात् आत्म-कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहना, पुण्यमय सयोगो का सदुपयोग नही करना तथा भौतिक पदार्थो के उपार्जन मे ही बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करना कतई समुचित नही है।

साधक का यह चिन्तन चलना चाहिये कि मुझे आज जो अनुकूलताएँ मिली है, क्या मै आत्म-विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ये सब मुझे आगामी जन्म मे भी प्राप्त होगी? और यदि ऐसा नहीं है तो उनका इसी जीवन मे पूर्ण सदुपयोग कर ही लेना चाहिये क्योकि मात्र भौतिक साधनो की उपलब्धि का मार्ग अज्ञान के अधकार से आवृत्त होता है। अधकार की ओर गति करना मेरा लक्ष्य नहीं है। यदि मै अधकार मे ही रहूँ तो ये इन्द्रियाँ भी काम भोगो की तरफ आकर्षित होती रहेगी। समस्त दृश्य, श्रव्य अथवा अस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्श लक्ष्य से विचलित करने की ही क्रिया करते रहते है। इसलिए मुझे इन सबसे ऊपर उठकर अपने आत्म-साक्षात्कार की ओर इस गति से बढ़ना चाहिये कि जहाँ अधकार की एक रेखा तक न रहे—चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश हो। इस प्रकाश मे आत्म-ज्ञान का, अनन्त सूर्यो से अधिक तेज होते हुए भी परम शान्ति का आलोक व्याप्त होता है। लोगस्स के पाठ मे 'आइच्चेसु अहिय पयासयरा' के अश से ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख किया गया है। अत मेरा आदर्श भौतिक पदार्थो का अनुबधित प्रकाशाभास नहीं, अपितु अपनी ही आत्मा से उद्‌घाटित होने वाला अपूर्व प्रकाश है। यह प्रकाश है सत्, चित् एव आनन्दमय। यह परमोच्च आदर्श मुझे मेरी साधना मे प्रतिपल अपने सामने रखना है। यही सर्वोत्तम आदर्श है।

भविष्य के निर्धारण का चरण

यह सर्वोत्तम आदर्श ही साधनारत आत्मा का प्रकाश स्तभ होता है। आदर्श के निर्धारण एवं उसी प्रकार लक्ष्य के सस्मरण द्वारा आत्मलक्षी अन्तरावलोकन करने के बाद जब तक साधक पुन अपने व्यावहारिक जीवन मे लौटता है तब उसका तीसरा और अन्तिम चरण आरभ होता है। यह अन्तिम चरण होता है अपने भविष्य के सम्यक् रीति से निर्धारण का।

साधक की अन्तर्यात्रा का आरभ बाहर से भीतर मे प्रवेश करने के रूप मे होता है यानि वह अपने व्यावहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश करता है, देह से चेतना की तरफ उन्मुख होता है। किन्तु यह क्रम पहले सामयिक ही रहता है क्योकि साधना मे निश्चित अवधि तक बैठने के बाद वह फिर से अपने व्यावहारिक जीवन मे चला जाता है। किन्तु उस का यह प्रत्यावर्तन

भी उसे अपने लक्ष्य एवं आदर्श से विस्मृत नहीं बनाना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन की ही यथोचित सम्यक् पूर्ति उसके व्यावहारिक जीवन मे भी होनी चाहिये। फिर बार-बार जो एक जीवन से दूसरे जीवन मे भावनात्मक प्रत्यावर्तन होता रहेगा, उसमे भावनात्मक परिवर्तन एवं उच्चतरता की अपेक्षा रहेगी। तब यह प्रत्यावर्तन एक दूसरे का सम्पूरक बन जायेगा बल्कि यो कहे कि दोनो जीवन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होने लगेगे। व्यावहारिक जीवन मे भी आदर्श एवं लक्ष्य के अनुकूल आचरण का विस्तार हो जायेगा।

भविष्य के निर्धारण के प्रति तब साधक का सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित होने लगेगा। तब उसकी सकल्प शक्ति भी बलवती होने लगेगी। जब वह व्यावहारिक जीवन में लौटेगा, तब पहले की तरह विषम परिस्थितियो के सामने झुकेगा या गिरेगा नहीं। उनसे सम्हल कर चलेगा, अपितु उन्हे सुधारने का सत्प्रयास भी करेगा। उसकी इस सजग वृत्ति से उसके व्यावहारिक जीवन मे भी लोकोपकार की भावना पैदा होगी। वह सोचेगा कि जिस लक्ष्य एवं आदर्श को मै उत्थानकारी मानता हूँ और जिस दिशा मे मै गति कर रहा हूँ, क्यो नही प्रत्येक मानव भी उस लक्ष्य और आदर्श को उत्थानकारी माने और क्यो नहीं, प्रत्येक मानव उसी दिशा मे गति करे ? यह उसकी लोकोपकार की भावना होगी। इस दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक जीवन मे अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी चरण बन जायेगा। समुच्चय रूप से इस परिप्रेक्ष्य मे तब एक साधक अपने भविष्य का निर्धारण समतापूर्वक करना चाहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधक अपने भविष्य का निर्धारण इस रूप मे करना चाहेगा कि उसकी साधना विस्तृत और व्यापक बने। इसका अर्थ है कि उसकी साधना अव्यक्त रूप से उसके व्यावहारिक जीवन मे भी स्थान पावे और फैले। आध्यात्मिक जीवन से पुन· अपने व्यावहारिक जीवन मे लौटते समय उसको अपने क्रियाकलापो मे सबसे पहले प्रबलतम सकल्प के साथ-साथ सामयिक निश्चितता एव समय की नियमितता पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योंकि उसी आधार पर वह अपने चौबीसो घटो का कार्यक्रम निश्चित कर पायेगा। आगे के कार्यक्रम का निर्धारण उसे साधना से उठते ही कर लेना चाहिये जो पुन साधना मे अवस्थित होने तक का हो। इस कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करना चाहिये कि उसमे प्रत्येक मिनिट का हिसाब हो। एक भी मिनिट न आलस्य मे खोया जाय और न एक भी मिनिट का दुरुपयोग किया जाय। इससे आगे बढ़कर यह निश्चय किया जाय कि अधिकाधिक समय स्व-पर लोक-कल्याण मे नियोजित हो। ज्यो-ज्यो साधना का क्रम सघन होता जाय, त्यो-त्यो स्व-पर कल्याण की निष्ठा भी प्रबल बनती जाय। साधक के जीवन मे तब वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहाँ उसके दोनो प्रकार के जीवनो मे गहरा सामजस्य पैदा हो जाय। उसी स्थिति में दोनो जीवन अपने वास्तविक अर्थ मे एक दूसरे के सम्पूरक बन सकेगे। फिर दैहिक चिन्ताओं से निवृत्ति भी की जा सकेगी तो निर्वाह हेतु व्यवसाय का सचालन भी सकेगा, तब भी भावनात्मक लक्ष्य सुस्थिर बना रहेगा और प्रतिपल आत्म चिन्तन की वृत्ति ही बल एव मुखर बनती जायेगी।

फिर साधक को अपने अगले चौबीस घटो का पक्का कार्यक्रम भी बनाना चाहिये। साधना के समय पिछले चौबीस घटो का आलोचनात्मक लेखा-जोखा भी लेना चाहिये। उदाहरणार्थ जब

साधक अपनी साधना से उठे तो पूरे चौबीस घटो का अग्रिम कार्यक्रम निश्चित करे कि इतने बजकर इतने मिनिट पर वह अपनी व्यावहारिक चिन्ताओं से निवृत्ति पा लेगा व फिर इतने बजकर इतने मिनिट तक अमुक कार्य करेगा। सारी दिनचर्या इस रूप मे सुनिश्चित हो जानी चाहिये। उसे निश्चय करके ही विराम नही ले लेना चाहिये बल्कि सशक्त मानस के साथ उस कार्यक्रम का उसे उसी रीति से अनुसरण भी करना चाहिये। उसमे प्रमादवश या अकारण किसी प्रकार का अन्तर नहीं आना चाहिये।

सहजता जीवन का अंग बने

एक साधक के लिए इस रूप मे समय निर्धारण एव कठोरतापूर्वक उसके पालन के साथ साधना की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वह जिस किसी कार्य मे सलग्न होता है, उसमे उसकी समस्त वृत्तियॉ समर्पित भाव से प्रवर्तित होनी चाहिये। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, विवेक एव उपयोग उस कार्य की सम्पूर्ति मे लग जाना चाहिये। समझिये कि एक साधक शास्त्र अथवा उपयोगी ग्रथ का वाचन कर रहा है तो उसका समग्र ध्यान उस वाचन मे केन्द्रित हो जाय—इस तरह कि जैसे वह उस आनन्द मे निमग्न हो गया हो। उसे ऐसी अनुभूति हो कि उसका चित्त उस कार्य मे पूरी तरह से रस ले रहा है। तल्लीनता उसका आत्मगुण बन जाना चाहिए। ऐसी तल्लीनता आध्यात्मिक कार्यो मे तो हो ही किन्तु उस तल्लीनता का प्रसार उसके व्यावहारिक जीवन मे भी हो जाना चाहिये। जैसे वह जब भोजन कर रहा हो तो जो भी सामने है मुदित मन उसको प्रेमपूर्वक खावे और उसी तल्लीनता से खावे।

तल्लीनता का यह आत्म-गुण परिपुष्ट तब बन सकेगा, जब एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य का स्मरण तक न किया जाय। जब साधक ग्रन्थ का वाचन कर रहा हो तब अन्य साधना के बारे मे भी नहीं सोचे। किसी सांसारिक कार्य के लिए सोचने का सवाल ही नही है। इसी प्रकार जब वह भोजन कर रहा हो तो स्नान करने के बारे मे नही सोचे। प्रत्येक क्रिया के प्रति इस तल्लीन भाव से उस क्रिया की सार्थकता का सीधा अनुभव होगा।

इसी तल्लीनता को एकावधानता का नाम दिया गया है और यही जीवन की सहजता है अथवा 'सहज योग' की साधना है। जो कार्य जिस समय कर रहे है, उसी मे अपनी चित्तवृत्तियो का सारा ध्यान केन्द्रित हो जाय और अन्य कोई बात स्मृति तक मे नहीं आवे, तब एकाग्रता का सुन्दर अभ्यास बनेगा। एकाग्रता से अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ जब एक ही कार्य मे निरत बनेगी—समर्पित हो जायेगी तब उस कार्य की सफलता भी असदिग्ध हो जायेगी। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना सपुष्ट बन जायेगा कि पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार प्रत्येक कार्य सहजतापूर्वक सम्पन्न होने लगेगा। यो कहे कि सहजता जीवन का अग बन जायगी।

सहज योग की साधना की यही उत्साहकारी भूमिका भी बन जायेगी। यह समीक्षण ध्यान साधना का तीसरा चरण अथवा अन्तिम आयाम होगा कि हाथ मे लिये हुए कार्य के प्रति अथवा यदि कोई चिन्तन कर रहे हैं तो उस चिन्तन के प्रति समग्र समर्पण का सकल्प बन जाय। सकल्प की दृढ़ता यहाँ तक बन जाय कि धारणा ले लेने के बाद भोजन के समय एक-एक कृत-क्रिया पर सजगता की आलोचना हो सके। रोटी का टुकड़ा तोड़ते समय और कवल मुह मे रखते समय अथवा उसको चवाते समय साधक का उपयोग जागृत रहे। उसके मन मे यह विचार चलता रहे कि

मै अपनी प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूंगा तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्रभाव की सम्यक् समीक्षा करूगा। उसका एक भी कवल बिना इस प्रकार की सजगता के मुँह मे नहीं जावे और न मुँह से गले मे उतरे। यह सजगता भोजन के समय मे ही रहे ऐसी बात नही है। साधक की प्रत्येक क्रिया मे उसकी ऐसी सजगता वर्तमान रहनी चाहिये।

भोजन के समय मे अथवा अन्य किसी कार्य के समय मे साधी जाने वाली ऐसी सजग साधना से 'सहज योग' की साधना तो होगी ही किन्तु साथ-साथ मे ऐसी साधना का सुप्रभाव शरीर के विविध अगोपांगो पर भी पड़ेगा। जैसे भोजन के समय की ऐसी साधना उसकी पाचन क्रिया को सरल व सहज बना देगी। सतत जागृति के कारण खाद्य पदार्थों का मुँह मे चर्वण अच्छी तरह से होगा तो उसमे पाचक रसो का सम्मिश्रण भी समुचित रीति से सभव बनेगा। भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही वह सुपाच्य भी होगा। प्राणशक्ति के सवर्धन के लिए पाचन क्रिया का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है। उसी प्रकार प्राणशक्ति का सवर्धन साधना की सफलता के लिये भी आवश्यक होता है। अत भोजन के समय ऐसी तल्लीनता और जागृति रखी जायेगी तो उससे शारीरिक स्थिति भी व्यवस्थित रहेगी और साधना का सम्बल भी अभिवृद्ध बनेगा। भोजन ग्रहण करने के समान ही दिनचर्या की प्रत्येक क्रिया मे साधक को ऐसी ही तल्लीनता एव जागृति साधनी चाहिये। सतत सावधानता साधना की मूल वृत्ति हो जानी चाहिये।

साधना के इस त्रिचरणात्मक समीक्षण क्रम मे पिछले चौवीस घटो की क्रियाओं का सस्मरण एव आगामी चौवीस घटो की क्रियाओं का निर्धारण नियमित वन जाना चाहिये। और इन दोनो के बीच मे जो आध्यात्मिक साधना का क्रम चलेगा, उसमे आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन भी नियमित रूप से चलना चाहिये। जहॉ-जहॉ मनो-वृत्तियो का स्खलन होता हो, वहा-वहाँ साधक को अपनी सावधानी का सम्वल वढ़ाते रहना चाहिये। साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधना-काल मे मन उसका अनुचर वनकर रहे तथा उसके प्रत्येक निर्देश की यथावत् अनुपालना करे। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता का सकल्प प्रतिक्षण स्मृति-पटल पर आता रहना चाहिये ताकि उसके तनिक से इधर उधर होते ही उसे पुन अपने स्थान पर आ जाने के लिये वाध्य किया जा सके। क्योकि मन को अनुचरवत् अनुशासित किये विना सकल्पो का सशक्त वन पाना सभव नही होता है। और जब तक सकल्प सशक्त न वन सके तव तक लक्ष्य सिद्धि असभव वनी रहती है। अत लक्ष्य के प्रति पल-पल जागृति के साथ मनोवृत्तियो का नियमित समीक्षीकरण साधना का अनिवार्य पक्ष माना जायेगा। समीक्षण मे जागृति की नितात आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारी आत्मा का लक्ष्य सिद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार करना है। परम चैतन्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा अविचल शान्ति पूर्ण विश्रान्ति ये ही अपनी साधना के उच्चतम लक्ष्य हैं जिनके लिये त्रि-आयामी समीक्षण ध्यान पद्धति का निरूपण किया गया है। यह पद्धति मन स्थिति को सुदृढ़ वनाकर एकावधानी वनाने की भूमिका मात्र है जवकि समीक्षण ध्यान की उन्नति असीम होती है। एकाग्र तल्लीनता अथवा एकावधानता स्वय सर्वोच्च लक्ष्य नहीं हैं वल्कि सर्वोच्च लक्ष्य की पृष्ठभूमि मात्र है। यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिये कि पूर्व भूमिका स्वरूप समीक्षण ध्यान के ये तीनो चरण प्रतिदिन की प्रखरता के साथ सूक्ष्मता मे अवगाहन करने वाले वनते जावे। प्रतिदिन घटित होने वाली वातो पर जव प्रतिदिन चिन्तन चलता रहेगा, तव वह स्वय

तो साधना नही होगी किन्तु साधना को उससे पुष्टि अवश्य मिलेगी। चिन्तन, साधना रूप तब बनेगा जब वह विषय की सूक्ष्मता मे प्रवेश करके सूक्ष्मतम तलस्पर्शिता तक पहुँचेगा। गूढ़ता जितनी बढ़ती जायेगी, चिन्तन उतना प्रामाविक बनता जायेगा। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि' की उक्ति को सामने रखकर अधिकाधिक गभीरता अर्जित की जानी चाहिये।

किन्तु गूढ़ता और गभीरता अपने चिन्तन मे अभिवृद्ध होती रहे इसके लिये साधक को क्या करना चाहिये ? चिन्तन का क्रम तब तक ही चलाया जाना चाहिये जब तक मन-मस्तिष्क मे किसी प्रकार का तनाव पैदा न हो। ज्यो ही यह अनुभव हो कि चिन्तन के प्रति उत्साह और उमग मे न्यूनता आ गई है त्यो ही चिन्तन के विषय को बदल देना चाहिये। साधक के लिए इस प्रकार की सावधानी तीनो मे से प्रत्येक चरण मे आवश्यक है। जरा-सा भी तनाव आ जाय तो थोड़ी देर के लिए विश्रान्ति ले लेनी चाहिये ताकि चिन्तन का पुन आरम्भ मस्तिष्क की ताजगी के साथ हो। दूसरे चरण मे भी आदर्श के अनुस्मरण रूप सावधानी आवश्यक होती है। अनुस्मरण करते-करते साधक को तदनुरूप की अनुभूति होनी चाहिये। उसके मन मे ऐसा सुदृढ़ सकल्प उठना चाहिये कि मेरी अन्तश्चेतना मे अनन्त सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक देदीप्यमान प्रकाश विद्यमान है। आत्म-स्वरूप रूपी आकाश मे वह प्रकाश चमचमा रहा है। मेरे आत्मिक धरातल पर अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे है। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ जैसे कि मेरे भीतर अपार शक्तियो की अभिव्यक्तिया हो रही हो।

यह निश्चित है कि साधना के इस स्तर तक पहुँचने मे पर्याप्त समय की अपेक्षा रहेगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। दीर्घकाल से विशृखल, विषम एव उद्दड बनी आत्मा की वृत्तियो को एकदम जीत लेना कठिन है। उसी प्रकार सर्वोच्च सिद्धि के लिए प्रयत्न भी सर्वोत्कृष्ट होने ही चाहिये। अपने जीवन-व्यवहार मे देखा जाता है कि बीज बोने के साथ ही फल की प्राप्ति नही हो जाती है। किन्ही फलो को प्राप्त करने के लिए कई महीनो तक और आम जैसे फल को प्राप्त करने के लिये कई वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब भौतिक फलो की प्राप्ति के लिये भी सन्तोष के साथ प्रतीक्षा कर ली जाती है और उसकी प्राप्ति मे अविश्वास भी नही रखा जाता है, फिर आध्यात्मिक साधना के फल की कामना करते हुए धैर्य क्यो छोड़ देना चाहिये ? निश्चित विश्वास तथा अगाध धैर्य के साथ ही साधना की जायेगी तो साध्य का साक्षात्कार भी निश्चित रूप से हो जायेगा। यह सही है कि आध्यात्मिक विषय के अनुसार इन्द्रियॉ और उसी प्रकार मन भी अपना नही, 'पर' होता है—सभी दृश्य पदार्थो से परे होकर ही अदृश्य सत्ता—आत्मज्योति पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है। यह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म ही नही वल्कि कई वार अपने सम्पूर्ण विकास मे कई जन्मो का समय ले लेती है। महान् योगी अथवा धुरधर साधक भी इस ध्यान साधना मे सफल वन ही जाय ऐसा नही होता। इसलिए एक साधक को यह वात याद रखनी चाहिये कि उसे एकनिष्ठा और सुदृढ़ सकल्प की प्रतिज्ञा लेकर अविचल विश्वासपूर्वक प्रगति के पथ पर आगे से आगे वढ़ते ही जाना है। क्योंकि कभी-कभी साधना मे होने वाली थकान या सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को अस्त-व्यस्त कर सकती है और ऐसे क्रमभग से साधक का विश्वास डगमगा सकता है या साधना के प्रति अरुचि जाग सकती है। अत आवश्यक है कि दृढ़ निश्चय एव अगाध धैर्य के साथ साधक को विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित होना चाहिये और किसी भी प्रकार की अरुचि, थकान या सुस्ती को दूर रखनी चाहिये।

शक्ति केन्द्र के प्रति सावधानी

इस साधना क्रम मे सर्वाधिक जागृति की आवश्यकता तब प्रतीत होती है जब हमारे दिल के कोनो मे जम कर बैठी हुई दूषित वृत्तियॉ भारी तूफ़ान मचाती है। साधना के समय जब सोई हुई शक्तियाँ जागती है, तब चारो तरफ पवित्रता का एक उ.ठा वायुमंडल तैयार होता है। उस वायुमडल से उन दूषित वृत्तियो का जमा हुआ आसन डोलने लगता है। अपने जमे हुए आसन को कौन आसानी से छोडना चाहता है? परिणामस्वरूप जागती हुई आत्म-शक्तियो तथा जमी हुई दूषित वृत्तियो के बीच मे एक प्रकार का सघर्ष शुरू हो जाता है। यदि साधना का संकल्प दृढ़तर हुआ तो असत्वृत्तियो को अपना आसन छोड़ देना पड़ेगा और साधक को विजय-श्री मिल जायेगी। यदि ऐसी परिपक्व मनोदशा नहीं बन पाई तो अनादिकालीन दूषित विचार उस साधक की साधना को छिन्नभिन्न कर डालेगे। उस दशा मे हताशा और निराशा मे डूबकर साधक लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायेगा। अत इस प्रकार की सावधानी अत्यन्त आवश्यक है कि जब विकारपूर्ण दूषित वृत्तियॉ अपना असर दिखाने लगे तभी तुरन्त आत्मशक्ति के सवल को जागृत बना लेना चाहिये ताकि अपनी उच्छृंखलता के प्रारभ मे ही उन वृत्तियो को परास्त किया जा सके। इतना ही नहीं, उन वृत्तियो के उभरने के कारणो को ही अवरुद्ध वना देना चाहिए। इन वृत्तियो के पहले और हल्के आक्रमण के साथ इस तरह का चिन्तन शुरू कर दिया जाना चाहिये कि ये वृत्तियाँ मेरी स्वाभाविक नहीं, 'पर' से प्रभावित होने से पराई है—आई हुई है, जिहोने मेरी आत्मशक्ति पर अपना डेरा डाल दिया है और मेरी चेतना को व्यामोहित करके उसकी प्रभा हर रखी है।

इन दूषित वृत्तियो का आगमन और उनका मेरे आत्मस्वरूप पर आक्रमण तथा निवास होने का एकमात्र कारण यह है कि मै असावधान रह गया और ये वृत्तियाँ अकुरित और फलित होती गई ऐसा चिन्तन करते हुए एक साधक को उभरती हुई अपनी दूषित वृत्तियो का तत्काल उपशम कर देना चाहिये ताकि उनके कमजोर पड़ जाने पर उनका सरलतापूर्वक क्षय किया जा सके। वह निश्चय करे कि अव ये वृत्तियाँ उसकी आत्मशक्तियो को दवाकर नही रख सकेगी। अव यह इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द सत्-चित् रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त नही कर सकेगा। क्योकि यह दोष उन वृत्तियो का नही मेरा स्वय का है। मै असावधान नही रहता तो भला ये वृत्तियाँ कितनी ही दूषित क्यो न होती, मेरा क्या विगाड़ सकती थी? असावधान मालिक के घर मे कोई चोर घुस जाय और सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करके वही बस जाय तो इसमे चोर को दोष देने से कोई लाभ नही होगा। दोष सारा घर के मालिक का है जो असावधान रहा और घर के दरवाजो मे घुसने से चोरो को पहले ही रोक नही सका। इसी प्रकार की असावधानी के कारण दूषित वृत्तियाँ कभी चोर की तरह तो कभी डाकू की तरह आत्मस्वरूप के पावन मन्दिर मे घुस आती हैं और अपनी विद्रूपता फैला देती हैं। साधक के जागृति के क्षणो मे इसी कारण ये विद्रूप वृत्तियाँ उसके जागरण को आच्छादित वनाती रहती हैं। इसलिए साधक को मूल पर ही प्रहार करना होगा और इन वृत्तियो की सक्रियता को ही मन्द वनाते हुए उन्हे पाप-पथ से हटानी होगी।

साधक अपनी इन वृत्तियो का समीक्षण करते हुए सोचे कि यह मेरी विराट् भूल थी जो मैने इन क्षुद्र वृत्तियो मे आनन्द की खोज की और मैं यह खोज करता ही रहा। तभी तो ये वृत्तियाँ मेरे अन्त करण मे जम ही गई। किन्तु जव से मेरी दृष्टि आत्म-शक्ति की तरफ केन्द्रित वनी है तव से

मैं इन वृत्तियो की क्षुद्रता एव कलुषितता को भलीभाति समझ गया हूँ। मुझे इस सत्य का भी ज्ञान हो गया है कि इन वृत्तियो से मिला मेरा आनन्द क्षणिक क्यो है? और क्यो नहीं मै अब तक तत्त्वदृष्टाओं द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को उपलब्ध कर पाया? किन्तु अब मेरी आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो गई है तथा मेरी आन्तरिक शक्तियाँ क्रियाशील बन गई है, अत' मै फिर से उन दूषित एवं विकृत वृत्तियो के दुष्चक्र मे नहीं फसूगा।

साधक तब यह अनुभव करेगा कि इस ज्योति और जागरण की उसको जो उपलब्धि हुई है, वह मात्र समीक्षण ध्यान का ही सुफल है और वह अपनी चिन्तन धारा को आगे बढ़ायेगा—समीक्षण ध्यान के द्वारा ही मै अपनी आत्म-शक्ति को देख और परख सका हूँ और उसके गहरे तल तक मैं पहुॅच पाया हूॅ। समता की दृष्टि से जब मैने अपने आत्म-स्वरूप को निहारा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित दु ख हुआ। आश्चर्य तो इस बात का कि मै कितनी असीम शक्तियो का धनी हूँ और दु ख इस बात का कि फिर भी मै कितना अशक्त बना हुआ अपने निजत्त्व को भी पहिचान नहीं पा रहा था। मेरी मूल सत्ता केवल आनन्दरूप है, फिर भी मै आनन्द की खोज बाहर ही बाहर करता रहा। शाश्वत आनन्द का असीम कोष मेरे भीतर ही विद्यमान होने के बावजूद मै इन्द्रियो के मलिन विषयो मे डूब गया था। शक्ति और श्री का स्वामी होने के बाद भी मै अपने भ्रम के कारण राह भटकता भिखारी बन गया। मेरा यह भ्रम ही आज मेरे लिये आश्चर्य और दु ख दोनो का विषय बना हुआ है। विनश्वर पदार्थों के लिये मैने अपनी सम्पूर्ण जीवन शक्ति समर्पित कर दी और अपने भव्य स्वरूप को भूल गया—इससे बढ़कर और क्या दु ख हो सकता है?

साधक का दृष्टा पक्ष तब अपने ही आत्मस्वरूप पर फैल रहे अधकार को देखेगा, मैल की परतो को पहिचानेगा और अपनी विभाव दशा का निरीक्षण करेगा। ज्यो-ज्यो उसका निरीक्षण गहरा होता जायेगा, त्यो-त्यो एक वार तो अपनी विदशा देखकर उसका दु ख भी बढ़ता जायेगा किन्तु उसके साथ ही अपनी साधना के सदर्भ मे आशा की प्रकाश रेखाएँ भी खिंच जायेगी कि अब उसका पुरुषार्थ उसकी आत्मा की विद्रूपता को परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की त्रिरूपवती प्रक्रिया के द्वारा उज्ज्वल बनाकर उसे स्वरूपवती बना देगा। दु ख और खेद का विषय यह होगा कि अपना स्वरूप अनन्त आलोकमय होने के बावजूद वह अधकार मे ठोकरे खाता रहा और भटकता रहा। सत्, चित् और आनन्द स्वरूप अनिर्वचनीय अलौकिक आत्मशक्ति के ऊपर इन विकारी वृत्तियो के कारण जो धुआ और कोहरा छा गया है, उसकी ही वजह से वह अपने स्वरूप को पहिचान नही पाया। कितने गहरे अज्ञान मे डूवा हुआ था वह, कितनी प्रगाढ़ मोह निद्रा ने उसे आत्म-विस्मृत वना दिया था और वह स्वामी होकर किस प्रकार दासो का दास बन गया था? इस प्रकार एक साधक का अपनी विकृत दशा पर आश्चर्य और खेद प्रकट होता रहता है।

साधक जब सद्गुरु का मार्गदर्शन ग्रहण करता है तो उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते है और वह समझ जाता है कि वह स्वय ही अपने आपका स्रष्टा है। साधना के एक स्तर तक पहुँच जाने के बाद उसे अनुभूति होने लगती है कि उसकी अन्तरात्मा मे अनन्त शक्ति का अविरल स्रोत प्रवाहित हो रहा है और अनन्त ज्योतिपुज देदीप्यमान हो रहे हैं। उसे अपनी चेतना का भी अनुभव होता है कि वह 'स्व' के अनुशासन मे सचालित होने पर कितनी स्वतत्र, कितनी निर्विकारी और किस प्रकार लोकालोक को सम्यक् रीति से अवलोकन करने वाली है? वह चेतना मात्र ज्ञान और सत्ता को

धारण करने वाली है जिस के माध्यम से ही स्वरूप-बोध, स्वरूप-परिचय एव स्वरूप-दर्शन संभव होता है।

इस चेतना को सावधान एव प्रवुद्ध बनाने वाली होती है वीतराग देवो की वाणी, रागद्वेष के कुप्रभाव से मुक्त सर्वप्राणी हितकारिणी उपदेश-धारा। साधक इसी वीतराग वाणी को जब परिपूर्ण सत्य के रूप मे स्वीकृत करता हुआ अपनी साधना के क्षेत्र मे आगे बढ़ता जाता है, तब उसके सामने उस वाणी का मक्खन रूप सार समीक्षण ध्यान अतीव प्रभावोत्पादक बन जाता है। साधक तब समीक्षण ध्यान के सविशेष प्रयोगो द्वारा अपने अनंत सुख स्वरूप चेतना बोध के प्रति अधिक सक्रिय हो जाता है। समीक्षण ध्यान के प्रभाव स्वरूप जो दिव्य आत्म-जागृति उसको प्राप्त होती है, वह उसके लिये स्वय को धन्य मानने लग जाता है। उसका वह आत्म-बोध वर्तमान मे तो श्रद्धा रूप ही रहता है किन्तु वही श्रद्धा प्रगाढ़ रूप धारण करके सम्यक् बनती हुई सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण को साधक के जीवन मे जागृत एव कार्यरत बनाती है। श्रद्धा से उसका आत्मविश्वास वलिष्ठ बन जाता है और मन में यह धारणा निश्चित हो जाती है कि वह अब अपनी विकृत वृत्तियो को समाप्त करके ही विराम लेगा। वह यह भी निश्चय करेगा कि तब भविष्य मे ये विकृत वृत्तियाँ पुन मेरे भीतर मे कोई स्थान न पा सके। इस प्रकार स्वभाव और विभाव के सघर्ष मे शुद्ध आत्म शक्ति की विजय होगी तथा आत्म शक्ति का केन्द्र अधिक तेजस्वी बनेगा।

किन्तु यह उपलब्धि तभी प्राप्त हो सकेगी जब इस आत्मा की चहुमुखी सावधानी बनी रहेगी। साधक को यह अभ्यास बना लेना चाहिये कि वह एक पल के लिए भी असावधान न रहे। सावधानी उसका सहज गुण बन जाना चाहिये।

अहभाव का विसर्जन

पूर्ण सावधानी के साथ जब साधना के क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है, तभी साधना के महत्त्व को महसूस करने का अवसर उपस्थित होता है। यो साधनाएँ कई प्रकार की होती है तथा उसके आयाम भी कई प्रकार के होते है। यह साधक की परीक्षा बुद्धि का परिणाम होता है कि वह सम्यक् साधना के माध्यम से कभी मन्द अथवा कभी तीव्र गति से अपने गतव्य तक पहुँचता है। सभी प्रकार की साधनाओं मे आत्मिक साधना का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। इससे बढ़कर अन्य कोई साधना इस विश्व मे नहीं है। सच पूछे तो इससे बढ़कर अन्य कोई साधना कभी विश्व मे थी नही और आगे भी कभी होगी नहीं। इस अद्वितीय साधना को अपनाकर जब साधक गतिशील होता है तो वह सम्पूर्ण परिधियो को पार करके उच्चतम स्वरूप का वरण करता है। यह उच्चतम स्वरूप ही भव्य आत्माओं के लिए अपना चरम और अन्तिम गतव्य स्थान है।

इस उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करने की दृष्टि से समीक्षण ध्यान के तीन आयाम ऊपर वताये गये हैं। इन्हीं आयामो मे जिस साधक की गतिशीलता जितनी तीव्र बनती है, उतनी ही गूढ़ता से वह अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करके अपनी वृत्तियो को सुव्यवस्थित वना लेता है। आत्म समीक्षण की इन वहुआयामी प्रवृत्तियो मे कई विश्रामस्थल भी आते है। स्थूल परिधि के अन्दर प्रवेश करने मे भी चित्तवृत्तियो के समक्ष ऐसे विश्राम के क्षण आते है जब साधक अपनी पिछली प्रगति का लेखाजोखा ले सकता है और अपने भविष्य के कार्यक्रम का सुविचारित निर्धारण कर सकता है। इस स्थूल परिधि के अन्तर्गत विचरण करने वाली चित्तवृत्तियाँ सामयिक स्वरूप को धारण करके मानस तत्र को

उद्वेलित करती जाती है। अपने मानस तत्र की उस उथल-पुथल मे कभी-कभी साधक इतना आकुल-व्याकुल हो जाता है कि उसे आगे का कोई मार्ग सूझ नही पड़ता है। उस समय मे साधक अपनी मन की वृत्तियो को एकाग्र बनाने का प्रयत्न करता है तो उसको सफलता नही मिलती है। प्रयत्नो का बल अधिक होता है किन्तु सफलता बहुत कम। उस एकाग्रता के अभाव मे कई बार साधक तनाव और थकावट का अनुभव करता है और घबराहट मे यह सोच लेता है कि अब साधनामार्ग मे आगे प्रगति करना समव नहीं है। कई साधक इस स्तर पर निराश होकर अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करने के अपने-प्रयत्न को ही त्याग देते है। इससे विपरीत कई साधको को ऐसा भ्रम हो जाता है कि अपनी साधना की प्रारभिक अथवा सामान्य स्थिति मे ही जैसे वे समाधिस्थ हो गये हो। क्योकि वे शान्ति के चन्द क्षणो का रसास्वादन कर लेते है। उस सामान्य आभास के कारण उन्हे अह का आच्छादन ढक लेता है। इस कारण वे कई प्रकार की भ्रान्तियो के शिकार बन जाते है। वे अपनी स्थूल परिधि को ही सूक्ष्म परिधि मान लेते हैं। इस प्रकार के भ्रम से ग्रस्त होकर वे साधक अपने मानस तत्र का कुछ नियत्रण करते हुए भी अपनी आगे की प्रगति को अवरुद्ध बना लेते हैं। क्योकि स्थूल परिधि मे अपेक्षाकृत सन्तोष और समय की वृद्धि को ही वे समाधि की वृद्धि मान लेते है जिसके कारण अदम्य उत्साह से परिपूर्ण उनकी आन्तरिक वृत्तियॉ गतव्य स्थान तक पहुॅच जाने के भ्रम मे शिथिल हो जाती है। उस शिथिलता के साथ उनकी दुर्बलता भी फूट पड़ती है। परिणाम स्वरूप यत्किचित् साधी हुई साधना की प्रगति भी समाप्त हो जाती है और गतिशीलता कुठित बन जाती है। इसलिए साधको को अपनी साधना के क्षेत्र मे प्रत्येक पल दृढ़ सकल्प के साथ निश्चित ध्येय की प्राप्ति हेतु सदैव उत्साहित बने रहना चाहिये।

साधक को चाहिये कि साधना के दौरान जब निराशा और दुर्बलता के ऐसे क्षण आवे तो उन्हे वह आत्म विकास की अपनी महायात्रा का एक पड़ाव मानकर कुछ विराम ले ले और आत्म चिन्तन को प्रदीप्त बनाकर अपनी तनावपूर्ण एव थकित मानसिकता को दूर हटा दे। यो समझे कि यह पड़ाव अपनी थकान मिटाने के लिए ही था। इस प्रकार ऐसे आने वाले प्रत्येक पड़ाव पर साधक अपनी दुर्बल होती हुई शक्तियो का पुन सचय करे तथा परम उत्साह के साथ पुन प्रस्थान कर दे। विफल वह साधक होता है जो ऐसे पड़ाव को आखिरी मजिल मान लेता है। जिज्ञासु साधक तो विश्राम स्थल को यथोचित रीति से समझकर अपनी प्रगति-पिपासा को अधिक तीव्र बना लेता है तथा अधिक गरिमापूर्ण गति से आगे बढ़ चलता है। परन्तु स्थूल परिधि मे विचरण करते हुए साधक को अपने मानस-तत्र की उलझनो को सुलझाये बिना कुछ मिलेगा नही। ये उलझने किन्ही बाह्य साधनो अथवा बाहर की क्रियाओं द्वारा सुलझाई नही जा सकेगी। इन उलझनो को तो साधक को भीतर मे ही समझनी होगी तथा अपनी साधना के वल से ही सुलझानी पड़ेगी। साधक आई हुई निराशाजनक इन उलझनो का सम्यक् रीति से अवलोकन करे और उन ग्रथियो को ध्यान मे ले जिन की वजह से उलझने सामने आई हुई हैं। ये ग्रन्थियॉ मुख्यत अपनी ही मनोवृत्तियो की ग्रथियॉ होती है जो एक या दूसरे कारण से ग्रथित हो जाती है। ग्रथियो को देखते-परखते समय एकावधानता आवश्यक है। इसमे मन भी एकाग्र हो तो शरीर भी स्थिर रहे और ध्यानावस्थित चिन्तन का क्रम चले। तव उन ग्रथियो के कारण भी स्पष्ट हो जायेगे तो उन का निदान भी उभर कर सामने आ जायगा।

ऐसा एकाग्र अवलोकन तभी सफल बन सकता है जव अहभाव का विसर्जन कर दिया जाय। साधना का अहभाव तो और भी घातक होता है। अहभाव कई वार साधना की प्रगति के प्रति भ्रान्ति के कारण भी उत्पन्न होता है। कैसे भी हो, अहभाव साधना की जड़ो पर ही कुठाराघात

करता है। अत इस एकाग्र अवलोकन के समय अहभाव का लेश मात्र भी नही होना चाहिये। साधक विनम्रतापूर्वक ही अपने भीतर की दशा का सम्यक् अवलोकन करे। भीतर की गुत्थियो को सुलझाने के लिए सशोधित वृत्तियो को ही काम मे ले।

समता एवं एकावधानतामय जो विवेक जागृत होगा, वही साधक को अपनी गुत्थियाँ सुलझाने मे सहायता करेगा तो उसे पुन आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया मे सुदृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करेगा। समीक्षण ध्यान रूपी नेत्रो मे जब प्रकाश भर उठेगा, तब मानस तत्र मे उपजी एक भी गुत्थी अनसुलझी नहीं रह सकेगी।

आत्म-समीक्षण को सफल बनाने वाली दो भुजाएँ होती है—एक एकाग्रता की तो दूसरी समता की। इन दोनो भुजाओं का जब साधक भव्य रीति से सयुक्तिकरण कर लेता है तब दूषित प्रवृत्तियो के साथ सघर्ष करने मे कोई 'दुर्बलता नही रहती है। एकाग्रता एव समता के दिव्य आलोक मे आन्तरिकता का यह विज्ञान बन जाता है कि साधक अपने समीक्षण ध्यान के बल पर अपनी अन्तर्वृत्तियो का अवलोकन करते हुए उन्हे सुव्यवस्थित बना ले तथा आत्म विकास की महायात्रा मे सफल बनने की क्षमता अर्जित कर ले। दृढ़ सकल्प एव पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके पांव मजबूती से साधना पथ पर आगे बढ़ते जाते है। उसका यह गमन जितना व्यवस्थित होगा, उतनी ही कुशलता से वह स्थूल परिधि मे से निकल कर सूक्ष्म परिधि मे प्रवेश कर सकेगा। इस सूक्ष्म परिधि मे उसकी गति की जितनी विशिष्टता होगी, उसी परिमाण मे वहाँ की जटिलताओं मे कमी आयेगी। कारण, जितनी विचित्र प्रकार की झझटे, अड़चने और रुकावटे स्थूल परिधि मे विचरण करते हुए आती है, उतनी सूक्ष्म परिधि मे नही आती है। जो साधक स्थूल परिधि को पार करके सूक्ष्म परिधि मे आगे बढ़ जाता है, मानिये कि वह मोक्ष के राजमार्ग पर पहुँच जाता है।

मोक्ष के राजमार्ग की अनुभूतियाँ अपूर्व आनन्द से भरी हुई होती है। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए साधक ऐसी विचारणाओं मे विचरण करने लग जाता है जो पूरी तरह सुलझी हुई होती है। अन्तर्वृत्तियो के उस सरोवर मे तब ऐसे ऐसे भाव-कमल विकसित होते हैं जिन्हे देखकर अन्तरात्मा अनुरजित हो उठती है। ये दृश्यावलियॉ बड़ी रगबिरगी होती हैं। इस सघनता मे यदि साधक यकायक स्तव्ध हो जाता है और अपने समीक्षण ध्यान को सुव्यवस्थित नही रख पाता है तो उस दिव्य प्रकाश की चमचमाहट मे वह किकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। जिस प्रकार जगली जानवर भयंकर जगल की झाड़ियो, पहाड़ियो, नदी-नालो तथा काटो भरे पथरीले रास्तो को अधेरी रात मे भी सामान्य प्रकार से पार कर लेते है किन्तु उनके सामने तेज रोशनी एकाएक फैल जाय तो वे चकरा जाते है और अपना रास्ता भूल जाते है। उसी प्रकार साधक यदि उस दिव्य प्रकाश मे चक्कर खा जाय तो अपनी साधना से वह पतित हो सकता है। सूक्ष्म परिधि मे समीक्षण ध्यान की भी उतनी ही सूक्ष्मता अपेक्षित रहती है।

कई वार तो कई साधक उपर्युक्त स्थिति को ही सिद्धि मान लेते है और अपनी उस स्थिति का वाहर प्रदर्शन करने लग जाते है। वैसे साधक राजमार्ग पर पहुँच जाने के वावजूद बाह्य प्रदर्शन मे सलग्न हो जाने के कारण उस सूक्ष्म परिधि से छिटक कर स्थूल परिधि मे पतित हो जाते है। ऐसे साधक तब नाना भाति की समस्याओं मे उलझ कर पुन वहॉ से आगे प्रस्थान नहीं कर पाते है। उन समस्याओं को सुलझाने की उनमे क्षमता रहते हुए भी वे अपने अहभाव से इस प्रकार आवृत्त

बन जाते हैं कि प्रगति करने की उनकी जिज्ञासा दब जाती है एव उनके मन-मानस पर भ्रान्ति का कोहरा जम जाता है। वे यह समझ लेते है कि दुनिया मे एक उन्ही की साधना सिद्ध हुई है, अब किसी दूसरे से कुछ भी ज्ञान लेने की उन्हे आवश्यकता नहीं। उनका अहभाव उन्हे किसी के सामने झुकने नहीं देता, क्योंकि कोई शका उत्पन्न होने पर भी वे उसका समाधान लेने मे अपने मानदड की हानि समझने लग जाते है। वे सोचते है कि अपनी शका का निवारण यदि किसी अन्य साधक से वे करवाने का यत्न करेगे तो दूसरे साधक उन की पूर्णता मे सन्देह करने लग जायेगे। ऐसी विडम्बना मे ग्रस्त होकर अहभाव के कारण ये साधक अपनी सम्पादित प्रगति पर पानी फेर देते है।

साधक के मन मे समाई वह अह वृत्ति उसकी दुर्बलता को न तो प्रकट होने देती है और न सुधरने का अवसर देती है। वह अह वृत्ति बाहरी दुनिया मे यश लूटने के काम मे साधक को बुरी तरह से लगा देती है और उसमे यह भ्रम भरा हुआ रखती है कि वह अपनी परिपूर्णता का स्वामी बन चुका है। ऐसी अहवृत्ति के अधीन हो जाने वाला साधक अपने पवित्र साधना-क्षेत्र से स्खलित हो जाता है और उसने जिन आत्मशक्तियो की तब तक उपलब्धि कर ली थी, वे आत्मशक्तियाँ भी उससे छिन जाती है। अहभाव से भर उठने के कारण साधक की साधना 'कातापींजा कपास' की तरह हो जाती है। इसलिये प्रत्येक बिदु पर साधक को अपार धैर्य धारण करके रहना चाहिये। फिर से पतित हो सकने वाली सीमा तक तो साधक अपूर्व धीरज के साथ दृढ़तापूर्वक चले ही—यह आवश्यक है। मोक्ष के राजमार्ग पर चलते हुए उस सीमा तक उसके पाँव डगमगावे नहीं, इस हेतु उसे अपने समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेजस्विता से ओतप्रोत रखनी चाहिये। वह रगबिरगे दृश्यो को भी निरन्तर तत्परता के साथ देखे किन्तु उनके पीछे आशक्त न बने, आगे से आगे बढ़ते जाने का यत्न ही करता रहे। उसके इस प्रयत्न मे यदि निरतरता बनी रह जाय तो वह कभी न कभी अपने गतव्य तक पहुँच जायगा—ऐसी सुनिश्चित आशा बध जाती है।

इस सारे विश्लेषण का स्पष्ट आशय यह है कि साधक को अपनी साधना के किसी भी स्तर पर अहभाव से मडित नहीं होना चाहिये। अहभाव के उठते ही वह उसको विसर्जित करता हुआ आगे बढ़े। साधक के लिए अपनी साधना की सूक्ष्म परिधि मे प्रवेश करने से पहले यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्ति तथा श्रद्धा, अपने धैर्य तथा सकल्प को अच्छी तरह दृढ़ीभूत बना ले और समीक्षण ध्यान के सबल माध्यम से अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियो को एकाग्रता के अनुशासन मे सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर दे।

एकावधानता का प्रयोग

मनोनियत्रण के रूप में की जाने वाली समीक्षण ध्यान की साधना यथार्थ रूप मे अन्तर्यात्रा की ही साधना है यह स्पष्ट हो चुका है। इस यात्रा मे अहभाव के विसर्जन के बाद जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह है एकाग्रता अथवा एकावधानता की शक्ति। जव तक एकावधानता का प्रयोग सफल नही वनता है, तव तक आत्मशक्तियो का सचय सभव नही होता है। इसका यह अर्थ है कि एकाग्रता अथवा एकावधानता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना की ही अगभूत है, जिसका प्रारभ भी विधिपूर्वक किया जा सकता है।

एकावधानता कई प्रकारो अथवा कई विधियों द्वारा साधी जा सकती है। कोई किसी ध्वनि के माध्यम से किसी मत्र की एकावधानता साधते है तो कोई विन्दु-दर्शन पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित

बना कर एकावधानता का अभ्यास करते है। मत्र के माध्यम की दृष्टि से महामत्र 'णवकार मत्र' का सम्बल ग्रहण किया जा सकता है। इस महामत्र के प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकावधानता की साधना के द्वारा अन्तर्प्रवेश के साथ वृत्तियो के केन्द्र को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द-ध्वनि शब्द से सम्बन्धित तरगो को उद्वेलित करती है।

शब्द-ध्वनि की ये तरगे जिस दिशा मे प्रसारित होती है, उस दिशा की आसपास की ध्वनियाँ प्रकम्पित हो जाती है। इस प्रकार का ध्वनि-प्रकम्पन प्रत्येक स्थान पर होता है और इस प्रकम्पन को साधक अपना सहायक बना सकता है। ध्वनि के प्रकम्पन बाह्य आकाश मडल मे यथायोग्य दूरी तक पहुँचते है और साधक के लिए इन प्रकम्पनो का सम्बल बहुत ही महत्त्व का होता है। एक भी ऐसा प्रकम्पन यदि प्रवाह बनकर आन्तरिक अवस्थान मे प्रवाहित हो जाय तो आन्तरिक स्थानो के अनेक केन्द्रो मे सुशुप्त बनी अनेक शक्तियो को जागृत बनाने का कार्य हो सकता है। इस जागृति के फलस्वरूप एकावधानता की शक्ति बलवती बनती है, एकावधानता के प्रयोग सफल होते है। तथा समीक्षण ध्यान की भूमिका का सार्थक निर्माण हो जाता है। इसलिये महामत्र के प्रथम पद की ध्वनि का प्रारभ करते हुए पहले उच्च स्वर, फिर मध्यम स्वर तथा अन्त मे जघन्य स्वर मे उच्चारण किया जाना चाहिये। इस क्रम के बाद मानस स्वर व उसके अन्त मे भावप्रधान अर्थ स्वर की स्थिति मे ध्वनि परिणत हो जानी चाहिये। इससे भावोर्मियॉ अधिकाधिक क्रियाशील हो जाती है।

महामत्र की ध्वनि के आधार पर एकावधानता के प्रयोग के समय तार-स्वर का रूप इस प्रकार होना चाहिये—

'णमो अ रि . ह ता . ण।' इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ग्यारह बार लयबद्ध गति से चलना चाहिये। प्रत्येक ध्वनि के प्रारभ से लेकर ध्वनि समाप्ति तक उच्चारण एक समान चलना चाहिये। इन ग्यारह तार स्वर के बाद ग्यारह मध्यम स्वर का उच्चारण होना चाहिये 'णमो अ . रि ह ता ण'। एक समान स्वर की पद्धति गतिमान रहनी चाहिये। उपयोग की अवस्था भी मध्यम स्वर के प्रारभ से लेकर अन्त तक अस्खलित रहनी चाहिये। उसके बाद धीमे और जघन्य स्वर मे 'णमो अरिहताण' का ग्यारह बार पूर्वानुसार उच्चारण होना चाहिये। तदनन्तर ध्वनि का स्वर अपने कर्णगोचर न हो इस प्रकार मानस स्वर मे ही ग्यारह बार जाप किया जाय। मानस स्वर का अर्थ है कि मन मे ही प्रथम पद का उच्चारण हो, मन मे ही उसका जाप हो, मन ही उसका श्रवण करे तथा मन ही लयबद्ध रीति से उसके साथ तल्लीन बन जाय। यह मन के स्वर की गति अखडित रूप से चलनी चाहिये। फिर क्रम आयेगा अर्थ स्वर का। जिसमे भावप्रधान मत्र के अर्थ का भावो मे ही उच्चारण किया जाय। इस अवस्था मे प्रथम पद का भाव ही साक्षी के रूप मे श्रवण करने मे आवे।

इन भावो के साथ मे उपयोग की अवस्था निरन्तर उपस्थित रहनी चाहिये। यह प्रक्रिया भी पहले की तरह ग्यारह की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जानी चाहिये। इस विधि से ध्वनियो मे तार स्वर की ध्वनि तरगे छ ओं दिशाओं मे न्यूनाधिक परिमाण मे प्रवाहित हो जाने के बावजूद वाह्य दिशाओं मे अधिकाश रूप मे प्रसृत हो जाती है। उसके कारण बाहर की ध्वनियाँ सक्रिय बन जायेगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवो को स्पर्श करेगी एव अन्य तत्रो को प्रकम्पित

बनाती हुई आन्तरिक केन्द्रो तक पहुँच जायेगी। जबकि मंद स्वर की ध्वनि बाहर और भीतर समान मात्रा मे प्रवाहित होगी, वहॉ जघन्य ध्वनि का सूक्ष्म प्रवाह प्रधान रूप से भीतर मे ही बहेगा। बाहर तो वह गौण रूप से ही रहेगा। मानस स्वर तो मन की धरातल वाली ग्रन्थि-तत्रो के क्रिया-केन्द्रो एव ज्ञान-केन्द्रो को प्रभावित करना प्रारभ कर देगा। भाव ध्वनि का सूक्ष्मतम प्रकम्पन स्थूल केन्द्र के मानस तंत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म तथा बहुरगी केन्द्रो को प्रभावित करता हुआ, सूक्ष्म केन्द्र के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित करने मे सक्षम बन जाता है। इस सूक्ष्म परिधि के सम्मुख जब-जब साधक किकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति मे पहुँच जाता है जिसे एक दृष्टि से जड़ग्रस्त स्थिति मान सकते हैं, तब-तब उस जड़ता को भाव ध्वनि के माध्यम से निष्क्रिय बनाना शक्य हो सकता है।

भाव ध्वनि के इन प्रकम्पनो को जब भी वर्गीकृत करने का प्रश्न सामने आयेगा, तब उस वर्गीकरण मे समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा का अवश्य ही अनुभव होगा। इस विधि के द्वारा साधक सूक्ष्म परिधि के समीप मे रहने वाली विविध स्थितियो का निर्णय लेने मे समर्थ बन जाता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से स्वरो की सहायता लेकर एकावधानता या एकाग्रता की स्थिति को साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से यदि साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है तो एकाग्रता से सम्बन्धित कई उपायो को वह सरल बना सकता है। कदाचित् इस विधि मे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो एक अन्य विधि भी है—श्वास प्रक्रिया। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन की प्रक्रिया भी समीक्षण ध्यान को पुष्टि प्रदान कर सकती है। श्वास प्रक्रिया से समीक्षण ध्यान साधा जाय और उससे अन्तरावलोकन की स्थिति स्पष्ट बनाई जाय। वीतराग मुद्रा की स्थिति से साधक अपने मस्तिष्क के तनाव को समाप्त करके अवयवो का शिथिलीकरण कर ले और इस शिथिलीकरण के लिये यह श्वास प्रक्रिया का प्रयोग अधिक सुगम रहेगा क्योकि यह प्रयोग समस्त मानसिक स्थिति को नेत्रो के समीप लाकर मन्द उच्चारण मे 'जाने दो, जाने दो' के शब्द प्रतिध्वनित करेगा। तब तनाव मुक्ति भी होगी तो शिथिलीकरण की स्थिति भी उत्पन्न होगी।

शिथिलीकरण के अभ्यास को साध लेने के बाद उपयोगपूर्वक श्वास की गति का समीक्षण ध्यान के माध्यम से निरीक्षण करना आरभ कर देना चाहिये। इसमे इस वात का ध्यान रखना चाहिये कि श्वास का आना और जाना नासिका के किस रध्र (छेद) मे से हो रहा है ? दाहिने रध्र मे से या वाए रध्र मे से ? यदि दाहिने रध्र मे से श्वास का आवागमन हो रहा हो तो समझना चाहिये कि पिगला नाड़ी सक्रिय हो रही है। यदि श्वास की गति बाए रध्र मे से आती-जाती मालूम पड़े तो उस अवस्था मे यह माना जायेगा कि इड़ा नाड़ी गतिशील है। स्वर विज्ञो ने वाए रध्र से आने-जाने वाले स्वर को चन्द्र स्वर कहा है तो दाए रध्र वाले स्वर का नाम सूर्यस्वर बताया है। ये नाम स्वरशास्त्रज्ञाताओं के अपने पारिभाषिक शब्द है किन्तु योग साधना की दृष्टि से भी इन दोनो स्वरो का एकावधानता या एकाग्रता साधने मे वड़ा महत्त्व माना गया है। इनसे एकाग्रता के केन्द्र रूप समता के धरातल का ज्ञान भी किया जा सकता है। जब तक एक-एक स्वर चालू रहता है तव तक वह अवस्था राग और द्वेष की विद्यमानता का सूचन करती है। वह स्वर समता का सूचक नहीं होता है। दाया स्वर राग की तो वाया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जव दोनो स्वरो की गति समान रूप की अवस्था मे परिलक्षित होने लगे तव वह अवस्था सषुम्ना नाड़ी के स्वर को सक्रिय बनाने की स्थिति मे आ जाती है। यह अवस्था रात और दिन की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका का निर्माण करने मे सहायक वन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय हो जाने के बाद दोनो स्वरो की गति शान्त और विरल बन जाती है। क्योंकि सुषुम्ना का सम्बन्ध सुषुम्ना शीर्ष तथा पूरे नाड़ी तत्र के साथ होने के कारण शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र और ज्ञान केन्द्र सचालित करने की योग्यता साधक को प्राप्त हो जाती है। इन केन्द्रो के साथ सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्थियाँ भी तब सुन्दर रीति से रसो का परिष्पदन करेगी और उसी प्रकार केन्द्रो मे रहे हुए रगो के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मत्र की भावात्मक शक्ति का सयोग आन्तरिक शक्तियो के आलोक को उद्‌भासित कर देता है। इस प्रकार एकावधानता के प्रयोग एवं प्राप्ति की ये विधियाँ वर्णित की गई है, जिन के माध्यम से साधक अपनी विश्रृंखलित चित्तवृत्तियो को नियोजित करके समानस्वरता प्रदान कर सकता है। यह समानस्वरता अथवा समरसता समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का रूप लेती है।

समीक्षण शरीर तंत्र का

यह दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है। इस दृश्य शरीर की भी आन्तरिक सरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नही है। दृश्य शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है तथा उससे भी आगे सूक्ष्मतम शरीर है। कम से कम ये तीन शरीर तो जीवन की वर्तमान उपलब्धि के रूप मे विद्यमान है ही। इन तीनो शरीरो की आन्तरिक व्यवस्था एक-दूसरे से सम्बन्धित है। सधि स्थान के रूप मे प्रत्येक शरीर की अपनी- अपनी सीमा मे कार्य परिणति समुचित रूप से सचालित रहती है। साधक जब तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर मे आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार नहीं करता है, तब तक उसके आत्म विकास की महायात्रा गतिमान रहती है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्ग मे प्रवेश करना चाहता है तो पहले उसे उस दुर्ग की दीवारो, कोटो, कगूरो तथा उसकी आन्तरिक सरचना की स्थिति को जान लेना जरूरी है। उस जानकारी के साथ उसकी निरीक्षण शक्ति भी प्रखर होनी चाहिये। तभी वह उस दुर्ग मे प्रवेश करके अभिवाछित स्थान तक पहुँच सकता है। साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करने से पूर्व इसी प्रकार साधक को भी शरीर तत्र का समुच्चय ज्ञान कर लेना चाहिये। अगर कोई साधक इस तथ्य की उपेक्षा करता है तो वह दुर्ग मे छिपे हुए खजाने का अता-पता कभी भी नही पा सकेगा। अपने आत्मस्वरूप मे ज्ञान और सुख का जो खजाना छिपा हुआ है, उस तक अपनी पहुँच करने के लिए पहले शरीर तत्र रूपी दुर्ग की सब प्रकार की जानकारी करना तथा निरीक्षण शक्ति को सुघड़ बना लेना जरूरी है। इसके बिना कोई साधक अपने भीतर रहे हुए आनन्द-कोष का उद्‌घाटन नहीं कर सकेगा।

शरीर भी धर्माराधना का अनिवार्य साधन है। आध्यात्मिक दृष्टि से पहले ही कोई साधक यह मान ले कि इस शरीर के साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है। शरीर विधानो के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं, विधि अथवा व्यवस्थाओं से मेरा कुछ भी लेना देना नही है तो वह साधक भूल करता है। शरीर-तंत्र के सम्यक् अनुसधान तथा नियोजन के बाद ही वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश कर सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस शरीर तत्र के सबल माध्यम को सांसारिक काम भोगो मे न लगाकर धर्मसाधना के क्षेत्र मे समभावपूर्वक नियोजित किया जाय। इस पुरुषार्थ का यह श्रेष्ठ फल साधक के समक्ष आ सकता है कि उसे अपने आत्म-स्वरूप मे रहे हुए सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो जाय।

आध्यात्मिक धरातल पर साधना कर रहे साधक के लिए सच्चिदानन्द के साक्षात्कार रूपी लक्ष्यगत आस्था तो समुचित है किन्तु इस लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि हेतु किन-किन अवस्थाओं के साथ किन-किन मार्गों का अनुसरण करके किस प्रकार के तत्त्वावलोकन द्वारा किन-किन शक्तियो का निर्धारण करने से अन्तरात्मा मे आछन्न निधि अभिव्यक्त की जा सकेगी—उसका पूर्व ज्ञान अनिवार्य होता है। इस ज्ञान के अभाव मे हजारो या लाखो वर्ष तक तो क्या अनन्तान्त काल तक ससार का परिभ्रमण करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति असभव ही बनी रहेगी। पुरुषार्थ भी भले किया जाता रहे किन्तु वास्तविक गतव्य स्थान तक पहुँचना नहीं हो सकेगा। यह तथ्ययुक्त वस्तुस्वरूप का सत्य कथन वीतराग देवो ने किया है।

परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधक को लक्ष्य के आन्तरिक आयामो, अवस्थाओं और उनसे सम्बन्धित तत्रो आदि का पूर्वावलोकन कर लेना चाहिये। यह अवलोकन भी समीक्षण ध्यान की धुरी पर ही सभव होगा। यद्यपि इस वर्तमान युग मे शरीर-चिकित्सा-शास्त्रियो ने शरीर के विभिन्न अगोपागो के बारे मे काफी नई जानकारियाँ हासिल की है, फिर भी शरीर मे निवास करने वाली आत्मा के सम्बन्ध मे कुछ भी जान पाना तो दूर अभी तक वे शरीर-तत्र की अति सूक्ष्म प्रक्रियाओं को भी नहीं पहचान पाये है। आत्मा के सम्बन्ध मे वे कुछ भी नही जान पाये हैं, यह तो ठीक—किन्तु वे आत्म-ज्ञान के प्रति आवश्यक आस्था भी नही बना पाये हैं। अत उनकी शरीर सम्बन्धी जानकारियाँ भी अपूर्ण ही कहलायेगी, क्योंकि शरीर-तत्र की सम्यक् जानकारी के साथ ही आत्मतत्र के ज्ञान की दिशा मे आगे बढ़ा जा सकता है। उनकी इस आस्था की अभावस्थिति के पीछे कई कारण हैं किन्तु मुख्य कारण है अर्थ-दृष्टि की प्रधानता। आज का मानव अर्थ-दृष्टि को सर्वोपरि मानता है तथा अर्थ की उपलब्धि के लिये अन्यान्य साधनो के साथ शरीर के स्थूल विज्ञान को मानकर ही सन्तोष कर लेता है। येन-केन-प्रकारेण मेडिकल परीक्षाओं को उत्तीर्ण करके ही अपने शरीर सम्बन्धी स्थूल ज्ञान को लेकर वह अर्थोपार्जन मे तन्मय हो जाता है। इस कारण शरीर तत्र के सूक्ष्मतम अवयवो की आन्तरिक परिधि मे क्या-क्या रहस्य समाये हुए है इस दिशा मे उसकी चिन्तन शक्ति आगे नही बढ़ पाती है। वह इस दिशा मे जिज्ञासु भी नही बनता है।

परन्तु जो शरीर विज्ञान के ज्ञाता स्थूल विज्ञान तक ही सीमित न रह कर इस तत्र की सूक्ष्मता मे प्रवेश करते है वे उसकी व्यापक शोध मे लगे हुए है। उन्होंने किन्ही नवीन रहस्यो का ज्ञान भी किया है। कई वैज्ञानिक मनोविज्ञान को शरीर विज्ञान से जोड़कर कई प्रकार की ग्रथियो की खोज भी कर पाये है, जो सूक्ष्म तत्र की जानकारी लेने के काम मे बड़ी महत्त्वपूर्ण है। ये ग्रथियॉ प्रणालीयुक्त रसवाहिनी भी हैं और प्रणालीविहीन अन्त स्रावो को स्थूल शरीर मे पहुँचाने वाली भी है। यह हर्ष का विषय है कि इन नवीन शोधो से ही वे वैज्ञानिक सन्तुष्ट नही हो गये है किन्तु अपने अनुसधानो को आगे बढ़ा रहे है।

आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधक इस क्षेत्र मे निश्चय ही आगे बढ़े हुए है। इन साधको मे कई तो अनुकरणशील प्रवृत्ति के ही होते है और विरले साधक अपनी अनुकरणशीलता का नूतन सशोधनो के साथ अपना सामजस्य बिठाते है। वस्तुत आध्यात्मिक कोष की उपलब्धि के इच्छुक साधक तो अपना स्थिर प्राप्य विषय सच्चिदानन्द को ही मानते है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप जिन आवरणो के पीछे छुपा हुआ है, उन आवरणो के अन्दर प्रवेश कराने वाले द्वारो की खोज मे वे

यत्नशील बनते है। स्थूल शरीर के वर्तुल मे ऐसे अनेक प्रवेश द्वार है जिनमे सर्वाधिक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण प्रवेश द्वार श्वास प्रणाली (प्राणायाम) का है। इस श्वास प्रणाली के वाहन पर यदि साधक एक बार सफलतापूर्वक आरूढ़ हो जाता है तो वह उस वाहन की सारी गतिविधि से भी परिचित हो जाता है। उस वाहन से वह आन्तरिक वाहन का अवलबन प्राप्त करके विराट आन्तरिक मार्ग पर शक्ति के साथ चल पड़ता है।

श्वास समीक्षा

ऐसा साधक भीतर मे रहने वाले पाच प्रकार के वायु संस्थान तथा उनकी समीपता से प्राणवायु का मूल्याकन कर लेता है। इसी मूल्याकन की सहायता से वह प्राणशक्ति की पहिचान कर सकता है। प्राणशक्ति के समीप पहुँच जाने पर सूक्ष्म परिधि के सान्निध्य मे रहने वाली बहुरगी शक्तियो को पहिचान पाने का सामर्थ्य उसमे जाग उठता है। उनकी पहिचान के बाद साधक का आगे का मार्ग आसान हो जाता है।

श्वास की अधिकाश गतिविधि नासिका के माध्यम से सचालित होती है। इसे विज्ञान के क्षेत्र मे ऑक्सीजन (प्राणवायु) कहते है। यह ऑक्सीजन वनस्पति आदि तत्त्वो मे से बहुलता से प्राप्त होती है। यह ऑक्सीजन जब फेफड़ो मे पहुँचती है तो वहॉ रक्त-शुद्धि का कार्य करती है। यह शरीर मे रहे हुए अशुद्ध तत्त्वो को बाहर निकाल देती है। शरीर विज्ञान के वैज्ञानिक अपने ज्ञान की सीमा इस ऑक्सीजन तक ही सामान्य रूप से मानते है। परन्तु योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषय का चिन्तन बहुत गहराई तक पहुंचा हुआ है।

श्वास द्वारा सगृहीत प्राणवायु रक्तशुद्धि के साथ-साथ रक्त सचरण मे भी समाविष्ट हो जाती है जिसके कारण प्राणवायु का फैलाव शरीर के छोटे से छोटे याने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो से लेकर स्थूल से स्थूल अवयवो तक हो जाता है। इस रक्त सचार मे प्राणवायु का जितनी अधिक मात्रा मे प्रभाव पड़ेगा, उतने ही प्रभाव से प्राणवायु शरीर के आन्तरिक सस्थानो मे मुख्य सचालन की वाहिका बन जायेगी। इस प्राणवायु के उपरात इसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी मिल जाती है। यह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथा-स्थान पर शरीर की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति मे सहायक बनती है। आन्तरिक सस्थानो की हलनचलन और प्रकम्पन आदि अवस्थाओं के फलस्वरूप अन्य वायुओं का निर्माण भी हो जाता है। इन्ही वायुओं मे से जिस वायु का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा मे जाता है, उसे 'ऊर्ध्ववायु' के नाम से पहिचानते है। दूसरी कई वायु शरीर के अधोभाग की तरफ बहती है, उन्हे 'अधोवायु' कहते है। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशाओं से अलग विभिन्न दिशाओं मे भी शरीर के अवयवो से उत्पन्न होने वाली वायु को 'व्यानवायु' के नाम से पुकारते है। इस प्रकार योग पद्धति के अनुसार पाच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवो मे व्याप्त होकर फैली हुई रहती है।

शरीर मे जहॉ कही वेदना का अनुभव होता है, उसका अधिकाश भाग वायु वेग के अवरुद्ध हो जाने के कारण ही होता है। इस अवरोध का मुख्य कारण व्यक्ति के बाह्य जीवन मे व्यवस्थित क्रिया-कलाप का अभाव होता है। इस वायु सस्थान तथा उसके विभिन्न विभागो को व्यवस्थित रीति से सचालित करने के ज्ञान का अभाव भी इसका कारण है। सही ज्ञान नहीं होने से वायुओं का व्यवस्था-तंत्र विगड़ जाता है। इतना ही नहीं, कई बार तो व्यवस्था-तत्र ऐसा अस्त-व्यस्त

हो जाता है कि उसकी विकृति के कुप्रभाव से समग्र शरीर का ढाचा ही नहीं, समग्र जीवन की नौका ही डोलायमान हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य भी अन्य प्राणियो के समान यत्रवत् ही उत्त्पन्न होता है तथा यत्रवत् ही अपना जीवन गुजारता है। वह अपने बाहरी अवयवो का तो शृंगार करता फिरता है—बाहरी अवयवो को सुन्दर बनाने के लिए अथवा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने के लिए अपनी शक्ति का व्यय करता है, परन्तु इस शरीर के बाहरी अवयवो की सुन्दरता विशेषत आन्तरिक वायु सस्थान की व्यवस्था आदि प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है—यह वह नही जानता।

मनुष्य अपने जिन अगोपागो पर अपनी सुन्दरता का अनुभव करता है और जिनकी साज सज्जा के लिए अपनी पूरी जिन्दगी तक बिता देता है, बल्कि ऐसा करते हुए अपने को सुन्दर मानने के अभिमान मे फूला नही समाता है, वही मनुष्य अपने भीतरी सस्थान को तथा उनकी सूक्ष्म प्रक्रियाओं को नही समझता। इन्हीं अगोपागो के भीतरी सस्थान मे प्रवाहित होती हुई वायु जब प्रकुपित हो जाती है और उसका प्रकोप असाध्य बन जाता है तब यह बाहर दिखाई देने वाली सुन्दरता बहुत जल्दी बदसूरती में बदल जाती है। यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुभवगम्य हो सकता है किन्तु तभी जब वह आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना ध्यान लगावे।

मनुष्य तो ऊपरी रूप रग को सजाने के साथ-साथ पुष्ट और अधिक सुन्दर बनने की लालसा मे अधिकाधिक पौष्टिक पदार्थो को भी उदरस्थ करता जाता है—यह सोचे बगैर कि अपनी लालची रसना के अधीन होकर वह जो पौष्टिक व स्वादिष्ट पदार्थो को बेमाप उदरस्थ करता जा रहा है, क्या वह उन पदार्थों को ठीक से पचा भी सकेगा ? विचित्र दशा ऐसी देखी जाती है कि पहले के खाये हुए पदार्थ तो पचते ही नहीं और उससे पूर्व ही वह अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खाना शुरू कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाचन तत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उस परिस्थिति मे वायुवाहक नाड़ियॉ वायु के वेग को बढ़ाने के लिए अधिक सक्रिय होने की चेष्टा करती है। किन्तु क्षमता से अधिक भार पड़ने के कारण इस तीव्र चेष्टा से वे शीघ्र ही क्लात हो जाती है। इस प्रकार वायु का सन्तुलन बिगड़ जाता है। पेट मे पड़े पदार्थ सड़ने लगते है और सड़े हुए अन्न की दुर्गध से समग्र वायुसस्थान दूषण से व्याप्त हो जाते है। यह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए अहितकर सिद्ध होती है। शरीर मे इसके कारण बेचैनी बढ़ती जाती है। उस दशा मे योग साधना की वात तो छोड़िये सामान्य व्यावहारिक कार्यो को करने की भी शक्ति नही रहती है। फिर वह डॉक्टर वैद्यो के पास जाता है। आज सही ईलाज करने वाले डॉक्टर वैद्य मुश्किल से ही मिलते है। अधिकाश डॉक्टर वैद्य अर्थोपार्जन मे ही रचे-पचे होते है। अत वे तेज दवाओं का प्रयोग करते है। फलस्वरूप रोगी के सवेदनशील ज्ञान ततु क्षत विक्षित होकर इस तरह शून्यता पकड़ने लगते है कि तव दु ख की सवेदना भी सही तरीके से नही होती है। वेदना मे कुछ कमी को महसूस करने से रोगी भ्रम मे पड़ जाता है। वह सोचता है कि उसकी वेदना इन दवाओं से ही कम हुई है।

वास्तव मे होता यह है कि आरोग्य आवे उससे पहले ही शरीर मे कई प्रकार की विकृतियॉ प्रविष्ट हो जाती हैं। कई वार तो ऐसी दवाओं के अतिरेक से व्यक्ति की जीवन शक्ति का ही धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है।

यदि गभीरतापूर्वक सोचे तो वर्तमान जीवन मे प्राप्त यह सुखद जीवन शक्ति कितनी अमूल्य है जो अनुभव से भी अपूर्व है। फिर इसी जीवन शक्ति को जब आध्यात्मिक साधना एव योग विषयक

उपलब्धियो के साथ जोड़ देते है तो कितनी अननुभूत सुख शान्ति के समीप पहुँच सकते है? वास्तविक जीवन-विज्ञान के अभाव मे ही मनुष्य ऐसी दुर्व्यवस्था का शिकार हो जाता है जिसका सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य रीतिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यह कब किया जायगा? जब इस जीवन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्वो का मूल्याकन किया जायगा एव सहायक तत्त्वो की प्रणाली तथा उससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूपो को विधिवत् विशुद्ध किया जायगा, तभी मनुष्य इस बात से सावधान हो सकेगा कि वह अशुद्धिकारक तत्त्वो को अपने शरीर तत्र के भीतर प्रविष्ट न होने दे। एक बार बिगड़ी हुई कार्य प्रणाली को तभी व्यवस्थित कर सकते है जब कड़ी भूख लगने पर ही भोजन किया जाय अथवा आवश्यक लगे तो उपवास व्रत-पूर्वक अधिकाधिक प्राणवायु को ग्रहण करे ताकि सम्पूर्ण वायुसस्थान पुन सुव्यवस्थित बन सके।

अपने सम्पूर्ण सुप्रभाव के साथ जब प्राणवायु प्रत्येक अग-प्रत्यग मे पहुँच जाती है तब उसका जीवन के महत्त्वपूर्ण अग प्राणो के साथ सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क साधक को सूक्ष्म परिधि के समीप पहुंचने मे सहायक बनाता है। तब साधक को सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अवस्थानो एव उनके अन्तर्गत बनी ग्रंथियो को समझने व सुलझाने का सुअवसर मिल जाता है। यही नही, अन्ततोगत्वा उसे सच्चिदानन्द के समीप पहुँच जाने का सुअवसर भी मिल सकता है।

तात्पर्य यह कि शरीर के समस्त अवयवो की अपेक्षा भी श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्व रखती है। इनकी सहायक क्रियाओं का भी बड़ा महत्त्व होता है। अत साधक श्वास प्रणालिका को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा उसका समुचित मूल्याकन करे। इसके पश्चात् ही वह अपने पुरुषार्थ को सार्थक रूप से क्रियाशील बना सकेगा।

श्वासानुसंधान

श्वास-प्रश्वास एक प्रकार से आन्तरिक क्रियातत्र के सकेत चिह्न (काटामापक यत्र) है। जैसे पेट्रोल की टकी पर लगे काटे से उसके भीतर रही हुई मात्रा का सकेत मिल जाता है, उसी प्रकार जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाकाडो का सकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। एक दृष्टि से भीतर के क्रियाकाड एक विशाल कारखाने की मशीनो और उनके कार्य के समान है। उस विशाल कारखाने की बड़ी-बड़ी मशीनो के बीच मे अगर छोटे से छोटे तार मे भी कही अवरोध पैदा हो जाय तो सारी मशीनरी पर उसका असर पड़ता है। उसी प्रकार इस शरीर तत्र के भीतर होने वाली स्थूल अथवा सूक्ष्म क्रिया-प्रक्रियाओं के बीच मे यदि किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ी तत्र की क्रिया मे भी अवरोध पैदा हो जाय तो उस रुकावट का समग्र शरीर विषयक क्रियाकलाप पर बुरा असर पड़ता है। इस असर की सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। इस कारण इस प्रणालिका-विज्ञान का बहुत गहराई से अध्ययन अवश्यक है। इससे अवरोध के कारणो की, भलीभाति जानकारी हो सकेगी, बल्कि उन कारणो को दूर करने, तन्त्र को पुन सुव्यवस्थित बनाने की प्रेरणा भी पैदा होगी।

श्वास प्रणालिका के माध्यम से, जिस प्रकार शरीर तन्त्र के भीतर चलने वाले क्रियाकलापो का प्रभाव जाना जा सकता है, उसी प्रकार मानसतन्त्र सम्बन्धी भावोर्मियो का प्रभाव भी श्वास की गति से अभिव्यक्त होता है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान केन्द्र किस भाव के साथ अपने क्रिया के माध्यम से, मानसतन्त्र को झकृत करता हुआ, शरीर के क्रियाकलापो को प्रभावित बना रहा है, यह विज्ञान भी श्वास-विज्ञान की परिधि मे आ जाता है।

शरीर के आन्तरिक अवस्थानो पर, बाहर से ग्रहण किये गये, अपाच्य पदार्थों का ही नहीं, मलिन विचारो का भी दुष्प्रभाव पड़ता है। समझिये कि ज्योही मलिन भावो ने, सर्वतन्त्रो पर अपना प्रभाव छोड़ा, त्योही भीतर मे एक अचकचाहट-सी फैल जाती है। उस समय मे श्वास विधिज्ञ-साधक, उन भावो के प्रभाव को तत्क्षण निष्फल बनाने की अपनी कला का, यदि प्रयोग करे तो इन भावो के प्रभाव को नासिका के माध्यम से वापस बाहर फेक सकता है। उन मलिन भावो के प्रभाव के स्थान पर तब वह शुभ भावो के प्रभाव को व्याप्त बना सकता है। जैसे पप (नल या टूटी) की सहायता से टकी मे भरे गदे पानी को बाहर फैक कर भीतर साफ पानी भरा जा सकता है, उसी प्रकार यह नासिका पप का काम करती है। इस एकदेशीय रूपक को समझ कर यदि साधक मलिन भावो को श्वासनली से बाहर निकालता रहे और निर्मल भावो को भीतर ग्रहण करता रहे तो उसकी साधना दिन-प्रतिदिन फलवती बनती जाती है। एक दिन वह लक्ष्य के समीप भी पहुँच सकता है। एक दृष्टान्त से इसे समझिये। जिस समय साधक के भीतर मे क्रोध का मलिन भाव उठे तो उस समय वह उस भाव को वाणी अथवा शरीर के अन्य अवयवो से बाहर प्रकट न होने दे, अपितु श्वासविधि के माध्यम से शान्त-प्रशान्त श्वास वर्गणाओं के स्कधो को भीतर खींचे। जितने स्कधो को खीच सके, उन्हे वह खींचे तथा दो सैकिड का श्वास का आन्तरिक कुंभक करे और बाद मे लयबद्ध आन्तरिक श्वास को बाहर फैकने की चेष्टा करे। ऐसी प्रक्रिया कुछ समय तक करते रहने पर क्रोध का प्रभाव सफल न होकर निष्फल बाहर निकल जायगा। शान्त वर्गणा से सम्बन्धित श्वास वर्गणा का बारी-बारी से भीतर प्रवेश होने के कारण कषाय-क्रोध विषयक दुर्गंध समाप्त हो जायगी। यही प्रक्रिया काम-विकार अथवा अन्य प्रकार के विकारो को बाहर निकालने मे सक्षम बनती है।

शरीर मे विकृत पदार्थों की अथवा मलिन भावो की भारी गदगी भरी रहती है, यदि साधक सम्यक् रीति से श्वासानुसधान करे और उससे समबन्धित प्रक्रियाओं का विवेक सहित उपयोग करे तो शरीर मे फैल रही इस गदगी को दूर की जा सकती है तथा वहाँ शुद्धता का सचार किया जा सकता है। काम, क्रोध आदि की गदगी के वीच मे कई बार निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि भी नजर मे आते हैं। आन्तरिक क्रियाकलापो के अस्त व्यस्त हो जाने से भीतर मे दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। इस दुर्गंध का प्रभाव नियत्रण केन्द्र पर पड़ता है और ज्यो ही नियंत्रण केन्द्र शिथिल हो जाता है त्यो ही काम क्रोध का दुष्प्रभाव प्रकट होने लग जाता है। इससे पहले से व्याप्त दुर्गंध और अधिक गहरी हो जाती है।

यदि यही क्रम दीर्धकाल तक इसी प्रकार चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनो प्रकार की गदगियो से भर उठता है, और सड़ाध मारने लगता है। इन दोनो प्रकार की गदगियो की सघनता केवल श्वास-तत्र को प्रभावित बना कर ही समाप्त नहीं हो जाती है, वल्कि अन्य तत्रो पर भी अपना दुष्प्रभाव छोड़ती है। इससे तपस्तत्र पर भी बुरा असर पड़ता है। इस हेतु साधक को उपवास-व्रत या लम्बी तपस्या करने का अभ्यास वनाना चाहिये ताकि अन्दर की दुर्गंध अन्दर ही समाहित हो जाय। उसके साथ ही शेष गदगी को विरेचन पदार्थ आदि के माध्यम से वाहर निकालकर आहार तन्त्र को स्वस्थ एव सक्रिय वनाना समीक्षा के लिये आवश्य है। इस शेष गदगी को वाहर निकालने मे श्वास तत्र सहायक होगा तो गदगी बाहर निकल जाने के वाद वह पुन स्वस्थ रूप से सक्रिय भी वनेगा। जिससे नियत्रण केन्द्र सवल वन जाता है और नये केन्द्रो से प्रवेश पाने वाली गंदगी भीतर पहुँच नहीं पाती है। साधक यदि प्रत्येक समय सावधान रहे और अपने विवेक

तत्र को सतर्क रखे तो भीतर के अवस्थानो मे उत्पन्न होने वाली काम-क्रोधादि वृत्तियों को वह रूपान्तरित कर सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया को सावधानी के साथ लम्बे समय तक सक्रिय रखी जाय तो साधक सूक्ष्म परिधि की समीपता मे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनो का स्वय स्रष्टा और निर्माता बन कर स्वतत्रता साध सकता है।

प्रवलतम शक्ति संकल्प

इस त्रिआयामी साधना मे सबसे प्रवलतम शक्ति होती है सकल्प की शक्ति। सकल्प जितना प्राणवान् होगा, साधना उतनी ही सप्राण होगी। इस सकल्प शक्ति का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ कम किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है। वह सस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर भी जिसमे सूक्ष्म वृत्तियो के भी सस्कार होते हैं, आज से नहीं, अनादि एव अनन्तकाल से ढलती आ रही चेतना के साथ सम्बन्धित होता है। इस चेतना ने अज्ञानवश इन वृत्तियो को निज भाव रूप मे मान रखी है। बस यही भूल इस चेतन सत्ता को अनन्त काल से सत्रस्त बना रही है। चूकि यह भूल अनन्त काल की है, इस कारण उसका परिमार्जन एकदम कुछ ही क्षणो मे या कुछ वर्षों मे ही हो जाय—इसकी कम सभावना रहती है। इसे सुधारने के लिये तो कई जन्मो तक साधना करनी पड़ती है। जिन महान् चेतनाओं ने अपनी ऐसी विकारी वृत्तियो पर विजय प्राप्त की है उन्होने भी अपने अनेक जन्मो की साधना के द्वारा वह विजय प्राप्त की है। हमे भले ही ऐसा लगा हो कि उन महापुरुषो ने इसी जन्म मे आत्म-साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त कर ली। किन्तु मुक्ति प्राप्त होती है पूर्व जन्मो की अनेक साधनाओं के बल पर ही। ऐसा अपवादरूप से हो सकता है कि आत्मा की अवस्थिति का परिपाक अत्यन्त त्वरित गति से हो जाय। यह एक अलग बात है।

इस प्रकार ऐसा उत्साहपूर्ण सकल्प सदा बना रहना चाहिये कि इस जन्म मे नही तो, मै आगामी जन्म मे अवश्यमेव अपने लक्ष्य को प्राप्त करके सिद्ध अवस्था मे पहुँच जाऊँगा। यदि ऐसा सकल्प प्राणवान् होगा तो साधक इन विकारी वृत्तियो को परास्त करके सर्वकर्म विनिमुक्ति लोकालोक के साक्षात्कर्त्ता सिद्धस्वरूप को अवश्य ही प्राप्त करके रहेगा।

ऐसे दृढ़ सकल्प का सस्कार जव सूक्ष्म शरीर के साथ चेतना मे सयुक्त हो जाता है, तव वैसे ही सुसंस्कार जन्म-जन्मान्तर तक अनुगामी बन जाते है। इस वजह से उसकी शक्ति आगामी जन्म मे भी आध्यात्मिक ऊर्जा को सम्वल प्रदान करती है। वह प्रवल सम्वल एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के समस्त विकारो को उखाड़ कर फैंक देता है और परम शुद्धि का द्वार खोल देता है।

सद्‌विचार की शक्ति

तीव्रतम संकल्प के साथ इस साधना मे एक अन्य शक्ति की भी अपेक्षा रहती है और वह है सद्‌विचार की शक्ति। यह सद्‌विचार की शक्ति जब तक सकल्प की सपुष्टि का वातावरण तैयार करती रहती है, तब तक सकल्प शक्ति क्रियाशील बनी रहती है। सपुष्टि का ऐसा वातावरण न हो तो सकल्प निष्क्रिय बन जाता है। यदि सम्पूर्ण जीवन ही विलासपूर्ण वातावरण से विलग हो जाय और अपने आध्यात्मिक सकल्पो का आवर्तन करता रहे तो इन सकल्पो की सहायता से लक्ष्य सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सकल्प-साधना के साथ-साथ सद्‌विचारो के वायुमडल का निर्माण

बहुत आवश्यक है अथवा यों कहा जा सकता है कि सकल्प रूपी नगर की सुरक्षा के लिये पवित्र विचारों का उसके चारो तरफ कोट बहुत जरूरी है।

विचारो के अनुसार ही जीवन के स्वरूप का सृजन होता है - ऐसी जैन दर्शन या कर्म सिद्धान्त की निश्चित मान्यता है। वास्तव मे तो वर्तमान काल के विचार ही भावी जीवन निर्माण की रूपरेखा बनाते है। अत इस संदर्भ मे विचारो की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है कि आज के विचार आचार ही कल के जीवन की नींव रखेगे।

ये विचार यदि अप्रशस्त होगे तो जीवन अप्रशस्तता की दिशा मे गति करेगा और आगामी जीवन को भी अप्रशस्तता का रूप देगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारो के द्वारा वर्तमान तथा अनागत दोनो जीवनो को समुज्वल बनाया जा सकता है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी सिद्धि भी वैसी ही होती है। ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य मे विशुद्धतम विचारो का सुप्रभाव सूक्ष्म एव सूक्ष्मतम शरीरो पर अकित हो जाता है और यदि आगामी जीवन का आयुष्य-बध उन विचारो के दौरान हो जाय तो सूक्ष्मतम शरीर के साथ अनुबधित वे विचार अपने भविष्य को याने कि आगामी जन्म को भव्यता प्रदान कर देते है। इस दृष्टि से साधानानुकूल वातावरण, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर तथा आध्यात्मिक सयोग की अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हो जाती है जिनके माध्यम से फिर साधना का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। तदनुसार गति करने पर अबाधित आनन्द को पाया जा सकता है।

सत्सकल्पो के समान ही सद्विचारो की ऊर्जा प्राप्त होने से साधना की गहराई मे उतरते हुए साधक का इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिये कि मै अविलम्ब अपने गतव्य पथ की तरफ आगे बढ़ता जाऊँ और अचल सिद्ध स्वरूप का वरण करलू। इस दृढ़ सकल्प मे सशय को कोई भी स्थान नहीं दिया जाना चाहिये। अटल निष्ठा का सकल्प साथ हो और हो किसी भी व्यवधान से बाधित न होने की प्रखर भावना। तब विशुद्ध और मगल विचारो व सकल्पो की सावधानी सफलता की ओर साधक को अग्रगामी बना देगी।

समीक्षण की पूर्णता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता के लिये तव तीसरे आयाम मे निर्धारित भविष्य के सकल्पो मे समता के सकल्प का उद्भव हो जाता है। समता का सर्वत्र प्रसार ही समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता का प्रदीप्त प्रमाण बनता है।

तव साधक के चित्त के सृजन का पहला सूत्र वन जाता है - समता का सूत्र । समग्र साधना का मूल हो जाती है समता की सरल भावना। जब तक समता की साधना सर्वोच्च लक्ष्य के रूप मे नहीं साधी जाती है, तब तक सफलता नही मिलती है और अन्त प्रवेश मात्र एक काल्पनिक उड़ान वन कर अवरुद्ध हो जाता है। विषमता की ज्वालाए सुलगती रहेगी तो उसमे साधना का पल्लवन असभव ही वना रहेगा। विना समता के अन्त.साधना चाहे जितनी कर ली जाय, उसका धरातल भी तैयार नही हो सकेगा।

अत सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लक्ष्य के लिये ही होना चाहिये। समता को ही अध्यात्म की प्राण ऊर्जा माननी चाहिये और जीवन मे समता के सवर्धन का सकल्प लेना

चाहिये। समत्त्व योग की चरम उपलब्धि यकायक नहीं हो जाती है यह सही है, फिर भी उसके प्रति आस्था का जो अकुरण सम्यक् रीति से कर दिया जाय तो एक दिन वह समता विशाल वृक्ष का आकार ले लेगी। यही नहीं, उस वृक्ष के मीठे फल अनुपम आनन्द भी प्रदान करेगे। समता सम्यक् आस्था के अभाव मे जो भी साधना की जायगी, उसका समावेश विराधना की कोटि मे ही होगा। इसके विपरीत स्वल्प मात्रा मे भी साधी गई समतापूर्वक साधना लक्ष्य की दिशा मे गतिमान बनायगी। वही परम समत्व योग के समीप भी पहुँचा देगी।

साधक के मन मे विषमता के बीज वपित कर उसकी आत्म-चेतना पर अकुरित होने लगे उससे पहले ही वह अपनी समस्त वृत्तियो को समता की साधना मे नियोजित कर दे, जिससे उसकी साधना को अबाध गति प्राप्त हो सके। समत्व साधना से साधक को विचलित करने के लिये अनेक तूफान खड़े होते है, झझावातो के आघात चलते है, किन्तु उसे इन सबका अपनी समुन्नत आत्म शक्ति से मुकाविला करना होगा। आधियो और तूफानो के लिये सभी दिशाएँ द्रव्य और भाव रूप से खुली रहती हैं और यह कहना कठिन होता है कि किस दिशा से कितनी प्रबल आधी उठेगी ? परंतु यदि साधक का अपना समत्त्व योग का आसन सुदृढ होता है तो वे आधियाँ उमड़-घुमड़ कर भी अप्रभावी ही रहकर थम जायगी। कारण, समत्व साधना एव समीक्षण ध्यान का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के साथ पूरी गहराई और मजबूती से जुड़े रहते है। एक प्रकार से समीक्षण ध्यान को समता साधना का ही नाम दिया जा सकता है। समता पूर्वक सबकुछ देखना ही तो समीक्षण है।

समीक्षण की अन्तर्गत भावना को और अधिक स्पष्टता से समझ ले। इस देह के मूर्तिंड मे सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समस्त शक्तियो को सगोपित करके रहा हुआ है और उसके द्रव्य तथा भाव रूप अनेक द्वार है। उन्ही द्वारो से तथा प्रधानतया काम-क्रोध आदि विकारो के द्वारो से अथवा किसी भी एक द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वो का प्रवेश सभव हो सकता है। ऐसी वेला मे यदि अन्तर्चेतना की शक्ति विवेक के दीपक के साथ जागृत न हो अथवा बाधक तत्त्वो का ज्ञान न हो तो वे बाधक तत्त्व जो अनादि काल से अपना आसन जमा कर बैठे हुए हैं, मलिन वृत्तियो को उभारेगे तथा अल्प विकसित समता साधना के अकुरो को उखाड़ कर ध्वस्त बना देगे। इसलिये समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया मे समता की साधना के लिये सतत सविवेक जागृति की अपेक्षा रहती है।

सतत विवेक जागृति के दीपक को प्रदीप्त रखकर ही साधक समता की ज्योति को प्रज्वलित रख सकता है। कल्पना करे कि साधक समता की साधना मे तन्मय बना हुआ है और उसकी आत्मलीनता अभिवृद्ध होती जा रही है, उस समय समझिये कि उसके कानो मे इस प्रकार के विषम कटु शब्द आते है कि एक वार उसकी मनोभूमि पर विषमता की प्रतिध्वनि गूजती है जो उसकी साधना की समता धारा को आन्दोलित कर देना चाहती है, तब भी वह अपनी समता धारा को शान्त-प्रशान्त बनाई रखे तो उसे समझना चाहिये कि उसकी साधना मे परिपक्वता की स्थिति आने लगी है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वह विषमतापूर्ण कटु स्वर उसके ज्ञान केन्द्र को अस्थिर बनाकर विपथगामी बना दे तो वह भी विषम चिन्तन के लिये विवश बन जाता है। यह इस कारण होता है कि ज्ञान केन्द्र अपने क्रिया केन्द्रो को सूचित कर देता है, विषमता के फूट जाने के

बारे मे। तब प्रतिक्रिया मे साधक की चेतना आन्दोलित हो जाती है। साथ ही शरीर के सर्व केन्द्र भी प्रकपित हो जाते है। समझिये कि यही से समता साधना का स्खलन शुरू हो जाता है। द्रव्य मन पर भाषा के उन स्कन्धो का ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण ही ऐसा अनर्थ घटित हो जाता है। यह स्खलन ऐसा होता है कि वर्षों की साधना की प्रगति मे बहुत बड़ा व्यवधान खड़ा हो जाता है। दुष्ट शब्दो की एक सामान्य-सी क्रिया भीतर मे कितनी भयकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है - यह बहुत ही गभीरता से समझने योग्य विषय है।

समीक्षण ध्यान साधक के लिये इस दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि चाहे कटु हो या मधुर—सभी प्रकार के शब्दो के प्रति उसकी विवेकपूर्ण समत्त्व प्रज्ञा सदा जागृत रहे। उसका ज्ञान केन्द्र इतना तटस्थ और समभावी हो जाय कि वह अपने हिताहित के विषयो पर तत्काल सम्यक् निर्णय ले सके। उसके द्रव्य मन को वह इस तरह घड़ ले कि प्रतिकार की कैसी भी भावना उसे आन्दोलित या चलायमान न बना सके। तब ऐसी जागृति सामान्य और सहज रूप ग्रहण करके उसे आत्मस्थ रहने मे समर्थ बना देगी। वैसी अवस्था मे उसे बाहर की कोई भी क्रिया विचलित नहीं बना सकेगी। यही नहीं, उसकी सहजता और समता से अपशब्द की कटु क्रिया भी उसकी साधना को अधिक सशक्त बनाने मे सहायक भूत हो जायगी।

समीक्षण ध्यान साधना मे अपने ज्ञान केन्द्रो के ऊपर तथा उसी प्रकार समस्त बाधक तत्त्वो पर एक सशक्त नियत्रण उत्पन्न हो जाना चाहिये। यह नियत्रण इतना सुदृढ़ हो कि उसकी समत्त्व भावना एव विवेक दृष्टि का दीपक सदा प्रकाशमान रहे और वह उस प्रकाश को सदा अनुभव लेता रहे। फिर चाहे वह अपशब्द सुने, वीभत्स दृश्य देखे, दुर्गंध सूघे या अस्वाद पदार्थ चखे अथवा स्पर्शे, उसके मन को कोई भी प्रतिकूलता चचल नही बना सकेगी। उसकी ऐसी सुदृढ़ता के साथ ही इन्द्रियातीत विषय जैसे पूर्व दृष्ट, श्रुत वगैरा भी साधक के चित्त को विकेन्द्रित नही कर सकेगे। कभी-कभी इन्द्रियातीत विषयो को साधक भली प्रकार से पहिचान नहीं पाता है तो वे उसके ध्यान को विकेन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उस समय साधक समीक्षण ध्यान के माध्यम से अपने को उनसे दूर खीच लेता है और समत्व योग से अपने आत्म स्वरूप की गहराई मे डूब जाता है। वह अपने इस प्रकार के अभ्यासक्रम से अपनी अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियो के अवलोकन मे भी सक्षम हो जाता है तो उन वृत्तियो के परिमार्जन मे भी दक्षता प्राप्त कर लेता है। तब वे मलिन वृत्तियाँ उसे किसी प्रकार की हानि नही पहुँचा सकती है और वह साधक स्वय अपने आत्म-स्वरूप का तथा लक्ष्य पथ का भी सफल दृष्टा वन जाता है।

जैसे नदियाँ समुद्र मे मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त विकार वृत्तियाँ समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व के महासागर मे विलीन होकर समता भाव मे रूपान्तरित हो जाती हैं तथा इस स्तर पर पहुँच कर समीक्षण ध्यान अपनी परिपूर्णता पा जाता है। तव चेतना भी अलौकिक एव अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है।

चिन्तन आचरण में उतरे

यह त्रिआयामी रूप समीक्षण साधना अपने तीन चरणो मे विकसित होती हुई मन शोधन तथा मनोविश्लेषण के सामर्थ्य को अवाप्त करे, पूर्णत आत्म सयम को साधे एव चरम व परम शक्ति

की प्राप्ति तक पहुँच कर ही विश्राम ले - साधक का ऐसा सुदृढ सकल्प बनना चाहिये और चिन्तन का यह सम्पूर्ण विषय साधक के आचरण मे उतरता जाना चाहिये।

अपने अतीत का स्मरण करते समय साधक विगतकालीन अपनी कलुषित वृत्तियो का चिन्तन भी करे तो साथ-साथ उनका शोधन भी करता जाय। आदर्श लक्ष्य का स्मरण करते हुए वह परमात्म भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा भी ले तो अपने आत्म भाव को ऊर्ध्वगामी बनाने का पुरुषार्थ भी साधे। चिन्तन की गहराइयो मे उतर कर वह विशुद्धतम मन स्थिति का सृजन भी करे तो अपने कृर्तत्त्व की ऊर्जा को भी यत्नरत बनावे। इसके लिये उसे समीक्षण ध्यान के तीनो आयामों की साधना करते समय संकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता और विचारो की प्राजलता को अपने सहयोगी अगो के रूप मे स्वीकार करना चाहिये। यह याद रहे कि समीक्षण ध्यान मे सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले आवश्यकता होती है आत्म विकास की गहरी प्यास। यह पिपासा जितनी तीव्र होगी, ध्यान प्रयोग के प्रति उस की अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र बनेगी। पूर्ण अभिरुचियुक्त पिपासा के साथ जो भी सत्कार्य हाथ मे लिया जायेगा, उसकी सफलता असदिग्ध बन जायेगी।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दे कि उद्देश्य दृष्टि की परिपूर्णता के प्रतिपादन के बावजूद यहाँ पर समीक्षण ध्यान का जो विधिक्रम बताया गया है, उसे एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम ही माने। पूरे वर्ष की साधना के बाद साधक के लिए आगे के मार्गदर्शन की अपेक्षा रहेगी। क्योकि अपनी वर्ष भर की साधना मे साधक के समक्ष कौन-कौनसे और कैसे-कैसे व्यवधान उपस्थित हुए, उसकी समीक्षा करके ही उसके लिये भावी विधिक्रम का निर्धारण करना पड़ेगा। इस मार्गदर्शन से वह अपने अगले चरण मे व्यवस्थित रूप से गति कर सकेगा। जब वह इस त्रिआयामी समीक्षण ध्यान साधना मे स्वस्थ गति ग्रहण कर लेगा तब वह अपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण मे भी योग्य बन जायगा।

साधक इस सकेत को अपने हृदय का तलस्पर्शी बनावे कि समीक्षण ध्यान का यह प्रतिपादन अथवा उसका स्वय का चिन्तन मात्र विचारो तक ही सीमित न रह जाय। यह प्रयोगात्मक रूप से उसके आचरण मे उतरे तथा जीवन मे एकीभूत हो जाय। साधना के उसके प्रत्येक चरण मे सजगतापूर्वक समर्पण की भावना का निर्माण हो जाय तथा वह यथार्थ कार्यान्वय मे ढल जाय तो उसकी मन शक्ति तथा आत्मशक्ति के भव्य द्वार खुल सकते है जिनमे प्रवेश करके वह सम्पूर्ण मुक्ति के चरम लक्ष्य तक पहुॅच सकता है।

इस बात की गॉठ बॉध ले कि आम जनता के सामने साधना विषयक शब्दात्मक चर्चा करके ही न रह जाना महत्त्वपूर्ण नही है। अपितु ध्यान-साधना को पहले अपने जीवन मे प्रेक्टिकल रूप देकर तथा स्वय को आम जनता के सामने उस साधना के आदर्श रूप मे रखना महत्त्वपूर्ण है। कई लोग इस साधना को अपने जीवन मे न उतार पाने के हजार बहाने ढूढ लेते है, ऐसे लोग जब साधना की चर्चा करते है तो वह मात्र वाणी-विलास बन जाता है।

समीक्षण ध्यान साधना अथवा किसी भी सत्साधना का यही वास्तविक अर्थ मानना चाहिये कि उस साधना के बल पर जीवन मे फैल रही अन्तर एव बाह्य विकृत वृत्तियो का रूपान्तरण हो तथा साध्य की निकटता बने। यह लक्ष्य अवश्य पूरा हो सकता है बशर्ते कि उपरोक्त प्रयोग विधि

को जीवन मे आत्मसात् करके सर्व प्रकार के तनावो से मुक्त हो जाय एव आत्म-दृष्टा भाव को जागृत बना ले। तब अशुभ वृत्तियो का शुभता मे रूपान्तरण भी होगा तो सतत सावधानी से मुक्ति पथ पर आगे बढ़ते हुए आत्म देव के दर्शन भी होगे।

आत्म-रमण की आवस्था

ध्यान साधना की सफलता से स्वरूप-दर्शन तो स्वरूप दर्शन से आत्म-रमण की अवस्था प्राप्त होती है। समीक्षण का सुफल ही आत्म-रमण के रूप मे प्रतिफलित होता है। समतापूर्वक (समभाव के साथ) जब आन्तरिकता को निहारा जायेगा, तभी वहाँ विचरण करने की आवश्यकता महसूस होगी। निरीक्षण-परीक्षण के बाद ही क्रियाशीलता सुविचारित रूप से प्रोत्साहित होती है।

आत्मा के तीन प्रकार बताये गये है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। सुसाधना की गति बहिरात्मा से अन्तरात्मा तथा अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ती है। इन्द्रियों एव बाह्य पदार्थों मे जो आशक्ति होती है, उसे ही बहिरात्मा की सज्ञा मिलती है। जब उसी आत्मा के अन्तरग मे आत्मानुभव रूप आत्मसकल्प बनता है, तब वही बहिरात्मा अन्तरात्मा का रूप ले लेती है। अन्तरात्मा ही अपनी सतत साधना से परम विशुद्धावस्था प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार का रूपान्तरण ही आज की कर्मबद्ध आत्मा को परमात्म-स्वरूप प्रदान करता है। इसी रूपान्तरण के लिये सम्पूर्ण साधनाएँ है जिन मे ध्यान साधनाऐं प्रमुख है। ऊपर समीक्षण ध्यान साधना का जो सूक्ष्म विश्लेषण दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि एक साधक किस प्रकार तीन आयामो द्वारा अपनी अशुभ वृत्तियो का शुभता मे रूपान्तरण कर सकता है।

आत्म-रमण की अवस्था मे साधक बाह्य जगत् की अपेक्षा अपनी ही आन्तरिकता मे अधिक विचरण करने लग जाता है। वह अवस्था उसकी सदा-जागृति की अवस्था होती है। वह सासारिक व्यवहार के कार्यों मे उदासीन बनता जाता है और स्व-पर के लोकोपकार मे सतत सावधान हो जाता है। वह यह समझ जाता है कि जो सासारिक व्यवहार के कार्यों मे जागता है, वह आत्म-कार्यों मे सोता है। यह समझ कर वह स्व-पर के लोकोपकार मे तनिक भी प्रमाद नहीं करता है। वह सच्चा आत्म-रामी बन जाता है।

आत्म-रामिता आत्म-रमण का ही नाम है। आत्म-रामी सदा आध्यात्मिक विषयो का ही चिन्तन करता रहता है क्योकि वह जो भी क्रिया करता है, विवेकपूर्वक करता है, फिर भी अपनी क्रिया की प्रतिक्रिया को भी वह जाचता और शुभता की कसौटी पर कसता है। तदनुसार वह अपनी भावी क्रियाओं का परिमार्जन करता रहता है। आत्मावलोकन, आत्मालोचना, आत्मनियत्रण, आत्मचिन्तन तथा आत्मदमन का एक प्रक्रिया-चक्र आत्मरामी की अन्तरात्मा मे चलता रहता है जिसके आधार पर वह स्वय के चिन्तन को समुन्नत बनाता है, उस चिन्तन की छाप दूसरो पर छोड़ता है और दूसरो के चिन्तन की समुन्नति को भी प्रेरित करता है। आत्मचिन्तन को स्वस्थ सुधड़ एव सैद्धान्तिक रूप देने के लिये आत्म-समीक्षण के नव सूत्रो का निरूपण किया गया है, जो निम्नानुसार है -

(१) मै चैतन्य देव हू।

मुझे सोचना है कि मै कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियो में भटकते हुए मुझे समझना है कि यह दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुआ है तथा जड़-चेतन सयोग, सुख दु खानुभव एव ससार के ससरण का क्या रूप है ? यह समझ कर मै मूर्छा और ममत्व को हटाऊगा, राग द्वेष और प्रमाद को मिटाऊगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मगलमय बनाऊगा।

(२) मै प्रबुद्ध हुँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नही है ?

प्रबुद्धता की वेला मे मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण मेरे नही है, परन्तु पर-पदार्थों के प्रगाढ़ मोह ने मुझे पाप कार्यों मे फसा रखा है। मैं मिथ्यात्व को त्यागूगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूगा एव आत्म-नियत्रण, आत्मालोचना व आत्म-समीक्षण से अपने मूल गुणो को ग्रहण करता हुआ ससार की आत्माओं मे एकरूपता देखूगा।

(३) मै विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है और कौनसे सिद्धान्त अपनाने है ?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मै सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तो से कितना दूर हू ? मैं सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूगा, श्रावकत्व एव साधुत्व के पालन मे सत्सिद्धान्तो के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूगा और ज्ञान व क्रिया के सयोग से निर्विकारी बनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

(४) मै सुज्ञ हूँ, सवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो है ?

अनुभूति के क्षणो मे मुझे ज्ञात होगा कि जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप मे ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत वना दिया है ? यही मेरी तुच्छता हीन-भावना का कारण है जिसे मै तपाराधन से दूर करूगा, मन, वाणी व कार्यों मे लोकोपकार की महानता प्रकटाऊगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

(५) मै समदर्शी हू, ज्योतिर्मय हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहॉ-कहॉ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है ?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अंधकार की परतो मे पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख-सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय-कषायो मे उलझ कर कितना मानवताहीन,वचन कितना असत्य-अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप-अधर्ममय हो गया है ? मैं दृढ़ सकल्प के साथ मन, वचन एव काया के योगो को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूगा तथा भावना के धरातल पर समदर्शी वनने का प्रयास करूगा।

(६) मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मै क्या कर रहा हू और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप मे सिद्धात्माओं जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ़ गया है? अपने आन्तरिक स्वरूप एवं जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर मै शुभ परिवर्तन का पराक्रम दिखाऊगा, आत्म-शुद्धि का पुरुषार्थ प्रकट करूगा एव अहिसा, सयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमे समभाव जगाऊगा।

(७) मैं परम प्रतापी, सर्व शक्तिमान् हू। मुझे सोचना है कि मै बधनो मे क्यो बधा हू ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है ?

अपनी अपार शक्ति से समीक्षण ध्यान मे मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अष्ट कर्मों के सारे बधन कैसे तोड़ सकता हू और मुक्ति के मार्ग पर वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ ? मै अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक-कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा सर्व शक्तिमान् होने का उपक्रम करूँगा।

(८) मै ज्ञानपुज हू, समत्त्व योगी हू।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यो नहीं मिलती, अक्षय सुख क्यो नहीं प्राप्त होता ?

ज्ञान के प्रकाश मे मैं अनुभव करूगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्व-कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है ? तव मै एकावधानता से सम्यक् दर्शन ज्ञान व चारित्र की आराधना करूगा, गुणस्थान के सोपानो पर चढ़ता जाऊँगा और समत्त्व-योग के माध्यम से अमिट शान्ति व अक्षय सुख को प्राप्त कर लूगा।

(९) मै शुद्ध, बुद्ध निरजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मै प्राप्त कैसे करूं।

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे मुझे प्रतिभासित होगा कि मै दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुसक कहाँ हू और वर्ण, गध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहा हूँ ? मै तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, असेदी-अलेशी आदि गुणो से सम्पन्न हूँ। इससे मै गुणाधारित जीवन का निर्माण करूँगा, मनोरथ व नियम चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी वनूगा और अपने मूल स्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होऊगा।

आगे के आध्यायो मे इन्ही नव-सूत्रो का विशद विवेचन किया गया है, इस दृष्टि से कि जव समीक्षण ध्यान का साधक आत्म-रमण की अवस्था मे विचरण कर रहा हो तो वह इस विवेचन को एक वार पढ़े, कई वार पढ़े, बार-वार पढ़े और परिमार्जन वृति को जागृत करते हुए, आत्मानुभूति के सुखद क्षणो का आन्तरिक आनन्द ले। साधक इस विवेचन के साथ अपने अन्त करण को एकीभूत वना कर यथार्थ रूप से आत्मालोचना कर सके, आत्मज्ञान ले सके और

आत्म-पुरुषार्थ की दिशा मे अपने चरण बढ़ा सके इस विचार से सारा विवेचन उत्तम पुरुष मे दिया गया है। साधक उसे पढ़ते हुए एकात्मता का अनुभव करेगा और आत्म चिन्तन की आनन्द-धारा मे अपने आपको तन्मय वना सकेगा।

नव-सूत्रों की विशेषता

इन नव सूत्रो का निरूपण यह ध्यान मे रखकर किया गया है कि समीक्षण की ध्यान साधना सम्पूर्ण बन सके। आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सभी विषयो को इन नव सूत्रो मे समाहित कर लेने का यत्न किया गया है। एक प्रकार से जैन दर्शन की समूची सिद्धान्त-धारा का सार इन नव-सूत्रो मे समावेश करने का ध्यान रखा गया है, क्योंकि जैन दर्शन प्रधानत निवृत्ति मार्ग है और सासारिकता से निवृत्ति मे ही आत्मा का मोक्ष समाया हुआ है। सपूर्ण कर्मों की निवृति के लिये की जाने वाले सम्यक् प्रवृत्ति से ही मोक्ष की निस्पति अवाप्ति होती है।

निवृत्ति का दृष्टिकोण अकस्मात् भी कोई प्रभावकारी निमित्त पाकर उभर सकता है, किन्तु सामान्यतया इसे उभारने के लिये सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन की सज्ञा इसलिये दी जा रही है कि इस जड़ ससार मे रहते हुए, जड़ शरीर को धारण करते हुए तथा जड़ कर्मों से बधे हुए होने के कारण मनुष्य के विचार सामान्यत सासारिक व्यवहार से ही सम्बद्ध होते हैं। वह इस विषय पर कम सोचता है कि जिन सासारिक सुख सुविधाओं के पीछे वह भाग रहा है, वे उसे विकृत बनाती है, विशुद्ध नही। वह यह तो मुश्किल से ही सोचता है कि शुद्ध आत्मदृष्टि से यह शरीर भी उसका अपना नही है। वह तो शुद्ध रूप मे केवल आत्मस्वरूपी है। अत उसके वर्तमान विचारो मे परिवर्तन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि वह अपने आत्म-स्वरूप को मुख्यता दे तथा उसी को जाचने, परखने व सुधारने मे अपनी प्राप्त शक्ति को नियोजित करे ताकि एक ओर वह अपने जीवन मे उदात्त गुणो का विकास कर सके तो दूसरी ओर अपने श्रेष्ठ जीवन के माध्यम से अन्य प्राणियो के दु खो को दूर करके तथा उन्हे भी अपनी वास्तविक उन्नति का मार्ग सुझा करके लोकोपकार मे निजत्त्व को विसर्जित कर सके अत पहले के विचार छूटे और स्वभाव के विचार आगे पकड़े - यही समीक्षण ध्यान का प्रारभिक लक्ष्य है।

यह विचार-परिवर्तन आसान नहीं है। सम्यक् श्रद्धा के जागृत होने पर ही मिथ्या ज्ञान, सम्यक् ज्ञान के रूप मे रूपान्तरित होता है। अज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान तो उपजे ही, किन्तु, भावना का गहरा पुट भी वहॉ लगे ताकि सम्यक् श्रद्धा भी जागृत हो, क्योंकि सम्यक् ज्ञान एव श्रद्धा के सद्भाव मे सम्यक् चारित्र का पुरुपार्थ दिखाने मे फिर यह पुरुष पीछे नही रहेगा। चिन्तन की दृष्टि से आज के पुरुष मे पुरुषार्थ का सत्सकल्प बल पकड़े—यही इन नव-सूत्रो का मूल लक्ष्य है।

इन नव सूत्रो की यथार्थ विशेषता तो समीक्षण ध्यान साधक ही इन्हे अपने गहन चिन्तन के विषय बनाकर जान सकेगे किन्तु परिचयात्मक दृष्टि से यह कह सकते है कि जड़ चेतन सयोग के सदर्भ मे ससार एव आत्मा की गतिविधियो का अध्ययन करते हुए जड़-चेतन सघर्ष के जितने विन्दु है, वे इन नव सूत्रो मे सकलित कर लिये गये है, ताकि यह चेतना अपनी जड़ग्रस्तता को वधन रूप समझे तथा इस बधन को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का कठिन सकल्प ले। नव तत्त्वो की पृष्ठभूमि मे चेतना-शक्ति इस रूप मे भी अनुप्रेरित की गई है कि वह समता के सरल सद्भाव से न केवल अपने आत्मस्वरूप को ही ओतप्रोत वनाले, अपितु समता की ऐसी रसधारा प्रवाहित करे कि ससार की

सम्पूर्ण आत्माए 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दे दे। ये नव सूत्र गूढ़ चिन्तन के मोती हैं और प्रत्येक भव्य आत्मा को चिन्तन मे निमज्जित बनाकर नये-नये मोती खोज लाने की भी ये नव तत्त्व अवश्य ही प्रेरणा देते हैं।

यह एक सत्य है कि वीतराग देवो ने आत्म विकास की महायात्रा के सम्बन्ध मे स्वानुभव के साथ सम्पूर्ण ज्ञान पाकर विधि विधान प्रदान किया है कि कैसे यह महायात्रा मन, वचन एव काया के सुव्यवस्थित योग-व्यापार के साथ सचालित की जाय तथा कैसे इस महायात्रा को सयम एव तप की कठिन आराधना से सफल, सम्पूर्ण और सिद्ध बनाई जाय? फिर भी वह गूढ़ ज्ञान आज के साधक के मन-मानस मे भी स्पष्ट होना चाहिये। इन नव सूत्रो के निरूपण मे यह लक्ष्य भी सामने रखा गया है कि वीतराग देवो का ज्ञान ही सरल शैली मे साधक आत्मसात् कर ले।

नव-सूत्रो के नौ अध्यायो के पश्चात् 'समता की जय यात्रा' के शीर्षक से सम्पूर्ण विवेचन का उपसहार किया गया है कि आत्म-समीक्षण की पूर्णाहुति समता की सदा एव सर्वदा जय यात्रा मे ही प्रकट होनी चाहिए?

पहला सूत्र

मै चैतन्य देव हूँ। अनन्त चेतना शक्ति का स्वामी हू। क्योकि मेरी चेतना का स्रोत कभी भी विलुप्त नही होता, निरन्तर प्रवहमान रहता है।

प्रवाह वैसा ही जैसे कि एक पहाड़ी झरने का होता है। झरने का जल बराबर बहता रहता है—कभी बड़े वेग से तो कभी धीमी गति से। समतल भूमि आ जाय तो उसका विस्तार दिखाई देता है और सकड़ा चट्टानो भरा मार्ग हो तो उस झरने की जल-धारा पतली ही नही पड़ जाती, बल्कि कभी-कभी वह चट्टानो के बीच मे अदृश्य भी हो जाती है। अपनी गति तथा विस्तार की न्यूनाधिकता के बाद भी वह जल-धारा कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती। वह निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और कभी न कभी नदी का रूप धारण करती ही है। कई झरने अथवा नदियॉ अपने मन्द प्रवाह के कारण भूमिगत हो जाती हैं यह दूसरी बात है। किन्तु अधिकाशत' ऐसी नदियाँ अपने प्रवाह की निरन्तरता बनाये रखकर एक न एक दिन महासागर मे एकीभूत हो ही जाती है।

मेरी चेतना भी विकास की महायात्रा मे निरन्तर प्रवाहित हो रही है और उस प्रवाह का सद्भाव बना हुआ है। कारण, प्रवहमानता मेरी चेतना का मूल लक्षण है। यदि प्रवाह ही समाप्त हो जाय तो चेतना चेतना ही नही रह जायेगी। प्रवाह न रहे तो झरने को या नदी को झरना या नदी ही कौन कहेगा ? सतत प्रवाह ही के कारण वह जल-धारा झरने अथवा नदी के रूप मे मानी जाती है। ठीक ऐसा ही चेतना शक्ति का प्रवाह होता है। मेरी चेतना सतत रूप से प्रवाहित होती है, इसीलिये मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ। यदि मूल मे चेतना का अस्तित्व ही न रहे तो मैं जीवात्मा ही नही कहलाऊँगा।

मै सतत प्रवहमान चेतना शक्ति का स्वामी हूँ इसी कारण मै चैतन्य देव हूँ। यह चेतना ही है जिसके माध्यम से मुझे आत्मानुभूति होती है—नित नई जागृति प्रस्फुटित होती है। मै सचेतन हूँ, प्राणधारी हूँ तभी तो प्राणी हूँ। जीव, आत्मा अथवा प्राणी मे चैतन्य का सद्भाव एक अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव मे पदार्थ होगे, प्राणी नहीं होगे। पदार्थ होते हैं और सदैव जड़ ही रहते हैं। वे कभी भी प्राणधारी नहीं बनते। इसी प्रकार प्राणधारी कभी भी जड़ पदार्थ नहीं बनते।

इसीलिए मै कहता हूँ कि मैं चैतन्य देव हूँ। मूल रूप मे जो चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा का है, वैसा ही स्वरूप इस ससार की प्रत्येक आत्मा का है—छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े जीवधारी आत्मा का है। यही नहीं, मूल रूप मे मेरा आत्म-स्वरूप ही सिद्धो, अरिहन्तो तया महात्माओं के आत्म-स्वरूप में प्रतिविम्बित होता है। यह दूसरी वात है कि सभी आत्माएँ विकास के अनेकानेक स्तरो पर प्रतिष्ठित होती है और जो आत्माएँ विकास की पूर्णता को साध लेती है, वे सिद्धात्माएँ वन जाती हैं।

तभी तो मै मानता हूँ कि विकास के किसी भी स्तर पर गति कर रही मेरी आत्मा की चैतन्य धारा मे भी सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेने की क्षमता विद्यमान है। पहाड़ी झरने के प्रवाह की

तरह ही मेरी चैतन्य धारा भी कभी सबल हो जाती है तो कभी दुर्बल बन जाती है। कभी-कभी तो ज्ञान दृष्टि से देखने वालो को मेरी पतनावस्था पर ऐसी अनुभूति होने लगती है कि जैसे मेरी चेतना एकदम विलुप्त हो गई हो, किन्तु वास्तव मे ऐसा कभी होता नही। भाव-सरणियो के उत्थान के समय ऐसे क्षण भी प्रदीप्त हो उठते है जब मेरी चेतना शक्ति का प्रवाह अपने विकास की महायात्रा मे अग्रगामी ही नही बन जाता है, अपितु अन्य कई जीवात्माओं को भी अपने प्रवाह का सम्बल प्रदान करके उन्हे भी प्रगतिशील बना देता है।

आह्वान अपनी चेतना का

मेरी चेतना शक्ति के प्रवाह की ऐसी गति, विगति अथवा प्रगति का क्रम क्या मेरे भीतर मे भी निरन्तर चलता हुआ मेरे अनुभव मे नही आता है? क्या भावनाओं की ऊर्जा कभी मेरे अन्तरतम को भी आन्दोलित नहीं बना देती है? मै ऐसे कुसमय का भी अनुभव करता हूँ, जब मैं शून्य-सा हो जाता हूँ—हताशा जैसे मेरी जीवनी शक्ति को निगल-सी जाती है। तो इस प्रकार कभी मन्द तो कभी तीव्र कभी निम्न तो कभी ऊर्ध्व —मेरी चेतना का प्रवाह अटूट रूप से चलता ही रहता है। मेरा अमिट विश्वास है कि यह प्रवाह कभी न कभी नदी का रूप भी ग्रहण करेगा और एक न एक दिन अनन्त चेतना के महासागर सिद्ध स्वरूप मे एकीभूत हो जायगा।

किन्तु इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मुझे अपनी चेतना को आह्वान करना होगा —उसे सुषुप्ति से जगाकर सुजागृतिमय और अनुभूतिमय बनानी होगी। यही विकास की महायात्रा का शुभारभ होगा।

जब मै अपने इस मानव जीवन मे गर्भावस्था से बाहर दुनिया के उजाले मे आया, नाना भाति के रग मेरी आखो के आगे तैरने लगे। प्रकृति के विशाल वक्ष पर खिलते मै उन रंगो को देखता, पल-पल फूटती हुई विविध ध्वनियो को मै सुनता, भाति-भाति के स्वादो का मै आस्वादन करता और नाना प्रकार की गधो को मै ग्रहण करता तो लगता है कि जैसे मेरे बाल्यकाल की सज्ञा वड़ी पैनी थी। बहुत कुछ जान लेने की उस मे एक प्रखर उत्सुकता थी। बाहर के दृश्य भीतर में उभरते रहते थे। इन्द्रियो और मन की सक्रियता बढ़ती जाती थी। ससार का यह फैला हुआ क्षेत्र एवं आकाश का अपार अन्तराल मेरी चेतना को जागृत बनाते थे कि यहाँ जानने को बहुत है और उस ज्ञान को भीतर मे उतार कर प्रकाश की किरणे खोज लेने की असीम गहराइयॉ भी यहॉ मौजूद है। तथ्यात्मक जगत् का ज्ञान एक सीढ़ी वनी तो उससे उपजने वाली भावनाओं ने मेरी चेतना को जो नया मोड़ दिया, वह मोड़ मुझे ऊपर की सीढ़ियो पर चढ़ते रहने की प्रेरणा देने लगा।

मै देखता हूँ कि मुझे मेरे शारीरिक निर्वाह के लिये अमुक पदार्थों की आवश्यकता होती है जिन्हे मै प्राप्त करने के लिये तत्पर वनता हूँ। किन्तु यह भी मैं देखता हूँ कि मेरे जैसे अन्य मनुष्यो तथा प्राणियो को भी अपने-अपने शारीरिक निर्वाह के लिये वैसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है। और जब उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य-मनुष्य के बीच मे विचित्र अवस्थाओं को मै देखता हू तो कई प्रकार के दृश्य सामने आते है। कई वार और कई स्थानो पर मनुष्य समूह के पारस्परिक सहयोग के दर्शन होते है कि एक दूसरे को आवश्यक पदार्थों की पूर्ति मे वह सहायता कर रहा है तो अनेक वार और अनेक स्थानो पर इस सम्वन्ध मे हृदयहीन दृश्य भी दिखाई देते है। शक्तिशाली मनुष्य अपने से दुर्बल लोगो का दमन करते हैं तथा उनसे आवश्यक पदार्थ छीन कर

अपने पास जमा कर लेते हैं अथवा उन्हे आवश्यक पदार्थ प्राप्त ही नही करने देते है। इस तरह सामाजिक अन्याय का उदय होता है।

मै जब एक सामाजिक प्राणी के नाते अन्याय तथा अत्याचार की इन बनती बिगड़ती झलकियो को देखता हू तो उस तथ्यात्मकता के साथ-साथ अपने भीतर मे एक प्रकार की भावात्मकता की अनुभूति भी महसूस करता हूँ। विचार उठता है कि ऐसी टकराहट और ऐसा सघर्ष क्यो ? क्यो कोई जरूरत से भी बहुत ज्यादा पा जाता है और क्यो किसी को उसकी जरूरत का अल्पाश भी नही मिलता ? भावनाओं के ऐसे बिन्दु पर कभी-कभी मेरा मन काप उठता है, सहज कारुणिकता जाग जाती है और मै अपना सब कुछ उन अभावग्रस्त लोगो को दे देने के लिये तत्पर हो जाता हूँ। मेरी चेतना शक्ति तब अपनी जागृति का एक नया ही क्षण अनुभव करती है।

मेरी चेतना शक्ति की ऐसी अभिव्यक्ति उन क्षणों मे मुझे अपना एक अमूल्य धन लगने लगता है। मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने पास-पड़ौस का रोना-हसना सुनू, उन लोगो के दु.ख-सुख को जानू और उनके रोने के दु ख को कम, किवा समाप्त कर सकू, ऐसे प्रयास प्रारभ करू। यह अभिलाषा जितनी बलवती होती है, मेरा आन्तरिक आनन्द बढ़ता है और ऐसा महसूस होता है कि जैसे मेरे अपने भीतर मे प्रकाश की चमचमाती रेखाएँ खिच रही हो। तब मुझे समझ मे आता है कि मेरी चेतना जाग रही है, आगे से आगे प्रवाहित हो रही है और उसके उस जागरण तथा प्रवाह मे मुझे प्रतीत होता है कि 'मैं' जाग रहा हूँ और बढ़ रहा हूँ। मेरी चेतना का आह्वान तब अग्रगामिता के नये आयाम ग्रहण करता है।

'मै' की आनन्ददायी अनुभूति

तथ्यो और भावनाओं के परिप्रेक्ष्य में मेरा यह 'मै' जो जागता है, वह मुझे आनन्ददायी अनुभूति प्रदान करता है। वह आनन्द बाहर का सुखाभ्यास नहीं होता, बल्कि आन्तरिकता की गहराई से फूटने वाला सहज आत्मिक आह्लाद होता है। आनन्दानुभूति की उस वेला मे मेरा 'मै' उद्दड या उद्धत नही होता, अपितु अपने मूल स्वरूप को पा लेने की अभिलाषा मे अथक रूप से गतिशील होना चाहता है। लगता है कि उस समय मैं अपनी चेतना का सार्थक रीति से आह्वान कर रहा हूँ और मेरी वह चेतना 'मैं' के आदेश का अनुसरण करती हुई ऊर्ध्वगामी बनती जा रही है। तब मुझे अपनी आध्यात्मिक प्रगति का सुख अनुभव होने लगता है।

मुझे अपनी आत्मिक विगति का कटु अनुभव भी है। मैंने अपनी बढ़ती हुई जानकारी से ससार के विविध पदार्थों का ज्ञान किया तब मेरा विवेक अपनी इन्द्रियो तथा अपने मन पर नियत्रण न रख सका। उस समय सुखदायी पदार्थों को पा लेने की अनन्त इच्छाएँ भीतर ही भीतर घुमड़ उठी कि मै ही उनका उपयोग करू। फिर उन इच्छाओं की पूर्ति की मृगतृष्णा ने मुझे कष्टो के मरुस्थलो मे भटका दिया। मैं भ्रमजाल मे बधा भटकता रहा, तनाव को बढ़ाता रहा और अपने चेतना के प्रवाह को मन्द बनाता रहा। आकाश के समान अनन्त इच्छाओं का भार ढोते हुए कई बार बाह्य आघातो ने मेरे भीतर को आहत किया है और मेरे 'मै' को बाहर के सारे खोखलेपन पर पैनी नजर डालने को मजबूर भी किया है। तब वे क्षण भी मेरी चेतना की जागृति के सार्थक क्षण सिद्ध हुए है क्योंकि उन्हीं क्षणो मे मरुस्थल मे भटकती हुई मेरी आत्मा को दो बूद अमृत मिला है जिसका रसास्वादन कर मेरे 'मैं' की अनुभूति परिपुष्ट हुई है।

उसी परिपुष्ट अनुभूति एव नवागत आनन्द को लेकर मेरे मन मे तब महत्त्वाकाक्षाओं का ज्वार भी जागा है। अपने ही स्वार्थों को पूरा करने हेतु दूसरो को कुचल डालने की दुष्कल्पनाएँ भी मैने की थी तथा सासारिक 'ऊँचापन' पाने की घृणित लालसाओं ने मेरे मन, वचन एव कर्म को भी भटकाव की राह पर धकेला था, किन्तु यह मेरी चेतना के आह्वान तथा 'मै' पन की आनन्दानुभूति का ही सुफल था कि मैं उन अंधेरी गलियो से कुछ बाहर निकल सका, जहाँ से मुझे थोड़ा खुला आकाश और खुली रोशनी दिखाई देने लगी। तब मै अधकार से ज्योति की ओर बढ़ने लगा।

इस प्रकार मै अपने वर्तमान जीवन मे ही सोया हूँ, गिरा हूँ, भटका हूँ। तब मेरी चेतना का प्रवाह अदृश्य भले हो गया हो किन्तु विलुप्त कभी नही हुआ। तभी तो वह पुन' पुन प्रकट होता रहा है। मेरी चेतना पुन' पुन जागती रही है और अपनी निरन्तरता का आभास देती रही है। सतत रूप से सतर्क रखने वाली ऐसी निरन्तर जागृति ही मुझे अपने सासारिक स्वार्थों मे फसने से दूर खीचती रही है और सबके हितो को सवारने की नवानन्दमय प्रेरणा देती रही है। इसी जागृति ने मेरे अन्त करण को सद्विवेक के ऐसे साचे मे ढाला है कि वह सवके हित मे ही अपने हित को जाचने-परखने लगा है।

यह सच है कि यदि ऐसी सर्वप्राणहिताकाक्षा मेरे मन मे बलवती बन जाय एव क्रियाशील हो जाय तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरी आत्म विकास की लम्वी यात्रा भाव-सरणियो मे ऊपर से ऊपर उत्थान पाती हुई अल्प समय मे भी सम्पन्नता एव पूर्णता को प्राप्त हो सकती है।

यह भटकाव अनादिकालीन है

वर्तमान जीवन मे मेरी आत्मा जो सासारिकता मे इधर उधर भटकती रहती है, वह भटकाव मात्र इसी जीवन का नही है, अपितु अनादिकालीन है।

यह 'मै' वह मात्र ही नही हूँ, जो अभी बाहर से दिखाई दे रहा हूँ। बाह्य दृष्टि से वह तो मेरा वर्तमान शरीर मात्र है। अनादिकाल से मेरी आत्मा इस ससार मे अनेकानेक शरीर धारण करती रही है एव भव-भवान्तर मे भ्रमण करती रही है। यह मानव शरीर मेरी आत्मा का वर्तमान निवास है। यह शरीर-निवास ही मेरी आत्मा की वास्तविकता का प्रतीक है।

आत्म-विकास का चरम स्थल मोक्ष होता है अत जब तक मेरी आत्मा अपने चरम को नही पा लेती है तब तक आगे भी ससार मे परिभ्रमण करती रहेगी। ससार का यह परिभ्रमण ही मेरी आत्मा का भटकाव है जो अनादिकाल से चल रहा है और मोक्ष प्राप्ति तक चलता रहेगा। जिस दिन मेरी आत्मा अपने समस्त कर्म वधनो को सम्पूर्णत विनष्ट कर लेगी और अपनी चेतना के प्रवाह को महासागर मे एकीभूति करने की दिशा मे तीव्र गति से मोड़ देगी, तव वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त वन जायगी। फिर न रहेगा वास और न बजेगी वासुरी। न भटकाव रहेगा, न जन्म-जन्मान्तर और न ससार-परिभ्रमण। मेरी आत्मा तव अनन्त ज्योतिर्मय रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एव सुख मे अजर-अमर हो जायगी।

इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी बनने के लिये मुझे इस सासारिक भटकाव को गहराई से समझना होगा ताकि कारणो के सम्यक् ज्ञान के द्वारा उनका निदान कर मै अपना समाधान पा सकू।

अनादिकाल से अन्य सभी सांसारिक आत्माओं की तरह मेरी आत्मा भी ससार की चार गतियो एव चौरासी लाख योनियो मे चक्कर लगाती हुई भटक रही है। मैंने इन सब गतियो तथा योनियो मे बारम्बार जन्म लिये हैं, वहाँ की यातनाएँ तथा मूर्छाए भोगी है तथा कई बार चेतना जागृति के फलस्वरूप आत्म विकास की ऊँचाइयाँ भी साधी है।

'मै' ने यानि कि मेरी आत्मा ने वर्तमान जीवन से पहले नारकीय जीवन की लोमहर्षक यातनाएँ झेली है, तिर्यंच जीवन के क्रूर कष्टो को सहा है तो देवलोको के ऐश्वर्यमय जीवन के आनन्द भी उठाये है। किन्तु मै अपने लिये सन्तोष का विषय यही मानता हूँ कि इस ऊँचे-नीचे परिभ्रमण के दौरान मेरी चेतना का दीपक बराबर जलता रहा जो घटाटोप अधकार के समय मे भी मुझे रोशनी की राह दिखाता रहा।

मै अपनी स्मृति को पीछे लौटाता हू तो देखता हू कि मैने बहतु प्राणियों की हिसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामो से कपायपूर्वक महारभ की प्रवृत्ति की, वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा रखकर महापरिग्रह सेवन किया, पचेन्द्रिय प्राणियो की हिसा करते हुए पचेन्द्रिय वध किया तथा मासाहार करने मे रस लिया, जिसके कुफल मे मुझे नरकायु का बध हुआ। ऐसा बध कई बार हुआ और मैंने धम्मा, बशा, सीला, अजना, रिड्ठा मघा और माघवई—इन सातो नरको की भीषण यातनाएॅ सहन की।

मेरा रोम रोम आज भी खड़ा हो जाता है जब मुझे अपने अज्ञानतायुक्त नारकीय जीवन मे मिले अपार कष्ट याद आते हैं। हम नारकीयो का वैक्रिय शरीर होता था जो भीषण प्रहारो का दु ख तो महसूस करता था किन्तु फिर से यथावत् हो जाता था। अधिकाशत हम नारकी के जीव ही भयकर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास देते थे—गदा, मुद्‌गर वगैरह शस्त्र बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते थे। बिच्छू, साप आदि बन कर एक दूसरे को काटते थे और नुकीले कीड़े बनकर एक दूसरे के शरीर मे घुस कर उसे क्षत-विक्षत कर डालते थे। अत्यन्त ऊष्ण अथवा अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना अलग होती थी तो पहली तीन नरको मे परमाधार्मिक देवता भी कठिन यातनाएॅ देते थे।

नारकीय यातनाओं का वर्णन करते हुए मेरी वाचा मे प्रकम्पन पैदा होता है। क्षेत्रजन्य ऊष्णता एव शीतलता की वेदना क्रमश एक से आगे की नरको मे तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती जाती थी। मध्य लोक मे ग्रीष्म ऋतु मे मध्याह्न के समय जब आकाश मे कोई बादल न हो, वायु बिल्कुल बन्द हो और सूर्य प्रचड रूप से तप रहा हो, उस समय पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति जैसी ऊष्ण वेदना का अनुभव करता है, ऊष्ण वेदना वाले नरको मे उससे भी अनन्तगुणी वेदना होती थी उस वेदना की महसूसगिरी यह है कि अगर मुझे नरक से निकाल कर मर्त्यलोक मे बड़ी तेजी से जलते हुए खैर की लकड़ी के अगारो मे डाल दिया जाता तो मै शीतल जल से स्नान करने के समान अत्यन्त ही सुख का अनुभव करता और उन अगारो पर मुझे नीद भी आ जाती। इसी प्रकार शीत के प्रकोप की महसूसगिरी भी ऐसी थी कि जैसे मध्य लोक मे पौष या माघ की मध्यरात्रि मे आकाश के मेघशून्य होने पर जिस समय शरीर को बुरी तरह से कम्पायमान करने वाली शीत वायु चल रही हो, हिमालय गिरि के बर्फीले शिखर पर बैठा हुआ अग्नि, मकान और वस्त्रादि शीत निवारण के सभी साधनो से हीन व्यक्ति जैसी भीषण शीत वेदना का अनुभव करता है उससे भी

जारी अपनी आत्मा के इस परिभ्रमण को समाप्त कर देने के लक्ष्य को सामने रख कर मै इस जीवन मे क्या-क्या करू ?

अनेकानेक भव-भवान्तरों के प्रत्यक्ष अनुभव से मेरी चैतन्य शक्ति ने ससार के वास्तविक स्वरूप को जाना है तथा अनेक ज्ञानी आत्माओं के कथन से उसे पहिचाना भी है। किन्तु यह ज्ञान और पहिचान कभी सजग भी रही तो कभी विस्मृति के गर्त मे डूबती भी रही। अपने विकास की पूर्णता पर न पहुँच पाने तक चेतना के साथ ऐसा ही परिवर्तन होता रहता है और यही वस्तुत. सासारिकता है।

द्रव्य संसार (लोक) का स्वरूप क्या ? छोटी-सी परिभाषा है द्रव्यो का समूह रूप है। फिर प्रश्न होगा कि द्रव्य क्या ? जो गुण और पर्याय पर आधारित हो वह द्रव्य। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्—तत्त्वार्थ सूत्र ५/३७। गुण जो सदा एक सा रहे तथा पर्याय वह जो सदा बदलती रहे। यो द्रव्य छ होते है किंतु मुख्य है जीव और अजीव। अजीव मे शेष पाच द्रव्यो का समावेश हो जाता है। जीव का दूसरा नाम आत्मा है और आत्मा के सिवाय सभी अजीव है।

जैसे मै हूँ। यह मै जो हूँ, वह आत्मा है किन्तु मेरी आत्मा मुक्त नही है, शरीरधारी है। अत. यह शरीर जो है, वह जड़ पुद्गलो से निर्मित है। इस प्रकार मेरे वर्तमान जीवन का अस्तित्व है मेरी आत्मा एव मेरे शरीर के सयोग से है। यह आत्मा एव शरीर का सयोग ही ससार है। इसके सिवाय भी जितनी दृश्यावलियाँ हैं, वे सब जड़ रूप हैं। यो कह सकते है कि इन चर्मचक्षुओं से जो कुछ भी दिखाई देता है, वे सब जड़ पदार्थ है। मुख्यत आत्माओं एव शरीरो का सयोग ही ससार की सारी हलचलो का मूल है। इन सारी हलचलो से ससरित होता हुआ ही यह संसार है।

अत मेरी आत्मा और मेरी देह का सयोग ही मेरा ससार है। दोनो के सयुक्त होने से सम्पूर्ण क्रियाए संचालित होती हैं, इन्हीं क्रियाओं की शुभता एव अशुभता के आधार पर पुण्य एव पाप कर्मो का बधन होता है तथा इसी कर्मबधन के फलस्वरूप जन्म-मरण का क्रम चलता है। मै इसी सासारिकता के चक्र मे भव-भवान्तर मे भ्रमण कर रहा हूँ तथा इसी प्रकार समस्त ससारी जीव भी ससार-परिभ्रमण कर रहे है। जव समग्र कर्म-बधनो को समाप्त कर लेने पर मेरी आत्मा सूक्ष्म स्थूल देह के वधन से मुक्त हो जायगी तब वह सिद्ध हो जायेगी और सदा-सदा के लिये सिद्ध ही रहेगी। वह पुन' कभी भी संसार मे अवतरित नही होगी। आत्मा का अपने मुक्त एव शुद्ध स्वरूप मे पहुँच जाना ही उसका मोक्ष होता है। आत्मा एव शरीर सयुक्त है तब तक ही ससार है।

ससार मे रहते हुए मेरी आत्मा एव मेरी देह के सयोग को गति, स्थिति, अवकाश एव व्यतीति के सम्वल की आवश्यकता होती है। जीव एव अजीव पुद्गल द्रव्यो के सिवाय शेष चार द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एव काल ये चारों उपरोक्त सम्वल उपलव्ध कराते है। मै गति करता हूँ तो उसमे धर्मास्तिकाय का सम्बल मिलता है, अधर्मास्ति काय के योग से ठहरने की स्थिति बनती है। इस अवकाश मे समस्त क्रियाएँ आकाशास्तिकाय की सहायता से चलती हैं एव काल द्रव्य व्यतीत करने का कार्य करता है। यो सभी द्रव्यो मे जीव प्रमुख है जो जड़ कर्मों से सलग्न वनकर ससार मे विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माता वनता है। कर्मों की सलग्नता से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरो को धारण करने वाला वनाता है और शरीर दस प्रकार के प्राणो के वल पर टिके रहते है। इसलिये जीव को प्राणधारी या प्राणी भी कहते है।

मै प्राणधारी हूँ इसलिये अपने दस प्राणो की सहायता से अनुभव कर सकता हूँ कि मै प्राणधारी क्यो कहलाता हूँ ? सीधी सी बात है कि प्राणो को धारण करने से मै प्राणधारी हूँ। तो प्रश्न उठता है कि ये प्राण कितने है और कौनसे हैं ? मुझ द्वारा धारण किये गये द्रव्य प्राणो की सख्या दस है। और भाव प्राण मेरी आन्तरिक शक्ति रूप ज्ञान, दर्शन, सुख और सत्ता रूप होते है। मैं सुनता हूँ, यह मेरा श्रोतेन्द्रिय प्राण है। इसी प्रकार मै देखता हूँ, मैं सूघता हूँ, मै चखता हूँ और मै स्पर्शानुभव करता हू जो क्रमश चक्षुरीन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण तथा स्पर्शेन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। फिर मेरे मन, वचन एवं काया रूप तीन प्राण श्वासोश्वास एवं आयुष्य बल रूप दो प्राण और होते हैं। चैतन्य लक्षण से युक्त जीव तथा नाशवान स्वभावी अजीव के ससारी संयोग की ये प्राण ही कड़ियाँ हैं, जिनसे ऐसा चेतन, इस ससार मे चित्र-विचित्र दृश्यो का चितेरा, विविध प्रकार के निर्माणो का निर्माता तथा ज्ञान-विज्ञान के गहन अनुसधानो का अध्येता बनता है।

यह ससार एक रगमच है और मैं तथा मेरे जैसे अन्य जीव इस रगमच के कलाकार हैं। कर्म से प्रेरित होकर विविधजन्मो मे नाना प्रकार के शरीर धारण करता हूँ। मैं ही कभी पिता होता हूँ, तो कभी भाई, पुत्र और पौत्र भी हो जाता हूँ। कभी माता बनकर स्त्री और पुत्री भी हो जाता हूँ। यह ससार की विचित्रता है कि स्वामी दास बन जाता है और दास स्वामी। एक ही जन्म मे राजा से रंक और रक से राजा बन जाता हूँ। मैं ससार के सभी क्षेत्रो मे रहा हूँ, सभी जातियो, कुलो व योनियो मे मैंने जन्म लिया है और प्रत्येक जीव के साथ किसी न किसी रूप मे एव कभी न कभी नाता जोड़ा है किन्तु अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मुझे इस ससार मे विश्राम नहीं मिला है।

मैंने इस ससार मे कर्मवश परिभ्रमण करते हुए लोकाकाश के एक-एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया किन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक गति मे जाकर मैंने वहाँ होने वाली शीत, ऊष्ण एव अन्य प्रकार की वेदनाएँ सहन कीं, तिर्यञ्चगति मे भूख, प्यास, रोग, वध, बधन, ताड़न, भारारोपण आदि दु ख प्रत्यक्ष देखे तथा विविध सुखो की सामग्री होते हुए भी देव जन्म मे मैं शोक, भय, ईर्ष्या आदि दु खो से दुखित रहा। मनुष्य गति मे तो मै वर्तमान मे हूँ ही। गर्भ से लेकर वृद्धावस्था एव मृत्यु तक कितने दु ख भोगने पड़ते हैं—यह मै स्वय अनुभव करता हूँ, समझता हूँ और देखता हूँ। चारो ओर दृष्टि फैलाता हूँ तो मुझे दिखाई देता है कि कोई रोग पीड़ित है, कोई धन, जन के अभाव मे चिन्तित है, कोई स्त्री पुत्र के विरह से सतप्त है और कोई दारिद्र्य दु ख से दवा हुआ है। मै चारो ओर दु ख ही दु ख देखता हूँ कि कही युद्ध चल रहा है तो कहीं साम्प्रदायिक या जातिवादी संघर्ष हो रहा है। कहीं अनावृष्टि से अकाल का हाहाकार है तो कहीं अतिवृष्टि से जल प्लावन की त्राहि-त्राहि मची हुई है। घर-घर कलह का अखाड़ा बना हुआ है, स्वार्थवश भाई अपने ही भाई का खून पी रहा है और माता-पिता व सन्तान के बीच मे भी कटुता चल रही है। सारा संसार दु ख और द्वन्द्वो से भरा हुआ है, कहीं भी शान्ति के दर्शन नहीं होते।

ससार के इन्हीं दु ख द्वन्दो के बीच जव मैं गहराई से चिन्तन करता हूं तो मुझे लगता है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते अभावो, पीड़ाओं और विषमताओं से त्रस्त अपने साथियो एव समस्त प्राणियो के प्रति भी मेरे कुछ कर्त्तव्य हैं। मैं अपना आत्म योग देकर भी दूसरो के अभावो, पीड़ाओं, विषमताओं को कम कर सकू तो उस दिशा मे मुझे नि स्वार्थ भाव से कार्य करना चाहिये। यह परोपकार की निष्ठा और क्रिया ही मुझे मेरे आत्म-विकास से जोड़ने वाली वनती है क्योंकि

स्वार्थ छूटता है तभी परोपकार हो सकता है और परोपकार की वृत्ति बनती है तो अपनी आन्तरिकता में एक अनूठे जागरण का आनन्द फूटता है। यही आनन्द जब बढ़ता जाता है तो मुझे परमानन्द से साक्षात्कार करने की ओर आगे बढ़ा सकता है।

संसार के संसरण में 'मै'

यो देखे तो इस ससार को बनाने वाला 'मै' हूँ और मेरे जैसी आत्माएँ है। किन्तु मेरे तथा सभी संसारी आत्माओं के कर्मों की विडम्बना यह है कि हम इस ससार से बध गये है। ये आत्माएँ ही कर्मों से लिप्त होकर संसारी बनी हुई हैं जिनके विविध रूप दृष्टिगोचर होते है। समस्त ससारी आत्माओं को इन दो-दो विभागो मे विभक्त कर सकते है—त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, सज्ञी और असज्ञी, अल्प संसारी और अनन्त ससारी, सुलभ बोधि और दुर्लभ बोधि, कृष्ण पक्षी और शुक्लपक्षी, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक एव आहारक और अनाहारक। वैसे ससारी जीवो की चार श्रेणियाँ मानी गई है —(१) प्राणी—विकलेन्द्रिय याने दो, तीन व चार इन्द्रियो वाले जीव (२) भूत—वनस्पति काया के जीव (३) जीव—पचेन्द्रिय प्राणी तथा (४) सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के स्थावर जीव। इस ज्ञान के कारण जीव को विज्ञ, तो सुख दु ख की सवेदना के कारण उसे वेद भी कहते है। ये ससारी आत्माएँ विभिन्न श्रेणियो के रूपो मे ढलती, बनती, बिगड़ती, उठती, गिरती नित नूतन रचनाएँ करती रहती हैं और इस ससार को अपने ससरण से संसार बनाती रहती है।

मै आज ससारी जीव हूँ और सासारिकता से जुड़ा हुआ हूँ। किन्तु जब अपनी साधना के बल पर मै इस ससार से मुक्त हो जाऊँगा तब सिद्ध बन जाऊंगा। तो समस्त जीवो के मोटे तौर पर दो वर्ग मान लीजिये—ससारी और सिद्ध। सिद्ध होने का अर्थ है ससार से मुक्त हो जाना—संसार की ससरण प्रक्रिया से सर्वथा सदा के लिये विलग हो जाना। आत्मा मुक्त होती है ससार से, इस ससार से—जो चेतन-जड़ सयोग पर टिका हुआ है। अत मुक्ति का मतलब है—चेतन का जड़ से सभी प्रकार के सम्बन्धो को सदा-सदा के लिये तोड़ देना। जब तक चेतन जड़ के साथ सम्बन्धित रहता है तब तक ही उसके लिये यह ससार है और उस दिशा मे किये जाने वाले कर्मों के फलाफल के अनुसार उसे इस ससार मे भ्रमण करना ही होता है।

मै चैतन्य देव हूँ। मेरी आत्मा अनन्त चेतना शक्ति की धारक है किन्तु जड़ तत्त्वो के साथ बधी हुई है—शरीर मे स्थित है। जड़-चेतन सगम स्वरूप यह शरीर अपने मन, वचन, काया के जिस प्रकार के यौगिक व्यापार मे विचरता है तथा जिस प्रकार तज्जन्य विचार और आचार से सक्रिय होता है, उसी सक्रियता के परिणामस्वरूप शुभ अथवा अशुभ कर्मों से यह आत्मा वद्ध होती है। आत्मा का शरीर मृत्यु के उपरान्त वदल जाता है किन्तु विना अपना फलभोग दिये निकाचित कर्म नहीं बदलते। वे कर्म आत्मा से जुड़े रहकर इसके शरीर की अवस्था मे भी याने कि भावी जीवन मे भी अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते है। कर्म और फल का चक्र चलता रहता है जब तक कि कार्य-कारण रूप इन दोनो को पूर्णत समाप्त नही कर दिया जाता। अत कर्म के चक्र मे मै ससार बनाता हूँ। कर्म चक्र की समाप्ति के साथ ही जड़ चेतन सयोग टूट जायगा तथा 'मै' ससार से भी नाता तोड़ दूगा। तब 'मै' शुद्ध स्वरूपी सिद्ध बन जाऊगा।

इसलिये 'मैं' ही ससार हूँ और जब मै ही अपने आत्म पुरुषार्थ की उच्चतम सफलता साध लूंगा तो समझिये कि 'मै' ही सिद्ध हो जाऊँगा।

इस प्रकार इस ससार के ससरण मे सारी लीला फैली हुई है मेरी बद्ध आत्मा की तथा उन अनन्त बद्ध आत्माओं की जो जब तक मुक्त नहीं हो जाती, इस ससार मे भटकती रहने को विवश हैं। ससार के ससरण का इस रूप मे अनन्त-अनन्त आत्माओं के साथ 'मै' भी एक कारण भूत हू। क्योंकि 'मै' अपने मूल स्वरूप की विकृति के साथ सासारिक जड़ता से ग्रस्त हूँ एक मैल-पुते आईने की तरह निष्प्रभ होकर। मेरी स्व-चेतना की प्रभा कभी किन्हीं गुरु की कृपा से उभरी भी तो मूल पर चढ़ी विकृति की परतो को जानकर भी स्वच्छ कर लेने मे मैं विफल रहा। यह अवश्य है कि इस विफलता ने मेरी आत्मा को कौचा है और प्रेरणा दी है कि वह और अधिक पराक्रम दिखावे, अधिक पुरुषार्थ करे और अधिक तीव्र गति से मुक्ति की ओर आगे बढ़े।

इसी प्रेरणा ने मेरे 'मै' को जमाया है यह जानने के लिए कि वास्तव मे वह है कौन? उसका मूल स्वरूप क्या है और उसका वर्तमान धूलि-धूसरित अपरूप क्यो बन गया है? ससार के संसरण मे यह 'मै' कितना विवश बन गया है और क्यो? किन्तु यदि यह 'मै' सचेतन होकर जाग उठे तो वह किस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति का वाहक बन सकता है? तब उसका मूल स्वरूप कितना परमोज्ज्वल भव्य एव जाज्वल्यमान हो उठेगा?

मेरा 'मै' ही अपना वास्तविक परिचय अपने को दू और उसे पूर्ण गहनता से हृदयगम करू —यह परमावश्यक है। मै अभी ससारी हूँ, कर्मों से लिप्त हूँ, वरन् मै भी 'सिद्धो जैसा जीव' हूँ—यह जानता हूँ तथा अपनी क्षमता को पहिचानता हूँ कि 'जीव सोई सिद्ध होय।' मूल मे मेरा आत्म स्वरूप परम विशुद्ध है किन्तु मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एव अनन्त सुख कर्म रूपी काले बादलो से ढका हुआ है। अभी मेरी ये आत्म शक्तियॉ भले ढकी हुई है किन्तु यह सुनिश्चित है कि इनके अस्तित्व का लोप नही है। जब भी मेरा सत्पुरुषार्थ पूर्णत प्रतिफलित हो जायगा। ये सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनी पूरी प्रभा के साथ मेरे आत्म-स्वरूप मे प्रकाशमान हो उठेगी। वैसे वर्तमान मे 'मैं' द्रव्य रूप हूँ क्योंकि गुण और पर्याय का धारक हूँ, कषाय रूप हूँ क्योकि काषायिक वृत्तियो से ग्रस्त होता रहता हूँ। योग रूप हूँ क्योकि मन, वचन तथा काया के योगो का व्यापार मेरे साथ निरन्तर चलता रहता है। 'मै' उपयोग रूप हूँ, क्योकि उपयोग मे मेरा मूल लक्षण है। 'मैं' ज्ञान रूप हूँ, दर्शन रूप हूँ, चारित्र्य रूप हूँ एव वीर्य रूप हूँ क्योंकि अपने ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की उच्च कोटि की साधना को सफल बनाकर मै अनन्त वीर्य का धारक हो सकता हूँ। मेरी आत्मा के ये आठो प्रकार उसके मूल एव वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करते है। सभी ससारी आत्माओं की तरह द्रव्य, वीर्य, ज्ञान, दर्शन और उपयोग प्रत्येक समय मे मेरे भीतर विद्यमान रहते है। कषाय तव विद्यमान रहती है, जब मेरी आत्मा सकषायी होती है और योग भी तव जव वह सयोगी होती है। आत्मा को सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान की सुलभता होती है तो सर्वविरति मुनियो को चारित्र्य की प्राप्ति। समुच्चय मे कहा जा सकता है कि मेरी ही तरह सभी ससारी आत्माओं मे ये आठ प्रकार देखे जा सकते है।

ससार के ससरण एव सचरण मे अपनी इतनी सारी प्रछन्न शक्तियो के वावजूद मेरा 'मै' अत्यन्त विचित्र है क्योकि वह अपने आप से उतना ही विस्मृत भी है। 'मै' जव स्व-तत्त्व को

भूलकर आत्म विस्मृत बन जाता है, तब उसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि पर तत्त्वो की गहरी उलझन मेरे आत्म स्वरूप पर छाई हुई है जो उसके गुण-विकास को अवरुद्ध कर देती है। मैं अपने चारो ओर दृश्य पदार्थों को देखता हूँ और उनमे अपने सुख को खोजता हूँ तो मुझे भ्रमपूर्ण यही विश्वास होता है कि उन पदार्थों मे ही मेरा सर्व सुख समाया हुआ है। मै तब अपने साथियो की व्यथा तथा सर्वहित को विसार कर अपने ही स्वार्थों के तग घेरो मे बद हो जाता हू। राग और द्वेष के उतार चढ़ाव मेरे भीतर की शुभता को ढक देते है। उन वृत्तियो और प्रवृत्तियो से घिर कर मै राक्षस बन जाता हू, समस्त सुखदायी पदार्थों को अपने और अपनो ही के लिये सचित करना चाहता हूँ। उन पदार्थों को दूसरो से छीनता हूँ और सबको अपने नियत्रण मे बद करके दूसरो के कष्टदायक अभावो पर अट्टहास करता हू। किन्तु मै देखता हूँ कि मै ही नहीं, अन्य कई मनुष्य भी मेरी ही तरह ऐसी राक्षसी वृत्ति मे उलझ रहे हैं। और इस तरह कटु संघर्ष चलता रहता है —पारस्परिक सम्बन्धो मे घोर तनाव फैलता रहता है। पदार्थों की प्राप्ति के लिये उभरती और बढ़ती हुई यह आपाधापी आपसी अन्याय और अत्याचार मे जब बदल जाती है तब परिस्थितियाँ असह्य हो उठती है। दमन और शोषण के तले चारो ओर हाहाकार मच जाता है।

इस तरह होता है एक ओर कुछ ससारी आत्माओं के क्रूर पक्ष का फैलाव तो दूसरी ओर अनेकानेक आत्माओं के शोषण, दमन तथा उत्पीड़न का कारुणिक दृश्य। किन्तु यही क्रूर व्यवहार, यही शोषण और दमन प्रुबद्ध आत्माओं में नया विचार जगाता है। तब मनुष्य और मनुष्य के बीच मे समानता, स्वतन्त्रता एव भ्रातृत्व का नारा खड़ा होता है और मनुष्य जाति की वैचारिकता का एक नया आयाम सामने आता है, नया चिन्तन उभरता है और विकास की नई मंजिले कायम की जाती है। वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के इस चक्र मे चैतन्य तत्त्व का ही जागना, सोना, बगावत करना तथा बुराइयो को फेक कर अच्छाइयो से अपनी झोली को भर लेना दिखाई देता है। 'मै' ही इस वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के चक्र का प्रवर्तक होता हूँ किन्तु विडम्बना यही घटती है कि हर बार मै विकास को अधूरा ही छोड़ देता हूँ, उसे उन्नति की सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाने मे असमर्थ ही रह जाता हूँ।

मैं सफलता और विफलता के हिडोले मे ही झूलता रहता हूँ —सफलता मे सर्वोच्च शिखर तक पहुँच नहीं पाता—इसी कारण ससार का ससरण निरन्तर चलता रहता है क्योकि अनेकानेक संसारी आत्माओं के साथ 'मै' उसमे ससरण करता रहता हूँ —उससे ऊपर उठकर ससार-मुक्त हो जाने मे हर बार विफल हो जाता हूँ।

मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति

'मै' जब सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करता हू, विकृति के विरुद्ध विद्रोह जगाता हूँ अथवा प्रतिवाद को हटा कर पुन· वाद को प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ तो मेरा यह सघर्ष मूल्यो के लिये लड़ा जाने वाला सघर्ष हो जाता है। मेरी चेतना मे मानवीयता के जो मूल्य सस्थापित होते हैं, उनकी प्रतिष्ठा मेरा कर्त्तव्य हो जाता है क्योंकि उन मूल्यो की पुन पुन प्रतिष्ठा मे ही मुझे सदाशयता का प्रसार दिखाई देता है—वह सदाशयता जो एक से दूसरे की बाह थमवाकर सवको आत्म विकास की महायात्रा मे अग्रसर हो जाने की उत्प्रेरणा देती है। यही मेरी मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

अपने 'मैं' का यह विकास मुझे भीतर ही भीतर बहुत भाता है। मेरे मूल्य जब उपजते हैं और समाज मे साकार रूप लेते है तो मेरा अन्तर्हृदय खिल उठता है। इससे मेरा मस्तिष्क तनावमुक्त हो जाता है और आन्तरिकता की अतल गहराइयो मे एक असाधारण अनुभूति जन्म लेती है। यही अनुभूति मेरे भीतर तथा भीतर से बाहर ससार मे एक नव क्रान्ति जगाने मे समर्थ हो जाती है।

मैं कहता हूँ कि पदार्थों के मोह से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यो की समाज मे सर्वत्र स्थापना करना इस ससार की सबसे बड़ी क्रान्ति है। इसी कारण सभी मानते हैं कि 'मनुष्य खाने के लिये नही जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है' और उसका यह जीना सोद्देश्य होना चाहिये। मेरे और मेरे साथियो के ऐसे उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक जीवन से मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति सर्वतोमुखी बनती है। मेरा 'मैं' तब पदार्थों के ममत्व से हटकर मूल्यो के ससार मे जीने लगता है और भावनाओं की भूमिका का सूत्रधार बन जाता है। मूल्यो के ससार मे जिया जाने वाला जीवन ज्यो-ज्यो गहराई मे उतरता जाता है, त्यो-त्यो नये मानव-मूल्यो की खोज आरभ हो जाती है। वह खोज ऐसे दिव्य मोती निकाल लाने मे सफल होती जाती है जो मानवो से भी आगे देवत्व के मूल्यो के मोती होते हैं। ऐसे मूल्यो के आधार पर आत्म-विसर्जन का धरातल तैयार होता हैं। उसे ही नवक्रान्ति की सफलता का नाम दे सकते है।

नव क्रान्ति किसे कहे ? नव क्रान्ति वही जो अपने 'मै' को गहराई मे भीतर तक झकझोर दे, मूल्यात्मक चेतना को उभार दे और आत्मा को विसर्जन के द्वार पर खड़ी कर दे। विसर्जन होगा, अपने स्वार्थों का अपने राग और द्वेष के सकुचित परिणामो का और यह विसर्जन होगा अपने मूल स्वरूप के परिमार्जन के लिये—समाज मे मानव-मूल्यो पर आधारित आचरण के प्रसार के लिये। एक 'मै' ऐसा करेगा तो उसके साथ कई 'मैं' उसी आस्था और निष्ठा से उस के साथ चल देगे। तब वे सब 'मै' मिलकर आत्मीयता के भावो से ओत-प्रोत हो एक नये समाज का निर्माण करेगे—एक ऐसे समाज का जो अपने समग्र जीवन मे अहिसा को साधन बना कर सत्य रूपी साध्य को प्राप्त करने की सबकी तत्परता को सम्पूर्णत सहयोग देगा। काश, मूल्यात्मक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया ऐसा समाज सम्पूर्ण ससार के ससरण मे एक नया ही मोड़ ला दे।

मै मानता हूँ कि मूल्यात्मक चेतना के अस्तित्व मे मनुष्य अपनी पशुता का त्याग कर मनुष्यता के सुघड़ श‍ृगार से सज्जित होता है। केवल पदार्थों के ससार मे ही जीने वाला मनुष्य एक पशु से अधिक कुछ नहीं होता। उस दशा मे वह अधा जड़ग्रस्त हो जाता है। जड़ता जितनी छूटती है —चेतना जितनी जागती है, आत्म-विकास की यात्रा उतनी ही प्रखर बनती है। बारीक नजर से देखे तो जड़ग्रस्तता से सम्पूर्ण मुक्ति ही आत्मा का मोक्ष होता है।

इसलिये मै देखता हूँ कि जड़-चेतन सयोग ही जब जड़-चेतन सघर्ष का रूप ले लेता है, तब मेरी चेतना जागरण की अंगड़ाइयाँ लेती है—वह चेतना जो अब तक पदार्थों के मोह मे, उनसे सुख पाने की आशाओं व लालसाओं मे सज्ञाहीन, मूर्छाग्रस्त तथा किकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई थी। इस जड़-चेतन सघर्ष मे मेरी चेतना ज्यो-ज्यो जड़ तत्त्व की निरर्थकता, बधन एव पतनकारकता को समझती जाती है, त्यो-त्यो वह जड़ को अपने इच्छा क्षेत्र से दूर धकेल देने के लिये उद्यत होती जाती है अथवा यो कहें कि मेरी चेतना तब वास्तविक अर्थो मे जड़ को बधन मानकर तथा महसूस कर उससे मुक्त हो जाने का प्रयास प्रारभ कर देती है। इसे ही मै मूल्यात्मक चेतना का विकास मानता हूँ।

हूँ। इसका आशय यह है कि 'मै' आत्म रूप से शाश्वत हूँ तो शरीर रूप से विनश्वर। शरीर परिवर्तित होते रहते है, आत्मा वही रहती है अपने पूर्वकृत कर्मों से बधी हुई।

आज मुझे यह मानव तन मिला है—पहले भी मेरी आत्मा का कोई शरीर रहा होगा और इस तन के बाद मे भी कर्म फल स्वरूप इसे कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा। आत्म तत्त्व की दृष्टि से मै किसी भी शरीर मे गुणात्मक रूप से वही रहूगा बल्कि सिद्धशिला पर पहुँच कर भी वही रहूगा—जो तब नहीं रहेगा, वह है शरीर और उससे सलग्न कर्म समूह। जब तक मेरी आत्मा इस ससार में विचरण करती रहेगी, पर्यायो की दृष्टि से उसके रूप परिवर्तित होते रहेगे। आज यह आत्मा मानव तन मे स्थित है —पहले किसी अन्य शरीर मे थी या आगे किसी अन्य शरीर मे निवास करेगी—परिवर्तन का यह एक पहलू है। दूसरा यह कि कभी आत्मा घनघाती कर्मों से लिप्त हो जाती है तो कभी निर्जरा करती हुई हलुकर्मी बन जाती है। इसी प्रकार के कई परिवर्तन भिन्न-भिन्न समयो मे परिलक्षित होते है। ससारी आत्मा कर्मावृत्त होती है तो सिद्ध की आत्मा कर्म मुक्त। यह आत्म-स्वरूप का पर्याय भेद है। लेकिन गुण रूप से दोनो प्रकार की आत्माओं मे मूल की दृष्टि से समानता भी होती है। अत जीवनो की क्रमिकता मे यही 'मै' का स्थायी और निरन्तर अस्तित्व बना रहता है। इस वस्तुस्थिति के कारण ऐसी मन स्थिति का निर्माण होता है जिसमे मैं अपने व अपने साथियो याने कि समाज एव विश्व के दीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध मे स्थिर मन से विचार कर सकता हूँ तथा निष्ठापूर्वक उस पवित्र कार्य मे अपने आपको सफलतापूर्वक नियोजित कर सकता हूँ।

उपरोक्त विचार के आधार पर निश्चित रूप से मेरी जिज्ञासा यह तथ्य जानने के लिये जागृत होगी कि मै पहले क्या था, कहॉ था, क्या करता था और उन सब बातो का प्रभाव इस जीवन मे किस रूप मे दिखाई देता है? कारण, इस जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही मै कर्म सिद्धान्त के स्वरूप एव उसकी प्रक्रिया को भली-भाति समझ सकूगा।

मै कहाँ से आया हूँ?

इस विषयक विश्लेषण के साथ मेरे मन मे सबसे पहले यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि मैं कहाँ से आया हूँ?

यह प्रश्न मेरे ही मन मे आया हो—ऐसी बात नहीं है? सभवत यह प्रश्न प्रत्येक विचारवान् मानव के मन मे उठता होगा, तभी तो शास्त्रो और सूत्रो मे भी इस प्रश्न को उठाया गया है तथा उसका समुचित उत्तर भी दिया गया है।

कहा है—'यहॉ इस ससार मे कई मनुष्यो को होश नही होता जो कहते है कि मै पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ। मै ऊपर की दिशा से आया हूँ, नीचे की दिशा से आया हूँ या अन्य दिशाओं से आया हूँ। क्योंकि ऐसा कहने वाले यह नहीं समझते कि उनकी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। इसलिये विचारणीय यह है कि पिछले जन्म मे मैं कौन था, अथवा इस जन्म से आगे जाने पर भावी जन्म मे मैं क्या होऊँगा? इसका ज्ञान मैं (अ) स्वकीय स्मृति द्वारा, (व) अतीन्द्रिय ज्ञानियो के कथन के द्वारा अथवा (स) अतीन्द्रिय ज्ञानियो के सम्पर्क से समझे हुए व्यक्तियो के समीप से सुन कर ही प्राप्त कर सकता हूँ। मैं यदि यह जान लेता हूँ, कि मेरी आत्मा पूर्व जन्म मे किस शरीर मे स्थित होकर किस रूप मे थी अथवा पुनर्जन्म

मे किस शरीर मे स्थित होकर क्या रूप ग्रहण करेगी तो ऐसे ज्ञान से मै अपने आत्म तत्त्व मे पूर्ण मान्यता एव आस्था रखने वाला बन जाता हूँ और मैं जब अपनी आत्मा को मानने वाला बन जाता हूँ याने कि जीव तत्त्व के अस्तित्व को मान लेता हूँ तब स्वाभाविक रूप से अजीव तत्त्व याने कि पुद्गल के अस्तित्व को भी मान लेता हूँ और कर्म बधन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया को भी मानता हुआ मन, वचन एव काया के योग—व्यापार को भी मानने वाला बन जाता हूँ।

सचमुच ही ऐसा मनुष्य जो मन, वचन, काया के योग व्यापार तथा उनकी क्रियाओं को नही समझ पाता है, वह सभी दिशाओं अथवा अनुदिशाओं से आकर ससार की विभिन्न गतियो तथा योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। वह सभी दिशाओं से दु खो को भोगता है, अनेक प्रकार की योनियो से जुड़ता है एव अनेक रूपो मे वेदनाओं तथा पीड़ाओं का अनुभव करता है। उस मनुष्य के लिये ही आप्त पुरुषो ने ज्ञान दिया है। उसी ज्ञान के प्रकाश मे कोई भी मनुष्य अपने मन, वचन, काया की विविध क्रियाओं को भली-भाति समझ सकता है।

मैं आप्त पुरुषो द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान से अथवा स्वकीय स्मृति से जब जुड़ता हूँ तब मुझे समझ मे आने लगता है कि मै कहॉ से आया हूँ। वर्तमान जीवन मे मै सुख एव दु.ख का जो अनुभव ले रहा हूँ, उससे मुझे मेरे पूर्व जन्म का अनुमान लग जाता है और अब जो कुछ मै कर रहा हूँ उसके आधार पर ही मै यह भी समझ सकता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म कैसा होगा।

पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म मे अपने अस्तित्व की निरन्तरता को पहचान कर मै आश्वस्त होता हूँ कि मै जो कुछ भी कृत्य इस जीवन मे करू, उसे स्थिर मन से करू क्योंकि उसका शुभाशुभ प्रभाव जहॉ दूसरो पर पड़ेगा, वहाँ उसका शुभाशुभ फल मुझे भी अभी या बाद मे अवश्यमेव मिलेगा। मेरे मन मे इस धारणा की सम्यक् पुष्टि हो जाने के बाद मेरे कार्यकलापो मे स्थायित्व की भावना आ जाती है। इसके साथ ही स्वहित एव परहित के कार्यों की भी मुझे भली प्रकार से पहिचान हो जाती है। तब मै पक्के तौर पर समझ जाता हूँ कि परहित मे स्वहित भी समाया हुआ रहता है क्योंकि परहित तभी सम्पादित किया जा सकता है जब अधिकाश रूप से स्वहित सम्पादित कर लिया होता है। और स्वहित का सम्पादन स्व की श्रेष्ठता को साध लेने के बाद ही सभव बनता है।

यह सब समझ लेने के बाद मै स्व के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाता हुआ परहित के कार्यों मे सलग्न होता हूँ। तव परहित की मेरी निष्ठा का इतना विकास होने लग जाता है कि परहित के पवित्र कार्य मे यदि मुझे अपने जीवन का भोग देने का अवसर भी उपस्थित हो तो मै उससे पीछे नहीं हटूगा। मै अपना पूरा जीवन भी समर्पित कर देने के लिये तव तत्पर हो जाता हूँ, क्योंकि वह समर्पित जीवन मेरी भवभवान्तरो से निरन्तर चल रही अपनी आत्म विकास की महायात्रा को अग्रगामी बनायेगा—इस सत्य से मैं आश्वस्त हो जाता हूँ। यही आश्वस्ति मुझे मुक्ति के मार्ग पर अविचल गति से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

यह दुर्लभ मानव-तन

ऐसी प्रेरणा के साथ मेरे मन-मस्तिष्क मे यह वात समा जाती है कि वर्तमान जीवन सम्पूर्ण आत्म विकास की महायात्रा का एक पड़ाव मात्र है। पड़ाव वह विन्दु होता है जहाँ ठहर कर यह सोचा जा सके कि मै कहाँ से आया हूँ और किसलिये आया हूँ ? आगे के लिये मुझे इस पड़ाव पर किस प्रकार के कार्य करने हैं ताकि महायात्रा अवाध रूप से चलती रहे ?

ऐसा सोचना इस कारण से भी आवश्यक है कि मै इस पड़ाव का महत्त्व जान सकू और यह समझ सकू कि यहाँ के अपने कार्य-कलापो के माध्यम से पकड़ी गई मेरी अपनी गति मुझे साध्य की ओर ले जायेगी या नहीं और ले जायेगी तो उसके बीच की दूरी कितनी जल्दी कम की जा सकेगी ? इस समझ से मेरे भीतर यह सतर्कता भी पैदा होगी कि कही मै आत्म-विस्मृत बनकर उद्देश्यहीनता के जगल में तो नही भटक जाऊंगा ?

जब मै इस पड़ाव पर याने कि अपने वर्तमान जीवन मे पूरी तरह से सतर्क रहूंगा तो मैं साध्य प्राप्ति की पटरी से नीचे नहीं उतरूंगा, बल्कि उस पटरी पर अपनी चाल को तेज बनाने का भी कठिन प्रयत्न करूंगा। मैं अपने कार्य कलापो का निरन्तर लेखा-जोखा लेते हुए अपने साध्य को सदैव समक्ष रखूंगा ताकि उहे साध्य प्राप्ति के अनुकूल बनाये रख सकू। फिर पड़ाव मात्र पड़ाव ही नहीं होता, बल्कि एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक पहुँचने का गतिक्रम भी होता है। अत आज मैं यह सोचना चाहता हूँ कि मुझे जो यह मानव-तन मिला है— पहली बात तो यह कि वह महायात्रा को सफल बनाने के उद्देश्य से दुर्लभ क्यो है और दूसरे, यदि वह दुर्लभ है तो उसका मै अधिकतम रूप से सदुपयोग कैसे कर सकता हूँ ?

मै जानता हूँ कि मेरी आत्मा अनादिकाल से इस ससार मे परिभ्रमण कर रही है जहाँ उसने चार गतियो, चौरासी लाख योनियो तथा असख्य उप जातियो मे बार-बार जन्म लेकर भांति-भाति के अनुभव लिये हैं। मेरी आत्मा आज मानव तन मे आई है और वह चिन्तन मनन की धनी बनी है। इस जीवन मे मै जो कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ और जानता हूँ, उस पर चिन्तन-मनन करके उसके मूल एव विस्तार को पकड़ पाने की मुझ मे क्षमता विद्यमान है। मै विभिन्न योनियो मे उत्पन्न जीवो की स्थिति को देखता हूँ—उनके हलन-चलन को समझता हू तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कोई भी अन्य योनि इतनी शक्तियो से सम्पन्न नही है जितनी कि मुझे प्राप्त यह मानव गति और योनि है। स्वय मनुष्य जाति के कष्टो का भी जब मैं आकलन करता हूँ तो लगता है कि उनमे भी मेरी स्थिति श्रेष्ठतर है।

इस समीक्षण से मुझे यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव मे यह मानव-तन दुर्लभ है, क्योंकि अन्य कोई ऐसा तन नहीं, जिसमे महायात्रा को सफल बनाने हेतु इस तन से अधिक सामर्थ्य रहा हुआ हो। सामर्थ्य का अर्थ शारीरिक शक्ति से भी ऊपर वह आध्यात्मिक शक्ति है जिसकी साधना किसी भी अन्य आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना सकती है। मुझे देव-योनि का खयाल आता है, जिसमे उत्पन्न देवताओं का वैक्रिय शरीर, भौतिक ऐश्वर्य, दिव्य ऐन्द्रिक सुखो का अनुभव अथवा रोग एव वृद्धावस्था के कष्टो के अभाव मे सदावहार यौवन मुझे प्राप्त मनुष्य-तन के लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते है किन्तु देव-तन से मुझे कोई ईर्ष्या नहीं है क्योंकि मुझे इस तथ्य का सुनिश्चित ज्ञान है कि आत्म-विकास के साधक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित करने का देव योनि मे भी कोई सामर्थ्य नहीं होता है और इसी कारण देवलोक के देव भी मनुष्य तन को प्राप्त करने की वाछा करते हैं।

जव ऐसा मनुष्य तन मुझे प्राप्त हुआ है तो निश्चय ही वह दुर्लभ है। यदि यह मनुष्य-तन इतना दुर्लभ है तो निश्चय ही ऐसी दुर्लभ समुपलब्धि के सदुपयोग के विषय मे मुझे अत्यधिक सतर्क भी हो जाना चाहिये। ऐसा मनुष्य जन्म व्यर्थ मे ही व्यतीत न हो जाय या कि संसार की मायावी

उलझनो मे उलझाकर मैं इसे निरर्थक न कर दू—इसकी पूरी सावधानी प्रतिपल मेरे मन-मानस मे उभरी हुई रहनी चाहिये।

संसार की रीति को मै देखता हूँ कि सुन्दर से कॉच के टुकड़े को भी एक सामान्य जन सहेज कर रखना चाहता है और यदि उसे बहुमूल्य रत्न मिल जाय तो वह उसे बहुत ही सार-सम्हाल के साथ रखता है। फिर क्या यह नादानी नहीं होगी कि श्रेष्ठतम रत्नो से भी अनन्त गुना श्रेष्ठ इस मानव-जीवन के प्रति सम्पूर्ण सावधानी न रखी जाय? एक अज्ञानी ही इस दुर्लभ जीवन की उपेक्षा कर सकता है, वरन् इस जीवन का एक-एक पल इतना अमूल्य माना जाना चाहिये कि उसका आत्म विकास के अलावा किसी भी दूसरी बात मे अपव्यय न हो। ऐसा सोचकर एक कठिन सावधानी मेरे मन मे जाग उठती है। और यही मनुष्यता कहलाती है।

अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ

यह कठिन सावधानी ही मुझे और आगे देखने तथा सोचने को प्रेरित करती है। मुझे मनुष्य तन मिला है और निश्चय ही यह दुर्लभ तन मुझे मेरे असीम पुण्योदय से ही प्राप्त हुआ है। मै सोच रहा हूँ कि पहले मैंने ऐसा क्या पुण्य कर्म उपार्जित किया था जिससे यह तन तो मिला किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ भी मुझे इसके साथ प्राप्त हुई है जो यदि नहीं मिलती तो इस मनुष्य तन की विशिष्ट सार्थकता को प्रकट करने मे मै सक्षम नही बन पाता। अब इन दुर्लभ प्राप्तियो सहित यदि मै इस मानव तन का पूर्ण सदुपयोग करू तो अवश्य ही मै आत्म विकास की इस महायात्रा मे नये-नये आयाम सम्पादित कर सकता हूँ।

क्या है वे अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ, जिन्हे सहज सवार कर मुझे अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाने हैं?

आत्म विकास की कठिन साधना करने का मानव तन के रूप मे पहला सामर्थ्य मुझे अवश्य ही प्राप्त हुआ है किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियो के अभाव मे यह पहला सामर्थ्य पूर्णता प्राप्त नही कर सकता है। मानव तन के सामर्थ्य को क्रियाशील बनाने के लिये सबसे पहली आवश्यकता होती है ज्ञान के प्रकाश की। अगर अंधेरा ही छाया रहे तो यह समर्थ मानव तन भी सासारिक प्रलोभनो मे भटक जायगा तथा अपने को क्षत-विक्षत बनाकर शक्तिहीन कर लेगा। अत मुझे ऐसा प्रकाश चाहिये जो अज्ञान के अधकार को दूर करके तथा मेरे प्रगति पथ को आलोकित बना दे। मै अपनी आंखे खोलू ही नहीं या बन्द कर दू यह दूसरी बात है, लेकिन ज्ञान का ऐसा प्रकाश भी मुझे मिला है और वह प्रकाश-मार्ग है वीतराग धर्म का श्रवण। इस दुर्लभ प्राप्ति को हम श्रुति कहते हैं।

यहाँ यह समझ लेने की जरूरत है कि वीतराग धर्म क्या होता है? यह धर्म कोई मत मतान्तर वाली वात नही है। यह तो शाश्वतता, सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता का प्रतीक होता है क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट पुरुष द्वारा उपदेशित विधि-विधान नहीं होता है। राग और द्वेष - सासारिकता के ये दो ही मुख्य बधन होते है। द्वेष को त्याग देना अपेक्षा से फिर भी सरल होता है किन्तु राग-भाव छोड़ कर तटस्थ हो जाना अति कठिन है। अत. द्वेष के वाद राग को भी व्यतीत कर देने वाले महापुरुष वीतराग कहलाते है जो समभावी एवं समदर्शी हो जाने के कारण उनकी दृष्टि मे ससार के समस्त प्राणी समान होते है और वे अपनी साधना के समुच्चय अनुभवो को समस्त प्राणी हित मे ढालकर जो उपदेश देते हैं, वे ही वीतराग-धर्म के रूप मे सकलित माने जाते है। इस

प्रकार वीतराग धर्म सर्व प्राणी हितकारी अर्थात् सम्पूर्ण जग हितकारी होता है। ऐसी वीतरागी आत्माओं ने जो धर्म बताया है, वही सच्चा ज्ञान है। और मुझे इस धर्म को सुनने तथा तदनुसार आचरण करने का सुअवसर प्राप्त है—यह श्रुति नाम की मेरी दुर्लभ प्राप्ति है।

सामर्थ्य हो, ज्ञान हो किन्तु दोनो पर यदि अपने अन्त करण की गूढ़ श्रद्धा न हो तो क्या वैसा सामर्थ्य सक्रिय बन सकेगा और ज्ञान मार्गदर्शक? श्रद्धा के अभाव मे दोनो दुर्लभ प्राप्तियॉ भी आत्म-विकास हेतु उपयोगी नही बन सकेगी। वह श्रद्धा भी सम्यक् होनी चाहिये। यह मेरे लिये शुभ सयोग है कि मुझे मेरा अन्तस्तल टटोलने पर वहॉ श्रद्धा की —आस्था की झलक दिखाई देती है।

मानव तन, श्रुति एव श्रद्धा के साथ आचरण की सुदृढ़ पृष्ठभूमि का स्वत ही निर्माण हो जाता है क्योकि उन अनुकूल परिस्थितियो मे स्वाभाविक हो जाता है कि आचार धर्म सक्रिय बन जाय। सामर्थ्य, ज्ञान और आस्था के सम्बल के साथ यह मेरा विश्वास है कि आचरण की उत्कृष्टता सहज ही मे बन सकती है। आचरण की कर्मठता ही सयम साधना मे नये-नये पराक्रमो का उद्‌घाटन करती है। यह अन्तिम और ऐसी दुर्लभ प्राप्ति है जिसके लिये मै सोचता हूँ कि यदि मै दृढ़ निश्चय बनाऊ तो यह दुर्लभ प्राप्ति भी मेरी पहुँच से बाहर नही है। मानव तन का सदुपयोग वीतराग धर्म की आराधना मे सम्यक् श्रद्धा एव सयमीय पराक्रम के साथ किया जाता है तो निश्चय मानिये कि साध्य की समीपता बढ़ती ही चली जायेगी। इन चारो दुर्लभ प्राप्तियो का शुभ सयोग एव श्रेष्ठ नियोजन सोने मे सुहागा बन जाता है।

इन दुर्लभ प्राप्तियो के सदर्भ मे मुझे अपने भीतर मे झाकना है और कड़ाई से परखना है कि क्या मैंने अपनी इन सभी प्राप्तियो की दुर्लभता की पहिचान कर ली है और इनकी दुर्लभता का अपने आत्म-विकास के परिप्रेक्ष्य मे वास्तविक आकलन करके इन प्राप्तियो को पूरी सावधानी से सहेजने का सकल्प कर लिया है? क्या यह भी मैने सोचा है कि मेरे किस पुण्योदय के प्रतिफल-स्वरूप ये दुर्लभ प्राप्तियॉ मुझे सुलभ हुई हैं? कारण, इन प्रश्नो का सही विश्लेषण कर लेने के बाद ही मै अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित कर पाऊगा कि अव मुझे कितनी अधिक लगन और जीवट से शुभ कार्यों मे लगना चाहिये ताकि ये दुर्लभ प्राप्तियॉ अपने आत्म विकास को उच्चतर श्रेणियो मे ले जाने की दृष्टि से अधिकाधिक सहायक बने।

मै कल्पना कर रहा हूँ कि मेरा कोई स्नेही एक अमूल्य हीरा मेरे हाथ पर रखकर चुपचाप वहाँ से चला जाय और उस हीरे को मै आश्चर्य से निरखता ही रहू तो उस समय मेरी क्रियाशीलता क्या होगी? यह क्रियाशीलता मेरे अपने स्वभाव तथा उस समय मेरी जानकारी के अनुसार ही प्रकट होगी। अगर मुझे हीरे के मूल्य या महत्त्व के बारे मे सामान्य जानकारी भी नहीं होगी तो मै झुझला कर उसे फेक दूगा यह समझकर कि मेरे स्नेही ने फालतू की चीज पकड़ा कर व्यर्थ ही मे मेरा उपहास किया है। यदि मुझे सामान्य जानकारी भी होगी तो मैं उसे निरख कर अपने हिसाब से ही सही—परखने की चेष्टा करूंगा। परखने मे मन के विश्वास ने मदद की तो मैं उस हीरे की वहुमूल्यता समझ जाऊगा और अपने उस स्नेही के प्रति अपना आभार प्रकट करूंगा। उसके वाद अवश्य ही मैं उस हीरे की सहायता से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ वना लूगा।

इसी क्रमिकता को मैं जव मनुष्य तन के साथ जोड़कर देखता हूँ तो अनुभूति जागती है कि जो लोग अमूल्य हीरे जैसे इस मनुष्य जीवन को काच के टुकड़े जैसा मान कर ससार की

भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति मे ही उसका दुरुपयोग करते रहते है, उन पर मुझे बड़ी दया आती है। क्योकि वे अपने अज्ञान अथवा अपने अपौरुष की स्थिति मे इस अमोल मनुष्य जीवन की महत्ता को आक हीं नही पाते है। वे मानव जीवन का ऐसा दुरुपयोग करके इस जीवन को तो विनष्ट करते ही है, किन्तु आत्म-विकास की दृष्टि से भविष्य को भी कटकाकीर्ण बना लेते है। 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' जैसे अनैतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके वे लोग मात्र इस तन का पोषण करने मे ही लग जाते है—उसके पहले लगे विशेषण 'मानव' के महत्त्व को विसार देते हैं।

मेरा चिन्तन यह है कि इस तन का उतना ही पोषण करना चाहिये जितने से इसे आत्मा के पोषण एव विकास मे सार्थक दृष्टि से नियोजित किया जा सके। मानव जीवन का सही मूल्याकन करना एव उसके मूल्यानुसार उसे वैसे कार्य में नियोजित करना—यह विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है। मै सोचता हूँ कि जब ज्ञान के प्रकाश मे मेरा विवेक जागृत हो तो मै वास्तविकता को समझने मे उसका पूरा उपयोग क्यो न करू? क्यो समझते-वूझते हुए इस अमूल्य जीवन का अपव्यय करू एव मूढ़ कहलाऊ?

मै मूढ़ नहीं वनना चाहता हूँ तो भला दूसरा कोई भी क्यो मूढ़ बनाना चाहेगा? इसलिये आवश्यकता इस बात की भी है कि इस मानव तन एव अन्य प्राप्तियो की दुर्लभता नासमझ लोगो को भी समझाई जाय तथा उन्हे इनका सदुपयोग करने की सत्प्रेरणा दी जाय। मै स्वय अपनी समझ को पक्की बनाकर यह कार्य भी करना चाहता हूँ। कारण, जो एक वार इस मानव तन के वास्तविक महत्त्व को आकना व समझना शुरू कर देगा, वह इसके सदुपयोग के विषय मे भी अवश्यमेव चिन्तन करेगा। चिन्तन की तब यही परिणति होगी कि वह अपने आचरण को इस रूप मे ढाले कि जिससे आत्म विकास एव सर्व सेवा का कार्य सहज हो जाय। स्पष्ट चिन्तन के बाद ही उसका मतव्य बन जायगा कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' यह मतव्य ही उसे समग्र क्रियाशीलता की दिशा मे मोड़ देगा। फिर तो वह आगे ही सोचेगा और आगे से आगे ही बढ़ता रहेगा। उसकी प्रगति को कोई भी अवरुद्ध नही कर सकता जब तक कि उसकी सम्यक्त्व निष्ठा, अटल आस्था एव सयम साधना सुदृढ़ बनी रहेगी।

मै यही सोच रहा हूँ कि कैसे मै अपने इस दुर्लभ मनुष्य तन तथा अन्य दुर्लभ प्राप्तियो के पूर्ण सदुपयोग का दृढ़ सकल्प लू एव धर्म साधना मे निरत वनू?

मानवीय चिन्तन के मोड़

आत्म-विकास की इस महायात्रा मे भी कई दोराहे, तिराहे और चौराहे आते है जिन पर कुछ देर ठहर कर गहराई से सोचकर अपने जाने का सही रास्ता निश्चित करना होता है। यदि एक वार भी भूल हो जाती है और गलत रास्ते पर आगे वढ़ जाते है तो उस भूल को सुधारना कठिन कार्य वन जाता है। दोराहे, तिराहे या चौराहे पर शान्तिपूर्वक यदि अपना सही मार्ग नही खोज पाये तो समझिये कि कई वार जितना चले है, वह सव भी व्यर्थ हो जाता है वल्कि पाव नये-नये वीहड़ो मे उतर कर वेकाम हो जाते है।

मैं इन दोराहो, तिराहो या चौराहो को मानवीय चिन्तन के मोड़ मानता हूँ। इन वहुमार्गीय केन्द्रो पर ही साधक की परीक्षा होती है कि वह सही मार्ग खोज पाता है अथवा नहीं। इस खोज के

आधार पर ही उसके चिन्तन का मूल्याकन किया जायगा। प्रगति का सही मार्ग खोज लेने पर ये केन्द्र मानवीय नव-चिन्तन के मोड़ बन जाते है।

सामाजिकता के प्रारभ से देखे अथवा अपने स्वय के जीवनारंभ से देखे और सभी तरह के विचारो के द्वन्द्वो का विश्लेषण करे तो सरलता से समझ मे आ जायेगा कि जब-जब आसक्ति और ममत्व की मूर्च्छा हमारे मन-मस्तिष्क को घेरती है, तब-तब हम अपने निजत्व को भूलकर जड़ तत्त्वो एव सासारिक उपलब्धियो को पा लेने मे तथा व्यक्ति-मोह को पुष्ट बनाने मे अपनी समस्त शक्तियो को नियोजित कर देते हैं। तब हमारी क्रियाएँ आत्म-विकास के विपरीत बन जाती है और हमारी आन्तरिकता राग-द्वेष तथा प्रमाद के कलुष से कालिमामय हो उठती है। तब हम स्वार्थ के ममत्त्व पक्ष मे गिरकर पर के प्रति अन्याय एवं अत्याचार की भावना से आक्रान्त हो जाते है। ऐसी दशा हमारी आत्म विस्मृति होती है। यह दशा हमे चिन्तनहीन जड़ग्रस्तता की ओर ले जाती है। इस दशा मे चिन्तन की विपरीतता अथवा विगति उभर कर ऊपर आ जाती है और विपरीतता या विगति मे मानवीय मूल्य दृष्टि से ओझल हो जाते है। ऐसी मन स्थिति मे दोराहे, तिराहे या चौराहे पर सही मार्ग की खोज प्राय असफल ही रहती है।

किन्तु मेरा चिन्तन चलता है कि यदि मै मानव जीवन के दुर्लभ महत्त्व को भली-भाति आक लू एव अन्य दुर्लभ प्राप्तियो की भी पूरी सहायता ले लू तो निश्चय ही मेरी दृष्टि सम्यक् बन जायगी और सही मार्ग की खोज भी सफल होगी क्योंकि मेरी दृष्टि एव विचारणा पर आसक्ति या ममत्व की धुध जमी हुई नहीं होगी। उस उन्नत मन-मानस के साथ मैं अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान बाहर से भीतर प्रवेश करके खोजूगा और आन्तरिकता की गहराइयो मे उतर कर सुन्दर समाधान के मोती बाहर निकाल लाऊगा। वह चिन्तन और खोज मेरे लिये आनन्द के विषय बन जायेगे। मेरी आस्था है कि तब मेरा चिन्तन भी विकास की ऊँची से ऊँची सीढ़ियो पर चढ़ता जायेगा और समग्र जीवन को समर्पित दृष्टिकोण वाला बना देगा। फिर मै अपने प्रत्येक कार्य के माध्यम से मानवता की कसौटी पर खरा उतरना चाहूगा और सबको एक मे तथा एक को सबमे देखने का अभ्यास करूंगा। मुझे इसी चिन्तन के नये-नये मोड़ो से विश्व-कल्याण के नये-नये आयाम दृष्टिगत होगे।

इस दृष्टि से मै अपना अन्तरावलोकन करता हूँ तो देखता हूँ कि अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं के हिंडोले मे मैंने बहुत चक्कर काटे हैं, तृप्ति तथा अतृप्ति की काफी कुठाएँ सहन की हैं और अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण मै बाह्य जगत् की अधेरी गलियो मे बेहद भटका भी हूँ। परिणामस्वरूप मै अज्ञान, आसक्ति एव मूर्छा के घेरो मे पड़ा छटपटाता रहा हूँ। वह छटपटाहट कब मिटी, कैसे मिटी, किसने मिटाई, यह सब कुछ मै नही जानता, किन्तु सत्सयोगो ने मेरी भावनाओं की दबी हुई चिनगारी को उघाड़ा है और उसे वीतराग धर्म की हवा दी है। तब वही चिनगारी तेजोमय बन कर मुझे सम्यक् श्रद्धा का मार्ग दिखाती है तो सयमाभिमुख भी बनाती है।

मैने अनुभव किया है कि चिन्तन के भिन्न-भिन्न मोड़ ही आत्म-जागरण की ओर ले जाते हैं और उनका अभाव ही आत्म-विस्मृति के गर्त्त मे पटक कर मुझे शून्य सा बनाता आया है। परन्तु मानवीय चिन्तन के ये स्वाभाविक मोड़ माने गये है कि मनुष्य पहले अपने जीवन-निर्वाह हेतु पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उस प्रयास मे जब पारस्परिक टकराव गहरे और घातक

होते हैं तब उस दोराहे पर एक मार्ग पर वह आगे बढ़ जाता है। या तो वह परम स्वार्थी तथा क्रूर बनकर मानवता के प्रति अन्याय मे लिप्त हो जाता है अथवा उस टकराव से वह करुणा सीखता है, त्याग भाव से आप्लावित होता है एव 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' बनना शुरू हो जाता है। किन्तु होता है यह सब चिन्तन के ही बल पर।

मैने चिन्तन का अभिप्राय यह समझा है कि सामने उपस्थित परिस्थितियो को विवेक के साथ समझना, साध्यगत आदर्शों के सदर्भ मे उन पर गहराई से विचार करना तथा ऐसे सोद्देश्य बन कर अपने उस समय के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करना। इस प्रक्रिया मे जितने सर्वजन हितकारी मोड़ आते है, उतना ही व्यक्ति समाज मे महान् होता जाता है। एक अवस्था यह भी आती है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को घनीभूत सामाजिकता मे तिरोहित कर देता है —वह व्यक्ति और समाज की श्रेष्ठता की अवस्था होती है।

मेरा चिन्तन चलता है कि मै भी मानवीयता के उच्चस्थ मोड़ो से गुजरू और आत्म विकास की नई मजिले तय करू। इस यात्रा मे मै दु ख और सुख का वास्तविक स्वरूप समझ सकूगा तथा समीक्षण कर सकूगा कि सब लोग जिसे सुख की सज्ञा देते है, वह भला वास्तव मे सुख है भी या नहीं और जिसे दु ख मानकर चलते हैं, क्या वही दु ख सही चिन्तनधारा मे आत्म-जागृति का प्रेरक नही बन जाता है ? सुख-दु खानुभव का समीक्षण अवश्य ही मुझे नया ज्ञान प्रदान करेगा।

सुख-दुःखानुभव का समीक्षण

मुझे वीतराग देवो के इस वचन मे अपार आस्था है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु ख कोई नही चाहता अत किसी को दु ख मत दो। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे समाज का निर्माण करो जिसमे हिसा का चलन एकदम बन्द हो जाय और अहिसा ही सर्व प्रकार के आचरण का मूलाधार बन जाय। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मूल्यात्मक चेतना की प्रबल अभिव्यक्ति के साथ ऐसा समतापूर्ण व्यवहार हो कि सारे समाज मे सुख, शान्ति एव समृद्धि का वातावरण प्रसारित हो जाय। सभी इस उक्ति मे विश्वास करने लगे कि दु ख न दो, दु ख नहीं होगे एव सबको अपने आचरण से सुख दो ताकि स्वय भी सदा सुख का रसास्वदन करते रहो। सुख और दु ख के अनुभव के सदर्भ मे अज्ञान होने के कारण ही व्यक्ति सिर्फ अपने ही लिये सुख का वातावरण बनाना चाहने लगता है तथा उसकी उसी स्वार्थी वृत्ति का दुष्परिणाम प्रकट होता है कि वह हिसा का आचरण करना आरभ करता है। कई बार वह सामूहिक हित के लिये भी मात्र अज्ञान के कारण हिसा का आचरण करना चाहता है। हिसा का मूल ही अज्ञान होता है। इसी कारण वह यह तथ्य नहीं समझ पाता है कि तात्कालिकता को छोड़ कर हिसा का दूरगामी प्रभाव सारे समाज को तथा स्वय उसको भी दु खो के महासागर मे पटक देता है।

मेरा यह अनुभव है कि श्रेष्ठ उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये भी अपनाये गये हिसात्मक कृत्य मे हिसा, हिसा ही रहेगी।

मेरा मानना है कि सुख एव दु ख के अनुभवो का समीक्षण करते समय हिसा के स्वरूप को भलीभांति समझ लेना चाहिये। हिसा का अर्थ केवल किसी भी अन्य प्राणी को प्राणविहीन करना ही नही है, किन्तु किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता का किसी भी रूप मे हनन करना भी हिसा की ही व्याख्या मे सम्मिलित माना गया है। अत आप्त पुरुषो का उपदेश है कि किसी भी

प्राणी को मत मारो—उसके प्राणो को चोट मत पहुँचाओ। इसका भी बड़ा गूढ आशय है। इस प्राणो—पाचो इन्द्रियो, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास तथा आयुष्य मे से किसी भी प्राण पर आघात मत करो। किसी का जीवन समाप्त कर देना तो हिसा है ही, लेकिन किसी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तक को चोट पहुचाना भी हिसा के अग माने गये हैं।

मुझे पूरी एकाग्रता से प्रत्येक समय मे अपना यह कर्त्तव्य ध्यान मे रखना है कि मै किसी भी अन्य प्राणी के प्राणो मे से किसी एक प्राण को भी किसी भी रूप मे किसी भी प्रकार का आघात नही पहुँचाऊ। दूसरे, इन प्राणो से सम्वन्धित किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता को भी किसी भी कारण प्रतिबाधित न करू। मै सभी प्राणियो की सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं का पूरी तरह सम्मान करू, बल्कि खोई हुई उनकी स्वतन्त्रताओं को उन्हे प्राप्त कराऊ। अन्य प्राणियो की स्वतन्त्रताओं को स्थायी बनाने का मै यह अर्थ मानू कि किसी भी प्राणी पर मै अपना शासन करने की चेष्टा न करू—किसी भी रूप मे उसे अपना गुलाम न बनाऊ क्योकि किसी भी प्राणी को सताने से उसके मन मे अशान्ति का ज्वार उठता है तथा अशान्त मन ही हिसा की राह पर मुड़कर सारे समाज मे हिसा के चलन को बढ़ाता है। एक व्यक्ति की हिसा सामाजिक हिसा का रूप लेती हुई सर्वत्र फैलने लगती है तब सारा समाज अशान्त हो उठता है। सामाजिक अशान्ति का परिणाम होता है, सामाजिक दु ख याने कि सबका दु ख। जब हिसा के वातावरण मे सभी दु खी होगे तो किसी को भी सुख कहॉ से मिलेगा ?

इसलिये मै यह मानकर चलता हूँ कि अपने या पूरे समाज के दु ख के लिये हम ही जिम्मेदार है या यो कहे कि इस दु ख और सुख के नियन्ता हम है। कर्मोपार्जित दु ख भी शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाय तो वह भी भावी सुख का कारण बन जाता है। इस दृष्टि से चाहे व्यक्ति के लिये हो या व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के लिये हो, समतामय व्यवहार ही सुखानुभव की पहली और अनिवार्य शर्त है। अपने स्वय के मानसिक सन्तुलन के लिये अथवा अन्य सभी प्राणियो के प्रति आचरित किये जाने वाले समता-भाव मे ही धर्म का स्वरूप माना गया है।

इस आधार पर मेरा संकल्प बनता है कि सभी प्राणियो के बीच सभी स्तरो पर विकास का विशिष्ट अन्तर होते हुए भी मै सभी प्राणियो के अस्तित्व को स्वीकार करू क्योकि यदि ऐसा मै नही करूगा तो मैं अपने अस्तित्व को भी नकारूगा। आस्तित्व को स्वीकार करने का सीधा-सा अर्थ है कि उसको किसी भी रूप मे मै नही सताऊ तथा उसको जैसी भी स्वतन्त्रता की अपेक्षा है उसे मै बरकरार रखू या बहाल करू। वैसी अवस्था मे अपने लिये किसी भी प्राणी का हनन कभी भी सभव नहीं होगा। सभी प्राणियो को उस रूप मे दु ख नहीं दूगा और सुख देने का यत्न करूगा जिस रूप मे मै दु ख नहीं चाहता हूँ और अपने लिये सुख प्राप्त करना चाहता हूँ।

सुख जो मै चाहता हूँ और जो सभी प्राणी चाहते है, उसका विश्लेषण दस भेद के रूप मे है—(१) आरोग्य (पहला सुख निरोगी काया) (२) दीर्घायु—जो शुभ रूप हो, (३) आढ्यत्व —विपुल धन सम्पत्ति का होना, (४) काम —इन्द्रियो के शुभ विषयो की प्राप्ति, (५) भोग —शुभ गध, शुभ रस तथा शुभ स्पर्श का ग्रहण, (६) सन्तोष—अल्प इच्छाओं के साथ चित्त की शान्ति, (७) आस्ति सुख—आवश्यकता के समय पदार्थ की प्राप्ति, (८) शुभ भोग—अनिन्दित (प्रशान्त) भोग, (६) निष्क्रमण —सासारिक झझटो की फंसावट से निकल कर सदा सुखकारी सयम स्वीकार

करना तथा (१०) अनाबाध सुख—जन्म, जरा, मरण, भूख-प्यास आदि बाधाओं से मुक्त मोक्ष का सुख।

उपरोक्त दस सुखो को दो भागो मे वर्गीकृत कर सकते है—(१) भौतिक तथा (२) आध्यात्मिक। यहाँ यह समझ ले कि इन दोनो वर्गों के सुखो मे पारस्परिक विरोध नही, अपितु सामंजस्य है। आत्म धर्म का माध्यम शरीर है और शरीर भौतिक पिड होता है। इस भौतिक पिड को भी उस सीमा तक सुखी रखना होगा, जिस सीमा तक वह आध्यात्मिक साधना की सफलता का सबल सहयोगी बना रहे। सुख के पहले के पांच भेद भौतिक वर्ग के माने जा सकते हैं तो अन्तिम पांच भेद आध्यात्मिक वर्ग के। यो देखे तो पहले के पांचो सुखो की उपलब्धि के बाद ही अन्तिम पाचो सुखो की खोज और प्राप्ति अधिक सरल, स्वाभाविक तथा स्थायी होगी।

मै कल्पना करता हूँ कि मुझे ये सुख प्रिय थे और है, इनकी मै अभिलाषा रखता था और रखता हूँ तो उसके साथ ही मै यह भी कामना करता हूँ कि ये सुख सभी प्राणियो को भी प्राप्त हो तथा इस उद्देश्य से मै अपने समग्र आचरण को इस रूप मे सन्तुलित तथा सयमित बनाऊ कि सबको ये सभी सुख उपलब्ध कराने मे मैं किसी भी प्रकार से बाधक न बनू बल्कि सहायक और सहयोगी बनू। सबको सुख देने की मै कामना करूगा और चेष्टा रखूगा और सभी इस प्रकार की कामना तथा चेष्टा से प्रेरित होगे तो भला किसी को भी दु ख क्यो होगा ?

मै एक और स्थूल तथ्य की ओर सभी प्राणियो का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि सुख या दु ख का उद्भव अपने ही मन से होता है—पदार्थ या परिस्थितियाँ तो निमित्त मात्र वनती है और मन की एकाग्रता तथा सयमितता सधी हुई हो तो दु खपरक निमित्तो को भी सुख के कारण रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। विचार ही मे सुख होता है तथा विचार ही मे दु ख।

सवेदनशीलता का अनुभाव

दूसरे प्राणियो के मन की इच्छाओं को जानना, समझना तथा महसूस करना सवेदनशीलता कहलाती है। जो दूसरा प्राणी वेदता है, वह मैं भी वेदू—यह है संवेदन। सवेदनशीलता के अनुभाव से आप्लावित होने पर चाहे मै होऊ या अन्य कोई भी प्राणी हो, एक दूसरे के लिए कुछ ऐसा ठोस कार्य करने की प्रवृत्ति सजग हो उठती है जिससे मन मे रही हुई इच्छा की सम्यक् पूर्ति हो या कि मन मे रहा हुआ दु ख दूर होकर वहॉ सुखानुभव सुलभ हो। सच माने तो सवेदनशीलता से ही समता-भाव का स्रोत उद्भूत होता है।

मेरी यह निश्चित मान्यता है कि मेरे हृदय के भीतर तथा इसी प्रकार सभी मनुष्यो के हृदयो के भीतर सवेदनशीलता का अनुभाव जितना अधिक गहरा, स्वभावगत और स्थायी वनेगा, उतना ही एक अहिसक समाज का निर्माण सरल वन सकेगा। सच्चा समतामय एव सुखी समाज वही हो सकता है जिसका एक-एक सदस्य एक दूसरे के प्रति पूर्णतया सवेदनशील वने तथा अपने समस्त व्यवहार मे सतत रूप से सवेदनशील वना रहे।

मै कल्पना करता हूँ एक ऐसे समाज की कि जिसमे न शोपण हो और न अराजकता, न अनुशासनहीनता हो और न अशान्ति तथा न पारस्परिक तनाव हो और न कटुता एव संघर्ष। कैसे हो सकता है ऐसे समाज का निर्माण ?

इस परिप्रेक्ष्य मे मैं वर्तमान मानव समाज की कुछ चर्चा करना चाहूँगा। कैसी परिस्थितियाँ है आज के इस समाज मे और किन दुरावस्थाओं मे छटपटा रहा है आज का मानव ? आज जिधर देखे उधर शोषण, दमन और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देता है जो निश्चय ही हिसामय आचरण से उभरा हुआ है। एक ओर बहुसख्य समुदाय बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं तक से विहीन होकर अभावो के नित के प्रहारो से दम तोड़ रहा है तो दूसरी ओर निहित स्वार्थियो का छोटा समुदाय आम लोगो की मेहनत का शोषण करके अपने लिये धन और ऐश्वर्य के अम्बार खड़े कर रहा है। यही नहीं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा मे राजनैतिक सत्ता पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कब्जा किये हुए है जिस सत्ता से शोषण की रखवाली मे दमन का दौरदौरा भी चलाया जाता है। इन्हीं आधारो पर राष्ट्र आपस मे टकराते रहते है जिससे सबके सामने विश्व युद्ध का खतरा मंडरा रहा है। कुल मिलाकर सब जगह और सबके मन मे हिसा का ताडव मचा हुआ है। हिसा के बल पर ही अपने स्वार्थ पूरे किये जाते है, विषमता फैलाई जाती है और अन्याय व अत्याचार का कुचक्र रचा जाता है। सम्पन्न वर्ग शक्ति के मद मे चूर होकर हिसा का आचरण करता है तो अभावग्रस्त वर्ग भी विवशता के विक्षोभ मे अपनी असफल हिसा से पीड़ित रहता है। आश्चर्य तो यह है कि श्रेष्ठ उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भी हिसा का ही आश्रय लिया जा रहा है और सम्पूर्ण विश्व मे हिसा का नग्न रूप आतकवाद रक्तपिपासु के रूप मे अट्टहास कर रहा है।

और आज का सामान्य जन इस महाहिसा के कुचक्र मे बुरी तरह से पिसा जा रहा है। वह छटपटाता है कि उसका चहुमुखी दु ख असह्य हो उठा है और उसकी अपने सुख की आशा मृगतृष्णा बन गई है। छोटे से शक्तिशाली वर्ग की अथाह तृष्णाओं के बीच मे उसका अस्तित्व तक शून्य वनता जा रहा है। उसकी दुरावस्था पशुओं से भी बदतर हो गई है।

मै देखता हूँ कि इस सर्वव्यापी हिसा के कारण ही आज के मानव की यह घोर दुर्दशा है। भयंकर हिसा से भयावह अशान्ति फैली हुई है और जितनी अधिक अशान्ति फैलती है उतनी ही अधिक भयत्रस्तता एव अभावग्रस्तता से हिसक आचरण मे बढ़ोत्तरी होती है। हिसा से अशान्ति और अशान्ति से हिसा का दुष्चक्र अविरल गति से घूमता ही जा रहा है। इस समूचे वातावरण का जो सर्वाधिक घातक परिणाम सामने है, वह है सवेदनशीलता के अनुभाव का अधिकाश अभाव।

सवेदनशीलता की डोर टूटती है तो मनुष्य मनुष्य से टूटता जाता है —सहृदयता एवं सद्भाव से हीन होता जाता है। सच कहे तो वह मनुष्यता एव मानवीय गुणो से ही हीन हो जाता है। जब मनुष्यता का ही अभाव होने लगे तो मनुष्य मे फूटने वाले 'पशु' के कदाचार को कौन रोक सकता है ? इस दृष्टि से एक हिसक मनुष्य या समाज को परिवर्तित करने के लिये भी पुन सवेदनशीलता के अनुभाव को उभारने का सद्प्रयत्न ही करना पड़ेगा। समझिये कि मै आज के मानव और मानव समाज की दुरावस्था को महसूस करता हूँ तो मुझे ही आगे बढ़कर सवेदनशील बनना होगा, मेरी सवेदनशीलता को दूसरो पर प्रकट करनी होगी तथा अपनी सवेदनशीलता की सहायता से दूसरो की मनोव्यथा एव पीड़ा मिटानी होगी। इसी प्रक्रिया द्वारा एक-एक व्यक्ति के आश्रय से सवेदनशीलता के अनुभाव का विस्तार करना होगा। इस सहृदय विस्तार को कुछ हृदयहीन निहित स्वार्थी भले ही रोकने की कुचेष्टाएँ करे लेकिन यह निश्चय है कि भावनाभिभूत होकर वहुसख्यक वर्ग सवेदनशील वनने लगेगा क्योकि वह समझ जायगा कि उनके व्यथित हृदयो को मिलाने तथा सुख से सुख उपजाने की डोर सवेदनशीलता का अनुभाव ही है।

आज मै इस तथ्य को देख रहा हूँ कि मनुष्य अपने निज के दु खो को तो अनुभव कर लेता है किन्तु दूसरो के दु:खो के प्रति वह सवेदनशील नही बन पाता है। उसकी यह वृत्ति धीरे-धीरे उसे क्रूरता की तरफ धकेलती रहती है जिसके कारण वह दूसरो के सुखो के प्रति आक्रामक भी हो जाता है। तब उसमे राक्षसी वृत्ति खुल कर खेलने लग जाती है। यही वातावरण हिसा को सर्वत्र उमाड़ता है। सवेदनशीलता का अभाव ही हिंसा का मूल है तो सवेदनशीलता का सद्भाव मनुष्य या समाज को अहिसा की ओर मोड़ता है। जब दूसरो के दु ख भी हमे अपने जैसे लगने लगे, जब दूसरो का रोना चिल्लाना भी हमे अपने रोने और चिल्लाने के समान महसूस हो तो उस समय समस्त वृत्तियॉ तथा प्रवृत्तियाँ अवश्य ही अहिंसामय आचरण की दिशा मे अग्रसर बनेगी। यह मान्य सिद्धान्त है कि अहिसा को जीवन के समग्र विचार एव आचार मे उतार लेने के बाद स्वत ही समतामय समाज की आधारशिला पड़ जायेगी क्योकि प्रत्येक मनुष्य अपने साथियो एव समस्त प्राणियो के सुख-दु ख के प्रति पूर्णत सवेदनशील होगा।

मैने कई बार इस वातावरण मे सुखानुभूति ली है कि चाहे परिवार मे हो, समाज में हो या राष्ट्र मे—यह विचार और व्यवहार सुख उपजाता है कि वहॉ प्रत्येक सदस्य अपने से भी ज्यादा दूसरे सदस्य के सुख-दु ख का ख्याल रख रहा है। ऐसी निष्ठा के बावजूद भी यदि दु ख नही मिटाया जा सकता है तब भी वह दु ख दु:ख की भाति नहीं अनुभव किया जाता क्योंकि सवेदनशीलता का सुख उसमे समाया हुआ होता है। सबकी मान्यता यही रहती है कि कर्मफल के उदय से जो दु ख भोगना होता है वह तो उस मनुष्य को भोगना ही पड़ेगा किन्तु उस समय मे उसके साथियो की जो संवेदनशीलता और सहानुभूति उसे प्राप्त हो जाय या होती रहे तो वह उस दु ख को धैर्य और शान्तिपूर्वक सहन कर सकेगा और ऐसा करके वह भावी दु:खो के मूल को ही समाप्त कर सकेगा। इस प्रकार यह सवेदनशीलता का अनुभाव मनुष्य के और समाज के दु खो को कम करने तथा भावनात्मक दृष्टि से दु खो का मूल ही समाप्त कर देने के लिये एक रामबाण औषधि है।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन

यह सही है कि संवेदनशीलता का अनुभाव सर्व जन दु ख निवारण के लिये एक रामबाण औषधि है। किन्तु मात्र किसी औषधि के पास मे होने से रोग का निवारण नहीं हो जाता है। रोग के निवारण के लिये विधिपूर्वक उस औषधि को ग्रहण करने की क्रिया करनी होती है। उसी प्रकार सवेदनशीलता स्वत ही प्रसारित और विस्तारित नही हो जाती है। इस अनुभाव के प्रसार और विस्तार के लिये मनुष्यो को अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो से विधिपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ करनी होगी और सम्पूर्ण हार्दिकता से उन्हे सफलता के शिखर पर पहुँचानी होगी। समुच्चय मे माने तो मनुष्य की क्रियाओं का केन्द्रीकृत प्रयोजन यही होना चाहिये कि वह अपने हृदय मे तथा अपने साथियो के हृदयो मे सवेदनशीलता के अनुभाव का सचार करे।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन क्या होने चाहिये—यह दूसरी बात है। मैं पहले यह बताना चाहता हूँ कि प्राकृतिक ढग से ऐसे प्रयोजन कौन से होते है। मैं ही अपने लिये सोचूं कि प्रारभ में ही मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो जाता है अत मै भी अपने मन, वचन तथा काया की क्रियाओं की सही दिशा नही समझता था। इस जन्म मे ही नहीं, पहले के कई जन्मो मे भी ऐसा ही होता रहा है कि मुझे अपनी क्रियाओं की न तो सही दिशा का ज्ञान था और न ही मैं उनके

प्रयोजनो को भलीभाति समझता था। इस अवस्था का मेरी आत्मा की कर्मवद्धता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता रहा और मेरा अनेक योनियो मे जन्म-मरण चलता रहा।

मैं इस जन्म के प्रारभ मे भी अपने मन, वचन एव काया की क्रियाओं को इन प्रयोजनो के लिये सचालित करता रहा कि (१) मै अपने वर्तमान जीवन की रक्षा कर लू, (२) मैं दूसरो से प्रशसा, आदर तथा पूजा पाऊ एव (३) मै भावी जीवन की उधेड़बुन और वर्तमान मे मरण-भय से त्रस्त होकर परम शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील बनू व दु खो को दूर करदू। इन प्रयोजनो के कारण ही मुझे क्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु खेदपूर्वक मैं यह स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैंने और मेरी तरह अन्य प्राणियो ने क्रियाओं के प्रयोजनो का ज्ञान होने के बाद अज्ञानवश उन प्रयोजनो की पूर्ति के लिये हिसा को ही साधन के रूप मे ग्रहण किया। हिसा के तीनो रूप काम मे लिये गये—हिसा की गई, हिसा करवाई गई तथा हिसा का अनुमोदन किया गया।

जो प्रयोजन ऊपर अकित किये गये है, इस ससार मे मनुष्यो की क्रियाएँ इनकी पूर्ति हेतु ही अधिकांशत संचालित होती है तथा इन प्रयोजनो की अपेक्षा से ही मनुष्यो की क्रियाओं का मूल्याकन किया जा सकता है। जैसे हम प्रयोजन स. १ को ले ले। मै जब यह सोचता हूँ कि मै अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करू तो यह प्रयोजन कोई अनुचित नहीं है, कारण वर्तमान जीवन की रक्षा पर ही मेरा भावी आत्म-विकास आधारित रहेगा। यह एक प्रकार से ऐहिक जीवन की कामना है। प्रयोजन स. २ भी ऐहिक कामना का ही रूपक है कि मुझे प्रशसा, आदर और पूजा चाहिये। वांछनीय तो यह है कि मै अपने सत्कार्यों तथा सत्प्रयासो को प्राथमिकता दू और प्रशसा, आदर आदि के बारे मे न सोचू। किन्तु यह कामना वहॉ तक भी क्षम्य मानी जा सकती है कि मै अपनी इस कामना की पूर्ति वस्तुत अपने सत्कार्यों व सत्प्रयासो के आधार पर ही करता हूँ। प्रयोजन स. ३ के अनुसार मै परम शान्ति प्राप्त करू तथा दु खों को दूर करू —यह सर्वथा उचित है किन्तु मात्र उधेड़वुन और भयत्रस्तता से उस दिशा मे मुड़ू उसकी अपेक्षा सम्यक् ज्ञान तथा उन्नत विवेक से उस दिशा मे अग्रसर वनू —यह अधिक समीचीन रहेगा।

मेरी इन प्रयोजनों की पूर्ति हेतु सचालित की जाने वाली क्रियाओं के मूल्याकन मे एक विशेष वात का भी मुझे ध्यान रखना होगा कि उस समय मै येन केन प्रकारेण वह प्रयोजन पूरा कर लेने का ही यत्न करता हूँ अथवा इसकी पूरी सतर्कता रखता हूँ कि उस प्रयोजन की पूर्ति मे सचालित की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का रूप तथा अपनाया जाने वाला प्रत्येक साधन शुद्ध और अहिसक भी होना चाहिये। जब-जब भी इस ओर से मैने आँखे मूदी है तो मेरे पैर वरावर वहके है और वे मेरी गति को पीछे मोड़ ले गये है। कई वार ठोकरे खाकर ही मै सही चेतावनी ले सका हूँ कि इन प्रयोजनो की पूर्ति हेतु विधियुक्त क्रिया एव अहिसक साधन ही काम मे लिये जाने चाहिए, इनकी पूर्ति ऐहिक कामनाओं के वशीभूत होकर नहीं करनी चाहिये तथा विना अन्य प्राणियो के हितो को किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाये विना इनकी पूर्ति हेतु एक सीमा तक ही आगे वढ़ना चाहिये।

क्रियाओं की विपरीतता

इन विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये क्रियाएँ करने वाले मनुष्यो के सामने एक वड़ा खतरा भी मडराता रहता है। खतरा यह कि वह इन प्रयोजनो को अपने ही स्वार्थों के घेरे मे कैद कर लेता है याने कि वह कामना करता है कि कुछ भी करके वह 'अपने ही' जीवन की रक्षा करे

जोड़-तोड़ मिला कर झूठी ही सही लेकिन अपने लिये प्रशसा, आदर और पूजा प्राप्त करे अथवा अन्य प्राणियो के हितो को कुचल कर अपने लिये शान्ति या सुख हथियाने की कुचेष्टा करे। जब प्रयोजन ही समझे जायेगे किन्तु उनके सदाशय को एव प्राप्ति की क्रिया की शुभता को ध्यान मे नही लिया जायेगा तो वैसे मनुष्य के कदम निश्चय ही हिसा की ओर बढ़ेगे। फिर वह विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये विभिन्न जीवो की बेहिचक हिसा करेगा, हिसा करवायेगा और हिसा का अनुमोदन करेगा। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे यह जो गलत मोड़ पकड़ लिया जाता है तब क्रियाओं का स्वरूप भी बदल जाता है। वे हिसक क्रियाएँ बन जाती है। इस स्वरूप विकृति को ही क्रियाओं की विपरीतता का नाम दिया गया है।

मेरा अपनी ही क्रियाओं की आलोचना से तथा अन्य प्राणियो की क्रियाओं के विश्लेषण से यह मत बनता है कि हिसा के रूप मे प्रकट होने वाली इस प्रकार की क्रियाओं की विपरीतता सदैव मनुष्य के अपने आत्मविकास तथा मनुष्य समाज के स्वास्थ्य के लिये अहितकारी होती है। हिसा वृत्ति एव प्रवृत्ति को अपनाने से मनुष्य एव समाज की आध्यात्मिकता को भी गहरा आघात लगता है। मैंने महसूस किया है कि हिंसा के महाद्वार से ही मोहजन्य वृत्तियाँ प्रवेश करती है और तब आत्मा बधनग्रस्त होकर अमगल के अरण्य मे भटक जाती है। यह मैं जानता हूँ कि हिंसा का यह एक ही रूप नहीं होता कि किसी जीव का वध कर दिया किन्तु ये सभी हिसक कार्य कहलायेगे कि प्राणी के दस मे से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाई, उसे अपना गुलाम बनाने की चेष्टा की अथवा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे अपना सेवक बना लिया। ये सारे हिसक कार्य क्रियाओं की विपरीतता के ही लक्षण होते है। कारण, हिसा ही क्रियाओं की विपरीतता का मापदड है।

मै उपरोक्त प्रयोजनो को क्रिया की विपरीतता के साथ जोडू तो उनका यह रूप बनेगा कि मै जिस भी कदर जितनी हिसा होगी करूगा और अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूगा। जैसे कि एक तानाशाह अपनी जीवन रक्षा मे अनगिनत मनुष्यो का खून बहा देने से भी नही हिचकता है। मै अपने मायावी कुचक्र चलाऊगा, सत्य का कठ दबाऊगा और झूठे आधारो पर जोर जवरदस्ती से ही सही पर अपनी पूजा करवाऊगा। मैं अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण परम शान्ति पाने तथा दु ख दूर करने के प्रयोजन के लिये भी सही उपाय काम मे नही लूंगा बल्कि लालसाएँ और सग्रह वढ़ाकर या हिसा से शासन चला कर शान्ति और सुख प्राप्त करने का गलत यत्न करूगा। निश्चय है कि हिंसा से मै किसी भी प्रयोजन की वास्तविकता तक नही पहुँच पाऊगा।

अत क्रियाओं की इस विपरीतता से मुझे सवक लेना होगा और अन्य प्राणियो को भी समझाना होगा कि विपरीत क्रियाओं से सही प्रयोजन कभी पूरे नही होगे। इनसे मात्र अशान्ति ही वढ़ेगी। मुझे चिन्तन करने से वोध हुआ है कि जहाँ क्रियाओं की विपरीतता का मापदड हिसा है, वहीं क्रियाओं के औचित्य का मापदड अहिसा है। मै अपनी हिसात्मक क्रियाओं को दृष्टा-भाव से देखने के वाद ही जान सका हूँ और यही भाव अपनाने के लिये मै अन्य प्राणियो से भी निवेदन करता हूँ क्योकि दृष्टा-भाव से हिसा उसके हिसा रूप मे समझ मे आ जाती है तथा एक वार हिसा को हिसा रूप मे समझ लेने के वाद उसे त्याग देने की इच्छा वलवती हो जाती है।

इस प्रकार जीवन के इस दोराहे को यो समझे कि एक राह है हिसा की और दूसरी राह है अहिंसा की। जो अहिसा की राह पर वढ़ चलते हैं तो जीवन मे अहिसा का विकास हो जाता है

और प्रयोजनो की सम्यक् पूर्ति की वस्तुस्थिति बन जाती है। किन्तु क्रियाओं की विपरीतता से जिसके कदम हिसा की राह पर वढ़ गये और बाद मे वह अपने कदम इस राह से नहीं हटा सका तो समझिये कि उस का भीषण दुष्प्रभाव उसके स्वय के जीवन पर ही नही पड़ता बल्कि उस दुष्प्रभाव से उसके निकट का सामाजिक क्षेत्र भी कलुषित हुए बिना नही रहता।

वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव

मैने देखा है कि क्रियाओं की समुचितता अथवा क्रियाओं की विपरीतता का अपना-अपना प्रभाव दूरगामी होता है जो उन क्रियाओं के कर्त्ता के अलावा सारे समाज पर भी न्यूनाधिक रूप मे अवश्य पड़ता है। यह तो निश्चित ही है कि उन क्रियाओं का कर्त्ता उनसे पूर्णतया प्रभावित होता ही है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ व्यापक रूप से वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रभाव छोड़ती है।

एक बात और कि ससारी मनुष्य का मूल बुराई मे रहा हुआ होता है जिस कारण अच्छाई की अपेक्षा बुराई जल्दी और ज्यादा फैलती है। इस दृष्टि से क्रियाओं की विपरीतता का दुष्प्रभाव स्वयं पर और लोगो पर तेजी से फैलता है। एक व्यक्ति जब अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण हिसापूर्ण कार्यों मे प्रवृत्त होता है तो वह उस हिसा के द्वारा अपने ही स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। उसकी इस चेष्टा मे वह अन्य प्राणियो के हितो को कुचलता है। तब वह अपने दया भाव को छोड़ता रहता है तथा क्रूर बनता जाता है। अपने क्रूर व्यवहार से वह अपने लिये अधिकाधिक सम्पत्ति एव सुख सुविधाओं की सामग्री का सग्रह करता है। उस संग्रह के प्रति तथा उस सग्रह के सहायको के प्रति उसका राग भाव प्रबल होता है तो उसमे बाधा डालने वालो के प्रति द्वेष भाव से वह ग्रस्त हो जाता है। राग और द्वेष की प्रबलता से वह मोह, ममत्त्व तथा स्वार्थपोषण के घेरो मे बद हो जाता है। यही उसका जटिल मूर्च्छा भाव बन जाता है। उस समय वह मानवीय गुणो को भुला देता है, बल्कि आत्मविस्मृत भी वन जाता है। उसकी वह आत्मविस्मृति उसके निकट सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्तियो मे पहले और उन व्यक्तियो के माध्यम से सारे समाज मे अपना कुप्रभाव फैलाती रहती है याने कि अधिकाधिक व्यक्ति हिसा का आचरण करने लगते है और मोह-ममत्व के वशीभूत होते हुए मूर्च्छा को प्राप्त होते रहते है। इस प्रकार फैलता हुआ राग-द्वेष का दावानल समाज के स्वस्थ विकास को भस्म करता रहता है।

मै अनुभव करता हूँ कि मै भी ऐसे दावानल मे जला हूँ क्योंकि उस समय क्रियाओं की विपरीतता मेरे व्यक्तित्व की अग रूप बन गई थी। हिंसा से मेरा व्यक्तित्व विकृत हो गया था तथा मेरे जीवन का दु खात्मक आधार बन गया था। मेरे जीवन की ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होने की वजाय अधोगामी वन गई थी। मुझे प्रतीत हुआ कि हिसापूर्ण आचरण से ऐसी पतनकारक दशा बनती ही है, फलस्वरूप मेरी चेतना सिकुड़कर अनुभूतिशून्य ही बनने लगी थी।

स्व-स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा

अपनी चेतना की अनुभूति-शून्यता से मै भूल गया कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप क्या है, उसके निज गुणो की शुभता कैसी होती है तथा आत्मा के वर्तमान स्वरूप को क्रियाओं की समुचितता, अहिसा की कार्यान्वितता एव मानवीय पुरुषार्थ की सक्रियता से किस प्रकार परमोज्ज्वल

बना सकते है? मैं तो तब मनुष्य से भी पशु और पशु से भी राक्षस बनता जा रहा था, क्योंकि मेरी अधिकाश वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ सांसारिक पदार्थों के आसक्ति भाव मे डूबकर मूर्च्छाग्रस्त हो रही थी। मुझे ज्ञान ही नहीं रह गया था, यह ज्ञान करने का कि जिस राह पर मैं चलने लगा हूँ, वह मुझे कौनसे महाविनाश के गर्त्त मे पहुँचा कर जन्म-जन्मान्तरो के चक्र मे तिरोहित कर देगी?

मेरी यह ज्ञान चेतना विलुप्त सी हो गई थी कि स्व-स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा है। मूर्च्छितावस्था मे मैं यह नही जान सका कि मुझे ससार मे अपनी आत्म विकास की महायात्रा चलाते हुए मात्र जल पीना चाहिये, किन्तु मैं तो मोह मदिरा पीकर मतवाला हो गया था। उस मतवालेपन मे मैंने कितने प्राणियो के हितो को कुचला, कितनो का अनिष्ट किया, कितनो के प्राणो का हनन किया, मुझ को कुछ भी याद नहीं है। मैं स्व-स्वरूप को ही विस्मृत कर गया तो भला मुझे अपना वह राक्षसी रूप याद भी कैसे रहता?

मैने अपनी विपरीत क्रियाओं से अपने स्व-स्वरूप पर कर्मबधनो के काले लेप चढ़ाये, सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण मे विषमता का विष घोला और नारकीय परिस्थितियो का निर्माण कर दिया। मै अपनी अशुभता के ऐसे दलदल मे फस गया था कि इस गदे कीचड़ के छींटे सब ओर फैल रहे थे। मेरी निकृष्ट व्यक्तिगत अवस्था ने सामाजिक परिस्थितियो मे भी दु खो के द्वन्द्व खड़े कर दिये थे। मैं परिग्रह के सग्रह मे अधा बना हुआ था तो परिग्रह के मोह को मै चारो ओर भी फैला रहा था। मैं अपने आत्मिक अस्तित्व तक को भी भुला चुका था और समझ बैठा था कि यह ससार ही मेरे लिये सब कुछ है, अत अपने शरीर का ही पोषण करू, अपना ही आधिपत्य बढ़ाऊ और अपने को ही सम्पत्ति तथा सत्ता के शिखर पर चढ़ा दू।

वास्तविक रूप मे स्व-स्वरूप तथा स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है —यह सत्य मै वहुत बाद मे जान पाया, जव उस मूर्च्छा के कुप्रभाव से प्राप्त दु खो के अपार बीहड़ को ठोकरे खाते, लहूलुहान होते और साघातिक आघातो से खोई हुई चेतना के कुछ-कुछ जागते हुए पार कर पाया। तव मैंने महसूस की थी अशान्ति की घोर पीड़ा, जागरूकता की अस्तित्वहीनता और समता भाव की दरिद्रता, क्योकि तब मेरी चेतना जागृति की करवट लेने लगी थी।

जागृति की उस धीमी सी करवट मे ही मुझे अनुभूति हुई थी तथा मैं अपने विकृत अतीत पर एक नजर फेक सका था। मुझे तब प्रतीत हुआ था कि मैं अपने आप से छिटक कर कितना दूर मूर्च्छितावस्था मे गिरा हुआ था। मै स्व-स्वरूप के विस्मरण के साथ ही अहिसा पर आधारित मूल्यो तथा अध्यात्म के ज्ञान को भूल चुका था और इन्द्रियो व मन के घृणित विषयो मे ग्रस्त हो गया था। काम भोगो की लालसाओं मे मेरी आसक्ति वहुत गहरी थी और मै अपनी लालसाओं को पूरी करने के लिये कुटिल आचरण मे रत रहता था।

तव मै यह सोच-सोच कर ग्लानि से भर उठता था कि मै वीतराग देवो की आज्ञा के विरुद्ध चला तथा स्व-अस्तित्व को विसार गया। अपनी विपरीत वृत्ति के कारण मै दु ख देने वाले तत्त्वो को सुख देने वाले तथा सुख देने वाले तत्त्वो को दु ख देने वाले समझने लगा था और अज्ञानवश शुभ को अशुभ तथा अशुभ को शुभ मानने लगा था। मेरी विषयो मे लोलुपता तथा पदार्थों मे आसक्ति इस कदर वढ़ गई थी कि मैं हिसामय आचरण, राग-द्वेष, वैर-विरोध और मोह-ममत्व की अधी गलियो मे वुरी तरह भटक गया। मूर्च्छा से अधा वनकर मैं अपनी वासनामय

इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्राणियो को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी स्वतन्त्रता को कुचलने वाला तथा उनको हर तरह से आघात पहुँचाने वाला बन गया था।

मै अपनी उस मूर्च्छाभरी दुरावस्था को याद कर-कर के पश्चात्ताप करता हूँ कि जब मेरी इच्छाएँ तृप्त नही होती थी तो मै और अधिक निर्दयी हो जाता था। मै अधिक शोक सन्तप्त होता था, अधिक क्रोध करता था, अधिक प्रतिशोध लेता था और अन्य प्राणियो को अधिक सताता था। सतत हिसा के क्षेत्र मे कुकार्यरत रहने के कारण मै अधिक भयभीत भी रहता था। प्रमाद की गहराई मे डूबकर मै मानसिक तनावो से त्रस्त रहता था, किन्तु दोगला व्यवहार करता था। बाहर से मै अपने आपको बहादुर और निर्भीक जाहिर करता था जबकि हर समय मै चारो ओर के भय से डरा हुआ रहता था। बाहर से अपने को शान्त दिखाने का ढोग करता था जबकि भीतर के तनाव मुझे प्रतिपल अशान्त बनाये रखते थे। दुनिया के सामने मेरे द्वारा दिखाया जाने वाला ढोग ऐसा ही था जैसे कोई रस्सी से बधी चालनी को कुए मे डाल कर वहॉ से पानी निकालते रहने का ढोग करे। वस्तुत मै ससार रूपी प्रवाह मे तैरने के लिये कतई असमर्थ हो गया था। इसका कारण साफ था कि मै सदा और सर्वत्र जघन्य कामभोगो का ही अनुमोदन करता रहता था जिसके परिणाम स्वरूप मै दु खो के भवर मे ही गोते लगाता रहता था। मेरी चेतना की निरन्तर विकसित होती हुई उस जागृति ने मुझे आत्मालोचना की शिक्षा दी और मूर्च्छित मनुष्यो के ससर्ग से बाहर निकल जाने की मुझे प्रेरणा दी और इसी प्रेरणा ने मेरी गति को नया बल दिया कि वह आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़े।

मै आज स्वानुभव के आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मनुष्य जब अपने ही मूल स्वरूप तथा अपने ही अस्तित्व को भूल जाता है तब वह वे सब अनर्थ करने पर उतारू हो जाता है जो उसे सासारिकता की विकृत परतो मे समेट लेते है। वह स्वय भी मोह-ममत्त्व से लिप्त होकर तथा राग-द्वेष व प्रमाद के बधनो से बधकर इतना मूर्च्छा-ग्रस्त हो जाता है कि कालिमामय उन परतो को छेद कर उसका पुन बाहर आना असाध्य नही तो दुसाध्य अवश्य हो जाता है।

मैंने इस सत्य को भी जाना है कि इस ससार की दलदल मे फसे हुए लोगो मे से कुछ मनुष्य ऐसे सवेदनशील होते है जो किसी भी निमित्त से जागृत होने वाली अपनी चेतना के बल पर अपनी मूर्च्छा को अन्ततोगत्वा तोड़ ही देते है। एक बार मूर्च्छा टूटती है और आदमी अपने आपे मे आता है तो उसके ज्ञान और विवेक के द्वार भी खुल जाते है। फिर यह उसकी जागती हुई चेतना के बलाबल पर ही निर्भर करता है कि आत्म विकास की महायात्रा मे उसकी गति का क्या स्वरूप बनता है।

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व

मै आज जव अपनी आत्मालोचना के क्षेत्र मे खड़ा हूँ तो मै चाहता हूँ कि अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व की अपनी कुठाओं को याद करू, उनकी पतनकारी पकड़ से चेतू तथा इन आत्मघाती वृत्तियो से अपने साथियो को भी सावधान वनाऊ।

मुझे याद है कि अज्ञान का अधेरा कितना विकट होता है। उसमे आखे खुली हुई हो तव भी देख पाना संभव नहीं होता। हाथ पैरो के मजवूत होते हुए भी वे गड्ढे मे गिरा कर हड्डियाँ तुड़वा देते हैं। न जानना इतना वड़ा खतरा होता है जो मौजूद सामर्थ्य को भी समाप्त कर देता है।

अज्ञान सामर्थ्य घातक होता है। अज्ञानवश हम भूल जाते है कि आयु बीत रही है, यौवन समाप्त हो रहा है, फिर भी कामभोगो की आसक्ति मे और सासारिक सम्बन्धो व पदार्थों के ममत्व मे फसे रहते है। बुढ़ापे के असह्य कष्ट हमे चारो ओर से घेर लेते है, मौत आ जाती है तब हम हतप्रभ से रह जाते हैं कि हमने यह क्या कर दिया ? महान् पुण्योदय से जो दुर्लभ मानव जीवन एव अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ मिली थी, उन्हे हमने निरर्थक ही खो दी है। मृत्यु के मुख मे किये हुए उस पश्चात्ताप से मानव जीवन पुन नही लौट पाता और हम एक महान् अवसर को खो देते हैं।

मेरी धारणा बन गई है कि स्व-स्वरूप एवं स्व-अस्तित्व के प्रति उपजा हुआ अज्ञान ही मनुष्य को आसक्ति के विकार की ओर धकेलता है। ससार के कामभोगो मे लिप्त हो जाने का नाम ही आसक्ति है। यह आसक्ति आत्मगुणों का विनाश करने वाली होती है। रूप मे तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य उसी प्रकार असमय मे ही विनाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार रागातुर पतगा दीपक की लौ मे मूर्च्छित होकर अपने प्राणो से हाथ धो बैठता है। सगीत मे मुग्ध होकर अतृप्ति के साथ मारे गये हिरण के समान शब्दो मे अत्यन्त आसक्त बना मनुष्य अकाल मे ही विनष्ट हो जाता है। गध मे रखी जाने वाली तीव्र आसक्ति मनुष्य को नागदमनी की सुगध मे गृद्ध होकर बिल से बाहर निकल आने पर मारे गये सर्प के समान मृत्यु का मुख देखना पड़ता है। रागवश मास के स्वाद मे मूर्च्छित हुई मछली जैसे काटे मे फसकर मारी जाती है उसी प्रकार रसो के आस्वादन मे गहरी आसक्ति रखने वाला मनुष्य अपनी मौत खुद बुलाता है। मनोहर स्पर्शों मे तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य रागवश शीतल जल मे सुख से बैठे हुए भैसे का मगर द्वारा मारे जाने के समान अपने प्राणो को खो देता है। काम-वासना मे गृध्र बन कर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जिस दयनीय दशा से रणस्थल पर मारा जाता है, उससे भी अधिक दयनीय दशा मे विषयातुर मनुष्य अपनी जीवन लीला समाप्त करता है। इस प्रकार इस लोक मे जो मनुष्य सासारिक सुखो के पीछे पड़े रहते हैं, परिग्रह, सग्रह, रसास्वादन एव स्पर्श सुखो मे तीव्र आसक्ति रखते है तथा काम-भोगो मे मूर्च्छित बन जाते है, वे कायर और धृष्ट कहलाते है। ऐसे मनुष्य धर्म ध्यान रूपी समाधि को नही समझते, श्रेष्ठ अनुष्ठानो का सेवन नहीं करते और गहरी आसक्ति की तेज मदिरा से मूर्च्छित बने रहते है।

मै श्रद्धापूर्वक आप्त वचनो का स्मरण करता हूँ जहॉ कहा गया है कि यह मूर्च्छा ही ससार है। यहॉ पर जो मूर्च्छित मनुष्य है, वह दुष्चरित्रता का स्वाद लेने वाला तथा कुटिल आचरण करने वाला है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है अर्थात् धन सम्पदा के प्रति जो ममत्व भाव होता है—भाव परिग्रह वही है पदार्थ परिग्रह गौण होता है। इन दोनो ही परिग्रह से मुक्त होना आवश्यक है।

मैंने अज्ञान से आसक्ति तथा आसक्ति से ममत्व की प्रक्रिया देखी है। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे मनुष्य की क्रियाएँ समुचित रूप ग्रहण न करके विपरीत हो जाती है और वह विपरीतता ही आसक्ति को पनपाती है। मन और इन्द्रियो द्वारा भोगी जाने वाली विषयवस्तुओं मे वृद्धि को ही आसक्ति कहते हैं अत. आसक्तिवश उपजने वाली लालसाओं की पूर्ति के लिये सम्पत्ति और सत्ता की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिये मनुष्य धन सम्पत्ति प्राप्त करने की दौड़ भाग करता है। उसके मन मे ममत्त्व भाव बड़ा गहरा हो जाता है। आसक्ति की मूर्च्छा ममत्व की मूर्च्छा के साथ

मिल कर बेहोशी को दस गुनी बढ़ा देती है। वैसी दशा मे मनुष्य इस ससार मे सम्पत्ति और सत्ता पाने की होड़ मे बेतहाशा भागने लगता है। वह ममत्व ही उसके मन मे बसा हुआ जटिल परिग्रह बन जाता है। वह बावरा हो उठता है कि चाहे क्रूर से क्रूर साधन हो, वह सम्पत्ति और सत्ता अर्जित करे, लोगो पर अपनी हकूमत चलावे और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा करावे। अज्ञान, आसक्ति और ममत्व की त्रिपुटी मनुष्य की चेतना को शिथिल और म्लान बना देती है, समाज मे तृष्णा का ज्वर फैलाती है और उस आत्मा को कर्मबधन मे जकड़ लेती है।

सांसारिकता के बीज : राग-द्वेष

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व का विषवृक्ष जो दिखाई देता है उसका ही दूसरा नाम ससार कहा गया है। इसके बीज माने गये है—राग और द्वेष। राग और द्वेष की मौजूदगी का साफ मतलब माना जाना चाहिये कि वहॉ समता भावना का सामान्यतया अभाव है।

किसी भी सासारिक सम्बन्ध को अथवा पदार्थ को मै अपने लिये प्रियकारी व सुखकारी मानता हूॅ याने कि मै चाहता हूँ तो उसके प्रति मेरी चाहना का भाव राग कहलाएगा। मेरे राग भाव को जो भी समर्थन देगा अथवा उसका अनुमोदन करेगा उसके प्रति भी मेरा राग भाव पैदा हो जायगा। इसके विपरीत जो मेरे द्वारा वाछित सम्बन्ध या पदार्थ की प्राप्ति मे बाधा डालता है अथवा मेरे क्रियाकलापो का विरोध करता है, उसका भी मैं विरोधी हो जाऊगा याने कि उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जाग जायेगा। ससार के किसी भी प्राणी के प्रति उपजने वाले भावो मे अधिकाशत मनुष्य के मन मे या तो राग रहता है अथवा द्वेष। सम्पर्क और ससर्ग से दोनो प्रकार के काषायिक भाव पैदा होते है और परिस्थितियो के बदलने के साथ बदलते रहते है।

मैने महसूस किया है कि राग और द्वेष के भावो मे मनुष्य का मन इतनी बुरी तरह से डोलायमान होता रहता है कि वह राग-द्वेष की दुर्भावनाओं से ग्रस्त रहकर अनर्थकारी कृत्य करता रहता है। राग और द्वेष सासारिकता के बीज रूप होने से कर्मबध के मूल कारण होते है। कर्म जन्म-मृत्यु का मूल हेतु है और जन्म-मृत्यु को ही दु ख कहा जाता है अत· राग और द्वेष दु ख के भी मूल कारण है। जैसे जगल मे दावाग्नि से प्राणियो के जलने पर राग-द्वेष के वश होकर दूसरे प्राणी प्रसन्न होते है किन्तु वे यह नही जानते कि आगे बढ़ती हुई दावाग्नि उन्हे भी भस्म करके छोड़ेगी। उसी प्रकार काम-भोगो की आसक्ति मे डूबे अज्ञानी प्राणी यह नही जानते कि ससार मे राग-द्वेष की भावनाओं का जो दावानल जल रहा है, हम असावधान रहे तो हमे भी भस्म कर देगा। इस विचारशून्यता के कारण ऐसे मनुष्य उस दावानल से बचने का कोई यत्न नही करते हैं। अनियत्रित राग और द्वेष आत्म गुणो का इतना सहार करते है जितना कि एक समर्थ शत्रु भी किसी मनुष्य का सुरक्षा सम्वन्धी अहित नहीं कर सकता है। सवसे वड़ी बात तो यह है कि काम भोग अपने आप किसी मनुष्य मे विकृति पैदा नहीं करते—ये तो मनुष्य के राग-द्वेष रूप मोह भाव होते हैं जिनमे जकड़ कर वह अपने आपको विकारो का पुतला वना लेता है।

आत्म स्वरूप पर राग-द्वेष के ऐसे घातक प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीतराग देवो की वाणी मेरे हृदय मे उतरी है कि जो मनुष्य राग-द्वेष से रहित होता है, वही कसौटी पर कसे हुए और अग्नि मे डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल माना जाता है। जो राग-द्वेष को त्याग कर समभाव अपनाता है, वही निजात्मा द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानने वाला होता है। जो साधु राग

और द्वेष का सबल विरोध करता है, वह ससार मे परिभ्रमण नहीं करता। यदि राग द्वेष न हो तो इस ससार मे न कोई दु:खी होगा और न कोई सुख पाकर ही विस्मित ही होगा बल्कि सभी मुक्त हो जायेगे। वस्तुत सुखमय मोक्ष प्राप्त करने का एकान्त रूप से मार्ग बताया गया है कि अज्ञान और आसक्ति को त्यागे, राग और द्वेष को क्षय करे तथा सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर ले।

मैने सासारिकता मे रच-पच कर कई बार कटु अनुभव लिये हैं कि द्वेष और राग का क्रमिक रूप से आत्मस्वरूप पर कितना भारी दबाव पड़ता है। जब मै देखता था कि मेरी इच्छाओं की पूर्ति मे कोई बाधा दे रहा है तो उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जटिल बन जाता था। वह द्वेष मुझे हिसा और प्रतिहिसा के चक्र मे ऐसा घुमाता था कि अन्त सर्वविनाश के सिवाय कुछ नहीं होता। इस द्वेष से भी राग भाव मेरे मन मे बड़े गाढ़ेपन से समाया हुआ रहता था। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा भवन, मेरी ऋद्धि-सिद्धि और मेरे मनोज्ञ पदार्थ—उनके प्रति सदैव मैं राग भाव से प्रभावित और प्रलुब्ध बना रहता था। राग भाव क्रिया थी और द्वेष भाव उसकी प्रतिक्रिया। मैने महसूस किया कि द्वेष से भी राग बहुत जटिल होता है। द्वेष छोड़ भी दे मगर राग भाव छोड़े नही छूटता और जब तक द्वेष और राग न छूटे अथवा कम भी न हो तब तक समता भाव का अन्तर्हृदय मे प्रसार कठिन ही रहता है। पूर्णतया राग भाव को छोड़ देना आत्म विकास की महायात्रा की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, तभी द्वेष के बाद राग का सर्वाशत त्याग कर देने वाले महात्मा को वीतराग कहा गया है।

यह वीतरागता प्राप्त होती है जव राग और द्वेष के बीजो को पूरी तरह नष्ट कर दे याने कि तब वीतराग देव अपनी सासारिकता को ही समाप्त कर देने के किनारे पर पहुँच जाते है। अत अपने ससार को समाप्त करना है, अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व के विष-वृक्ष का मूलोच्छेदन करना है और आत्मा का उच्चतम विकास साधना है तो सबसे पहले राग और द्वेष रूपी भावनाओं के द्वन्द्व के बीजो को समाप्त कर दे। बीज नहीं रहेगा तो कैसे टिकेगा वृक्ष ?

आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ

मैंने अनुभव किया है कि मेरा अनियत्रित मन बेलगाम घोड़े की तरह कितनी उद्दडता से चारो ओर उद्देश्यहीन बनकर भागता रहता था और साथ मे मेरी चेतना को घसीटता रहकर उसे मर्माहत बनाता था ? पांचो इन्द्रियो की उद्दाम कामनाओं का बोझ मन अपने ऊपर ले लेता था और अपनी झूठी-मीठी कल्पनाओं मे अनन्तानन्त इच्छाओं को जगा लेता था। तब वह मेरा मन इतना भी विचार नहीं कर पाता था कि क्या इन सारी इच्छाओं की पूर्ति सभव भी हो सकेगी ?

मैने जब अपने मन और अपनी इन्द्रियो की इस उच्छृखलता का विश्लेषण किया तो मैं उसके कारणो की खोज भी कर सका। मै देखता था कि तुरन्त जन्मे शिशु का मन सामान्यतया निर्दोष होता है। इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता जो कि उसने गर्भकाल मे सीखा हो। बालक को इसी कारण पवित्रता की मूर्ति मानते है। किन्तु बालक जब इस ससार के वातावरण मे बड़ा होने लगता है तब वह प्रपच प्रचलित वातावरण को अपने मन और अपनी इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करने लगता है। और यहीं से उसके अपवित्र होने का काम भी शुरू हो जाता है ? उसके शुद्ध मन और साफ इन्द्रियो पर राग और द्वेष की मैली परते चढ़ने लगती हैं। इस रूप मे यह माना जायगा कि बाह्य जगत् से सम्पर्क जितना बढ़ता जाता है और गाढ़ा होता जाता है, वह बड़ा होता हुआ बालक सासारिकता की कलुषपूर्ण रीति-नीति मे ढलता जाता है। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र मे वह जिन

रगो को फैलते हुए देखता है, अपने मन-मस्तिष्क को भी उन्ही रगो से रग लेता है। वे रग होते हैं राग और द्वेष के रग जो अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व की तरफ खीचते हैं, क्योंकि इन्ही रगो से जन्म लेता है इच्छाओं का वह इन्द्रधनुष—जो मायावी होता है तथा जिसके भ्रमभरे रगो को पकड़ने के लिये मनुष्य बचपन से लेकर मृत्यु तक का अपना सारा अमूल्य समय बरबाद कर देता है।

मैने देखा है कि इन्द्रधनुष के इन्ही मायावी रगो के लिये मनुष्य के मन मे राग जागता है। तब वह उसके गाढ़ेपन के साथ उन रगो को याने कि नश्वर जड़ पदार्थों को प्राप्त कर लेने के लिये अपनी दुर्लभ प्राप्तियो को दाव पर लगा देता है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती है और मनुष्य अपनी प्राप्त शक्तियो ता दुरुपयोग करके भी जब किसी इच्छा की ज्योही पूर्ति कर लेता है, त्योही दूसरी इच्छा उसके सामने आ खड़ी होती है और वह इच्छा एक नहीं, अनेक रूपिणी होती है। एक इच्छा पूरी की जाय और कई अपूर्ण इच्छाएँ सामने आकर खड़ी हो जाय—फिर उनकी पूर्ति के लिये मनुष्य सघर्ष करता रहे और सघर्ष करते हुए पूरा जीवन भी खपा दे तब भी क्या वह अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सकेगा ? फिर भी राग-द्वेष की प्रबलता ऐसी होती है कि कई मनुष्य पूरा जीवन खपा कर भी शिक्षा नहीं लेते।

राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मूर्च्छाग्रस्त मनुष्य वस्तुओं के संग्रह मे प्रवृत्त होते है तो उनकी वितृष्णा एक समभावी को देखते नही बनती। वे वीतराग देव के उपदेशो को सर्वथा भुला देते है कि किसी वस्तु पर मूर्च्छा-ममत्व और आसक्ति का होना ही वास्तव मे परिग्रह है। ऐसे भाव परिग्रह के परिणाम स्वरूप द्रव्य परिग्रह की तनिक सी प्राप्ति उस मनुष्य की आसक्ति को मदिरा की तरह बहुत बढ़ा देती है। जैसे शराब पीना शुरू करने वाला आदमी नित प्रति शराब की मात्रा बढ़ाते रहने पर भी कभी तृप्त नही होता, उसी तरह भाव परिग्रह से ग्रस्त मनुष्य आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के दौरादौर मे वस्तुओं का महा-सग्रह कर लेने के बाद भी तृप्त नही होता। 'और चाहिये' की उसकी धुन खत्म ही नहीं होती है। इसी कारण उपदेश की धारा प्रवाहित हुई है कि जो व्यक्ति थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दु:खो से छुटकारा नहीं पाता है। अनासक्ति भाव से वस्त्र-पात्रादि रखने मे परिग्रह नही बतलाया गया है किन्तु यदि इन वस्त्र-पात्रादि मे भी साधु का आसक्ति भाव हो जाता है, तो वे उस साधु के लिये परिग्रह रूप हो जाते है। चाहे साधु हो या गृहस्थ—जब परिग्रह आता है तो अन्य अवगुण भी उसके साथ आने लगते है। सम्पूर्ण ससार मे सभी जीवो के लिये परिग्रह जैसा दूसरा बधन नही है। परिग्रह-बुद्धि से ही अनन्त इच्छाएँ और वासनाएँ भड़कती रहती है और मनुष्य को राग-द्वेष पूर्ण दावानल मे भस्म होने के लिये मजबूर करती रहती हैं।

तृप्ति व अतृप्ति की कुंठाएँ

कामभोगो की अनन्त इच्छाओं की पूर्ति मनुष्य के एक जन्म मे तो क्या अनन्त जन्मो मे भी सभव नहीं है— ऐसा मेरा स्वानुभव का विश्वास है। इस कारण इस जन्म मे कोई कितना भी बड़ा वस्तु-सग्रह कर ले तब भी अतृप्ति तो उसके मन-मानस मे छाई हुई रहेगी ही। जो इच्छाएँ पूरी हो गई है अथवा जिन इच्छाओं के अनुसार वस्तुओं का सयोग मिल गया है—आश्चर्य की वस्तुस्थिति यही है कि उन प्राप्तियो से तृप्ति नहीं मिलती, कारण प्राप्त तृप्ति से अतृप्ति की काली छाया इतनी बड़ी होती है कि उसमे तृप्ति का अस्तित्व ही विलुप्त हो जाता है। फिर भी इन तृप्तियो और

अतृप्तियों से भयकर एव असह्य कुठाए जन्म ले लेती है जिनके कारण समझने बूझने के उपरान्त भी मनुष्य का ज्ञान और विवेक सामान्यतया पुन' जागृत नहीं हो पाता।

मुझे याद है कि ऐसी ही अज्ञान एव अविवेक की मन स्थिति मे विभ्रमित करने वाले कैसे-कैसे परिग्रह के प्रलोभनो को मैंने झेला है तथा इच्छाओं के दबाव को बर्दाश्त किया है। फिर भी हाथ और कुछ तो नही लगा—हाथ लगी मात्र कुठाएँ, जिन्होंने मेरे व्यक्तित्व को इस तरह मथ कर रख दिया कि दीर्घकाल तक मै कोई सदाशयी विचार ग्रहण कर सकने तक मे समर्थ नहीं रहा। धीरे-धीरे कुंठाओं का जोर जब कम होने लगा तो मैंने अतीत की ग्लानि के साथ भविष्य पर चिन्तन आरभ किया। मिथ्या विचारों का मैंने त्याग किया। व्रतो की गहराई मे जब मैं आगे बढ़ा तो मैंने अपनी इच्छाओं को बाधने का प्रयास किया क्योकि अनियत्रित इच्छाओं से उपजी कुठाओं की यत्रणा को मै भोग चुका था। वीतराग देव द्वारा उपदेशित व्रत ने ही मेरी चेतना की रक्षा की और वह व्रत था इच्छा परिमाण व्रत अर्थात् खान-पान, वस्त्र, वाहन, आदि की छोटी से छोटी इच्छा को भी सीमा के बधन मे बाध लो। जो सीमा सोच कर निर्धारित कर ली है —वस्तुओं की कितनी ही विपुलता हो जाय तब भी उस सीमा का उल्लघन मत करो—यह है इच्छा परिमाण व्रत। परिग्रह परिमाण याने कि क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, कासा, पीतल, ताबा आदि धातु और घर की समस्त सामग्री तथा खान-पान, उबटन, स्नान, वस्त्र, वाहन आदि सभी की एक मर्यादा ग्रहण कर लेना इस व्रत का उद्देश्य है। एक शब्द मे कहे तो मनुष्य की मूर्च्छा और तृष्णा को घटाने और सन्तोष को ग्रहण करने तथा आवश्यक पदार्थों व परिग्रह का सारे समाज मे विकेन्द्रीकरण होते रहने मे इस व्रत की अपार उपयोगिता है।

मैंने देखा है कि इच्छाओं के अनियत्रित रहने की अवस्था मे अतृप्ति की कुठाएँ बहुत तीखी होती है। इन्हीं कुठाओं से तृष्णा बढ़ती जाती है और मोह गाढ़ा होता जाता है। तृष्णा से मोह तथा मोह से तृष्णा का ऐसा चक्र चल पड़ता है जिसकी मार से दीर्घकाल तक आहत होना पड़ता है तथा जन्म-जन्मान्तर का दु ख भोगना पड़ता है। कहा गया है कि जिसके मोह नही रहता, उसके दु ख नष्ट हो जाते है और जिसके तृष्णा नही रहती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। कुठाजन्य तृष्णा की ऐसी दशा होती है कि धन, धान्य, स्वर्ण, रजत आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य के अधिकार मे दे दिया जाय तब भी वह तृप्त और सन्तुष्ट नहीं होगा, यह एक शाश्वत सत्य है। कारण, ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ ही लोभ वृद्धि का कारण होता है। कथा है कि दो मासे सोने से होने वाला कपिल का कार्य लोभवश करोड़ो से भी पूरा नही हो सका। यदि सारा ससार और सम्पूर्ण सम्पत्ति व सत्ता भी मेरी हो जाय, तब भी वह मेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगी क्योकि मेरी तृष्णा का अन्त नहीं होता। दूसरे, इतनी सम्पत्ति और सत्ता भी अन्तत मेरी रक्षा करने मे अयोग्य ही सिद्ध होगी। जब तक मेरे मन मे तृष्णा और लोभ समाया हुआ रहेगा तब तक कैलाश पर्वत के समान सोने-चादी के असख्यात पर्वत भी मेरे मन को तृप्त नही कर सकेगे।

सासारिक पदार्थों मे तृप्ति की जब ऐसी दशा है तो समझ मे नहीं आता कि यह सब समझ कर भी अनेकानेक कुठाओं की पीड़ा हम क्यो भुगतते हैं और अपने लिये दीर्घकालिक दु खो की रचना क्यो करते है ? यह वास्तव मे दयनीय और चिन्तनीय दशा है हमारे मन की, हमारी चेतना की तथा हमारे ज्ञान और विवेक की।

मुझे यह तथ्य ज्ञात है कि जब काम-भोगो की इच्छाएँ मन-मानस को आच्छादित कर देती हैं और जीवन की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे एक उन्माद सा छा जाता है तब वह मनुष्य की विशेष प्रमादपूर्ण अवस्था होती है। प्रमाद की प्रमत्तता उसे आत्मीय चेतना की शुभ संज्ञा से शून्य बनाये रखती है। इसी कारण वीतराग देव की चेतावनी प्रकट हुई कि तू समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो समय कालखंड का सबसे छोटा घटक माना गया है अत प्रमाद के अस्तित्व को एक समय के लिये भी आत्म-घातक बताया है। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूप प्रमाद पाच प्रकार का कहा गया है तथा प्रमाद को ही कर्म माना गया है। इन पाच प्रकार के प्रमाद के अभाव को पाच प्रकार का अप्रमाद बताया है। प्रमादी व्यक्ति को चारो ओर से भय ही भय सताता है किन्तु अप्रमत्त पुरुष को कही से भी भय नहीं होता है। विषय-कषाय सेवन से उत्पन्न प्रमाद को धर्म के क्षेत्र से बाहर समझा गया है। अप्रमादी होकर ही मनुष्य धर्म के क्षेत्र मे आत्मिक उद्यम विशेष रूप से कर सकता है।

मैने जाना है कि प्रमाद की प्रमत्तता के वशीभूत होकर मै आत्म विकास की महायात्रा के तथ्य को ही भूल गया था और उसे ही क्या—अपने स्वरूप व अस्तित्व तक को भी भूल गया था। मैं यह भी भूल गया था कि मुझे मनुष्यत्व, वीतराग धर्म श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एव संयम मे पराक्रम की जो दुर्लभ प्राप्तियाँ प्राप्त हुई है, उन्हे अपने व ससार के दु खो को घटाने व मिटाने मे नियोजित करनी चाहिये। यह प्रमाद की प्रबलता ही थी कि मैने इस समर्थ मानव जीवन को भी एक बार तो प्रमाद के भेट चढ़ा दिया और अपने आपको विषय-कषाय के दलपल मे आकठ डुबो दिया।

फिर मेरे अन्त करण मे ये ध्वनियॉ गूजने लगी कि अति दुर्लभ एव विद्युत के समान चचल इस मनुष्य भव को पाकर जो प्रमाद का आचरण करता है, वह कापुरुष होता है —सत्पुरुष नहीं हो सकता। यह जानकर धीर पुरुष समय मात्र के लिये भी प्रमाद नही करते है क्योकि यह जीवन, यह यौवन प्रति पल व्यतीत होता जाता है। अत जब तक इस शरीर की शक्तियॉ क्षीण नही हो जाती, उसमे पहले ही धीर पुरुष प्रमाद को त्याग कर धर्माराधन मे प्रवृत्त हो जाता है। वीतराग देव ने यह भी फरमाया कि जो लोग प्रमादवश सोये हुए रहते है, वे अमुनि कहलाते है और मुनि वे ही हैं जो सदा जागते रहते है। अप्रमादी सोते हुए भी जागता रहता है—मोह निद्रा से सोये हुए प्राणियो के बीच रहकर भी उसकी जागरूकता कभी शिथिल नहीं होती। वह यह जानता है कि मृत्यु किसी भी समय सामने आ सकती है क्योंकि काल बड़ा निर्दयी होता है एव शरीर बड़ा निर्वल होता है अत प्रमादाचरण मे कभी भी रत नहीं होना चाहिये। पहले प्रमादवश जो कुछ भी किया हो, उसके लिये भी सकल्प लिया जाना चाहिये कि वह भविष्य मे वैसा पुन नहीं करेगा। कारण, प्रमादयुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मवधन कराने वाली होती है तथा जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित होती है, वे कर्मबधन नहीं कराती हैं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमश' मूर्ख और पडित कहलाता है।

इन प्रेरणादायी ध्वनियो ने मेरे अन्त करण को जगाया, तव मैने प्रमाद के उन्मादकारी स्वरूप को समझा और उस उन्माद को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारभ किया। प्रमाद का यह उन्माद पाच प्रकार से हमारी चेतना को आवृत्त कर लेता है—(१) मद्य—शराव आदि नशीले पदार्थों का सेवन मद्य प्रमाद है, जिससे शुभ परिणाम नष्ट होते हैं। शराव मे जीवो की उत्पत्ति होने से जीवहिसा का भी महापाप लगता है। लज्जा, लक्ष्मी, वुद्धि, विवेक आदि का नाश तथा जीव हिसा आदि के मद्यपान के दोष तो

मोहजन्य होती है। उभय प्रकार की निद्राओं का सेवन करना निद्रा प्रमाद है। द्रव्य निद्रा प्रमाद की अपेक्षा भाव निद्रा प्रमाद अत्यधिक भयकर एव आत्मा को अधोगामी बनाने वाला होता है। अत' भाव निद्रा प्रमाद से व्यक्ति जितना बचता है उतना ही उसका आत्म-विकास होता है।

विकथा प्रमाद

राग-द्वेषवश होकर जो वचन कहे जाते है, उन्हे विकथा कहते है याने कि विकृत कथन। ये कथन कई प्रकार के होते है जिनका निरोध, वाणी पर सयम रखकर किया जा सकता है।

मेरा विश्वास बन गया है कि यदि मै सर्वप्रकारेण प्रमादाचरण को समाप्त करने लगू तो अवश्य ही विषय-कषायो की मन्दता के साथ अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व के परिणाम भी क्षीण होने लगेगे। चाहिये भीतर का जागरण, चेतना का समीकरण एव मन का केन्द्रीकरण।

आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ

अन्त करण चेतना एव मन की साधना मे जब समरसता जमती है तो अपनी विदशा के प्रति ग्लानि भी उत्पन्न होती है और एक नया उत्साह भी जागता है कि चरण सन्मार्ग पर गमन करे। ऐसी मानसिकता मे आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उस उत्साह को सम्पुष्ट बनाती हैं—ऐसी मेरी सुदृढ़ धारणा है। ये आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उन वीतराग देवो के परम ज्ञान से उद्‌भूत हुई है जिन्होने अपने आत्मस्वरूप की श्रेष्ठ समुज्ज्वलता एव परमोच्चता प्राप्त की।

इस पहले सूत्र से सम्बन्धित ऐसी ही कुछ आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ मै यहाँ देना चाहता हूँ जो मेरी आत्म विकास की महायात्रा का मार्गदर्शन करती है और मेरी मान्यता है कि वे सम्पूर्ण जगत् के समस्त प्राणियो के आत्म विकास को भी अनुप्रेरित करती है—

'हिसा कार्यों के परिणामो को समझ कर बुद्धिमान मनुष्य स्वय छ काय के जीव अर्थात् किसी भी प्राणी समूह की कभी भी हिसा नही करे, दूसरो के द्वारा कभी भी हिसा नहीं करवाए तथा हिसा करते हुए दूसरो का कभी अनुमोदन भी नहीं करे। जिसके द्वारा छ काया के जीवो के हिसा कार्य समझे हुए होते है, वह ज्ञानी होता है जो हिसा कार्य को दृष्टाभाव से जानता है।

'छ काया के प्राणी समूह को वीतराग देव की आज्ञा से अच्छी तरह जानकर उसको निर्भय बना दे—अभयदान दे।'

'जो अध्यात्म रूप समता को जानता है, वह बाह्य जगत् मे चल रही सासारिक विषमताओं को समझता है, जो इन बाह्य विषमताओं को समझता है, वह अध्यात्म को जानता है। जीवन-सार को खोजने वाले मनुष्य को यह श्रेष्ठ सन्तुलन वाली आध्यात्मिक तुला सदैव अपने सामने रखनी चाहिये।

'इस जीवन मे जो व्यक्ति प्रमादयुक्त होते है, वे मनुष्य जीवन एव इसकी दुर्लभ प्राप्तियो के व्यतीत होते जाने को नही समझ पाते है। इस कारण प्रमादी व्यक्ति प्राणियो को मारने वाले, छेदने वाले, भेदने वाले, उनकी हानि करने वाले, उनका अपहरण करने वाले, उन पर उपद्रव करने वाले तथा उनको हैरान करने वाले होते है। कभी नही किया गया है —ऐसा हम करेगे, यह विचारते हुए प्रमादी व्यक्ति हिसा पर उतारू हो जाते हैं। अत प्रत्येक जीव के सुख-दु ख को समझ कर और अपनी आयु को ही सचमुच न वीती हुई देखकर तू उपयुक्त अवसर को जान। जव तक तेरी पाचो

सर्वाधिक महत्त्व का बिन्दु मुझे यह महसूस होता है कि जीवन को समतामय बनाने के लिये यथा समय यथोचित रीति से सही और सम्यूक निर्णय लिया जाय। ज्ञान हम प्राप्त कर लें, सिद्धान्त को भी समझ ले, किन्तु उसको विधिपूर्वक जीवन के आचरण मे उतारने का यदि हम समय पर निर्णय नहीं ले सके तो उस ज्ञान और सिद्धान्त का हमे विशेष लाभ नही मिल सकता है। अत सही निर्णय के बिन्दु को ही हमे सर्वाधिक महत्त्व देना होगा।

जीवन क्या है ? इसके उत्तर मे इस रूप से सूत्र रूप व्याख्या तैयार की जा सकती है कि—

'सम्यक् निर्णायक समतामयच यत् तत् तज्जीवनम्' अर्थात् जीवन वही जो सम्यक् निर्णायक हो तथा समतामय हो। इस रूप मे जीवन के दोनो छोर पकड़ लिये गये है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य है कि उसकी सभी वृत्तियॉ एव प्रवृत्तियॉ सभी प्रकार से समतामय बन जाय। यह जीवन का अन्तिम छोर है तो प्रारम्भ का छोर समुचित विधि से पकड़ मे आ जाय, उसके लिये हमारा 'सम्यक् निर्णायक' होना आवश्यक है। प्रत्येक परिस्थिति मे एव प्रत्येक स्तर पर यदि सही निर्णय लेकर धर्माराधन या गुणाचरण किया जाता है तो कोई आशका नही माननी चाहिये कि आत्म विकास की महायात्रा मे कही भी पथ से पग डगमगा जाय या भटक जाय। सम्यूक निर्णय-शक्ति से प्रारभ हुआ जीवन अपना पुरुषार्थ प्रक्रिया मे रागद्वेष, प्रमाद, अज्ञान, आसक्ति आदि दोषो से परिपूर्ण ममता का समूल निवारण कर सकेगा—ऐसी आशा रखी जानी चाहिये। समता साधना का श्रेष्ठतम विकास भी सम्यक् निर्णायक जीवन द्वारा सभव हो सकेगा।

मेरा मानना है कि अपने मन की ममता मिटे तो समता के सहज विस्तार को कोई नही रोक पायेगा। मन की समता मिटेगी तो फिर वस्तु मे परिग्रह नहीं रहेगा। वस्तु मे परिग्रह की मूर्च्छा नही होगी तो वस्तुओं को प्राप्त करने की हिसक होड़ समाप्त हो जायेगी। तब वस्तुओं के पूरे समाज मे सम-वितरण होने मे कोई कठिनाई शेष नही रह जायेगी। ममता मिटेगी तो पदार्थों की सग्रह वृत्ति मिट जायेगी। मैं सोचता हूॅ कि 'पर द्रव्य लोष्ठवत्' जो कहा गया है वह तभी हो सकता है जब द्रव्य के प्रति ही आसक्ति ममत्व भाव न रहे। ऐसा हो जाता है तो परद्रव्य क्या स्वद्रव्य भी लोष्ठवत् हो जायेगा, सिर्फ उसका उपयोग जीवन की मूल आवश्यकताओं को पूरी करने मात्र मे ही किया जाय।

मेरी आत्मा कहती है कि वर्तमान युग मे जीवन के मूल्य जिस गलत आधार पर ढल गये है, उन्हे परिवर्तित किये जाने की नितान्त आवश्यकता है। सारे वातावरण को आज जो अर्थप्रधान वना दिया गया है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदड भी अर्थ को वना दिया गया है—यही सवसे वड़ी भूल है। यही कारण है कि आज का अर्थ-परक समाज जड़ मूल्यो वाला बन गया है जिसमे अर्थ को ही पहली महत्ता मिल रही है। इस कारण सारी धार्मिकता और नैतिकता को ताक मे रखकर अधिकाश व्यक्ति अर्थोपार्जन की दौड़ मे ही वुरी तरह से भाग रहे है। सामाजिक क्षेत्र मे मानवीय मूल्यो का निरादर करके आर्थिक मूल्यो को जिस कदर बढ़ावा मिला है और मिलता जा रहा है—प्रवुद्ध जनो के लिये यह गंभीर चिन्ता का विषय है। चिन्ता का सवसे वड़ा कारण यह है कि नित प्रति समाज मे विषमता की खाई ज्यादा से ज्यादा चौड़ी होती जा रही है। आर्थिक सम्पन्नता और विपन्नता के भेद की दृष्टि से जितनी विषमता वढ़ती जाती है, उतनी ही सामाजिक क्षेत्र मे अर्थ की महत्ता और उसकी प्राप्ति के लिये आपाधापी वढ़ती जाती है। फलस्वरूप धार्मिक, नैतिक तथा सास्कृतिक दुरावस्था भी जटिल होती जाती है। इस सारी स्थिति का सवसे वढ़कर

कुफल यही होता है कि समता का रूप धूमिल होने लगता है। ममता का नग्न नृत्य कुटिल होता जाता है जिससे व्यक्ति के विकास एव समाज के सुधार का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मेरी सम्मति मे आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि मूल्यो मे परिवर्तन हो। अर्थ पर आधारित मूल्यो को समाप्त करना होगा और उन्हे मनुष्यता पर आधारित बनाना होगा। तभी समता का व्यक्ति की साधना मे तथा समाज के नवनिर्माण मे व्यापक रूप से सच्चा विकास सम्पादित किया जा सकेगा।

मैं इस दृष्टि से साध्य और साधन का समीकरण करते हुए जीवन की सूत्र रूप एव सारपूर्ण इस व्याख्या को कि—

सम्यक् निर्णायक समतामयञ्च यत् तज्जीवनम् को विशेष महत्त्व देना चाहूगा कि यह नई व्याख्या जीवन के मानवीय मूल्यो को प्राथमिकता देती है। समता जिस जीवन का साध्य होगी, उसका सच्चा साधन सम्यक् निर्णय ही हो सकेगा जो एक समता साधक के ज्ञान, विवेक एव ध्यान की कसौटी रूप होगा। सम्यक् निर्णय का सम्बन्ध भी सदा भावनात्मक ही होगा तथा विकसित भावना के अनुसार ही उस निर्णय की श्रेष्ठता एव प्रभावकता सिद्ध होगी। इस प्रकार जीवन की पूर्णता इस छोटी-सी व्याख्या के दो शब्द समूहो मे समाविष्ट कर ली गई है। ये दो शब्द समूह आत्मविकास की महायात्रा के पथ पर प्रकाशित होने वाले एक प्रकार से दो दीप-स्तभ है।

पहला सूत्र और मेरा संकल्प

आत्म समीक्षण के इस पहले सूत्र के अनुसार मै सकल्प करता हूँ कि मैं मूर्च्छा और ममत्व को हटाऊगा, राग-द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मगलमय बनाऊगा।

मेरा यह संकल्प मेरे लिये भी है और मेरे साथियो व अन्य प्राणियो के लिये भी है जिनको भी मै आत्म-स्वरूप घातक दुर्गुणो से सावधानी दिलाना चाहता हूँ तथा जीवन के नवनिर्माण एव समाज के स्वस्थ विकास के प्रति अपने कर्त्तव्य का भी निर्वाह करना चाहता हूँ।

मेरा सकल्प है कि मै अपनी स्वय की तथा अधिकाधिक मनुष्यो की सवेदनशीलता को गहरी करूगा जिससे हम सब मिलकर ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमे शोषण, दमन, अनुशासनहीनता, पारस्परिक कटुता अथवा हृदयहीनता व अशान्ति की भावना न हो। मै अपनी चेतना को जगाऊगा तो अन्य प्राणियो को भी उनकी चेतना जागृति मे योग दूगा कि जीवन को दु:खी बनाने वाले मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व घटे तथा वस्तु त्याग से पहले ममत्व त्याग की मानसिकता बने। हमारे वीच आध्यात्मिक जागृति का इस रूप मे विकास हो कि हम मान-अपमान, या लाभ-हानि आदि के द्वन्द्वो की निरर्थकता को हृदयगम कर ले। इससे अहिंसा, सत्य तथा समता को अपनाने की अभिलाषा एव उमग वलवती हो जायेगी। हमारे विचार एव व्यवहार मे जितने अधिक अशो मे अहिसा, सत्य तथा समता का समावेश होगा, उतनी ही अधिक गति से अनासक्ति की मूल्यात्मक भावना का प्रसार हो सकेगा। यही मार्ग है कि व्यक्ति के अन्त करण मे तथा समाज की अन्तरगता मे नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की चेतना सघन वन जाय।

सागान्यतया मैं जानता हूँ कि यह मूर्च्छित मनुष्यो का जगत् है फिर भी आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा का स्रोत यदि निरन्तर वहता रहे तो मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यो न हो, उसमे

आत्म-विकास का जोश जगाया जा सकता है। यदि मनुष्य एक बार वृद्धावस्था, मृत्यु और धन वैभव की अस्थिरता को दिल से समझ जाय तो उसकी सवेदनशीलता उभर सकती है और वह अपनी मूर्च्छा को तोड़ सकता है।

मै सकल्प लेता हू कि मै बाह्य जगत् के अपने सम्पर्क को कभी प्राथमिकता नही दूंगा। बल्कि अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता दूंगा। इस कारण जन्म लेती हुई अपनी आशाओं और इच्छाओं का वहीं निरोध कर दूगा ताकि उन की पूर्ति सम्बन्धी विषय-कषायपूर्ण प्रमाद से वच जाऊ। मै इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त बनूंगा तो बहिर्मुखी हो जाऊगा और विभाव-सद्भाव मे रत रहकर कर्मबंधनो को काट नहीं सकूगा अत' अन्तर्मुखी बनना मेरा लक्ष्य होगा जिसके लिये मुझे अनासक्ति भाव का अभ्यास करना होगा। मै मानता हूँ कि मेरी सयम साधना वहीं से प्रारभ होगी। कषायो का राजा मोह होता है अत मोह को नष्ट करूगा तो कषायो को भी नष्ट कर दूगा। आप्त पुरुषो ने कषायों से मुक्ति को ही वस्तुतः मुक्ति कहा है।

मैं इस सत्य को सदा मानता हूँ कि इस मानव समाज मे न कोई नीच है, न कोई उच्च—इस कारण सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिये। समता से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नही है। समता धर्म का मूलाधार यह है कि जगत् मे सब प्राणियो के लिए पीड़ा अशान्तिकारक और दु खयुक्तहोती है एव सभी प्राणियो के लिये सुख अनुकूल होते हैं व दु ख प्रतिकूल होते है। वध आदि की हिसक प्रवृत्तियाँ अप्रिय होती है, जीवित रह पाने की अवस्थाएँ प्रिय लगती है। सब प्राणियो के लिये जीवन प्यारा होता है अत' सबके जीवन की रक्षा की जानी चाहिये। जीवन रक्षा के बाद जीवन-साम्यता उससे ऊपर की सीढ़ी है।

मैं अनुभव करता हूँ कि अहिसा और समता की साधना ही सत्य की साधना है। आवश्यक यह है कि हम सत्य का निर्णय कर सके, सत्य को धारण कर सके तथा सत्य की आज्ञा मे स्थिर रह सके। सत्य की जो आज्ञा है, वही समतादर्शी वीतराग देव की आज्ञा होती है, जिसका पालन मै अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता हूँ। इस पालन मे भी मै तत्परता को अनिवार्यता मानता हूँ क्योंकि कुछ लोग उनकी आज्ञा मे भी आलसी होते हैं तो कुछ लोग उनकी अनाज्ञा मे तत्पर होते है जवकि ये दोनो ही दशाएँ नही रहनी चाहिये। मै इस आज्ञापालन को अपनी स्वतत्रता का हनन नहीं मानता क्योंकि उनकी आज्ञाओं तक अपनी बुद्धि तथा अपने तर्क से नही पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक रहस्यो का वीतराग देवो का आत्मानुभव—उनकी समदर्शिता की आज्ञा का पालन नतमस्तक होकर ही करना चाहिये। ससार को जानने के लिए सशय (जिज्ञासा) अनिवार्य है किन्तु समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य होती है।

मै सकल्प लेता हूँ कि मै स्वय समभाव में स्थित होने का प्रयास करूगा, समदृष्टि मे रहूँगा तथा अपने आचरण का समता के धरातल पर नव सृजन करूगा। इस दृष्टि से सवसे पहले मैं अपने ही जीवन को सम्यक् निर्णायक वनाऊंगा ताकि समाज के व्यापक वातावरण मे सम्यक् निर्णायक शक्ति का सामान्य विकास सभव वनाया जा सके। समाज मे समतामय परिस्थितियाँ रचना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य होगा ही इस परिप्रेक्ष्य मे पदार्थ-सग्रह को समाज मे आर्थिक विषमता पैदा करने वाला समझूगा तथा मूर्च्छा रूप परिग्रह से सवको दूर रहने की प्रेरणा के लिए अथक रूप से कार्य करूगा।

मेरी हार्दिक अभिलापा रहेगी कि स्व-स्वरूप, स्व-अस्तित्व एव स्व-स्वातत्र्य पर मेरी अमिट आस्था हो और इसी त्रिपुटी को मैं सभी प्राणियो के साथ सम्वद्ध मानूगा। मै अपने आत्म स्वातत्र्य

को सर्व प्राणी स्वातत्र्य से जोड़कर देखूगा। मैं अपने आत्म पुरुषार्थ को स्व-पर हित मे इस सलग्नता से नियोजित कर दूंगा कि स्व-हित भी पर-हित मे समाहित हो जाय। क्योंकि पर-हित मे अपने सर्वस्व के विसर्जन से स्व-हित की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। मैं अविचल भाव से ससार के बीज रूप राग-द्वेष को समाप्त करूगा, मोह पर विजय पाऊगा तथा कामना करूगा कि मैं भी एक दिन वीतराग पद प्राप्त कर लू।

किन्तु वीतराग पद प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी होने के लिए मनोरथो का निरन्तर चिन्तन करता रहूगा ताकि उनकी पूर्ति हेतु निष्ठा बनी रहे और अवसर मिलता जाय त्यो-त्यो उन मनोरथो को अपने संयमी जीवन मे मै कार्यान्वित करता रहू। श्रावकत्व की दृष्टि से मेरे मनोरथ होगे कि (१) कब वह शुभ समय आवे जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूगा, (२) कब मैं ग्रहस्थावस्था को छोड़कर मुडित होकर प्रव्रज्या अगीकार करूगा एव (३) कब मै अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर आहार पानी का त्याग कर एव पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन-मरण की वाछा न करता हुआ रहूगा। इसी प्रकार सर्वविरति साधुत्व की दृष्टि से मै मनोरथो का चिन्तन करूंगा कि (१) कब वह शुभ समय आयेगा जब मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूगा, (२) कब मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिभा अगीकार कर विचरूगा, एव (३) कब मै अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर तथा पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन मरण की वाछा न करता हुआ विचरूगा।

मेरी गूढ़ हृदयेच्छा है कि इस ससार मे सभी प्राणियो का मगल हो और मेरा भी मगल हो। मेरे मंगल मे सबका मंगल तथा सबके मगल मे मेरा मंगल भी निहित रहता है। मैं दृढ़ सकल्प लेता हूँ कि मै अपने जीवन को तथा अधिकाधिक रूप मे अन्य प्राणियो के जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय एव मगलमय बनाऊगा।

आत्म-विकास का जोश जगाया जा सकता है। यदि मनुष्य एक बार वृद्धावस्था, मृत्यु और धन वैभव की अस्थिरता को दिल से समझ जाय तो उसकी सवेदनशीलता उभर सकती है और वह अपनी मूर्च्छा को तोड़ सकता है।

मै संकल्प लेता हू कि मै बाह्य जगत् के अपने सम्पर्क को कभी प्राथमिकता नहीं दूंगा। बल्कि अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता दूगा। इस कारण जन्म लेती हुई अपनी आशाओं और इच्छाओं का वही निरोध कर दूगा ताकि उन की पूर्ति सम्बन्धी विषय-कषायपूर्ण प्रमाद से वच जाऊ। मै इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त बनूगा तो बहिर्मुखी हो जाऊगा और विभाव-सद्भाव मे रत रहकर कर्मबधनो को काट नहीं सकूगा अत अन्तर्मुखी बनना मेरा लक्ष्य होगा जिसके लिये मुझे अनासक्ति भाव का अभ्यास करना होगा। मै मानता हूँ कि मेरी सयम साधना वही से प्रारभ होगी। कषायो का राजा मोह होता है अत मोह को नष्ट करूगा तो कषायो को भी नष्ट कर दूगा। आप्त पुरुषो ने कषायो से मुक्ति को ही वस्तुत मुक्ति कहा है।

मैं इस सत्य को सदा मानता हूँ कि इस मानव समाज मे न कोई नीच है, न कोई उच्च—इस कारण सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिये। समता से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। समता धर्म का मूलाधार यह है कि जगत् मे सब प्राणियो के लिए पीड़ा अशान्तिकारक और दु खयुक्तहोती है एव सभी प्राणियो के लिये सुख अनुकूल होते है व दु ख प्रतिकूल होते है। वध आदि की हिसक प्रवृत्तियाँ अप्रिय होती है, जीवित रह पाने की अवस्थाएँ प्रिय लगती है। सब प्राणियो के लिये जीवन प्यारा होता है अत सबके जीवन की रक्षा की जानी चाहिये। जीवन रक्षा के बाद जीवन-साम्यता उससे ऊपर की सीढ़ी है।

मै अनुभव करता हूँ कि अहिसा और समता की साधना ही सत्य की साधना है। आवश्यक यह है कि हम सत्य का निर्णय कर सके, सत्य को धारण कर सके तथा सत्य की आज्ञा मे स्थिर रह सके। सत्य की जो आज्ञा है, वही समतादर्शी वीतराग देव की आज्ञा होती है, जिसका पालन मै अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता हूँ। इस पालन मे भी मै तत्परता को अनिवार्यता मानता हूँ क्योंकि कुछ लोग उनकी आज्ञा मे भी आलसी होते हैं तो कुछ लोग उनकी अनाज्ञा मे तत्पर होते हैं जबकि ये दोनो ही दशाएँ नही रहनी चाहिये। मैं इस आज्ञापालन को अपनी स्वतत्रता का हनन नहीं मानता क्योंकि उनकी आज्ञाओं तक अपनी बुद्धि तथा अपने तर्क से नही पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक रहस्यो का वीतराग देवो का आत्मानुभव—उनकी समदर्शिता की आज्ञा का पालन नतमस्तक होकर ही करना चाहिये। ससार को जानने के लिए सशय (जिज्ञासा) अनिवार्य है किन्तु समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य होती है।

मै सकल्प लेता हूँ कि मै स्वय समभाव मे स्थित होने का प्रयास करूगा, समदृष्टि मे रहूँगा तथा अपने आचरण का समता के धरातल पर नव सृजन करूगा। इस दृष्टि से सबसे पहले मैं अपने ही जीवन को सम्यक् निर्णायक बनाऊगा ताकि समाज के व्यापक वातावरण मे सम्यक् निर्णायक शक्ति का सामान्य विकास सभव बनाया जा सके। समाज मे समतामय परिस्थितियाँ रचना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य होगा ही इस परिप्रेक्ष्य मे पदार्थ-सग्रह को समाज मे आर्थिक विषमता पैदा करने वाला समझूगा तथा मूर्च्छा रूप परिग्रह से सबको दूर रहने की प्रेरणा के लिए अथक रूप से कार्य करूगा।

मेरी हार्दिक अभिलाषा रहेगी कि स्व-स्वरूप, स्व-अस्तित्व एव स्व-स्वातत्र्य पर मेरी अमिट आस्था हो और इसी त्रिपुटी को मै सभी प्राणियो के साथ सम्बद्ध मानूगा। मैं अपने आत्म स्वातत्र्य

को सर्व प्राणी स्वातंत्र्य से जोड़कर देखूगा। मै अपने आत्म पुरुषार्थ को स्व-पर हित मे इस संलग्नता से नियोजित कर दूंगा कि स्व-हित भी पर-हित मे समाहित हो जाय। क्योंकि पर-हित मे अपने सर्वस्व के विसर्जन से स्व-हित की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। मैं अविचल भाव से ससार के बीज रूप राग-द्वेष को समाप्त करूगा, मोह पर विजय पाऊगा तथा कामना करूगा कि मै भी एक दिन वीतराग पद प्राप्त कर लूं।

किन्तु वीतराग पद प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी होने के लिए मनोरथो का निरन्तर चिन्तन करता रहूगा ताकि उनकी पूर्ति हेतु निष्ठा बनी रहे और अवसर मिलता जाय त्यो-त्यो उन मनोरथो को अपने सयमी जीवन मे मैं कार्यान्वित करता रहूं। श्रावकत्व की दृष्टि से मेरे मनोरथ होगे कि (१) कब वह शुभ समय आवे जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूगा, (२) कब मैं ग्रहस्थावस्था को छोड़कर मुडित होकर प्रव्रज्या अगीकार करूगा एव (३) कब मैं अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर आहार पानी का त्याग कर एव पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन-मरण की वाछा न करता हुआ रहूगा। इसी प्रकार सर्वविरति साधुत्व की दृष्टि से मै मनोरथो का चिन्तन करूगा कि (१) कब वह शुभ समय आयेगा जब मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूगा, (२) कब मै एकल विहार की भिक्षु प्रतिभा अगीकार कर विचरूगा, एव (३) कब मै अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर तथा पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन मरण की वाछा न करता हुआ विचरूगा।

मेरी गूढ़ हृदयेच्छा है कि इस ससार मे सभी प्राणियो का मगल हो और मेरा भी मगल हो। मेरे मगल मे सबका मगल तथा सबके मगल मे मेरा मगल भी निहित रहता है। मैं दृढ़ सकल्प लेता हूँ कि मैं अपने जीवन को तथा अधिकाधिक रूप मे अन्य प्राणियो के जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय एव मगलमय बनाऊगा।

अध्याय तीन

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : २ :

मै प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि—

मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है।

प्रबुद्धता की वेला मे मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण मेरे नहीं है, परन्तु पर-पदार्थों के प्रगाढ मोह ने मुझे पाप कार्यों मे फसा रखा है। मै मिथ्यात्व को त्यागूगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूगा एव आत्म नियत्रण, आत्मालोचना व आत्म-समीक्षण से अपने मूल गुणो को ग्रहण करता हुआ ससार की समस्त आत्माओ मे एकरूपता के दर्शन करूगा।

दूसरा सूत्र

मै बुद्ध ही नही, प्रबुद्ध हूँ, बुद्धि के सर्वोच्च विकास को साध लेने मे सक्षम हूं। मेरी बुद्धि मेरा ज्ञान दीपक की लौ के समान सदैव प्रदीप्त रहता है। अपनी लौ ही के कारण दीपक सभी लोगों के मुह से दीपक कहलाता है। लौ न हो तो वह सिर्फ मिट्टी का दीवट हो जाता है।

वैसे ही जो लौ है, वह मैं हू क्योंकि मैं चैतन्य देव हूं, आत्मा हू। और जो मिट्टी का दीवट है, वह मेरा शरीर है। शरीर मे जब तक आत्मा है तभी तक जीवन है। आत्माविहीन शरीर त्याज्य हो जाता है। जब तक दीपक की लौ जलती रहती है, लोग उसे सहेज कर रखते है, कारण, वह सबको प्रकाश देता है, अधकार मे मार्ग दिखाता है। इस मानव जीवन का भी यही उद्देश्य है कि वह स्वय प्रकाशयुक्त बने तो अपना प्रकाश सब ओर भी फैलावे। जैसे दीपक की लौ कभी तेजोमय रहती है तो कभी तेल की कमी से मद्धिम भी हो जाती है, किन्तु वह जलती रहती है। जलते रहना—यही जीवन का लक्षण है। अपने पुरुषार्थ की तीव्रता अथवा मंदता से जीवन की ज्योति तेजोमय अथवा मद्धिम होती रहती है किन्तु उसका अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। लौ जलती रहती है, जीवन प्रकाशित होता रहता है अपने ज्ञान के अमित प्रसार को अभिवृद्ध बनाते हुए। यह जलना है अपने लिये भी एव औरो के लिये भी, क्योंकि प्रकाश पर किसी का एकाधिकार नही होता। प्रकाश अधकारग्रस्त सभी लोगो के लिये होता है। उसी प्रकार यह मानव जीवन भी ससार की समस्त आत्माओं मे एकरूपता लाने के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध है। मुझे इस प्रकाश के मर्म का पूरा ज्ञान है, बोध है। तभी तो मै प्रबुद्ध हू।

क्योकि मै प्रबुद्ध हूँ, इसी कारण सदा जागृत हूँ। सम्यक् ज्ञान मिथ्यात्व की नीद मे कभी सोता नहीं, सदा जागता रहता है। प्रतिपल प्रकाश मे नहाता रहता है। ज्ञान के प्रकाश मे मेरा 'मैं' सदा जागृत रहता है, मेरा लक्ष्य हर समय मेरे सामने होता है और मैं सजगतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये प्रयासरत रहता हू। मुझे प्रबोध भी प्राप्त है और जागरण भी क्योंकि एक प्रबुद्ध कभी भी सुशुप्त नही रह सकता है। जो जानता है, वह जागता है और जो जागता है, वह उठ खड़ा होता है। जो उठ खड़ा होता है, वह चल पड़ता है और वह चलता है वीतराग देवो द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर। अपने प्रबोध के कारण वह भटकता नहीं है—उसके पाव डगमगाते नही है। वह निश्चल गति से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है—अपनी बढ़ती हुई उमग और अपने बढ़ते हुए उत्साह के साथ।

मै प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ—इसीलिये मै अपने स्वरूप को पहिचानता हू, अपने लक्ष्य को जानता हूँ और तदनुसार अपनी गति को आकता हूँ। मेरी चेतना की प्रबुद्धता तथा उसकी सतत जागृति ही आत्म-विकास की मेरी महायात्रा की सम्पूर्ति —सूचिकाए बन जाती हैं।

चेतना की प्रवुद्धता व जागृति

मै जानता हूँ कि संसार के अनादिकालीन भटकाव मे मेरी चेतना अज्ञान के अंधकार मे ठोकरे खाती रही है, पदार्थ मोह की मदिरा से उन्मत्त बनी निद्राग्रस्त हुई है तो अपना आपा खोकर मिथ्याचरण की गन्दगी मे मुंह लगाती फिरी है। मेरी प्रवुद्धता इतनी मद्धिम हो गई थी कि जैसे लौ जल ही नहीं रही हो क्योंकि मै अपने निजत्व को ही विसार गया था। मेरी चेतना पर-पदार्थों के प्रगाढ़ मोह मे फसी तरह-तरह के पाप कार्यों मे ही लगी रही। जब मेरी प्रबुद्धता ही मन्दतम थी तो भला जागृति कहां से उभरती ?

यह तो लगातार अंधकार मे ठोकरें खा-खा कर मेरा क्षत-विक्षत हो जाना हुआ, मदिरा की तीक्ष्णता मे खुमारी उतरने के बाद होश का आना हुआ और गंदगी की भ्रष्टता से हद पर निकलना हुआ कि मै चौका, जागा और अपनी विदशा को देखने लगा। अपने अपरूप को देखता रहा-देखता रहा। समझ नही सका कि यह मैंने क्या कर दिया था ? क्यो कर दिया था, और अब क्या करूँ ? किकर्त्तव्यविमूढ़ता मुझे देर तक घेरे रही। मै सोचता रहा—मै सोचता रहा।

इस सोच से मेरी चेतना ने बोध पाया तो जागरण भी पाया। और अपनी उसी प्रवुद्धता एव जागृति मे उसने अपना कठिन कार्य भी सम्हाल लिया क्योंकि, वह कड़ी थी—अपनी स्वामिनी एव अपने सेवक के मन वचन काया के बीच की। इन सेवको ने उसे भी पथभ्रष्ट कर दिया था और उनकी पथभ्रष्टता की कालिख के छींटे तो अपनी स्वामिनी पर लगने ही थे। स्वामिनी भी मलग्रस्त हो गई। अब उसी का कठिन कार्य था कि एक ओर वह अपने सेवको की उद्दडता को रोके और उन्हे अपनी स्वामिनी की सत्सेवा मे नियोजित करे तथा स्वयं स्वामिनी को भी उसके प्रबुद्ध एवं सदा जागृत स्वरूप का भान दिलावे। मेरी चेतना ने तव कमर कस ली और मन, वाणी तथा कर्म की लगाम अपने हाथ मे पकड़ ली। यो कहिये—मेरी चेतना चाबुक बन गई, अपने को अपनी स्वामिनी के हाथो मे सौंप कर। यह चावुक था मेरे मन, वाणी और कर्म को मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्याचरण से दूर हटाने का और उन्हे सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण की दिशा मे ले जाने का—उनको पाप पक से निकाल कर आध्यात्मिकता के खुले मैदान और खुले वातावरण मे गमन कराने का। यह चावुक चोट करके ही रह जाने वाला नही था, बल्कि चोट पर मरहम लगाते हुए इच्छापूर्वक आगे बढ़ने की जागृति देने वाला था। मेरे मन, वाणी और कर्म ने चेतना के चावुक की चोट खाई तो उन्होंने ऊपर निहारा —अपनी कर्तृशक्ति के मुख पर उभरते हुए तेज को देखा तो वे भी स्तव्ध रहे, पश्चाताप मे डूबे और सकल्प के साथ सन्मार्ग पर चलने को उद्धत हो गये।

यह है मेरे 'मै' के जागरण की कथा। मेरे 'मै' का हाथ तव कस गया। चावुक को उसने मजवूती से पकड़ा और एक नजर अपने मन, वचन और कर्म पर घुमाई 'मैं' ने एक नजर उस स्थान पर भी घुमाई जहॉ से उसे तीव्र गति से निकल जाना चाहिये था क्योंकि निकलने मे तव तनिक भी विलम्व करना पुन सुशुप्ति मे गिरने का कारण हो सकता था। अभी-अभी उस विकारो से भरे स्थान के प्रति जुगुप्सा जागी थी और वहॉ से तुरन्त निकल जाने की तत्परता वनी थी, वह कहीं निरर्थक विलम्व के कारण समाप्त न हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि ससार के ऐन्द्रजालिक दृश्य उसे फिर से व्यामोहित वनादे और उसका चावुक उसके हाथ से फिर छूटकर उसके मन, वचन और कर्म

को फिर से भटकादे। उस स्थान पर जरा-सी देर के लिये भी ठहरे रहना घातक सिद्ध हो सकता था।

फिर क्या था ? मैंने अपने हाथ को एक जोर का झटका दिया और चावुक को उन तीनो घोड़ो की पीठ पर बरसा दिया। मेरा रथ दौड़ने लगा। गदगी के उस कीचड़ भरे दलदल से निकल कर जल्दी से जल्दी खुले मैदान मे पहुँच जाने की मेरी आतुरता प्रबल हो उठी, जहाँ पहुँच कर मै शान्ति से अपना स्वरूप-दर्शन कर सकूं, आत्म नियत्रण, आत्मालोचना एव आत्म-समीक्षण की सहायता से अपने विकास का मार्ग खोज सकू तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को जगाकर अपनें मूल गुणो को अवाप्त कर सकूं।

मूल स्वरूप की संस्मृति

वह खुला मैदान ही तो यह मानव जीवन है, जहाँ मै पहुँच गया हूँ। मनुष्यता, वीतराग, धर्म-श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एव सयम मे पराक्रम की क्षमता-रूप दुर्लभ प्राप्तियॉ यहाँ मुझे मिली हैं, यह मेरी अपने मूल स्वरूप की सस्मृति का ही सुपरिणाम है।

मैं अपने मूल स्वरूप की मनोज्ञ झलक पाकर ही तो इस खुले मैदान मे पहुँच सका हूँ, जहा मुझे सुअवसर मिला है कि मै अपने सम्पूर्ण स्वरूप की वास्तविकता को परखू तथा स्वरूप पर छाई मैल की परतो को हटाऊँ। यह मैल पूरी तरह निकलेगा, तभी मूल स्वरूप की उज्वलता प्रकट होगी। मूल स्वरूप की मेरी संस्मृति एक ओर मुझे अपने पूर्ण स्वरूप के दर्शन करने की प्रेरणा दे रही है तो दूसरी ओर उस पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने हेतु कठिन पुरुषार्थ को भी जगा रही है।

मैं जान गया हूँ—मैं जाग गया हूँ। फिर भी जितना जाना है वह ज्ञान के महासागर की एक वूद भी नहीं है—अभी तक बहुत जानना है मुझे—ज्ञान की साधना मे अपनी सर्व शक्तियाँ जुटा देनी है मुझे। मै जाग गया हूॅ लेकिन यह तो जागृति का पहला ही क्षण है। जागृति की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये मेरे 'मै' को वहुत सावधानी सचित करनी पड़ेगी। ज्ञान का यह प्रकाश अधिकाधिक तेजोमय होता जायगा और जागृति की सावधानी स्वाभाविक एव स्थायी वनती जायगी, तभी पुरुषार्थ की प्रक्रिया अधिकाधिक त्वरितता ग्रहण करती हुई पुष्ट, प्रवल एव प्रखर हो सकेगी।

मेरे पुरुषार्थ के फावड़े चलते ही रहेगे तथा पराक्रम का पसीना वहता ही रहेगा —तव उसे कोई रोक नही सकेगा। मेरे 'मैं' को उस की तेज चाल से तव कोई डिगा नहीं सकेगा। और इसका सवसे वड़ा कारण यह होगा कि मेरा 'मैं' अपने मैं—पन की अनुभूति ले चुका है, अपनी सुज्ञता, स्वस्थता एव सुघड़ता को पहिचान चुका है। क्या अव वह पुन. उस अंधकार मे—उन्माद मे और भ्रष्ठाचार मे लौटना चाहेगा ? जव तक उसे स्व-स्वरूप की सस्मृति रहेगी तथा स्व-अस्तित्व की आस्था रहेगी तव तक वह ऐसा कभी नहीं करेगा। क्या एक कुए मे गिरकर चोट खाया हुआ मनुष्य जानते बूझते हुए फिर से उसी कुए मे गिरना चाहेगा ? कहावत तो यह है कि दूघ का जला हुआ छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है। यह दूसरी वात है कि वह फिर शराव पी ले—फिर मदमाता हो जाय और फिर उसी कुए मे गिर जाय। यह नहीं है कि ऐसा नहीं होता, किन्तु ऐसा न होने देने के लिये ही प्रवुद्धता एव जागृति की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

मैं मानता हूँ कि यह आवश्यकता निरन्तर पूरी भी होती रह सकती है, यदि मै प्रतिपल, प्रतिक्षण आत्म-दर्शन करता रहूँ, आत्मानुभूति लेता रहू और आत्मसमीक्षण मे लगा रहूँ। सम-भाव और समदृष्टि से संसार के सारे प्राणियो को तो देखू ही, किन्तु सबसे पहले स्वय को देखू अपने ही आत्म-स्वरूप को देखू कि उसका गति-चक्र किस तरह चल रहा है। इसे दृष्टा भाव कहते है। आत्मा ही कर्त्ता है किन्तु आत्मा ही अपने आपकी दृष्टा भी हो सकती है। मै ही मुझको देख रहा हू कि मैं क्या कर रहा हू। जो कर रहा है, वह भी मै हूँ तो मै सतत देखने वाला भी बन जाऊ कि मै क्या कर रहा हू। ये दोनो क्षमताएँ एक साथ कार्यान्वित की जा सकती है। मै एक ही हूँ किन्तु कर्त्ता और दृष्टा की दोनो क्रियाए मैं एक साथ कर सकता हूँ। कर्त्ता होना मेरी प्रवुद्धता है तो दृष्टा होना मेरी जागृति। मै प्रवुद्धता और जागृति की इस वेला मे स्वयं पुरुषार्थ रत रहूँगा, अपने पुरुषार्थ के खरे-खोटेपन की आलोचना भी मै ही करूँगा तो आत्म-समीक्षण के बल पर अपने प्रछन्ना मूल गुणो को प्रकाशित का पराक्रम भी मै ही साधूंगा, क्योंकि मेरी मूल-स्वरूप की सस्मृति सुदृढ़ बनती हुई चली जा रही है। मेरी क्षमता और मेरी सामर्थ्य-शक्ति जाग उठी है कि मै अपनी विदशा को जाचू, अपनी प्राप्त शक्तियो को तौलू तथा आध्यात्मिकता के नन्दन वन की ओर आगे वढू।

सत्य का विपर्यय है मिथ्या

मुझे अपने गति क्रम को निर्धारित करने के पूर्व ही सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नही है। क्योंकि इस सांसारिक परिभ्रमण मे अधिकाशत' मेरे साथ यही घटता रहा है कि जो तत्त्व मेरे नही थे, उन्हे ही मै समेटता गया और अपने गले लगाता रहा। और जो वास्तव मे मेरे अपने तत्त्व थे, उन्हे मै भूल ही नहीं गया बल्कि उन्हे छोड़ता रहा। अगर कोई अपने शरीर की लज्जा ढकने वाले वस्त्रो को ही छोड़ता रहे तो उसे नगा होने से कौन वचा सकेगा ? मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं गुणविहीन आत्मा वनने लग गया—मेरे मानवीय मूल्य अज्ञान और अविवेक के अधेरो मे खो गये।

मुझे इसका प्रत्यक्ष कुफल मिला कि मै सत्य को भूल गया—अपनी उन्मतता मे सत्य को भूला ही नही, मै उसका शत्रु भी बन गया। जव मैने सत्य का दामन छोड़ा तो निश्चित था कि मैं मिथ्या की गोद मे गिर जाता। यही हुआ और मै मिथ्यात्व के वियावान वीहड़ मे भटकने लगा। मेरी श्रद्धा मिथ्या वन गई, मेरा ज्ञान और आचरण मिथ्या हो गया। सच पूछें तो मै स्वय—मेरा आत्मस्वरूप इस मिथ्यात्व का प्रतीक वन गया।

पिछली स्मृतियो को अपने चित्त मे उभारते हुए मुझे समझना है कि मिथ्यात्व आखिर क्या होता है ?

सत्य का विपर्यय होता है मिथ्या, जैसे कि प्रकाश का विपर्यय अधकार होता है। वस्तुत मिथ्यात्व वह अधकार होता है जो सत्य से साक्षात्कार तो करने देता ही नही है, किन्तु सत्य का दर्शन तक भी नही होने देता। पश्चिम दिशा मे ले जाने वाला मिथ्यात्व आखिर पूर्व दिशा मे उदय होते सूर्य को दिखा ही कैसे सकता है ? आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्यात्व का अर्थ होता है, आत्मिक विपरीतता। जव आत्मा वास्तव मे जो जानना चाहिये, वह नहीं जानती वल्कि उससे विपरीत जानती है, जिन तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये, उन के प्रति श्रद्धा नहीं रखती वल्कि उनसे विपरीत तत्त्वो के प्रति श्रद्धा रखती है अथवा वस्तुत जिस प्रकार का आचरण किया जाना चाहिये वह

आचरण नही करती बल्कि उससे विपरीत आचरण करती है, तब यह कहा जाता है कि वह आत्मा मिथ्यात्व के गहरे अधेरे मे भ्रमित हो रही है।

आत्म विकास की महामात्रा के मूल तत्त्वो की मान्यता मे जब विपरीतता आती हो तो उस दशा मे विकास की बात तो दूर रही विकास के प्रति अभिरुचि तक नही जागती है—यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है, क्योकि सम्पूर्ण श्रद्धान् ही विपरीत बना हुआ होता है। इस विपरीत श्रद्धान् को सरल भाषा मे इस प्रकार कहा गया है—(१) जीव तत्त्व को अजीव तत्त्व श्रद्धे तो मिथ्यात्व (२) अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व (३) धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (४) अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (५) साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (६) असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (७) ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (८) मोक्ष के मार्ग को ससार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (९) आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व एव (१०) आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

मैं सोचता हू कि सरल भाषा मे बताई गई मिथ्यात्व की पहिचान आत्म-विकास की बुनियादी बातो से सम्बन्ध रखती है और यदि उन्हीं मे विपरीत धारणा होती है तो उससे बढ़कर आत्मा के लिये और क्या घातक स्थिति हो सकती है ? जीव और अजीव इन दोनो तत्त्वो से यह ससार बना है किन्तु वस्तुत अपने स्वभाव से दोनो तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। वैसी स्थिति मे कोई आत्मा को ही न माने और शरीर की मृत्यु के साथ जीवन समाप्ति की धारणा बनाले या गति से चालित अजीव वाहनो को जीव मान ले तो इससे आध्यात्मिक समझ की बुनियाद ही बिगड़ जाती है। धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की दृष्टि से तो विपरीत धारणा का असर एकदम उल्टी दिशा मे ही ले जाता है। इसी प्रकार सच्चे साधुत्व की कसौटी को न समझे और साधु नामधारी की भी भक्ति मे ही कोई लग जाय तो असाधु गुरु से सच्चा ज्ञान कैसे मिलेगा ? आत्म विकास के मार्ग एव उसके लक्ष्य के प्रति भी भ्रान्त धारणा व्यक्ति को न सही मार्ग पर चलने देती है, न सही गतव्य का लक्ष्य निर्धारित करने देती है। इस प्रकार मिथ्यात्व का सेवन करना आत्मा को डुवोने वाला ही बनता है क्योंकि एक मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव, कुगुरु, कुधर्म व कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखती है और सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा सुशास्त्रो के प्रति श्रद्धा नही रखती है। मिथ्यात्व की अवस्था वैचारिक दृष्टि से आत्मा के लिये महापतन की दशा होती है क्योंकि विचार ही वाणी और कर्म का जनक होता है।

मिथ्यात्व के सूक्ष्म दुष्प्रभावो को भली भाति समझने के लिये मैं उसका और अधिक वारीक विश्लेषण कर रहा हूँ, उसके पाच भेदो के रूप मे—(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व तत्त्व की परीक्षा किये विना ही पक्षपातपूर्वक मिथ्या सिद्धान्त का आग्रह करना तथा सम्यक् पक्ष का खडन करना, (२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व गुण दोष की परीक्षा किये विना ही सब पक्षो को वरावर समझना, (३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुराग्रहपूर्ण हठ करना, (४) साशयिक मिथ्यात्व— इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप वाला— इस तरह देव गुरु व धर्म के विपय मे सशयशील वने रहना, तथा (५) अनाभौगिक मिथ्यात्व —विचारशून्य एकेन्द्रिय आदि तथा विशेप ज्ञान विकल्प जीवो को जो मिथ्यात्व होता है उसे अनाभौगिक मिथ्यात्व कहते हैं।

मेरा दृष्टिकोण इस विश्लेपण से साफ हो जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा की विचारणा की उस विदशा को कहेगे जव उसके सिद्धान्त-निरूपण मे परीक्षा की वजाय पक्षपात होता है, सत्य के

आग्रह के स्थान पर दुराग्रह होता है या कि बुद्धि—विवेक शून्यता होती है अथवा सदेहशीलता होती है। विचार के सम्बन्ध मे जब ऐसी दुर्दशा एवं सत्य की विपरीतता बन जाय तो उसके भावी विकास की बात करना ही व्यर्थ होगा।

मेरा मानना है कि जहां मिथ्यात्व होता है, वहॉ सत्य नहीं होता—सम्यक्त्व नही होता। जहाँ सम्यक्त्व तक नही होता, वहाँ आत्म-विकास का एक चरण भी आगे नही बढ़ता। इसके विपरीत कर्म बधन के कारणो मे मिथ्यात्व को एक मुख्य कारण माना गया है कि मोहवश तत्त्वार्थ मे श्रद्धा न रखने या विपरीत श्रद्धा रखने से एक मिथ्यात्वी आत्मा में आठो प्रकार के कर्मो का प्रवेश एव उनकी सलग्नता चालू रहती है। यही नहीं, मिथ्यात्व की जड़े कभी इतनी जम जाती है कि वार-वार उखाड़ लेने पर भी फिर-फिर हरी हो जाती है तथा साधे गये उच्च विकास को पुनः धूलिधूसरित कर देती है। इस कारण मिथ्यात्व का पूर्णत· मूलोच्छेदन अनिवार्य माना गया है।

मै अपनी ही आत्मालोचना करू कि सावधानी रखते हुए भी मिथ्यात्व का मन-मानस पर ऐसा आक्रमण होता है कि श्रेष्ठ तत्वो के प्रति मेरी श्रद्धा डगमगा जाती है, ज्ञान विभंग हो जाता है तथा आचरण की धारा उल्टी बहने लगती है या यो कहू कि दुनिया की बहती हवा मे मै सज्ञाशून्य-सा होकर वहने लग जाता हूं। किसी झटके से ही मेरी सावधानी वापस लौटती है तव जाकर मुझे अपने मिथ्यात्व का ख्याल होता है। बहुरूपी मिथ्यात्व का दैत्य ऐसा ही होता है जो एक साधक को बार-वार सताता है और डोलायमान करना चाहता है अत· मै मानता हू कि मिथ्यात्व के प्रति पूर्ण सावधानी रखनी एक साधक की कड़ी कसौटी होती है। यह सावधानी किस रूप मे रखी जाय ? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का वरण करे तथा सम्यक्त्व के प्रति अपनी निष्ठा को अमिट वनावे।

मोह ही मिथ्यात्व का मूल कारण

यह तथ्य मेरा अनुभव जन्य है कि यह मिथ्यात्व सांसारिक पदार्थों मे उपजे व गाढ़े बने मोह के कारण ही पैदा होता और पसरता है। तभी तो मै जीव को अजीव मान लेता था और अजीव मेरे लिये जीव से भी ज्यादा प्रिय हो जाता था। मन को मनोज्ञ लगने वाले अथवा पांचो इन्द्रियों को सुहावने प्रतीत होने वाले जड़ पदार्थ मुझे अपने महसूस होते थे जबकि मै निज गुणो को भुला देता था। तो मिथ्यात्व की यह विपरीत वृत्ति एव प्रवृत्ति पदार्थों के प्रति प्रगाढ़ मोह के गर्भ से ही जन्म लेती है।

और मोह मदिरारूप होता है जो मेरा भान भुला देता था। उन्मत्तता की दशा मे मेरे कदम उल्टे ही पड़ते थे—क्या तो जानने के मामलो मे और क्या मानने एव करने के मामलो मे। इस सम्वन्ध मे एक शरावी की दुर्दशा हम अपनी आखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से देख सकते है। शराव का नशा ही नही, उस नशे की खुमारी भी जव तक नहीं उतरती है, तव तक उसके साथ कोई अक्ल की वात करना आसान नही होता है। इसी प्रकार मोहग्रस्तता की याद भी मै कैसे रख सकता हू ? मोह के गाढ़े नशे मे मैं क्या सोचता था, क्या मानता था और क्या करता था यह मैं कुछ नहीं जानता। ज्ञानी जन ही जानते होगे अपितु ज्ञानी जन तो वता चुके है कि प्रगाढ़ मोह दशा मे मन मानस पर मिथ्यात्व हावी रहता है, इस कारण उस दशा मे सम्यक्त्व का वरण कठिन ही होता है। जव विचारो की दिशा सर्वथा वदलती है तव जाकर सम्यक्त्व का श्रीगणेश होता है।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर गति करने अथवा अपनी मिथ्या श्रद्धा एव अपने मिथ्या आचरण को सम्यक्त्वपूर्ण बनाने के पहले इस व्यापक चक्र को मैं समझ लू कि ससार से मोक्ष तक पहुँचने के लिये इस आत्मा को किस प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है तो उस ज्ञान के कारण सम्यक्त्व के क्षेत्र मे सक्रियता हेतु विशिष्ट दृढ़ता मुझे प्राप्त हो सकेगी। यही ज्ञान मुझे पदार्थ मोह से पृथक करेगा तो मेरी निष्ठा को मूल्यो के केन्द्र मे सस्थापित कर देगा। मुझे श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की एक बार शुभता प्राप्त हो—यह एक बात, किन्तु पदार्थों के प्रति प्रगाढ़ मोह के थपेड़ो से मै अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा करने मे समर्थ बन सकू तथा उस शुभता को बनाये रखू व बढ़ाता रहूँ यह दूसरी बात है। एक के बाद दूसरी स्थिति आवश्यक है, वरना मोह और मिथ्यात्व का दैत्य कभी भी मेरी शुभता का सहज ही मे अपहरण कर सकता है।

एक दृष्टि ससार से मोक्ष तक

मेरी भव्य आत्मा इन दोनो प्रक्रियाओं की कर्त्ता है कि वह इस ससार मे कर्मों के भार से दबी हुई रहे अथवा हलुकर्मी बनकर ऊर्ध्वमुखी हो जाय। इस प्रक्रिया के ही अग हैं कि आत्मा कर्मों का भार कैसे बढ़ाती है और अपने मन, वचन, कर्म को क्या अपरूप देती है अथवा इसके विपरीत वह अपने कर्म भार से हल्की कैसे हो सकती है और कैसे अपने मन, वचन, कर्म की शुभता साधकर सदा-सदा के लिये अपने मूल स्वरूप मे स्थित हो जाने हेतु मोक्ष के पावन प्रागण मे प्रवेश कर सकती है ?

पहले इस प्रक्रिया के प्रधान तत्त्वो को समझले। तत्त्व होता है वस्तु का सद्भाव एव उसका यथार्थ स्वरूप। ये तत्त्व सख्या मे नौ माने गये है (१) जीव - जिसे सुख-दु ख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, (२) अजीव - जड़ पदार्थ अथवा सुख-दु ख के ज्ञान एव उपयोग से रहित पदार्थ, (३) पुण्य - कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ, (४) पाप - कर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ, (५) आश्रव - शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का कारण, (६) सवर - समिति गुप्ति वगेरा से कर्मों के आगमन को रोकना, (७) निर्जरा—फल-भोग या तपस्या के द्वारा कर्मों को एक देश से क्षय करना, (८) बध—आश्रव के द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्धित होना तथा (९) मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा का निज स्वरूप मे लीन हो जाना।

इन नौ तत्त्वो के स्वरूप को कुछ विस्तार से समझे।

जीव तत्त्व ही ससार के रगमच का कलाकार होता है और रगमंच होता है अजीव तत्त्व का। रगमच का निर्माण, कला की विधाएँ और कला का प्रदर्शन—यह सब कुछ जीव तत्त्व करता है। क्योंकि जीव ही चेतना, एव उपयोग लक्षण वाला, सुख-दु ख का वेदक, पर्याप्ति एव प्राण का धर्ता, आठ कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता, सदा काल शाश्वत रहने वाला तथा कभी भी नष्ट नहीं होने वाला असख्य प्रदेशी तत्त्व होता है। जीव ही ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्म-वीर्य इन चार भाव प्राणो से भूतकाल मे जिया, वर्तमान काल मे जीता है तथा आगामी काल मे इन्हीं चार भाव प्राणो के साथ जियेगा और इसीलिये इसका जीव नाम है। जीव मुख्यत दो तरह के माने गये हैं—ससारी जो कर्म सहित है और सिद्ध जो कर्म खपा कर मुक्त हो गये है। ससारी जीव चौदह प्रकार के होते है —सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, तथा सज्ञी पचेन्द्रिय— इन सात की पर्याप्त एव अपर्याप्त दशा की दृष्टि से कुल चौदह प्रकार हो गये। विस्तार की अपेक्षा से जीव तत्त्व के पांच सौ त्रेसठ भेद किये गये हैं।

अजीव तत्त्व चेतना रहित व सुख-दु ख पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग आदि से भी सर्वथा रहित होता है। वह जड़ स्वरूप होकर विनाशी स्वभाव का होता है। इस ससार के सभी दृश्यो मे जीव तत्त्व के हाथो घड़ा जाकर यह अजीव तत्त्व ही दिखाई देता है तथा यही जीव—तत्त्व एवं ससार के ससरण का सम्बल बना हुआ रहता है। अजीव तत्त्व के चौदह प्रकार इस रूप मे माने गये हैं—धर्मास्तिकाय (गति) के तीन भेद स्कध, देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय (स्थिति) व आकाशास्तिकाय (अवकाश) के भी ये ही तीन-तीन भेद—इस प्रकार नौ तथा दसवा काल (समय-व्यतीति) — ये अरूपी अजीव के दस भेद तथा रूपी अजीव के चार भेद स्कंध, देश, प्रदेश, एवं परमाणु पुद्गल मिलाकर कुल चौदह भेद हुए।

पुण्य कर्म का बध कठिनता पूर्वक साधे गये सत्कार्यों से होता है किन्तु इसका उपभोग करना बड़ा ही सुखकारी रहता है क्योकि पुण्य का उदय होने पर अनुकूल परिस्थितिया तथा मनोज्ञ वस्तुएँ प्राप्त होती है। पुण्य—धर्म का सहायक भी होता है तो पक्ष्य रूप भी होता है। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है। जो निस्वार्थ भाव के आचरण से सपादित होता है। जैसे भोजन के लिये अन्न देने से होने वाला अन्न पुण्य, पीने के लिये पानी देने से होने वाला पान-पुण्य, स्थान और आश्रय देने से होने वाला लयन पुण्य, शय्या, पाटपाटला आदि साधन देने से होने वाला शयन पुण्य, वस्त्र देने से होने वाला वस्त्र पुण्य, दान, शील, तप, भाव, विनय और दया आदि की शुभता से होने वाला मन पुण्य, मुख से शुभ वचन बोलने से होने वाला वचन पुण्य, सेवा सुश्रूषा, विनय वैयावृत्य के शुभाचरण से होने वाला काय पुण्य तथा अधिक गुणवान को नमस्कार करने से होने वाला नमस्कार पुण्य।

पाप तत्त्व कर्म के रूप मे आत्मा को मलीन बनाने वाला, अशुभ योग से बांधने वाला एव दु.खो में पटकने वाला होता है। इस कर्म को आत्मा सासारिकता मे डूबी रह कर सुखपूर्वक वाधती है लेकिन इसे भोगना कठिन दु ख के साथ पड़ता है क्योंकि यह अशुभ प्रकृति रूप होता है तथा इसका फल भोग होता है अत्यन्त कटुक, कठोर और अप्रिय। आत्म स्वरूप को मलिन करने वाला यह पाप तत्त्व अट्ठारह प्रकार का वताया गया है—(१) प्राणातिपात —प्राणो को आघात पहुचाकर जीवो की हिसा करना, (२) मृषावाद—असत्य भाषण करना, (३) अदत्तादान— विना दी हुई वस्तु लेना, चोरी करना, (४) मैथुन—कुशील का सेवन करना, (५) परिग्रह —ममत्व भाव से द्रव्य आदि रखना, (६) क्रोध —खुद तपना, दूसरो को तपाना तथा कोपायमान होना, (७) मान —घमड करना, (८) माया— कपटाई और ठगाई करना, (९) लोभ—तृष्णा बढ़ाना और मूर्छा भाव रखना, (१०) राग—प्रिय व्यक्ति या वस्तु पर मोह व आसक्ति रखना, (११) द्वेष—अप्रिय व्यक्ति या अमनोज्ञ वस्तु पर विरोध का भाव रखना, (१२) कलह—क्लेश करना, (१३) अभ्याख्यान —झूठा कलक लगाना, (१४) पैशून्य —दूसरे की चुगली करना, (१५) पर-परिवाद—दूसरे का अवर्णवाद बोलना, और निन्दा करना, (१६) रति-अरति—पाच इन्द्रियों के तेवीस विषयो मे से मनोज्ञ वस्तु पर प्रसन्न होना और अमनोज्ञ वस्तु पर क्रोधित होना तथा धर्म मे अरुचि रखना, (१७) माया मृषावाद —कपट सहित झूठ वोलना एव (१८) मिथ्यादर्शन शल्य—कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखना।

आश्रव तत्त्व वह है जिसके द्वारा आत्मा मे कर्म आते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार एक तालाव मे उसके नालो द्वारा पानी आकर भरता है। आश्रव को नालो की सज्ञा दी जा सकती है जो वीस प्रकार के वताये गये है—(१) मिथ्यात्व—मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण का

सेवन करना, (२) अव्रत—व्रत नहीं लेना और किसी तरह का प्रत्याख्यान नहीं करना, (३) प्रमाद—पाच प्रकार के प्रमाद का सेवन करना, (४) पच्चीस प्रकार की कषाय का आचरण करना, (५) अशुभ योग—अशुभ योग मे प्रवर्तित होना, (६) प्राणातिपात—जीवो की हिसा करना, (७) मृषावाद—झूठ बोलना, (८) अदत्तादान—चोरी करना, (९) मैथुन—कुशील का सेवन करना, (१०) परिग्रह—द्रव्यादि रखना, (११) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयो को वश मे नहीं रखना, (१२) चक्षुरिन्द्रिय—दृश्य विषयो को वश मे नहीं रखना, (१३) घ्राणेन्द्रिय—सूंघने के विषयो को वश मे नही रखना, (१४) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयो को वश मे नही रखना, (१५) स्पर्शेन्द्रिय—स्पर्श के विषयो को वश मे नही रखना, (१६) मन—विचार के विषयो को वश मे नहीं रखना, (१७) वचन—भाषण के विषयो को वश मे नहीं रखना, (१८) काया—शरीर के विषयो को वश मे नही रखना—अर्थात् इनसे उत्पन्न राग द्वेषादि भावो से अपनी आत्मा को वश मे नहीं रखना। (१९) भड-उपकरण—पात्रादि को अयतना से लेना व अयतना से रखना एवं (२०) सुई—कुशाग्र वस्तु मात्र को अयतना से लेना तथा अयतना से रखना।

सवर तत्त्व आश्रव याने कि कर्मों के आने का निरोध करता है। जीव रूपी तालाव मे आश्रव रूपी नालो के द्वारा कर्म रूपी आते हुए पानी को रोकने हेतु सवर रूपी पाल बाधकर पानी उसे आने से पहले ही रोक दे, उसे सवर तत्त्व कहा गया है। उस के बीस वोल होते हैं —(१) सम्यक्त्व-सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण, (२) व्रत-प्रत्याख्यान—विभिन्न व्रत ग्रहण करना तथा त्याग करना, (३) अप्रमाद—प्रमाद का सेवन नही करना, (४) अकषाय—कषायपूर्ण आचरण नहीं करना, (५) शुभयोग—शुभ योगो मे प्रवर्तित होना, (६) प्राणातिपात—विरमण जीवो की हिसा नहीं करना, (७) मृषावाद—विरमण सत्य भाषण करना, (८) अदत्तादान-त्याग—चोरी नही करना, (९) अमैथुन—कुशील का सेवन नही करना, (१०) परिग्रह— परिमाण द्रव्यादि पर ममत्व भाव नही रखना (११) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयो पर अनाशक्ति (१२) चक्षुरिन्द्रिय —दृश्य विषयो पर आशक्त नही होना (१३) घ्राणेन्द्रिय—सूघने के विषयो में अनाशक्ति (१४) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयो मे अनाशक्ति भाव (१५) स्पर्शेन्द्रिय—स्पर्श विषयो पर आशक्त नहीं होना, (१६) मन—विचारो को वश मे रखना (१७) वचन को वश मे रखना, (१८) काया—शरीर को वश मे रखना, (१९) भड-उपकरण—पात्रादि को यतना से लेना व यतना से रखना, एव (२०) सुई कुशाग्र-वस्तु मात्र को यतना से लेना तथा यतना से रखना।

आत्मा से कर्म वर्गणा का देशत दूर होना निर्जरा तत्त्व कहलाता है। जीव रूपी वस्त्र के कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप तथा सयम रूपी साबुन से धोकर मैल को दूर करे—उसे निर्जरा तत्त्व कहते है। सवर से आते हुए पानी को रोककर तालाव मे भरे हुए पानी को वाहर निकालने का काम निर्जरा तत्त्व करता है। कर्मों की निर्जरा वारह प्रकार के सम्यक् तपाराधन से की जाती है — (१) अनशन—उपवास आदि, (२) ऊणोदरी—भूख से कम भोजन करना, (३) भिक्षा चर्या (वृति सक्षेप) अनेक घरो से ऐषणीय भिक्षा लाना व आहार करना, (४) रस परित्याग—रस (विगय) पूर्ण भोजन का त्याग करना, (५) कायाक्लेश—वीर आसन आदि शरीर की कष्टकर क्रियाए करना, (६) प्रतिसंलीनता—इन्द्रियो, कपायों व योगो को वश मे रखना, (७) प्रायश्चित —लगे हुए दोपो की आलोचना करना तथा प्रायश्चित लेकर आत्म स्वरूप को शुद्ध वनाना, (८) विनय—गुरु आदि का भक्ति पूर्वक अभ्युत्थानादि से आदर सत्कार करना, (९) वैयावृत्य—आचार्य आदि की सेवा सुश्रूषा

करना, (१०) स्वाध्याय —शास्त्रो की वाचना पृच्छना आदि करना, (११) ध्यान—मन को एकाग्र करके शुभ विचारो मे लगाना एवं (१२) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)—शरीर के योग व्यापार का त्याग करना।

जीव जब कषाय आदि के वशीभूत होकर कर्म पुद्‌गलो को ग्रहण करता है और आत्मा के प्रदेश तथा कर्मों के पुद्‌गल एक साथ दूध पानी की तरह मिल जाते है तथा लौह पिड व अग्नि के समान एकमेक हो जाते है तो इस प्रक्रिया को बंध तत्त्व कहते हैं। इस प्रक्रिया का एक दृष्टान्त दिया गया है कि जीव आठ कर्मों से बंधा हुआ होता है और जीव तथा कर्म एकमेक हो जाते हैं व दूध-पानी की तरह लोलीभूत हो जाते है। तब हंस पक्षी अपनी खट्टी चोच से दूध और पानी को एकदम अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार जीव रूपी हस सम्यक् ज्ञान रूपी चोच से जीव और कर्म के प्रदेशो को पूर्णतया पृथक-पृथक कर देता है। बध तत्त्व के चार भेद माने गये है—(१) प्रकृति वध—जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्‌गलो मे भिन्न-भिन्न स्वभावो वा शक्तियो का उत्पन्न होना, (२) स्थिति बध—जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्‌गलो मे अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हुए जीव के साथ वधे रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते है, (३) अनुभाग वंध —जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्‌गलों मे तर-तम भाव याने कि फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना। इसे रसवध भी कहते है, (४) प्रदेश बध —जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कधो का सम्वन्धित होना। इन चार प्रकार के बध का स्वरूप लड्डू के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि कोई लड्डू वहुत प्रकार के द्रव्यो के सयोग से वनाया गया, जो वात, पित्त या कफ को नष्ट करता हो, उसे प्रकृति वंध माने। वही लड्डू पक्ष, मास या दो मास तक उसी स्वरूप मे ताजा बना रहे—यह स्थिति बध हुआ। वही लड्डू तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे और मीठे रस युक्त हो, उसे अनुभाग बंध या रस वंध कहिये। वही लड्डू थोड़ी मात्रा का वधा हुआ छोटा होता है तो अधिक मात्रा का वधा हुआ बड़ा होता है तो वह प्रदेश वध है। प्रकृति वध और प्रदेश बध योग से होता है तो स्थिति बध और अनुभाग वंध कषाय से होता है।

मोक्ष तत्त्व है—आत्मा का कर्म रूपी वधन से पूर्णतया मुक्त हो जाना तथा सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशो से सभी कर्म पुद्‌गलो का क्षय हो जाना। आत्मा अमूर्त्त होने से इन्द्रियो की शक्तियो द्वारा नहीं जानी जा सकती है। आत्मा में पैदा होने वाले अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के दोषो से ही कर्मों का वध होता है तथा उसी कारण उसका ससार परिभ्रमण होता है। अत कर्म वध का सम्पूर्णत. समाप्त हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। यह मोक्ष चार साधनो से प्राप्त हो सकता है—(१) सम्यक् ज्ञान—सत्य जानकारी, (२) सम्यक् दर्शन—सत्य श्रद्धा, (३) सम्यक् चरित्र—सत्य आचरण एव (४) सम्यक् तप—सत्य तपस्या।

यह है एक दृष्टि मे ससार से लेकर मोक्ष तक की प्रक्रिया का विहगावलोकन। मैंने इस विवरण से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया है कि ससार मे जीव-अजीव सयोग के क्या-क्या परिणाम प्रकट होते है और उन परिणामो को ध्यान मे लेते हुए किस प्रकार संसार-परिभ्रमण के कारणो को मन्द एव समाप्त कर सकते है?

सासारिकता घटाई जा सकती है आत्म सयम से, तो मोक्ष की दिशा मे प्रयाण किया जा सकता है तपाराधन से! आइये, अव इन नौ तत्त्वो के पारस्परिक सम्वन्धो व प्रक्रियाओं को आत्म विकास की महायात्रा के सदर्भ मे समझे।

जीव और अजीव की प्रमुखता

मैं जीव तत्त्व हूँ, इस कारण मै देखता हूँ, सुनता हू तथा अन्य क्रियाएँ करता हूँ और देखकर, सुनकर तथा अनुभव लेकर जानने, उसका विश्लेषण करने तथा निरूपित सिद्धान्तो को समझने अथवा अपनी अनुभूतियो के बल पर नये सिद्धान्तो का निरूपण करने की क्षमता रखता हूँ।

मैं जीव हूँ इसीलिये अजीव नही हूँ और कभी अजीव बनूगा भी नहीं। जीव कभी अजीव नही बनता और अजीव कभी भी जीव नही बन सकता है। किन्तु मैंने अजीव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और यह सम्बन्ध ऐसा दिखाई देता है कि जैसे मै अजीव के साथ एकमेक हो गया होऊं। ससार के अन्यान्य अजीव द्रव्यो से तो अहर्निश का सम्पर्क होता ही है किन्तु अजीव पुद्गलो से बने हुए शरीरो को भी मै धारण किये हुए रहता हूँ। अनादिकाल से मै ससार मे परिभ्रमण कर रहा हूँ और अनादिकाल से ही शरीरो को धारण करता हुआ आ रहा हूँ अत जब तक मै पूर्णतया अजीव पुद्गलो से अपने सभी सम्वन्ध समाप्त नही कर लूगा तब तक विभिन्न शरीर धारण करता रहूगा।

मैं एक नही पुद्गल-निर्मित सभी प्रकार के शरीर धारण करता रहा हूँ। आज मै मनुष्य जन्म मे हूँ तो मैने मनुष्य जाति को प्राप्त होने वाले औदारिक शरीर को धारण कर रखा है। औदारिक नाम इस कारण कि इस शरीर के पुद्गल उदार प्रधान होते है। इस शरीर के अलावा दो अदृश्य शरीर—तैजस एव कार्माण शरीर भी मैने धारण कर रखे हैं। ये दोनो शरीर आपस मे सम्वद्ध होते हैं जिनका निर्माण तैजस एव कार्माण पुद्गलो से होता है। कार्माण पुद्गल जो विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से आत्म प्रदेशो के साथ जुड़ते है, उन्हे ही कर्म कहा जाता है। औदारिक शरीर तिर्यच और मनुष्य जाति के जीवो को प्राप्त होता है तो देवो व नारकीयो को प्राप्त शरीर वैक्रिय कहलाता है। आहारक पुदगलो से निर्मित शरीर को आहारक कहते है। औदारिक वैक्रिय तथा आहारिक शरीरो की नई उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य जाति मे औदारिक शरीर मिला हुआ है और यहाँ से मृत्यु पाकर आत्मा देव गति मे पहुँचती है तो उसे वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है—यह उस शरीर की नई उत्पत्ति हुई। किन्तु दो शरीर—तैजस और कार्माण सदा इन तीनो शरीरो के साथ मे भी रहते हैं तो एक शरीर छोड़ कर प्रयाण कर रही आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करे उस वीच के समय में भी आत्म प्रदेशो के साथ जुड़े हुए रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय मे भी मै तीन शरीर—औदारिक, तैजस एव कार्माण धारण किये हुए हूँ। मेरे इस वर्णन का आशय यह है कि जीव और अजीव का सम्वन्ध इस ससार मे प्रगाढ़ रूप से वना हुआ है।

इस वधन से मै जव कभी मुक्त होऊगा तव अपने शुद्ध स्वरूप मे मैं सिद्ध शिला से ऊपर सिद्धात्माओं की ज्योति मे ज्योंति रूप एकाकार होकर सदा काल के लिये अवस्थित हो जाऊँगा।

मेरे जीव तथा अन्य जीवो के विशिष्ट हेतुओं, स्वभावो तथा भावो की दृष्टि से भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किये जाते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार जीव दो तरह के ससारी और सिद्ध होते हैं तो ससारी जीव अपने आत्म विकास के विभिन्न स्तरो के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं —(१) सयत जो सर्व प्रकार के सावध-हिंसापूर्ण व्यापार से निवृत्त हो गये है एव सयम धारण किये हुए होते हैं, (२) असयत—जो अविरति भाव धारण किये होते है तथा सयम-विहीन रहते हैं एव (३) सयतासयत—जो देश से व्रती होता है ऐसे व्यक्ति के अव्रत की क्रिया नहीं आती। एक दूसरे

वर्गीकरण के अनुसार जीव पाच प्रकार के कहे गये है—(१) औपशमिक—प्रदेश और विपाक, दोनो प्रकार से कर्मों के उदय को रोक देने से सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम भाव से जो सहित होते है, (२) क्षायिक—घनघाती-कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेने पर क्षायिक भाव प्रकटाने वाले जीव। (३) क्षायोपशमिक —जो उदय मे आये हुए कर्म का क्षय करते है तथा अनुदीर्ण अश का उपशम करते है। (४) औदयिक भाव—जो यथायोग्य समय पर उदय मे प्राप्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वरूप से फल भोगते है तथा (५) पारिणामिक भाव, जो कर्मो के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष भाव स्वाभाविक तौर पर धारण किये रहते है। यह परिणमन जीवत्व भव्यत्व तथा अभव्यत्व के रूप मे स्था।ई होता है। अर्थात —जिसके कारण मूल स्वरूप मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव मे ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है।

मुझ जीव एवं मेरे से विपरीत अजीव मे पर्यायो का परिवर्तन अर्थात् परिणमन एक महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इस परिणमन क्रिया के कारण एक पर्याय छोड़ कर नवीन पर्याय धारण की जाती है। जीव में यह पर्याय-नवीनता, गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्य, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वेद के अन्तर से आती है तो अजीव तत्त्व मे बन्धन, गति, सस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु एव शब्द के अन्तर से आती है।

इसी सदर्भ मे मै सोचू तो जीव रूप से मै भी द्रव्य हू तो अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल के विभेद से भी द्रव्य ही है। गुण की अपेक्षा से द्रव्य तथा परिणमन की अपेक्षा से द्रव्य पर्याययुक्त होता है।

मै जीव द्रव्य हूँ जो गुण रूप से सदा शाश्वत रहने वाला हूँ किन्तु पर्याय रूप से मैंने भिन्न-भिन्न जीवनो मे भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त किये तथा अलग-अलग रूप मे सम्बोधित किया गया, उस कारण तथा एक ही जीवन मे भी अपने ज्ञान, उपयोग आदि भावो की दृष्टि से परिणमन एवं परिवर्तन होते रहते है जो पर्याय रूप होते है।

'मै' हू—यह अनुभूति ही मेरे जीव होने का प्रमाण है और यदि मैं अपने आत्मतत्त्व में सशय करता हू तो वह सशय भी सशयित तत्त्व के अस्तित्व को ही प्रमाणित करता है। फिर जीवित शरीर और मृत शरीर के बीच किस शक्ति का अन्तर रहता है? वह शक्ति ही आत्मा है। इसलिये मैं आत्म रूप हूँ—सरीर रूप नही। शरीर अजीव है—उसका जीवन मेरी आत्मा के सयोग से है —स्वतंत्र रूप से नही। मै जब तक वर्तमान शरीर मे हूँ तब तक ही शरीर सक्रिय है। मै अपना आयुष्य समाप्त होने पर जब उसको छोड़ दूगा तो यह निर्जीव हो जायगा और नष्ट कर दिया जायगा। आशय यह कि मेरे और अजीव शरीर के बीच मे या सशरीर मेरे और ससार के अन्य पदार्थों के बीच मे जो सम्बन्ध और सम्पर्क है, उसका संचालक मै हू —अजीव नही। जीव और अजीव के संचलन मे कर्त्ता की स्थिति जीव की ही होती है।

जीव के नाते मै ही ससार मे दिखाई देने वाली रचनाओं का रचयिता तथा विभिन्न निर्माणो का निर्माता हूँ। किन्तु मेरे द्वारा सब प्रकार की रचनाएँ तथा निर्माण तभी सभव होता है, जब मैं सशरीर होता हूँ। इस शरीर के साथ बधे होने की मेरी विवशताएँ भी अनेक हैं। मैं मोह की नींद मे सोता रहू। तो यह जड़ तत्त्व ही अपने मोहक रूपो मे मुझे मेरे मन और मेरी इन्द्रियो को भरमा देते है। मै अपने निजत्व में तभी आ सकता हूँ जब मै जाग जाता हूँ और अपने शरीर, अपने वचन तथा अपने मन व अपनी इन्द्रियो को अपने नियत्रण मे ले लेता हूँ।

अत वास्तविकता यह है कि असली सचालक और कर्त्ता मै हूँ और अजीव तत्त्व को मै अपनी सेवा मे धर्माराधना के निमित्त से लगाता हूँ। यदि मैं स्वस्थ रहकर अपने नियत्रण को प्रभावी बनाये रखता हूँ तब तो सारी व्यवस्थाये सुचारू रूप से चलती है। उस अवस्था मे वर्तमान मे प्राप्त इस मानव तन का भी आत्म विकास की महायात्रा में भलीभाति सदुपयोग कर सकता हूँ। किन्तु यदि मै ही मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त बन जाता हूँ और अपने मन व अपनी इन्द्रियो को बाहर बहक जाने से काबू मे नही कर पाता हूँ तो मै हकीकत मे दोष अपना ही मानता हूँ, अपने इन सेवको का नही। स्वामी ही सावधान नहीं रहेगा तो सेवक भला क्योकर सावधानी रखेगे ?

ससार के समस्त गति चक्र एव कार्य-कलापो मे जीव तत्त्व ही प्रधान होता है किन्तु इस जीव (संसारी) तत्त्व की गति, स्थिति आदि सब अजीव से सम्बन्धित होती है अत· जीव और अजीव दोनो तत्त्वो की प्रधानता स्वीकार करनी होगी। जीव (ससारी) है किन्तु उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रकटीकरण अजीव के माध्यम से ही होता है। अत· सम्पूर्ण दृश्य जगत् न किसी एक ईश्वर की अथवा अन्य किसी विशिष्ट शक्ति की रचना है बल्कि जीव एव अजीव तत्त्वो के सयोग का ही प्रतिफल है।

मै इस ससार का केन्द्र हूँ अजीव तत्त्व के सयोग से किन्तु यह सयोग मेरे लिये एक बंधन है जो मुझे दु ख भरे इस ससार मे ही रोक रखना चाहता हैं जबकि मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि मै इस बधन को तोड़कर अपने आत्मस्वरूप को परम निर्मलता की ओर ले जाऊँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मै अपने जीव-अजीव सयोग को कमजोर बनाऊँ और अपने सयम व तप से सम्पूर्ण सयोग विच्छेद का पुरुषार्थ करू। मै जव अपना सम्पूर्ण अजीव-सयोग समाप्त कर दूगा तो मै अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर लूगा। मेरी आत्म-विकास की महायात्रा तव सम्पन्न हो जायेगी।

कर्म-वंध का विश्लेषण

किन्तु जब तक मै ससार मे ही परिभ्रमण करता रहता हूँ एव विभिन्न जीवनो मे विविध शरीरो मे स्थित होता रहता हूँ तब तक सम्पूर्ण पर्यायो का निर्माता यह कर्म बन्ध ही वनता है अत कर्म बध की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझना आत्म स्वरूप को समझने की पहली सीढ़ी होगी।

मैं जीव होता हूँ और मेरा शरीर अजीव, किन्तु दोनो के सयोग से नाना प्रकार की वृत्तियाँ एव प्रवृत्तियाँ जन्म लेती है तथा उनसे विविध क्रियाएँ फूटती हैं। ये समस्त क्रियाएँ शुभता अथवा अशुभता या मिश्रित रूप मे अपना प्रभाव आत्मा पर अवश्य छोड़ती हैं। जव एक ईश्वर जैसी कोई शक्ति ससार की रचना करने वाली अथवा सासारिक जीवो को सुख-दु ख का भोग देने वाली नहीं होती है तो निश्चय ही कोई दूसरी व्यवस्था होगी जो जीव को उसके शुभ अथवा अशुभ कार्यो का प्रतिफल देती होगी। यह जिज्ञासा सही है और मेरा कहना है कि वह व्यवस्था ही कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था है। फिर पूछा जा सकता है कि इस व्यवस्था का सचालन कौन करता है ? इसके उत्तर मे मैं कहना चाहूगा कि यह व्यवस्था इस प्रकार स्वय सचालित है कि उस के मर्म को समझने पर सव कुछ स्पष्ट हो जाता है।

मै जीव हूँ सो मैं ही कर्मो का कर्त्ता तया मै ही उनके फलाफल का भोक्ता भी हूँ। यह करने और भोगने का क्रम इतना व्यवस्थित है कि करने पर उसका फल भोगना ही पड़ता है, चाहकर भी कोई जीव उससे छूट नहीं सकता। एक दृष्टान्त लेले। कोई व्यक्ति अपने वदन पर अच्छी

तैल मालिश करके रेत मे लेट जाय तो उसके बदन पर रेत के कण चिपक जायेगे अथवा नहीं। वैसे ही रेत के कण चिपकेगे जैसी रेत मे वह लेटेगा। कण भूरे होंगे, लाल होगे या काले होगे तो उसी रंग के कण उसके वदन पर चिपकेगे। फिर वे कण गरम होगे तो उसे ऊष्णता का अनुभव देंगे। ठंडे होगे तो शीत का और तीक्ष्ण होगे तो चुभन का। एक बार वे कण शरीर के चिपक जायेंगे तो उन्हे जल आदि से धोने पर ही शरीर से अलग कर सकेगे। तो यह सारी चिपकने की और ऊष्णता, शीत या चुभन का अनुभव देने की क्रिया किसने की ? साफ है कि रेत के कणो ने। तो क्या रेत के कण जीव होते है ? यह भी साफ है कि जीव नही होते अजीव होते हैं किन्तु तैल के संसर्ग से अजीव रेत के कण सक्रिय हुए। तो वताइये कि इस सारी क्रिया का सचालन किसने किया ? क्या इसमे किसी परमात्मा का कार्य है ? नहीं।

ऐसी ही व्यवस्था कर्म सिद्धान्त की है। मै इसका सक्षिप्त विश्लेषण अपने ही उदाहरण से करता हॅू। मै सशरीरी हॅू अत जीव-अजीव सयोग रूप हूँ और उसी कारण नाना प्रकार की क्रियाएँ करने मे समर्थ हॅू। समझिये कि मैने अपनी एक क्रिया से किसी जीव को सताया तो इसमे जो तत्फलस्वरूप मुझे पाप कर्म का बध होगा। यह वंध कैसे होगा ? मै बता चुका हूँ कि मेरे औदारिक शरीर के साथ तैजस और कार्माण शरीर भी जुड़े हुए है। यह कार्माण शरीर ही मेरे आत्म प्रदेशो से सम्वद्ध कर्म समूह का पिड है। कर्म परमाणु स्कध स्वय अजीव होते है जो आकाश मे फैले हुए होते है। जिस तरह का मैने कार्य किया है, वैसे ही कर्म पुद्‌गल क्रिया होने के साथ ही मेरे आत्म प्रदेशो के साथ बध जाते है। कर्मयोग्य पुद्‌गल, मेरी आत्मा के साथ सवद्ध होकर कर्म रूपता की सज्ञा पा जाते है। मैने हिसा रूप पाप कार्य किया है तो पाप कर्म बंधेगे और यदि दयापूर्वक किसी प्राणी की रक्षा का शुभ कार्य किया है तो सम्यक् दृष्टि के सकाम निर्जरा एव पुण्य बन्ध प्रसंग भी उपस्थित हो सकेगा जिस प्रकार तैल मालिश किये हुए वदन पर उपलब्ध रेत के कण स्वयमेव ही चिपक जाते है। ये कर्म समूह कार्य की सघनता-जन्य भावो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्थिति, रस अथवा प्रदेश की तारतम्यता से वधते है। गाढ़ा तैल लगा हुआ होगा तो ज्यादा रेत के कण मजवूती से चिपकेगे और मामूली तैल होगा तो चिप कर जल्दी छूट भी जायेगे। ऐसी ही तारतम्यता इन कर्मों की होती है, जितनी कालावधि के लिये इनका वध होता है, उसके पूर्ण होने पर ये वधे हुए कर्म उदय मे आते है और अपना शुभ अथवा अशुभ फल जीवात्मा को देते है। कर्मों की यह व्यवस्था इतनी सुघड़ है कि ये महान् से महान् आत्मा को भी नहीं वख्शते। वीतरागता और उसके वाद आत्मा जव क्रिया करना ही छोड़ देती है, तभी ये कर्म पिड छोड़ते है। किन्तु जव तक संसार मे भटकाव है, जीव की प्रत्येक क्रिया तदनुरूप कर्म से आत्मा को आवद्ध करती ही है। कर्म वध से कोई भी ससारी जीव वच नहीं सकता है, वल्कि अपने कर्मानुसार वह भिन्न-भिन्न गतियो मे भ्रमण करता है तया भिन्न-भिन्न परिस्थितियो का अनुभव लेता है। यद्यपि जीव ही अपने कर्मो का कर्त्ता होता है फिर भी अपने कर्म योग पर उसका कोई वश नहीं होता। अपने कर्मों के फल उसे अपने वाधे हुए कर्मो के अनुसार ही भोगना होगा। निकाचित कर्मों मे तो तनिक भी परिवर्तन नहीं कर सकता है। किन्तु कर्मों का कर्ता होने से जीव ही स्वय अपने भाग्य का निर्माता भी है।

मै कर्मों का कर्ता हू क्योंकि मेरे द्वारा की जाने वाली क्रियाओं पर मेरा वश होता है। जैसी मेरी विचारणा होती है, वेसी ही क्रिया होती हे अथवा मैं अपनी विचारणा को शुभ रूप भी दे सकता हूँ तो अशुभ रूप भी। यदि मैं चाहूँ तो शुभ क्रियाए करू और पुण्य कर्म वांधू जो मुझे शुभ

फल देवे। इसके विपरीत यदि मै अशुभ क्रियाएँ करूँ तो उनसे पाप कर्मो का बध अवश्य होगा। तो जहॉ तक विचारणा बनाने और क्रियाएँ करने का सम्बन्ध है, मै ही अपने भाग्य का निर्माता होता हूँ। जैसी क्रियाएँ मै करूँगा, वैसे की कर्म बधेगे। जैसे कर्मो का बधन होगा, वैसा ही फल आगे मुझे भोगना पड़ेगा। फल भोग मे मैं स्वतत्र नही हूँ किन्तु क्रियाएँ करने मे स्वतत्र हूँ। इस कारण आज जब मुझे सुख के साधन और धर्माराधन की अनुकूलताएँ प्राप्त होती है तो मुझे यही अनुभव होना चाहिये कि पहले शुभ कार्य करके मैंने अपने भाग्य का शुभ निर्माण किया जिसका शुभ फल आज मुझे मिल रहा है। इसके स्थान पर आज यदि मुझे दु'खो का सामना करना पड़ रहा है तो उसके पीछे का तथ्य भी अपने पहले बाधे हुए कर्म ही होगे, अत ये दु ख भी मेरे अपने ही बनाये हुए हैं। सभी स्थितियाँ पूर्व कर्म फल के परिणाम स्वरूप ही हो—ऐसी भी वात नहीं है। हम अपनी नवीन क्रियाओं से भी नये कर्मों की बध करते रहते हैं।

कर्म बध की प्रक्रिया के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जीव व अजीव के सयोग से जीव की जो क्रियाएँ होती है वे क्रियाएँ ही कर्म बध का कारण बनती हैं। कर्म बध के अनुरूप ही जीव को उसका फल भोगना होता है। क्रियाएँ करने तक जीव की अपनी स्वतत्रता होने के कारण वह चाहे जैसा अपना भाग्य बना सकता है। बाद मे फल भोग के समय उसको चौकना नही चाहिये, वल्कि उसे धैर्य और शान्ति से सहन करना चाहिये ताकि इस शुभ क्रिया से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने के साथ नवीन कर्मो का वधन हो और अगर वन्ध हो भी तो शुभ योग कारण के रहने से पुण्य कर्म का ही बन्धन होवे।

कर्मो की यह सारी व्यवस्था इतनी सुघड़, सम्प्रभावी तथा वैज्ञानिक है कि इसका गहराई से अनुभव करते हुए आत्मा-विकास की महायात्रा को सफल बनाया जा सकता है। बशर्ते कि हम इस सिद्धान्त के मर्म को हृदयगम करे।

कर्मों का आगमन, अवरोध एवं क्षय

जीव अजीव सयोग से कर्म बध की प्रक्रिया का कुछ विश्लेषण मैने किया तो मै इस तथ्य को भी स्पष्ट करू कि कर्म वध को हटाने मे भी जीव का पुरुषार्थ सफल हो सकता है। मै कर्मों का कर्त्ता हूँ और कर्त्ता बनने तक मेरी स्वतत्रता है, पर भोक्ता होना लगभग कर्मानुसार होगा ही। मैं कर्म भार से दवा हुआ हूँ किन्तु यह नही है कि मै एकदम परवश ही हो गया हूँ। उस भार को अपने पुरुषार्थ से मै हटाने मे भी समर्थ हूँ। या यो कहूँ कि अगर मेरा सकल्प, साहस और पुरुषार्थ सक्रिय है तो मै किसी भी स्तर पर पराधीन याने कि कर्मों के अधीन नही हूँ। मैं अपने कर्म वध को उनके उदय होने से पहले भी क्षय भी कर सकता हूँ। पुरुपार्थ की कुछ कमी रहे तो उसे दवा सकता हूँ—उपशायित कर सकता हूँ। और यह तो है ही कि मै आने वाले कर्मों को पहले ही अवरुद्ध भी कर सकता हूँ।

अत' वस्तुत मै सजग आत्म स्वरूप के नाते हर समय स्वतत्र हूँ —परतत्र कभी भी नहीं, कहीं भी नहीं। मैं प्रवुद्ध हूँ सदा जागृत हूँ तो सदा स्वतत्र हूँ परन्तु यदि मै प्रवुद्ध भी नहीं हूँ और सदा जागृत भी नही हू तो प्रति क्षण कर्मों की मार से पराधीन एवं पीड़ित भी रहूंगा ही। कारण पाप कर्मो को वेमानी मे हसते-हसते वाध लूगा लेकिन जव उनका अशुभ फल भोगूगा तव फिर वेमानी मे दु ख सहते हुए हाय-विलाप करूगा जिससे फिर नये अशुभ कर्मों का वध कर लूगा। मेरा

अज्ञान और मेरा मोह मुझे कर्म बध की ऐसी जटिल शृंखला से बाध देगा कि मेरा उससे छुटकारा वहुत ही कठिन हो जायगा। यही कारण है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण किसी भी विकासशील आत्मा के लिये अनिवार्य है। सम्यक्त्व है तो यही समझ है और सही समझ है तो मानिये कि उन्मुक्त विकास है।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मै प्रवुद्ध हूँ—सदा जागृत हूँ। यह बुद्धि और जागृति मुझे हर समय कर्म वध के प्रति सावधान बनाये रखती है। मैं अपनी प्रत्येक क्रिया की शुभता और अशुभता के विषय मे बहुत सतर्क रहता हूँ। यही सतर्कता मुझे अपनी मन, वचन तथा कर्म पर अपना नियत्रण बनाये रखने मे सक्षमता प्रदान करती है। इस सक्षमता के बल पर ही मैं अपनी स्वतंत्रता को वनाये रखता हूँ, तभी हकीकत मे मै अपने 'मै' पन की सच्ची अनुभूति लेता हूँ।

जब मेरा 'मै' सावधान, सतर्क और स्वतत्र होता है तो वह कर्मों के आगमन का अवरोध, उपशम एवं क्षय करने के लिये भी अपना सामर्थ्य संचित करता है।

मै जान चुका हू कि जब भी मै किसी प्रकार की क्रिया करता हूं तो तदनुकूल कर्मों का मेरे आत्म प्रदेशो के साथ बध होता है। और यह क्रियाओं का कर्म अविराम गति से मेरा चलता रहता है —कभी भी एक पल के लिये भी यह क्रम रुकता नही है। मै एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता हूँ। यदि मैं कोई शुभ क्रिया करता हूँ तो पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है तो कभी पुण्य रूप शुभ कर्म का बध होता है और यदि मै कोई अशुभ क्रिया करता हूँ तो पाप कर्म का बध होता है। शुभ कर्म का वध मुझे शुभ फल देने वाला वनता है तो अशुभ कर्म के वध से मुझे अशुभ फल मिलता है। और एक बार कर्म बंध होने के बाद उसका शुभाशुभ फल मुझे भोगना ही पड़ता है। शुभ फल मे मुझे सुविचारणा, शुभ वचन तथा शुभ साधनो का सयोग मिलता है जिनकी सहायता से मै अपने आत्म-विकास के महत्कार्यों मे अधिक सक्षम तथा सामर्थ्यवान वनता हूँ।

किन्तु मेरा अशुभ फल मुझे अधिक अशुभता मे घसीटता है। यदि मेरी सावधानी नहीं जगे तो अशुभता का घनत्व निरन्तर वढ़ता जाता है जिसके कुफल स्वरूप मेरी अशुभ कर्म-वद्धता अधिकाधिक घनीभूत होती जाती है और मै अधिकाधिक दु.खो से घिरता हुआ चार गति, चौरासी लाख जीवयोनियो मे परिभ्रमण करता रहता हूँ। अत मेरी सावधानी के साथ मेरा यह निश्चय वनता है कि मै वंधते हुए कर्मों का अवरोध करूं। यह बात मुख्य रूप में अशुभ कर्मों के सम्वन्ध मे है। मै सकल्पवद्ध होकर प्रत्येक क्षण अपनी क्रियाशीलता के विषय मे यह ध्यान रखता हूँ कि वह अशुभता से दूर रहे। मै सत्कार्यों मे ही संलग्न रहूं, सत्वचन ही अपने मुह से निकालूं तथा शुभ ध्यानो मे ही अपनी चेतना को केन्द्रित करू—इसका पक्का खयाल रखता हूँ। यह खयाल ही मुझे अशुभ कर्मों के वध से वचाता है। इससे अशुभ कर्मों का अवरोध होता है। यह मेरी अवरोध शक्ति जितनी अधिक वढ़ती है, मै अपने आत्म प्रदेशो को अशुभ कर्म सलग्नता से रक्षित वनाता जाता हूं।

अशुभ कर्मों के अवरोध मे जव मुझे सफलता मिलने लग जाती है तव मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने आत्म प्रदेशो के साथ पहले से सलग्न कर्मों को भी समाप्त करना आरभ करूँ ताकि मेरी आत्मा हलुकर्मा वनने लगे। यह शुभ कार्य मैं संयम की साधना एव विविध प्रकार के तपो की आराधना के माध्यम से करना चाहता हूँ। मेरा सयम जितना सशक्त वनता है और तपाराधन जितना कठोर होता है, मेरे वधे हुए कर्म या तो दवने लगते है या धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त

होने लगते है। इस प्रक्रिया को उपशम या क्षम कहते है। कर्मों के उपशम की क्रिया भी अधूरी कहलाती है क्योंकि पूर्ण क्षय के बिना पूर्ण आत्म-विकास सभव नही होता है। राख के ढेर के नीचे दबे हुए अगारे कभी भी उघड़ जाने पर तथा हवा का बहाव पाने पर फिर से भड़क सकते है और फिर से जल व जला सकते है अत उन अगारों को पूरी तरह बुझाये बिना निश्चिन्तता नहीं ली जा सकती है। उसी प्रकार उपशमित कर्मों की अवसर पाकर पुन सक्रियता ग्रहण करने की आशका बनी रहती है, इस कारण लक्ष्य को कर्म-क्षय के हेतु केन्द्रित कर लेना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ।

इस श्रेष्ठ लक्ष्य से अनुप्राणित होकर मैं अहिसा, सयम और तप रूप धर्म की साधना को अधिक सशक्त बना लेता हू। सासारिकता के स्पर्श मात्र से तब मै चौंकने लग जाता हूँ और मुनि धर्म की सजगता को आत्मसात कर लेता हूँ। तब मेरी सुखद कामना बनती है कि मैं अशुभ कर्मों की तरह शुभ कर्मों का भी क्षय करने लगूँ। सम्पूर्ण कर्म-क्षय मेरा, अटल और अन्तिम ध्येय बन जाता है क्योंकि मै जानता हूँ कि सम्पूर्ण कर्म क्षय के पश्चात् ही चेतन-जड़ सयोग से सम्पूर्ण मुक्ति हो सकती है। इस सम्पूर्ण मुक्ति को ही मै मेरा मोक्ष मानता हूँ जब मेरी आत्मा सदा सर्वदा के लिये सिद्ध अवस्था में अवस्थित हो जायगी तथा ज्योति-रूप बन जायगी।

पाप-पुण्य मीमासा

अपने मोक्ष के सदर्भ मे मुझे पाप पुण्य की सम्यक् मीमासा कर लेनी चाहिये ताकि आत्म विकास का मेरा ध्येय अटल वन सके।

पाप-पुण्य के सम्वन्ध मे एक तथ्य को मै पहले जान लूँ। मै समझू कि यह ससार एक महासागर के समान है जिसको पार करके मुझे दूसरे किनारे पर रहे हुए सिद्ध स्थल पर पहुँचना है। वर्तमान मे मेरे आत्म-प्रदेश आठो कर्मों के जटिल बधनो से बधे हुए हैं। ये वधन इतने जटिल है कि मै महासागर के अतल जल मे डूबता उतरता हूँ किन्तु अपनी तैरने की शक्ति का उपयोग भी नही कर पाता हूँ। तव मेरे विचारो मे यह सत्य उभर कर ऊपर आता है कि मै तैरने की तनिक कोशिश भी तभी कर सकता हू जब मेरे ये बधन कम से कम कुछ तो ढीले हो। उस समय का मेरा अनुभव इतना कटुक और दु खदायक होता है कि मैं इस महासागर मे गुलाचे खाने के साथ मगरमच्छो और भयानक जन्तुओं अथवा तूफानो के रूप मे आते हुए भीषण खतरो को निरीह दृष्टि से देखता हू , उन खतरो मे बुरी तरह क्षतविक्षत होता रहता हूँ किन्तु जटिल बधनो के कारण अपने को वचा नही पाता हू।

मेरी ऐसी दुरवस्था ही मेरी जागृति का कारण वनती है। तव मै सोचता हू कि अव भी मै अपनी अज्ञान एव मोह ग्रस्त क्रियाओं के सम्वन्ध मे सतर्कता वरतू और उन क्रियाओं की पुनरावृति को जितनी रोक सकू, रोकने का सत्प्रयास करू। मेरा यह सत्प्रयास पाप कार्यों को समझ कर उनमें प्रवृति रोकने से प्रारभ होता है। पाप कार्यों का अठारह प्रकार का जो वर्गीकरण मैने ऊपर वताया है, उसी पर मै क्रमिक रूप से चिन्तन करना चाहता हू कि कैसे अपने दैनिक जीवन में उनसे जितना अधिक हो सके वचता हुआ चलू।

पापो और महापापो मे पहला पाप स्थान माना गया है हिसा को, इसी कारण अहिसा को परम धर्म का नाम दिया गया है। महापाप की सम्पूर्ण निवृत्ति से ही परम धर्म की प्राप्ति हो सकती है। हिसा की व्याख्या की गई है—प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिसा। मैं जव सासारिक जड़ पदार्थों

की प्राप्ति की दिशा मे अत्यन्त मोह-ग्रस्त बनकर प्रवृति करता हूँ तव मेरे मन-मानस पर प्रमाद की प्रमत्ता छा जाती है। मै वेभान हो जाता हू और इतना तक नहीं देख पाता हूँ कि मै अपनी किस क्रिया से कितने अन्य प्राणियों का वध कर रहा हूँ—उनका छेदन-भेदन कर रहा हूँ —उनके प्राणो (दस प्राण) को कष्ट पहुँचा रहा हूँ—उन पर शासन करके उनको अपने अधिकार में ले रहा हू अथवा उनको हैरान और परेशान कर रहा हूँ। प्रमाद का ऐसा ही घातक प्रभाव होता है जिसमे मेरी चेतना शून्य सी वन कर इन्द्रियो के विषय-विकारो मे रत बन जाती है। ऐसी मन-स्थिति मे मै जीव कर्म वध का मादक भार एकत्रित कर लेता हूँ।

मै जानता हूँ कि हिंसा का जन्म और विस्तार मेरे प्रमाद-योग से होता है। हिसा के जितने निकृष्ट रूपो को मै समझता हूँ तभी मेरे जागरूक ध्यान मे अहिसा के उत्कृष्ट रूप भी तैरने लगते है। मै जव किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय ,मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य पर आघात करता हूँ और उसकी उससे पैदा होने वाली तड़पन को देखता हूँ तो मेरे अन्त करण मे करुणा की लहरें भी उठने लगती है। किन्तु जव तक प्रमाद योग का मेरे मन मानस मे प्रचंड रूप बना हुआ रहता है तव तक मै उन प्राणियो की तड़पन मे सुखानुभव भी करता हूँ और अट्टहास करता हुआ यह घमड करता हूँ कि मै कितना महावली हूँ। यह मेरा सुखाभास घृणित ग्लानि मे बदलने लगता है जब मै कुछ सचेतन होकर करुणा-भाव की प्रतीति लेता हूँ। किन्तु मेरी ऐसी परिणति तभी उभर सकती है जब मै मिथ्यात्व के अधकार से निकल कर सम्यक्त्व के आलोक मे गमन करने का सकल्प लेता हूँ।

सामान्यतया जव मै अठारहो पापो मे रचापचा रहता हू तव हिसा के क्रूर कार्य मुझे दूसरे पापो के पक मे घसीटते रहते है। मै हिसक होता हू तो असत्यभाषी भी वन जाता हूँ। नि शक होकर झूठ वोलता हूँ और झूठा आचरण करता हूँ जैसे कि मुझे अपनी इन दुष्प्रवृत्तियो का कोई कुफल भोगना ही नही पड़ेगा। हिसा और झूठ से लैस होकर तव मै चौर्य कर्म मे प्रवृत्ति करता हू। दूसरों द्वारा न दी हुई वस्तु को लेने की वात तो छोड़िये, मै जोर-जवरदस्ती से दूसरे प्राणियो को प्राप्त वस्तुओं को छीन लेता हूँ और उनको वस्तुओं के अभाव मे पटक कर दु खित व पीड़ित वना देता हूँ। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था मे तो मै अपना वैभव और ऐश्वर्य अशक्त प्राणियो का शोपण करके प्राप्त करता हूँ क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि यदि सवको अपने निर्वाह के लिये नीतिपूर्ण श्रम करना हो तो उससे निर्वाह तो हो सकता है लेकिन सचय सभव नही। आज कुछ हाथो मे अपार परिग्रह सत्ता और सम्पदा का जो सचय दिखाई दे रहा है, वह अधिकांश रूप शोषण के क्रूर कर्म से - अपने लाखो करोड़ो साथियों के उत्पीड़न से किया जाता है। यह सव अदत्तादान अथवा चौर्य कर्म का पाप है। मेरा दुष्टतापूर्ण अनुभव है कि जव-जव मै हिसक, झूठा और चोर वना हू और मोह-प्रमत्त वनकर परिग्रह का सचय जुटा सका हूँ तव-तव मैं सासारिक सुखो के पीछे पागल होकर भागा हूँ और सवसे पहले इन्द्रियो के तेतीस विपयो मे लिप्त हुआ हूँ, जिसका मोहित कर देने वाला सवसे वड़ा रूप रहा है मैथुन। तव मैने ब्रह्मचर्य को कुछ भी नहीं समझा तथा अपनी प्राप्त शक्तियो को कुशील सेवन मे लगाने लगा। काम भोगो को ही मैंने सुख माना और वार-वार दु खी होते हुए भी इसी सुख के लिये दौड़धूप की। मैथुन के साथ परिग्रह के सचय मे मैंने अपार आसक्ति भी अपने मन मे जमा करली। इस प्रकार इन पाच महापापो का मैं पुतला वन गया।

महापापी वनकर मैं पाप पंक मे गहरे से गहरा धसता ही चला गया। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के विकार मुझे क्रोध, मान, माया और लोभ के विकार-क्षेत्र

मे ले गये। मै हर बात पर क्रोध करने लगा क्योकि मुझमे अपने वर्चस्व व अधिकारो का मान समा गया था। इसके साथ ही अपने उस झूठे मान को बनाये रखने के लिये मै कपट पूर्ण चेष्टाए करके माया का आचरण करने लगा। सासारिक उपलब्धियो मे इन दुष्टतापूर्ण वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के सहारे मुझे ज्यो-ज्यो लाभ होने लगा, त्यो-त्यो मेरा लोभ भी बढ़ता गया। लोभ बढ़ता और मै अधिकाधिक लाभ पाने की लालसा से पापपूर्ण कार्यों मे अधिकाधिक दुष्टता से जुट पड़ता। मेरी सज्ञा-शून्यता लालसाओं की भड़कती हुई उस आग मे घी का काम करती।

तब मन के गहरे कोनो मे उभरती थी इस ससार मे मुझे डुबोये रखने वाली मूल कुवृत्तियाँ— राग और द्वेष। जो मेरे मनोज्ञ सम्बन्ध और पदार्थ होते, उनसे मै गाढ़े राग-भाव से जुड़ जाता। तभी प्रकट होती उसकी प्रतिक्रिया रूप द्वेष की दुर्भावना। जो सम्बन्ध और पदार्थ मेरे लिये अमनोज्ञ अनचाहे होते उनके प्रति मै द्वेष से भर उठता और उन लोगो के प्रति भी जो मेरी मनोज्ञता-लालसा याने कि चाहत का विरोध करते, उसमे बाधा डालते अथवा मेरे वर्चस्व के विरुद्ध सामने खड़े होते। राग और द्वेष के भावो मे मै इतना आन्दोलित और कम्पायमान हो जाता कि एक पल भी मै इन वृत्तियो से विलग नही हो पाता। हर समय मुझे यही सोच लगा रहता कि किस प्रकार मै अपने चहेतो (व्यक्ति सम्बन्ध या पदार्थ) की रखवाली करूँ और कैसे अपने विरोधियो का सर्वनाश कर डालू। यही घात-प्रतिघात अहर्निश मेरे मन-मस्तिष्क मे चलता रहता और उसके मारक तनावो को भोगते हुए भी मैं राग-द्वेष की वृत्तियो को छोड़ नहीं पाता तथा उनसे सचालित होने वाली प्रवृत्तियो के दबाव को मिटा नही पाता।

मैं अपनी ऐसी कलकित मन स्थिति मे कलह के अलावा और क्या करता ? रातदिन अपनी अशुभ वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे फसा रह कर सब ओर कलह और क्लेश मे लगा रहता। अपने स्वार्थों पर पड़ने वाली जरा सी चोट से भी मै बिलबिला उठता और दूर के ही लोगो से नही वल्कि अपने खून के रिश्तो से भी भयकर कलह करता। मेरे स्वार्थों की घृणित पूर्ति मे आड़े आने वाले लोगो पर झूठे कलक (अभ्याख्यान) लगाता, दूसरो की चुगली (पैशुन्य) करता, उनकी छल छद्म से भरी निन्दा (पर परिवाद) करता और अपनी पाचो इन्द्रियो के तेवीसो विषयो की मनोज्ञता से खुश होता रहता तो उनकी अमनोज्ञता से कुपित बना रति और अरति के पाप मे डूवा रहता। मुझे सुरीला सगीत सुनने को मिलता तो खुशी से चहक उठता लेकिन कड़वी आवाज सुनकर अप्रसन्न हो जाता। आखो से काम-भोगो को उकसाने वाले सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ते तो मै मुदित हो जाता लेकिन कुरूपता को देखकर भड़क जाता। सुगधियो की साँसे लेकर मै आनन्द मानता तो दुर्गंध से नाक-भीं सिकोड़ लेता। रस भरे पदार्थों को मैं चटखारे ले लेकर खाता तो अस्वाद पदार्थों को सामने पाकर क्रोध से भर उठता। इसी प्रकार स्पर्श सुख के हिडोले मे झूलते हुए मै स्वर्गीय सुखो की मस्ती मानता तो वैसी सुख सामग्री न मिलने अथवा छिन जाने पर मै सन्ताप और विक्षोभ से भर उठता। रति-अरति के इस पाप से मै भ्रमित वना रहता और धर्म मे कोई रुचि नही लेता। अपनी रति-अरति के स्वार्थों मे कपट सहित झूठ (माया मृषावाद) वोलने की जैसे मेरी आदत ही वन गई थी। और मेरी इस निकृष्टता का मूल कारण था मिथ्या-दर्शन शल्य याने मन, वचन एव कर्म का मिथ्यात्व जो मुझे कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के कुचक्रो मे उलझाये रखता था।

आज मुझे मेरी उन कुवृत्तियो पर कठोर पश्चात्ताप होता है कि इन कुचक्रो के कुफल-स्वरूप मै उस तरह के व्यवसाय करता था जो व्यक्ति-हित एव समाज व्यवस्था के नाते

निषिद्ध माने गये हैं। मै व्यक्ति-हित और समाज व्यवस्था की तरफ आंखे मूंदे रहता था और सिर्फ अपने ही स्वार्थी लाभ के लिये लालायित बनता था। वे व्यवसाय, जो मैने इन लालसाओं मे भटक कर किये, इस प्रकार के थे (१) अगार कर्म—सर्व प्राणियो के लिए सुखकर वनो के वृक्ष काट कर उनके कोयले बनाना तथा उसका व्यापार करना, (२) वन कर्म —वन खरीद कर या ठेके पर लेकर वृक्षो को काट कर या कटवा कर बेचना, (३) शाकट कर्म—गाड़ी, इक्का, बग्घी आदि पशु-वाहन बनाना तथा वेचना, (४) भाटक कर्म—भाड़ा कमाने के लिए पशु-चालित गाड़ी आदि से दूसरो के सामान को ढोना, ऊँट-घोड़ा-बैल आदि पशुओं को किराये पर देकर आजीविका चलाना, (५) स्फोटन कर्म—भूमि (खान) आदि फोड़ना और उसमे से निकले हुए खनिज पदार्थों को बेचना, (६) दन्त वाणिज्य—हाथी-दात, शंख आदि का व्यापार करना तथा ऐसे दांत आदि निकलवाने की व्यवस्था करना, (७) लाक्ष-वाणिज्य—भारी जीव-हिसा के कारण रूप लाख, चपड़ी रेशम आदि पदार्थ निकलवाना व उनका व्यापार करना, (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि बनाने व बेचने का कार्य करना (६) केश वाणिज्य—दास, दासी, पशु आदि के बाल निकलवाना व उनका व्यापार करना, (१०) विष वाणिज्य—सखिया आदि तरह-तरह के विष जन्तु-हत्या से निकलवाने तथा उनका व्यापार करना, (११) यत्र पीड़न कर्म —तिल, ईख आदि पेरने के यत्र चलाना व चलवाना तथा उसका धधा करना, (१२) निर्लाछन कर्म—बैल, घोड़े आदि को नपुसक बनाने का धधा करना, (१३) दवाग्निदायक कर्म—जगल आदि मे आग लगाने या लगवाने का धधा करना, (१४) सरोद्रह तड़ाग शोषण कर्म —झील, कुड, तालाब आदि को सुखाने का धधा करना एव (१५) असतीजन पोषण कर्म—अपनी आजीविका चलाने के लिए दुश्चरित्र स्त्रियो, शिकारी प्राणियो आदि का पोषण करना। तब मै नहीं समझता था कि अहिसा मे विश्वास रखने वाले एक साधक को ऐसे हिसापूर्ण व्यवसाय नहीं अपनानी चाहिये। अपनी आजीविका मुझे अहिसक उपायो तथा नैतिकता के साथ ही चलानी चाहिये— यह भान मुझे वाद मे उपजा। हिसा-भरे व्यवसाय चलाते हुए भला कोई भी अहिसा पालन की दिशा में आगे कैसे वढ़ सकता है?

मै अव जान गया हूँ कि ये सब कर्मादान पापो के द्वार है जिन्हे बन्द करके ही मै अपनी अशुभता को घटा सकता हूँ तथा अपने मन, वचन एव कर्म की शुभता को बढ़ा सकता हूँ। यह शुभता जव वढ़ती है तो मेरे आत्म प्रदेशो से अशुभ कर्मों का बध ढीला होता है तथा शुभ कार्यों के वंध से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है। शुभता की निर्जरा के साथ कभी उस मनोदशा मे लोकोपकारी कार्य करने की मेरी शक्ति भी सगठित बनती है एव सत्कार्य करते रहने का मेरा सकल्प भी सुदृढ़ होता है। मन, वचन एवं काया के शुभ योगो के प्रवर्तन काल मे मै पुण्य कार्य करने का अभिलाषी एव समर्थ वनता हूँ। पुण्य रूप शुभ कर्मों का वध नौ प्रकार से हो सकता है। मैं जरूरतमन्द और योग्य पात्र को भोजन के लिये अन्न दूं, दूध पानी वगेरा पीने की वस्तुएँ सुलभ करूँ,-आवर्श्यक वस्त्र प्रदान करू, ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध कराऊं तथा विछाने व सोने के लिए पाटला विस्तर आदि दू तो क्रमश अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन पुण्य व शयन पुण्य रूप शुभ कर्म का मेरे वध होगा। इसके सिवाय गुणियो को देखकर मन मे प्रसन्नता का अनुभव वाणी के द्वारा योग्यो की प्रशसा एव शरीर से गुरुजनो की सेवा सुश्रूषा करने से मन, वचन एव काया पुण्य का अर्जन होता है। अन्तिम नौवां पुण्य-कार्य माना गया है नमस्कार को कि मैं भाव भक्ति पूर्वक अपने पूज्य एव गुरुजनो को नम्रता से वन्दन आदि करू। ये पुण्योपार्जन के कारणभूत पवित्र कार्य

कहे गये हैं जिनके लिये यदि मै यथास्थान यथासमय एव यथाशक्ति अपनी कर्मण्यता का अर्पण करूँ तो मेरे पुण्य कर्मों का बध सभव बनता है।

मै यह भी जान गया हूँ कि यदि मेरे शुभ पुण्य कर्मों का बध हो जाता है तो उनकी तारतम्यता के अनुसार इस प्रकार से उनका शुभ फल भी मुझे प्राप्त हो सकता है कि मै साता वेदनीय का अनुभव करूँ याने कि मुझे सुख प्रदायक साधन सामग्री मिले। मुझे गति अनुपूर्वी तथा आयु मे मनुष्य या देव जन्म मिल सकता है तथा उच्च गौत्र भी। पाचो प्रकार के शरीर पचेन्द्रिय जाति के साथ श्रेष्ठ अगोपाग, सहनन व सस्थान युक्त भी मुझे मिल सकते है। वर्ण, गध, रस, स्पर्श शुभ रूप तो अगुरू-लघु, पराघात, श्वासोश्वास, आतप और उद्योत भी पूर्ण शुभता से मुझे प्राप्त हो सकते है। नाम की दृष्टि से त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुखद, आदेय और यश· कीर्ति नाम भी सुलभ हो सकते है। और तो और पुण्य कर्म के बध की उच्च स्थिति बने तो तीर्थकरत्व भी प्राप्त हो सकता है।

मै ऊपर यह बताने का प्रयास कर रहा था कि ससार रूपी इस महासागर मे जटिल कर्म वध से बधी हुई मेरी आत्मा अपने बचाव का कोई उपाय नहीं कर सकती है जब तक कि वह पहले जटिल बधनो को ढीले करने की कोशिशे न करे। कर्म बंधनो को ढीला करने का, धीरे-धीरे काटने का और अन्त मे उनका सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने का यही उपाय है कि पाप कार्यों मे निरन्तर होती हुई अपनी प्रवृति का निरोध किया जाय एवं उनके स्थान पर शुभ कार्यों का ऐसा क्रम चलाया जाय कि शुभ पुण्य कर्मों का बध हो। इसके फलस्वरूप मेरे कर्मों के वे जटिल बधन ढीले पड़ने लगेगे। जब बधन ढीले पड़ने लगेगे तो हाथ-पाव अपनी ताकत दिखाने के लिये कुछ-कुछ आजादी पाने लगेगे। हाथ पावो को योग्य रीति से चला-चलाकर मै एक ओर अपने को डूबने से वचाने की कोशिश करने लगूगा तो दूसरी ओर अपने अगो के लिये अधिक आजादी पाते रहने की चेष्टा मे लगूगा। इस बीच मेरे पुण्योदय से मुझे ऐसे अनुकूल साधनो की प्राप्ति भी हो सकेगी कि जिनकी सहायता से मै इस महासागर के पार जा सकू। अर्थात् मैं पानी मे न डूबू और अपना तैरना जारी रख सकू-ऐसा उपकरण मिल जाय या मजबूत नौका ही प्राप्त हो जाय—ताकि मैं महासागर मे मुझे डुवोने की चेष्टा करने वाली लहरो और आँधियो का कामयाव मुकावला कर सकू। अधिक पुण्योदय हो तो मुझे सुविधा सम्पन्न बड़ा जहाज भी मिल सकता है जिसके कारण महासागर मे मेरे डूबने का खतरा ही न रहे और उसे पार कर लेने की सुनिश्चितता पैदा हो जाय। ये सव उपलब्धियाँ पूर्व कृत पुण्य कार्यों के फलोदय मे मिल सकती है। पाप कर्मो के वध समय-समय पर प्रतिकूलताए पैदा करते है। जिनके कारण धर्माराधना मे नित नई वाधाएँ खड़ी होती है तो आत्म विकास मे स्वस्थ अभिरुचि का ही अभाव वन जाता है। दूसरी ओर पुण्य कर्मों के वध से फलोदय के समय ऐसी अनुकूलताएँ और उत्साहवर्धक परिस्थितियाँ पैदा होती रहती है कि आत्म-विकास की महायात्रा मे आगे वढ़ते हुए हर तरह के शुभ सयोग सुलभ होते है। धर्म मे रुचि, धर्म मे आस्था तथा धर्म मे पराक्रम दिखाने की प्रवृत्ति इसी पुण्य कर्म तथा उसके फल से प्राप्त अनुकूलताओं के आधार पर सफलता के सूत्र प्रकट करती है। पाप कर्मो का फलोदय मुझे सासारिक दु खो के इस महासागर मे गहरे डुवोता है तो पुण्य कर्मों का फलोदय इस महासागर को तैर कर पार करने की अच्छी से अच्छी क्षमताएँ मुझे प्रदान करता है। पाप पुण्य की मीमासा मे मैं इस सत्य को भी ध्यान मे ले लेना चाहता हूं कि चरम लक्ष्य के रूप मे पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मों का भी क्षय करना पड़ता है

क्योंकि कैसे भी कर्मों का बध हो वह चेतन-जड़ सयोग की नीव को नहीं तोड़ता है जबकि इस संयोग की बुनियाद को पूरी तरह से नेस्तनाबूद करने के बाद ही मेरी आत्मा को पूर्ण स्वतत्रता मिल सकेगी। सभी कर्मों का बध समाप्त हो जायगा तभी उनका फल भोग भी समाप्त होगा। पाप कार्यों से निवृत्ति इसलिये अनिवार्य होती है कि ससार रूपी महासागर में गहरे डूब जाने से अपनी आत्मा की रक्षा करू तो पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति से मुझे वे साधन सुलभ हो सकेगे जिनकी सहायता से मैं कुशलता एव सफलता पूर्वक उस महासागर के पार पहुँच सकू।

किन्तु यह भी मै जानता हूँ कि इस महासागर के उस पार पहुँच जाने के बाद वहाँ की भूमि पर मैं अपना पांव तभी रख सकूंगा जब मै पार पहुँचाने वाली नाव या जहाज को भी छोड़ दू। एक कर्म डूबोता है तो दूसरा कर्म तैराता है, लेकिन महासागर से पार पा लेने के बाद दोनो कर्मों को त्यागना आवश्यक हो जाता है। पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाय परन्तु जब तक पुण्य कर्मों को भी मै नहीं खपाऊगा, तब तक मेरा मोक्ष नही हो सकेगा। जड़-चेतन संयोग रूप सांसारिकता की पूर्ण समाप्ति तभी प्रकट होगी जब सम्पूर्ण क्रियाएँ एव सम्पूर्ण कर्म बधन भी समाप्त हो जायेंगे।

मैं सोचता हू कि जब तक पाप कार्यों से सम्पूर्णतया निवृत्ति सभव नही बनती है, तब तक मुझे पुण्य कर्म के बंध के शुभ प्रयास करते रहने चाहिये। पुण्य के प्रतिफल रूप जो अनुकूल ससाधन उपलब्ध होते रहेगे, उनकी सहायता से मुझे मेरी साधना मे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती रहेगी।

मोक्ष का चरम चरण

यह मेरी आत्मा के पराक्रम और पुरुषार्थ का चरम चरण होगा कि मै अपनी सर्व कर्म बधन समाप्ति के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति करलू। इस दृष्टि से विभिन्न स्तरो पर पुण्य कर्म के उपार्जन की विभिन्न स्थितियाँ रहती हैं। पहले स्तर पर जब तक कि मनुष्य जन्म आर्य क्षेत्र आदि की धर्माचरण की अनुकूलताएँ न मिले—पुण्य को उपादेय मानना होगा, कारण इन पुण्य प्रकृतियो की प्राप्ति के विना मुझे चारित्र की प्राप्ति ही सभव नही हो सकेगी। परन्तु जब मुझे चारित्र की प्राप्ति हो जायगी तथा एक साधक की अवस्था मे जब मैं अवस्थित हो जाऊँगा तब पुण्य मेरे लिये उपादेय न रहकर मात्र ज्ञेय हो जायगा। और आत्मा को चौदहवे सर्वोच्च गुण स्थान मे चारित्र की पूर्णता मिल जाने पर यही पुण्य भी हेय हो जाता है क्योकि उसको त्यागे बगेर मोक्ष के महिमामय क्षेत्र मे प्रवेश नहीं मिल सकता है। सभी कर्म प्रकृतियो का सर्वथा क्षय होने पर ही मेरी आत्मा का चरम चरण मोक्ष के महात्म्य का वरण करेगा। मुझे समझना चाहिये कि यह मोक्ष क्या होता है, किस मार्ग से मोक्ष की तरफ आगे बढ़ा जा सकता है और किन द्वारो से मोक्ष के महल मे प्रवेश मिलता है ?

अनादिकाल से ससार मे जड़ के साथ आवद्ध इस आत्मा को जड़ के वधन से पूर्णतया मुक्त कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जैसे एक दर्पण पर मैल और कालिख जम जाती है तो उसमे स्वरूप दर्शन नहीं हो सकता है। यदि मैल और कालिख की परत हल्की हुई तो उसमे हल्की ही सही—प्रतिच्छाया दिखाई दे सकती है। किन्तु मैल ओर कालिख की परते यदि एक पर एक करके कई चढ़ी हुई हो तो उसमें प्रतिविम्व की तनिक झलक भी नही देख सकेगे। तो क्या उस समय यह माना जा सकता है कि दर्पण की दर्शन क्षमता ही नष्ट हो गई है ? कोई यह नही मानेगा वल्कि यही कहेगा कि दर्पण पर जमे मैल को मल मलकर धो-पोंछ लीजिये और फिर देखिये कि उसकी मूलरूप मे रही हुई दर्शन क्षमता पुन· प्रकट हो जाती है या नहीं।

मेरी धारणा है कि यही स्थिति मेरी आत्मा की भी है। चेतना का प्रवाह या आत्मा की शक्तियॉ कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती है, मात्र उनकी प्रभा निष्तेज हो जाती है। उसका भी दर्पण वाला ही कारण होता है। कर्मों का चढ़ा हुआ मैल अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की कठिन साधना से धो-पौछ डालू तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरा भी आत्म स्वरूप सिद्ध स्वरूप की परम उज्ज्वलता का वरण कर लेगा। महत्त्वपूर्ण यही पुरुषार्थ हैं कि कर्म मैल को पूरी तरह से साफ कर लिया जाय तो इन चार मार्गों से संभव है—(१) सम्यक् ज्ञान, (२) सम्यक् दर्शन, (३) सम्यक् चारित्र एव (४) तपाराधन। सत्पर प्ररूपणा-मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एव एक पद है। संसार मे जितने भी एकपद वाले पदार्थ है, वे सब सत्स्वरूप है—जैसे घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् और असत् दोनो हो सकते हैं—जैसे खरश्रृग या बध्यापुत्र असत् है तो गौ-शृग, राजपुत्र सत् स्वरूप हैं। अत मोक्ष का एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है। जिन मार्गणाओं (उपलब्धियो) से युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं, वे मार्गणाएँ मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, त्रसकाम, भावसिद्धिक, सज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन हैं। इनके अतिरिक्त चार मार्गणाओं— कषाय, वेद, योग एव लेश्या से युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकते है।

मोक्ष के विभिन्न द्वारो का वर्णन इस प्रकार है—(१) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं, (२) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असख्यातवे भाग मे सब सिद्ध अवस्थित है (३) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग मे सिद्ध रहे हुए है, (४) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त है और सव सिद्धो की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त है। (५) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवो मे अन्तर नहीं है क्योंकि कोई पुन ससार मे आकर जन्म नहीं लेता तो सब सिद्ध केवल ज्ञान व केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान होते है, (६) भाग द्वार—सिद्ध जीव ससारी जीवों के अनन्तवे भाग है। (७) भावद्वार—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक रूप पाच भावो मे से सिद्ध जीवो मे केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव और जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही होते है, (८) अल्प बहुत्व द्वार—लिग की अपेक्षा से सवसे थोड़े नपुसक सिद्ध, स्त्रीसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक और पुरुषसिद्ध उनसे सख्यातगुणे अधिक होते है। इस प्रकार आत्मा का कर्म रूपी वधन से सर्वथा छूट जाना तया सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशो से सभी कर्मों का क्षय होना 'मोक्ष' कहलाता है।

कभी मेरे मन मे शका उठती है कि मोक्ष है भी या नहीं। तभी मुझे आप्त वचनो का ध्यान आता है कि जिनमे सशय के प्रकार भी बताये है तो उनका समाधान भी किया गया है। सशय के विन्दु ये है—(१) यदि मोक्ष नहीं है तो क्या आत्मा दीपक के समान है जो जैसे दीपक वुझ जाता है तो उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है? (२) क्या कर्म और जीव का सम्वन्ध जैसे अनादि है वैसे अनन्त भी है? अथवा (३) क्या राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोग, आदि दु खो के क्षय हो जाने पर आत्मा का मोक्ष हो जाता है और फिर भी उसका अस्तित्व वना रहता है? इन सन्देहो को दूर करके सही समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि दीपक की तरह आत्मा का सर्वनाश मानना उचित नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का सर्वनाश नहीं होता है। दूध की पर्याय दही मे तो घड़े की पर्याय ठीकरो मे वदल जाती है। उसी प्रकार दीपक वुझ जाने के वाद वह अधकार की पर्याय मे वदल जाता है। दीपक भी पहले चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और वुझने पर घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है जिससे प्रमाणित है कि उसका सर्वथा समुच्छेद नही होता है। इसी प्रकार आत्मा का भी मोक्ष हो जाने पर उसका सिद्ध स्वरूप वन जाता है। इस कारण कर्म जीव का सम्वन्ध अनादि

अवश्य है किन्तु अनन्त नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के दु:खो के नष्ट हो जाने पर आत्मा परम सुख को प्राप्त होती है—यही उसका मोक्ष है जहॉ पर भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखती है। सभी प्रकार की बाधाओं व आवरणो का नष्ट हो जाना ही परम सुख का हेतु बनता है। कभी यह भी शका हो कि पाप से दु.ख होता है तो पुण्य से सुख—फिर पुण्य कर्म भी नष्ट हो जाने से मोक्ष मे सुख कैसे मिलेगा ? उसका समाधान है कि पुण्य से होने वाला सुख वास्तविक नहीं होता है क्योंकि वह कर्मों के उदय से होता है। वास्तविक सुख कर्मों के सभी आवरणो के समाप्त हो जाने से ही मिलता है। यही कारण है कि इस ससार मे बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट भी सुखी नहीं रहे। संसार का सुख मात्र सुखाभास होता है। जैसे कि प्यास लगने पर पानी पिया तो सुख अनुभव हुआ किन्तु थोड़ी देर बाद फिर प्यास का दु ख सताने लग जाता है। संसार का सुख विकारों का सुख होता है जो क्षणिक होता है किन्तु सर्व विकार समाप्ति के पश्चात् मोक्ष का जो सुख मिलता है, वह शाश्वत और अव्यावाध होता है एवं सर्व इच्छाओं से परे परम समाधियुक्त होता है।

मै मोक्ष के संदर्भ मे इस आप्त वचन का पुन पुन· स्मरण करता हूँ कि सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा नव तत्त्वो के स्वरूप को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उस पर श्रद्धा करती है तथा सम्यक् चारित्र एव तप की आराधना द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकती एव पुराने कर्मों को नष्ट करके अपने परम शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। यह सत्य मेरे अन्तर्हृदय में गहरे पैठा हुआ है और मै मानता हूँ कि मोक्ष ही आत्म-विकास की महायात्रा का गतव्य है।

सम्यक्त्व की प्रकाशकिरणें

ससार की प्रगाढ़ मोहग्रस्तता से मेरी आन्तरिकता जब पूरी तरह से व्यामोहित रहती थी, तब मै अज्ञान के अधकार मे ही गोते लगाता था और इस मिथ्याज्ञान को ही सत्य मानता था कि जो कुछ इस ससार के सुख है, वे ही सच्चे सुख है तथा उन्हे येन केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने मे ही मुझे अपना सम्पूर्ण श्रम लगा देना चाहिये। इस मिथ्या ज्ञान पर ही मेरी श्रद्धा आधारित रहती थी अत. यह श्रद्धा भी मिथ्या थी। मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या श्रद्धा के आधार पर मेरे सभी कार्य कलाप भी तदनुसार चलते थे जिसके कारण मेरा आचरण भी मिथ्या था। यह सब मेरे आत्म स्वरूप पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कलक था।

किन्तु जव मैंने नव तत्त्वों की जानकारी ली एव जीव-अजीव के सम्बन्धो की पहिचान की तो मुझे मिथ्यात्व का यथावत् रूप कुछ कुछ समझ मे आने लगा। क्या मिथ्यात्व है और क्या सम्यक्त्व है—इसका हल्का-सा आभास होने लगा। जव यह जाना कि जीव किस प्रकार की अपनी क्रियाओं से पाप और पुण्य-दोनो प्रकार के कर्मों का क्षय कर सकता है तथा परम सुख रूप मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है तव अधकार की परते मेरे मन-मानस पर से हटने लगी। अधकार को चीरती हुई तव कुछ प्रकाश-किरणे वस्तु-स्वरूप का यथावत् दर्शन कराने लगी। मै तव समझ पाया कि ये ही सम्यक्त्व की प्रकाश किरणे थी।

ज्यो-ज्यो मिथ्यात्व के काले बादल छटने लगे, त्यो-त्यो प्रकाश का घनत्व बढ़ने लगा। मिथ्यात्वपूर्ण धारणाओं, श्रद्धानो तथा क्रियाकलापो मे जव शुद्धता एव वास्तविकता का प्रवेश होने लगा तव मुझे आन्तरिक आनन्द मिला और मेरे अन्तर्मन ने कहा कि यह सम्यक्त्व का प्रवेश है—धारणाओं, श्रद्धानो एवं क्रिया कलापो को विशुद्ध बनाते रहने की प्रक्रिया का प्रारंभ हे।

मुझे याद है कि तभी मेरे अन्त करण मे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का द्वन्द्व छिड़ गया था। प्रकाश के प्रकट होते ही अधकार मे हड़कम्प मच गया था। मेरी शनै शनै जागती हुई चेतना ने अंधकार मे फैले भय को महसूस किया था—मिथ्यात्व का खोखलापन जाहिर होने लगा था। अपनी चेतना की जागृति के बाद मिथ्यात्व का हौसला भी ढीला पड़ने लगा था। उसकी आक्रामक शक्ति कमजोर होने लगी थी। सम्यक्त्व की प्रकाश किरणो की उपस्थिति मे मेरी चेतना को विश्वास होने लगा कि अब तक मिथ्यात्व को पकड़ कर वह जो अपने को निश्चित और सुखी मान रही थी, भ्रमपूर्ण था। और इस प्रकार उसका भ्रम टूटने लगा था।

मै धीरे-धीरे सम्यक्त्व का स्वरूप समझने लगा। जैसे कमजोर नजर वाला चश्मा लगा कर स्पष्ट देखने लग जाता है, वैसे ही उस अधकार मे सम्यक्त्व का जो चश्मा मेरी दृष्टि पर चढ़ा तो उससे मिथ्यात्व का मारक स्वरूप भी मुझे दिखाई देने लगा और सम्यक्त्व का तारक स्वरूप भी। विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गलो से मुझे द्रव्य सम्यक्त्व मिला और केवली प्ररूपित तत्त्वो मे जो रुचि और श्रद्धा जमी, उससे मुझे भाव-सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। द्रव्य एव भाव सम्यक्त्व की उपस्थिति से मेरे आत्म स्वरूप को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाने का एक सुव्यवस्थित क्रम भी तव चल पड़ा। इसी क्रम से मेरी आशा बधी कि अव मेरी आत्मा गुणस्थानो के उत्कृष्ट सोपानो पर चढ़ने लगेगी और एक दिन मोक्ष रूप परम सुख को प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य भी जुटा सकेगी।

तव मुझे सम्यक्त्व के विविध रूपो की भी अनुभूति होने लगी। मैंने जाना कि सम्यक्त्व द्रव्य रूप भी होता है और भाव रूप भी। पौद्‌गलिक परिणमन उसका द्रव्य रूप है तो सम्यक्त्व तत्त्वो मे सम्यक् अभिरुचि के विकास से उसका भाव रूप वनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व को निश्चय एव व्यवहार के दो रूपो मे भी देख सकते हैं। आत्मा का वह परिणाम जिसके होने से ज्ञान शुद्ध होता है, वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म मे विश्वास करने का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के कारणो को भी व्यवहार सम्यक्त्व का ही नाम दिया जाता है। सम्यक्त्व का एक अन्य स्वरूप नैसर्गिक एव आधिगमिक सज्ञाओं से भी जाना जाता है। पूर्व क्षयोपशम के कारण विना गुरु-उपदेश के स्वभाव से ही वीतराग-दृष्ट भावो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नाम आदि निक्षेपो से जान लेना तथा श्रद्धा करना नैसर्गिक सम्यक्त्व है जैसा कि मरुदेवी माता को हुआ था। इसका आधिगमिक सम्यक्त्व गुरु आदि के उपदेश से अथवा अग उपाग आदि के अध्ययन से जीवादि तत्त्वो पर रुचि एवं श्रद्धा होना कहलाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप पौद्‌गलिक तथा अपौद्‌गलिक माना गया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्‌गलिक सम्यक्त्व कहते है क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे समकित मोहनीय के पुद्‌गलो का वेदन होता है। किन्तु अपौद्‌गलिक सम्यक्त्व मे समकित मोहनीय का सर्वथा नाश अथवा उपशम हो जाता है, उसका वेदन नही होता है। यह क्षायिक और औपशमिक रूप सम्यक्त्व होता है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक्त्व को कारक, रोचक एव दीपक रूप मे भी परिभाषित किया गया है। जिस सम्यक्त्व के प्रकट होने पर चारित्र मे परिणति हो, अथवा जिस आचरण से सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, जो स्वय मे चारित्र का पालन करता हो व दूसरो को प्रेरित करना हो उस समय उसका कारक रूप दिखाई देता है। रोचक सम्यक्त्व वह है जिसमे आत्मा सदनुष्ठान (चारित्र) मे रुचि तो लेती है लेकिन स्वय सदनुष्ठान (चारित्र) का आचरण नही कर पाती है। यह रोचक रूप चोथे

गुणस्थानवर्ती आत्मा को होता है। तीसरे, जो मिथ्या दृष्टि आत्मा स्वयं तत्त्व श्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरो मे उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करवाती है उस आत्मा के सम्यक्त्व का स्वरूप दीपक रूप होता है। दीपक सम्यक्त्वधारी स्वय तो मिथ्यात्वी होता है किन्तु उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरो मे सम्यक्त्त्व उत्पन्न करने मे वह कारण रूप बनता है, इसी दृष्टि से उसे भी सम्यक्त्वी कहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक रूप भी होते हैं। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम औपशमिक सम्यक्त्व होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषायो के तथा दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो के क्षय होने पर जो परिणाम-विशेष प्रकट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से एव समकित मोहनीय के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

मैने सम्यक्त्व के तीन लिगो (चिह्नो) की पहिचान की है जो इस प्रकार है—(१) श्रुत धर्म मे राग—जितना तरुण पुरुष रग-राग मे अनुरक्त रहता है, उससे भी अधिक शास्त्र-श्रवण मे अनुरक्त रहना, (२) चारित्र धर्म मे राग—जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य खीर आदि का आहार रुचिपूर्वक करना चाहता है, उससे भी अधिक चारित्र धर्म पालने की इच्छा रखना, तथा (३) देव गुरु की वैयावृत्य का नियम—देव और गुरु मे पूज्य भाव रखना और उनका मान-सम्मान रूप वैयावृत्य का नियम करना। सम्यक्त्व की तीन शुद्धियॉ भी इस दृष्टि से बताई गई है कि वीतराग देव, वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्म एवं वीतराग देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु ही विश्व मे सारभूत है ऐसा विचार करना।

मैने सम्यक्त्व के पॉच भेदो पर भी विचार किया है जो सम्यक्त्व के सभी पहलुओं पर रौशनी डालते है—(१) उपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो—कुल सात प्रकृतियो के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचि रूप आत्म परिणाम उपशम सम्यक्त्व कहलाता है जिसकी स्थिति अन्तर्मुहुर्त की होती है। (२) सास्वादान सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के, मिथ्यात्व मे पहुॅचने से पहले जो परिणाम रहते है, वही सास्वादान सम्यक्त्व है। इस समय कषायो का उदय रहने से परिणाम निर्मल नही रहते (३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—कषायो के उदय से प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए जीव के परिणाम-विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। (४) वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय के पुज का अधिकाश क्षय करने वाला जीव जब समकित मोहनीय के आखिरी पुद्गलो को वेदता है, तव होने वाले आत्म-परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते है। तथा (५) क्षायिक सम्यक्त्व—कषाय व दर्शन मोहनीय की सातो प्रकृतियो के क्षय होने से होने वाला जीव का तत्त्व रुचि रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व सादि किन्तु अनन्त होता है।

मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है या नहीं—इसकी पहिचान सम्यक्त्व के लक्षणो के आधार पर ही की जा सकती है, अत' सम्यक्त्व के लक्षणो को भलीभाति हृदयगम कर लेना मै अपना कर्त्तव्य मानता हूँ जो इस प्रकार हैं (१) सम—तीव्रतम कपाय के उदय मे नही आने से जो शान्ति भाव उत्पन्न होता है उसे सम कहते हैं, (२) सवेग—मनुष्य एव देवता जातियो के सुखो का परिहार करके

मोक्ष के सुखो की अभिलाषा रखने का नाम सवेग है, (३) निर्वेद—ससार से उदासीनता रूप वैराग्य-भाव का होना निर्वेद कहलाता है, (४) अनुकम्पा—निष्पक्ष होकर दु खी प्राणियो के दु खो को मिटाने की भावप्रवणता का नाम अनुकम्पा है। यह द्रव्य और भाव रूप होती है। शक्ति होने पर दु:खी जीवो के दु.ख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है तो दु खी जीवो के दु:ख देखकर दया से हृदय का कोमल हो जाना भाव अनुकम्पा है (५) आस्तिक्य—वीतराग देवो द्वारा उपदेशित तत्त्वो पर श्रद्धा रखने का नाम आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व से सम्बन्धित इस शास्त्रीय विवेचन से यह मुझे स्पष्ट हो गया है कि नवतत्त्व एव षड् द्रव्यो के स्वरूप मे अर्थात् ससारी जीव को सिद्ध स्वरूप बनाने की प्रक्रिया मे दृढ़ आस्था हो जाने का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के मूलाधार रूपी आस्था के ये छ: स्थान कहे गये हैं (१) चेतना लक्षण जीव का अस्तित्व है, (२) जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है, (३) जीव कर्मों का कर्त्ता है, (४) अपने किये हुए कर्मों का जीव स्वय भोक्ता है, (५) राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है तथा (६) सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो मिल कर मोक्ष का मार्ग है।

मेरा विचार है कि सम्यक्त्व के उल्लिखित सड़सठ बोलो के माध्यम से सम्यक्त्व का चहुमुखी स्वरूप सुबोध हो जाता है, वे भेद इस प्रकार है—श्रद्धा ४ (परम अर्थ परिचय, परम अर्थ सेवा, मिथ्या की सगत नहीं, पाखडी की संगत नही), लिग ३ (तरुण की रागरग रुचि से अधिक धर्म रुचि, भूखे को खीर की इच्छा से भी अधिक धर्माभिलाषा, वैयावृत्य), विनय १० (अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, स्वधर्मी, क्रियावन्त का यथायोग्य सभान), शुद्धि ३ (वीतराग देव, वीतराग धर्म तथा वीतराग आज्ञा मे चलने वाले साधु को ही लोक मे सारभूत मानना), लक्षण ५ (सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था), दूषण ५ (शका, काक्षा, वितिगिच्छा, पर पाखडी प्रशसा, पर पाखंडी परिचय), भूषण-५ (धीरजवन्त, दिपावनहार, भक्ति-भावी, चतुर, सघ सेवक), प्रभावक ८ (सूत्र ज्ञान, प्रवोध, यथार्थ वाद-विवाद, त्रिकाल ज्ञान, तपश्चर्या, विधा ज्ञान, प्रसिद्ध व्रत, शास्त्र प्रयोग), आगार ६ (देवता, राजा, माता-पिता, पच, वलवन्त, अटवी मे भय) जयणा ६ (आलाप, सलाप, दान, प्रदान, वन्दना, गुणग्राम), स्थानक ६ (नगर मे द्वार समान, वृक्ष मे वीज समान, दुकान मे वस्तु समान, मजूषा मे रत्न समान, थाल मे भोजन समान, किले मे कोट समान), भावना ६ (चेतना लक्षण, द्रव्य शाश्वत, आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, भवि को मोक्ष, मोक्ष मार्ग) सार रूप मे सम्पत्त्व की सक्षिप्त परिभाषा यह है कि वीतराग देवो द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान करना।

सम्यक्त्व की ईंट पर मोक्ष का महल

मिथ्यात्व का स्वरूप एवं नौ तत्त्वो का विश्लेषण समझ लेने के वाद मेरे सामने समक्त्व का स्वरूप स्पष्टतर हो गया है। एक महल वनाया जाता है किन्तु उसके अनुसार ही उसकी नींव भी होनी चाहिये। नींव अगर कमजोर हो और महल वड़ा व सुन्दर भी वना लिया जाय तव भी क्या वह टिका रहेगा ? उसकी मजवूती नहीं मान सकते हैं। नींव की ईंटे जितनी पुख्ता होगी, महल की मजवूती भी उतनी ही पक्की वनेगी। इस दृष्टि से यह मानने मे मुझे कोई संकोच नहीं है कि सम्यक्त्व रूपी नींव की ईंटो के आधार पर ही मोक्ष का महल वनता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनो दो प्रकार की नीव की ईटे है। मिथ्यात्व ससार के नश्वर सुखाभासो का महल खड़ा करता है तो सम्यक्त्व की नीव पर मोक्ष का महल खड़ा होता है जो एक भव्य एव विकासशील आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है। सम्यक्+त्व का अर्थ होगा सत्यपना याने कि सत्य पर आत्म विकास की महायात्रा को प्रतिष्ठित करना। सत्य मे मन, वाणी और कर्म का समावेश होना चाहिये। सम्यक्त्व इन तीनो प्रकारो मे जब फैल जाता है तभी आत्म विकास की वुनियाद वनती है। यह बुनियाद है सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर पूर्ण श्रद्धा—जिसके कारण सम्यक्त्व का उद्‌भव होता है तथा मन, वाणी एव कर्म की समस्त वृत्तियों एव प्रवृत्तियों मे सम्यक्त्वरूप शुभता का प्रसार तथा विस्तार।

मै इसे एक श्रेष्ठ विशिष्टता मानता हूं कि इस समयक्त्व मे कहीं भी साम्प्रदायिकता अथवा व्यक्ति-पूजा को कोई स्थान नहीं है। इस मान्यता मे न तो किसी देव विशेष के प्रति हठाग्रह है एव न किसी गुरु विशेष या धर्म विशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण भाव। सत्य की कसौटी पर जो देव सुदेव सिद्ध होते है अथवा कि जो गुरु या धर्म 'सु' के विशेषण से विभूषित होते है, वे ही एक सम्यक्त्वी के लिये आराध्य है। इसी कसौटी पर कसकर देवस्थान पर वीतराग देव को मान्यता मिली है, क्योंकि वीतराग देवो की महान् आत्माओं ने सासारिकता के बीज रूप राग एव द्वेष को व्यतीत करके परम विशुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लिया। चाहे वे वीतराग महावीर हुए हो या अन्य कोई देव सभी सुदेव है तथा उनका दिव्य स्वरूप ही श्रद्धा का विषय है। उन्होंने जो कुछ उपदेश आत्म विकास के सम्वन्ध मे अपने स्वानुभव से दिया है, वही धर्म रूप मे प्रतिष्ठित माना जाना चाहिये। इस प्रतिष्ठा से ही वह सुधर्म कहलाता है। ऐसे वीतराग देवो की आज्ञा मे जो चलते है तथा ऐसे सुधर्म का जो प्रचार करते है, वे ही सुगुरु रूप मे सम्मान पाते है। यहाँ कोई हठाग्रह, भेदभाव अथवा पक्षपात नही है कि किसी देव, गुरु या धर्म विशेष को ही माने। यह तो सम्यक्त्वधारी की सद्‌वुद्धि एव परीक्षा-वुद्धि का विषय है कि वह सत्य को समझे तथा देव, गुरु एव धर्म के 'सु' स्वरूप को अपनी श्रद्धा का केन्द्र वनावे।

सम्यक्त्व की इसे ही मै वुनियाद समझता हूँ जिसके आधार पर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा एव सम्यक् आचरण से परिपूर्ण जीवन का निर्माण किया जा सकता है। यही वह ईंट है जिस पर मोक्ष का महल खड़ा किया जा सकता है। नीव की ईट अगर मजवूती से जम गई है तो आगे के निर्माण के प्रति निश्चित वना जा सकता है। एक सम्यक्त्वधारी सदा सावधान रहता है कि वह अपने सत्पथ से भटके नही। यदि कभी किसी कारण से कुछ भटकाव आ भी जाता है तो वह अपने आत्म नियत्रण के वल पर उस भटकाव को समझ जाता है और जल्दी से जल्दी उसे दूर कर देता है। फिर वैसा भटकाव न आ सके—इस हेतु से वह निरन्तर अपनी आत्मालोचना करता रहता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन एव आत्म दमन के उपायो से वह अपने सम्यक्त्व के विस्तार एव विकास के लिये अथक पुरुषार्थ करता रहता है। मै मानता हू कि आत्मा को एक वार सम्यक्त्व का आलोक प्राप्त हो जाय—यह उसकी एक वहुत वड़ी उपलब्धि होती है।

आत्म-नियंत्रण का धरातल

मैंने एक वार जव सम्यक्त्व का आलोक पा लिया तो उससे मिथ्यात्व का अधकार मिटने लगा और मुझे एक और जीवादि नवतत्त्वो का ज्ञान मिल गया तो दूसरी ओर सुदेव सुगुरु तथा

सुधर्म की सही पहिचान हो गई। इस कारण मेरे सामने आत्म विकास का महान् क्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगा। इस दशा मे मुझे अनुभव हुआ कि मै अपनी श्रद्धा को सुदृढ बनाऊ तथा प्राप्त सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे अपने समग्र आचरण को सम्यक् बनाता चलू।

इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मै अपने लिये आत्म-नियत्रण का धरातल तैयार करना आवश्यक समझता हूँ। यह आत्म-नियत्रण क्या है तथा कैसे वनेगा इसे मै समझ लू।

आत्म-नियत्रण का अर्थ है अपने आपको कावू मे रखना। मै सोचता हूँ कि यह 'आप' कौन है और इसको काबू मे कौन रखेगा? तब मुझे मेरे 'मै' की अनुभूति होती है और जिसको जिसकी यह अनुभूति होती है—दोनो मेरा 'मै' ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'मै' ही 'मै' को नियत्रण मे रखेगा अर्थात् सम्यक्त्वधारी और सजग आत्मा ही अपने आप को नियत्रण मे रखेगी तथा यही आत्म-नियत्रण का अनुभाव है।

अव यह स्थिति और समस्या मेरे सामने आती है कि मै आत्म-नियत्रण कैसे रखू? जैसे कोई सत्ता के किसी पद पर वैठा हुआ हो वह हर समय अपनी सत्ता का ध्यान रखता है कि उसके प्रत्येक कार्य मे उसकी सत्ता झलकती हो तो उसके सभी अधीनस्थ उसकी सत्ता का मान और पालन करते हो। यह ध्यान वह एक पल के लिये भी नही भूलता है। यदि कोई अपनी वाहरी सत्ता के शासन के प्रति भी इतना जागरूक रह सकता है तो एक वार सम्यक्त्व का प्रकाश पाकर भला वह अपनी भीतरी सत्ता का उससे भी अधिक ध्यान रखना क्यो नहीं सीख जायगा?

मैं जव अपनी भीतरी सत्ता का ध्यान करता हू तो भीतरी शासन का नवशा मेरे ज्ञान-चक्षुओं के समक्ष खिच जाता है। 'मै' शासक हू और मेरा शासन है अपने आप के ऊपर तथा अपनी इन्द्रियो और अपने मन के ऊपर। यह शासन मुझे इस तरह चलाना है कि मेरा वाहरी जीवन भीतर मे उपजे प्रकाश को पकड़े और वाहर के क्रिया-कलाप शुद्धता का स्वरूप ग्रहण करे। प्रतिक्षण मेरी सावधानी रहे—सवसे पहले मेरे अपने मे लगने वाले विषय-कपाय के झौंके, राग-द्वेष के थपेड़े और प्रमाद के हिडोले कहीं मुझे मोहाविष्ट वनाकर वेभान न करदे, क्योंकि मैं स्वय वेभान हो गया तो मेरी नियत्रण की डोर भी ढीली पड़ जायगी। फिर मन और इन्द्रियो के वहकने को कौन रोकेगा तथा वे वहकते रहे तो मेरा भान वापस लौटना कठिन हो जायगा।

इस कारण मैं आत्म-नियत्रण को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहता हू। मेरे 'मै' को मै नियत्रण मे रख लेता हू तो फिर मेरा मन और मेरी इन्द्रियाँ अनुशासन नही तोड़ सकेगी। मेरे नियंत्रण से इनका नियंत्रण होगा तो वह सयुक्त नियत्रण मेरे सम्पूर्ण आत्मा स्वरूप की सासारिकता के विकारो की कालिख से वरावर रक्षा करता रहेगा।

आत्मालोचना का क्रम

मैं सोचता हू कि आत्म-नियत्रण एक अकुश का काम करेगा तो आत्मालोचना निर्मल जल का। एक हाथी को अकुश से नियत्रित किया जाता है। सामान्यतया यह नियत्रण चलता है। किन्तु कभी ऐसा भी हो जाता है कि महावत के नियत्रण के वावजूद मस्ती मे वह धूल अपने शरीर पर उछाल कर उसे मैला वना देता है। तव महावत साफ पानी से उसके शरीर को धोकर साफ करता है। इसी प्रकार मैं अपने मन, वचन एव कर्म पर अपना नियंत्रण स्थापित करता हू किन्तु सासारिक

परिस्थितियाँ वड़ी जटिल होती है और कई बार मै उनसे प्रभावित हो जाता हूं। और परिस्थितियों के दवाव से मै कभी-कभी आत्म-नियंत्रण से फिसल जाता हूँ। ऐसे समय पर यदि मैं निष्क्रिय रहू तो वह फिसलन और उससे मेरा पतन वढ़ता रह सकता है, किन्तु मै अपनी सम्यक्त्वी सक्रियता कभी नहीं त्यागता। तब मै आत्मालोचना की पद्धति अपनाता हूँ। वह यह कि दिन भर के अपने अच्छे-वुरे क्रियाकलापो का लेखा-जोखा मै सायकाल और रात भर का लेखाजोखा प्रात'काल लेता हूँ। और अवधि की दृष्टि से प्रति पक्ष और आगे प्रति संवत्सर भी व्यापक रूप से लेखा-जोखा लेता हूं। इसका परिणाम यह होता है कि मैं अपनाई गई तथा अपनाई जाने वाली वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को परीक्षा वुद्धि से जाचता-परखता हूँ कि उनमें कितना खरापन रहा और कितनी खोट रही? फिर आगे के लिये सकल्प लेता हूँ कि जितना खरापन है उसे बढ़ाऊं तथा जितनी खोट है उसे घटाऊं और खत्म करू।

आत्मालोचना का यह क्रम मै नियमित रूप से चलाता हू जिससे मेरी अपनी भीतरी झांकी मुझे दीखती रहती है। उस झाकी के सामने रहने से वास्तव मे होता यह है कि प्रायश्चित से पूर्व कृत पाप-कार्यों के सम्वन्ध मे मेरा अन्त करण धुल कर स्वच्छ बनता है तो उसमे नित नवीन जागृति भी पैदा होती है कि किये हुए पाप कार्यो की पुनरावृत्ति न हो तथा जो अशुभता वर्तमान है उसे भी शुभता मे वदलते जावे। इस तरह आत्मालोचना निर्मल जल का काम करती है जिससे मन का मैल धुलता रहता है। इस क्रम का यह प्रभाव होता है कि धुलते-धुलते मैल की जमावट कम होती जाती है तो चेतना के अत्युच्च विकास के साथ दर्पणवत् प्रतिविम्वन विशुद्ध होते जा रहे आत्मस्वरूप मे भी होने लग जाता है।

मै आत्मालोचना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को बड़ा उपयोगी मानता हूँ। मैं जान-वूझकर एक अकार्य करता हूं अथवा अनजाने मे भी मेरे से गभीर भूल हो जाती है तव भी मैं इसे पसन्द नहीं करता कि कोई मेरी निन्दा तो दूर, सच्ची आलोचना भी करे। मै उसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर सघर्परत हो जाता हू। किन्तु जव मैं अपनी मानसिकता को ही इस तरह मोड़ू कि मैं ही अपनी प्रवृत्तियों तथा भूलो की स्वय ही आलोचना करू तथा अपने गुरुजनो के समक्ष उनकी निन्दा करके प्रायश्चित करना चाहू तव मेरी प्रकृति मे नम्रता का समावेश होगा और उस व्यक्ति के प्रति भी मैं सरलता धारण किये रहूगा जिसके प्रति मैंने द्वेष-भाव उभारा होगा। इस प्रकार महसूस करने का मन का स्वभाव ही वदलता चला जायगा। मै अपनी अकृति या भूल को वैसी ही मानकर उसका परिहार करने की तत्परता भी दिखाना चाहूगा।

मै अपनी क्रियाओं पर जव पीछे नजर डालूगा और गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यो की आलोचना-निन्दा करूगा तो मुझे भी भीतर मे वैसा ही हल्कापन महसूस होगा जैसा कि एक भारवाही को अपना भार उतार देने पर महसूस होता है। मेरे मन मे आता है कि जैसे एक वालक वोलते हुए सरल भाव से अपना कार्य-अकार्य सव वता देता है, उसी प्रकार मै भी आत्मार्थी वन कर माया और मान को छोड़ दू तथा सरल भाव से अपने दोषो की आलोचना कर लू। योग्य व्यक्ति के समक्ष की जाने वाली ऐसी आलोचना मुझे शास्त्र-श्रवण मे भी कुशल वनायगी तो सच्ची आराधना का वल भी प्रदान करेगी। इसलिये पहले के दोषो की पहले तथा वाद के दोषो की वाद में आलोचना नियमित क्रम से करते रहना चाहिये। साधु भी यदि कोई अकृत्य करले और विना आलोचना किये यदि वह

काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो वह उसकी आराधना नहीं होगी, फिर मेरे जैसी सामान्य आत्मा की आराधना के लिये तो अधिक पुष्टि की जरूरत पड़ेगी। एक बात अवश्य है कि यदि शुद्ध भावपूर्वक आलोचना करते हुए स्मरण शक्ति की दुर्बलता से अथवा किसी तरह की जल्दबाजी से किसी दोष की आलोचना भूल से रह जाय तो वह क्षम्य मानी जायगी क्योंकि आलोचना की शुद्ध भावना के साथ ही माया, मद और गारव को गालने से उसका आराधक पद बना रहता है। आत्मालोचना करने वाले की आठ प्रकार से गुण सम्पन्नता मानी गई है—जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, क्षान्त-क्षमाशील रहने वाला तथा दान्त-इन्द्रियो का दमन करने वाला।

मेरी मान्यता है कि आत्मालोचना और माया का कभी गठजोड़ नही रह सकता है। यदि मैं मायापूर्वक आत्मालोचना करता हू तो वह वास्तविकता नहीं होगी। आत्मालोचना मे माया का कोई स्थान नहीं है। यश कीर्ति की परवाह किये बिना आत्मालोचना सदा निष्कपट, सरल एव शुद्ध भाव से ही होनी चाहिये। ऐसा भी मै नहीं सोचू। मुझे यह भय रखना भी अनुपयुक्त होगा कि आत्मालोचना से मेरी कीर्ति और मेरा यश मिट जायगा। किन्तु जो मायापूर्वक आलोचना करता है अथवा आलोचना नहीं करता, वह हर समय सशकित रहता है कि उसका दोष दूसरो पर जाहिर तो नहीं हो गया है। इस सशक भय के साथ वह मन ही मन पश्चाताप की आग मे भी जलता रहता है।

प्रतिक्रमण के माध्यम से भी आत्मालोचना का कुछ रूप अपनाया जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—पापो से पीछे हटना। आत्मा के दर्पण पर लगे धब्बो को आत्मा ही देखेगी और सकल्पपूर्वक उन्हे हटायगी—यह उस आत्मा का प्रतिक्रमण होगा। आत्मालोचना याने अपनी ही निन्दा, तो प्रतिक्रमण का अर्थ होगा इन निन्दित कार्यो से पीछे हटने का सकल्प अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति नही करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से अपनी आत्मा को हटाकर फिर से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे लगाना प्रतिक्रमण कहलाता है, शुभ योग से भटक कर अशुभ योग मे गई हुई आत्मा को फिर से शुभ योग मे अवस्थित करने का नाम ही प्रतिक्रमण है। जो आत्मा, अपने ज्ञान, दर्शन आदि रूप स्थान से प्रमाद के कारण मिथ्यात्व आदि के स्थानो पर चली जाती है, प्रतिक्रमण करके फिर से मुड़कर अपने स्थान पर आ जाती है।

मै आत्म विकास की प्रक्रिया मे प्रतिक्रमण के व्यापक महत्त्व पर विचार करू तो वह बड़ा उपयोगी होगा। प्रतिक्रमण के आठ भेद किये गये है—(१) प्रतिक्रमण—सीधा सा अर्थ है, उल्टे पैरो वापस मुड़ना। यह दो प्रकार का होता है—प्रशस्त एव अप्रशस्त। मिथ्यात्व आदि का प्रतिक्रमण प्रशस्त तो सम्यक्त्व आदि का प्रतिक्रमण अप्रशस्त कहलाता है। इसका भाव रूप यह है कि वीतराग देव रूपी राजा ने सयम रूपी महल की रक्षा करने की आज्ञा दी। उस संयम की किसी साधक ने विराधना की और ढिठाई भी की तो रागद्वेष रूपी रक्षको ने उसे मार डाला याने कि वह जन्म-मरण के चक्र मे फँस गया। कोई साधक प्रमादवश असयम अवस्था को प्राप्त हो जाय, किन्तु उस अवस्था से पुन.सयम मे लौट आवे और असयम मे फिर से प्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा कर ले तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। (२) प्रतिचारणा—सयम के सभी अंगो मे भली प्रकार चलना और सावधानतापूर्वक सयम को निर्दोष पालना। इसका भाव रूप यह है कि आचार्य रूपी सेठ ने सयम रूपी महल की साल-सम्हाल करने की आज्ञा दी। एक साधु ने प्रमाद और शरीर के सुख मे पड़कर

उसकी वेपरवाही की। वह ससार मे दु ख पाने लगा। दूसरे साधु ने संयम रूपी महल की अच्छी तरह साल-सम्हाल की—रोज उसे बार-बार देखता रहता और जरा-सी भी तरेड़ वगेरा दीखती तो तुरन्त मरम्मत कर लेता। वह मोक्ष रूपी सुख का भागी हो गया। (३) परिहरणा—सब प्रकार से छोड़ना अर्थात् वीतराग रूपी कुलपुत्र मनुष्य भव रूपी गोकुल से निर्दोष चारित्र रूपी दूध लाने की आज्ञा देते है। उस के दो मार्ग है—जिनकल्प और स्थविर कल्प। जिनकल्प का मार्ग सीधा पर अति कठिन होता है जिस पर उत्तम सहनन वाले महापुरुष ही चल सकते है। स्थविरकल्प का मार्ग उपसर्ग, अपवाद आदि के कारण लम्बा होता है। जो जिनकल्प के मार्ग का सामर्थ्य नहीं रखता फिर भी उस पर चलता है, वह सयम रूपी दूध के घड़े को रास्ते मे ही फोड़ देता है —चारित्र्यपतित हो जाता है। लेकिन जो समझदारी से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार सयम की रक्षा करते हुए धीरे-धीरे चलता है और स्थविरकल्प के मार्ग को अपनाता है, वह अन्त मे सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। (४) वारणा —इसका अर्थ होता है निषेध। जिसका भाव रूप है कि वीतराग रूपी राजा विषय भोगो को विष मिले पानी और अन्न को समान बताकर लोगो को उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जो उनकी शिक्षा नही मानते, वे भवचक्र मे भटकते रहते हैं किन्तु जो उस निषेध को मान लेते है, वे भव चक्र से छूट जाते है। (५) निवृत्ति— किसी काम से हट जाना। इसका भाव रूप है कि संयम भी एक प्रकार का युद्ध है। यदि उससे कोई भाग खड़ा होता है तो उसे लोगो की अवहेलना मिलती है किन्तु वह युद्ध मे लौट आता है और आलोचना व प्रतिक्रमण करके गुरु की आज्ञानुसार चलने लगता है तो वह संयम मे स्थित हो जाता है। (६) निन्दा—आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ कर्मों को बुरा समझना निन्दा है। आत्म-निन्दा द्वारा एक साधक प्रतिदिन अपने से कहे— हे आत्मन्, नरक तिर्यच आदि गतियो मे घूमते हुए अव तूने मनुष्य भव प्राप्त किया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी तुझे मिला है। इन्हीं के कारण तू माननीय भी हुआ है। अव घमड मत करो कि मै वहुश्रुत या उत्तम चारित्र वाला हूं। (७) गर्हा—गुरु की साक्षी से अपने किये हुए पापो की निन्दा करना गर्हा है। अपने दुष्चरित्र की निन्दा करने से पापकर्म ढीले पड़ जाते हैं और पाप हल्का हो जाता है। पाप के हल्के होने से साधना की सुदृढ़ता बढ़ जाती है। (८) शुद्धि—तपस्या आदि से पाप कर्मों को धो डालना शुद्धि है। साधक को भी काल का उल्लंघन किये विना आचार्य के पास अपने पापो की आलोचना कर लेनी चाहिये। यही भाव शुद्धि है। आत्मनिन्दा रूपी औषधि से अतिचार रूपी विष दूर हो जाता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रतिक्रमण रूप आत्मालोचना का क्रम निरन्तर नियमित रूप से चलता रहे तो मेरी आत्मा पाप-कार्यों मे उलझ-उलझ कर भी सुलझती जायगी और शनै शनै पाप के वोझे को हल्का वनाती जायगी।

आत्म समीक्षण से स्वरूप दर्शन

नियमित रूप से निरन्तर की जाने वाली आत्मालोचना से मुझे यह सुफल प्राप्त होगा कि मैं प्रतिक्षण अपने आत्म-स्वरूप के प्रति सावधान हो जाऊगा। इससे मेरी आत्म-समीक्षण की प्रवृत्ति वन जायगी। मै प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक जव अपनी आत्मा की समस्त वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को देखता रहूगा, जाचता एव परखता रहूगा तो प्रतिक्षण अपने आत्मस्वरूप को देखता भी रहूंगा ओर यह देखना ही मेरा आत्म-समीक्षण का रूप ले लेगा। सम्यक् प्रकार से अर्थात् समतापूर्वक देखना

समीक्षण कहलाता है और यह प्रक्रिया जब अपनी ही आत्मा के साथ चलेगी तब वह आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया होगी।

मैं आत्म-समीक्षण की अपनी इस प्रक्रिया मे देखने के साथ जो 'सम' शब्द लगा हुआ है उसको विशेष महत्त्व देना चाहता हू। मेरा देखना समतापूर्वक होगा—पक्षपातपूर्वक अथवा हठाग्रहपूर्वक नही। अपनी ही वृत्तियो को समभावपूर्वक देखना यद्यपि वड़ा कठिन कार्य होगा, फिर भी अभ्यासपूर्वक जव मै ऐसा करने लगूगा तब अपनी चित्तवृत्तियो को सम्यक् रीति से देखना मेरी साधना का एक अनिवार्य अग बन जायगा। जैसे किसी वस्त्र को धोने से पहले यह जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस प्रकार के दाग लगे हुए है। और उनको धोने के लिये किस साधन से किस प्रकार का प्रयास करना पड़ेगा, उसी प्रकार आत्म-स्वरूप की परिशुद्धि की दृष्टि से यह आत्मसमीक्षण अनिवार्य रूप से मुझे करना ही होगा। इसके बिना मेरा उसे शुद्ध बनाने का प्रयास अधूरा ही रहेगा तथा अविचारणा के साथ उसके विफल हो जाने की भी पूरी आशका वनी रहेगी।

मैं आत्म-समीक्षण के माध्यम से अपनी आत्म-वृत्तियो का सम्यक् एव सूक्ष्म अवलोकन करता रहूगा और यह जानते रहने की चेष्टा करूगा कि मेरे मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियो ने आक्रमण कर रखा है ? मन के स्वच्छ पटल पर कितने-कितने और कैसे-कैसे चिकने दाग लगे हुए है ? वह कलुषितता कितनी गहरी है तथा उसे धोने के लिये मुझे साधना किस रूप मे ढालनी होगी ? इन सब प्रश्नो पर मुझे गहरा चिन्तन करना होगा और आत्मदमन के उपायो से मन की चादर को धोनी होगी।

आत्म—समीक्षण इस प्रकार मेरे आत्म-विकास के लिये एक अमूल्य साधन सिद्ध होगा क्योंकि समीक्षण से स्वरूप दर्शन की निरन्तरता मेरे सामने वनी रहेगी। किन्तु आत्म-समीक्षण की उपयोगिता इस स्तर तक ही हो—ऐसी वात नही है। आत्म-समीक्षण की उपयोगिता मेरी आत्म-विकास की महायात्रा मे अन्त तक वनी रहेगी। स्वरूप दर्शन की अत्युच्च पराकाष्ठा तक यह प्रक्रिया मुझे असीमता मे रूपान्तरित करती रहेगी। अभी प्रारभ मे तो यह मेरे लिये मात्र निर्देशक का ही काम करेगी किन्तु बाद मे तो समीक्षण वृत्ति मेरे मन-वचन एव कर्म की समस्त योग क्रिया का केन्द्र ही वन जायगी।

मै मानता हू कि आत्म-समीक्षण कोई सामान्य प्रक्रिया नही होती है। यह मेरी अन्तर्प्रज्ञा के चक्षुओं को उघाड़ देगी। ज्ञान-चक्षुओं से आन्तरिकता के निरीक्षण-परीक्षण की कोई सीमा नहीं होती है जबकि बाहर के चक्षुओं की अपनी दृष्टि-सीमा होती है। स्वरूप दर्शन की उत्कृष्टता के साथ निरीक्षण-परीक्षण की यह सीमा निरन्तर फैलती ही जाती है और ज्ञान चक्षुओं का प्रकाश बढ़ता ही जाता है। यह प्रकाश ही तव मेरा आत्म-प्रकाश बन जायगा। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मेरी यह आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया समत्वपूर्वक ही प्रारभ होनी चाहिये तथा समत्वपूर्वक ही चलती भी रहनी चाहिये। सम्यक्त्व और समताभाव इस प्रक्रिया के आधारगत बिन्दु होने चाहिये। जैसे कि किसी मधुर खाद्य पदार्थ की तरफ मेरे मन की अत्यधिक आसक्ति बढ़ी तो मैं उस आसक्ति से दूर हटने के लिये उस खाद्य पदार्थ का इच्छापूर्वक त्याग ही कर दूंगा। इसके साथ ही अपने मन को ऐसा कठोर निर्देश भी दूंगा कि वह फिर से ऐसे आकर्षण के प्रति आसक्त और लिप्त न हो। यह निश्चित है कि

मेरे ऐसे निर्देशो को दीर्घ काल के अभ्यास के बाद ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। समय अवश्य लगेगा किन्तु इस अभ्यास से उन निर्देशो की प्राभाविकता भी स्थायी स्वरूप ग्रहण करती जायगी।

मै मेरे मन को ऐसे कठोर निर्देश देते समय इस बात का ध्यान रखूगा कि विवशतावश अथवा प्रमादवश होने वाली भूलो को मैं उसी क्रम से तथा उतनी ही सक्रिय सशक्तता से परिमार्जित करने का कार्य करूगा जिस क्रम से वे उत्पन्न हुई थी। इस पद्धति को अपनाने से मेरा आत्म-समीक्षण एक वैज्ञानिक रूप ले लेगा। यह सही है कि सभी भूलो का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक ही साथ होना सभव नही होगा, किन्तु स्थूल प्रवृत्तियो पर नियंत्रण करते हुए मेरा नियत्रण तदनन्तर सूक्ष्म वृत्तियो के परिष्कार तक भी पहुचता हुआ चला जायगा।

आत्म-समीक्षण से मेरी आत्म-चिन्तन तथा आत्मदमन की क्रिया वलवती बनेगी और जव तक मैं इसमें साधन रूप से सलग्न रहूगा तब तक मेरा अन्त करण उत्साह और उमग से परिपूरित रहेगा और भीतर की जिज्ञासा जागती रहेगी कि मै अपनी साधना के आगामी चरणो को सुनिश्चित करता रहू। तव मेरी साधना का क्रमिक विकास होता चला जायगा। समीक्षण पूर्वक आत्म-चिन्तन एव आत्म-सशोधन ही उसका आधार बनेगा।

मै प्रति रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में स्वय अपनी आत्मा का निरीक्षण करूगा और विचार करूगा कि मैंने कौनसे अपने कर्त्तव्य पूरे किये है तथा कौनसे कर्त्तव्य पूरे करना शेष है और किन-किन शक्य अनुठानो का मै आचरण नहीं कर रहा हू ? मै चिन्तन करूंगा कि दूसरे लोग मुझ मे क्या दोष देख रहे है और मुझे अपने-आपमे क्या-क्या दोष दिखाई दे रहे है। इन दोषों के बारे मे मैं अपने-आपसे ही प्रश्न करूगा कि क्या मै इन दोषो को नहीं छोड़ रहा हू ? तब मै सकल्प लूगा कि सम्यक् रीति से अपने दोषो को देखते हुए भविष्य मे मै ऐसा कोई दोषपूर्ण कार्य नहीं करूगा जिससे कि मेरी साधना मे बाधा पहुचे। मैं जव भी अपनी आत्मा को मन, वचन एव काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारो मे लगी हुई रखूंगा, उसी समय उसे शास्त्रोक्त विधि से दुष्ट व्यापार से हटाकर सयम व्यापार मे लगा दूगा। जैसे आकीर्णक जाति का घोड़ा लगाम के नियत्रण मे रहकर सही रास्ते पर चलता जाता है, उसी प्रकार मै अपनी आत्मा के विधिपूर्वक एव नियत्रणपूर्वक सयम के राजपथ पर चलता रहूगा। मै जानता हूँ कि जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध हो जाती है, वह जल पर चलने वाली सुघड़ नौका के समान वन जाती है। वैसी आत्मा ही सुघड़ नौका की तरह ससार रूपी महासागर के उस पार पहुँच कर अपने को सभी प्रकार के दु.खो से मुक्त कर लेती है।

आत्म-चिन्तन की पावन धारा मे प्रवाहित होते हुए मुझे अनुभूति होती है कि आत्मा को वश मे करना अति कठिन कार्य है, फिर भी उसका सशोधन करते रहना चाहिये क्योकि जो अपनी आत्मा को विपयो की दृष्टि से वश में कर लेता है, वह इहलोक और परलोक दोनो जगह सुखी वनता है। दूसरे लोग वध, वन्धन आदि साधनो से मेरा दमन करे—इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं ही सयम और तप का आचरण कर अपने आप ही अपना दमन करूं। यह दमन अपनी आत्मा को विपयो की ओर जाने से रोकने के रूप मे होगा। समस्त इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो की ओर जाने से रोककर मैं पापो से अपनी आत्मा की रक्षा करूगा क्योकि पापो से अरक्षित आत्मा ही संसार-परिभ्रमण करती है और सुरक्षित आत्मा ससार के सभी दु खो से मुक्त हो जाती है। मै सोचता हू कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मै मनोज्ञ शब्दो मे राग नहीं करूगा और अमनोज्ञ शब्दो से द्वेप

भी नहीं करूगा। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियो के निग्रह से मै राग-द्वेष के कारणक कर्मों का बध नहीं करूगा और पुराने वाधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करूंगा। जब-जब भी मुझे मेरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो की तरफ दौड़ाकर मुझे पीड़ित बनायगी, तब-तब मैं नीरस भोजन करने लगूगा, अल्प भोजन करूगा, खड़ा रह कर कायोत्सर्ग करूगा और आवश्यकता समझूगा तो आहार का कतई त्याग कर दूगा किन्तु काम भोगो की ओर मन को नही जाने दूगा तथा अपनी साधना को विकृत नहीं होने दूगा। मेरा जब ऐसा निश्चय बन जायगा कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु वीतराग देव की आज्ञा का उल्लंघन न करू, तब मुझे मेरी इन्द्रियाँ सयम-पथ से विचलित नही कर सकेगी। मै समझता हूँ कि मेरा यह मन रूपी घोड़ा बड़ा उद्दड, भयकर और दुष्ट है तथा उन्मार्ग की ओर दौड़ता रहता है, मैं यह भी समझता हू कि मैं इसे धर्म शिक्षा के द्वारा ही अपने वश मे करके सम्यक् मार्ग पर दौड़ा सकता हू। इन्द्रियो और मन के सारे विषय रागी-मनुष्य के लिये दु खदायी होते हैं किन्तु वीतराग पुरुष को ये विषय कभी तनिक-सा भी दु'ख नही दे सकतेहै—ऐसा सोचकर मैं राग और द्वेष को जीतने तथा मोक्ष की ओर आगे बढ़ाने वाली कठिन साधना मे निरत बना रहूगा। यही मेरा आत्म-समीक्षण से आत्मचिन्तन तथा आत्म-दमन का क्रम होगा जिससे मैं भलीभाति अपने स्वरूप-दर्शन करूगा तथा निरन्तर करता रहूगा।

परिमार्जन, संशोधन व संशुद्धि

आत्म-स्वरूप के निरन्तर निरीक्षण-परीक्षण की प्रक्रिया से मै जव अपने दोषो को पहिचान लूगा, उनके कारणो को जान लूगा तथा उनके घनत्व को भी समझ लूगा तव उन्हे परिमार्जित कर लेने की मेरी अभिलाषा प्रवल वन जायगी, क्योकि मैं यह भी सुनिश्चित कर सकूगा कि किस प्रकार की साधना के वल पर उन दोषो का सफलतापूर्वक परिमार्जन हो सकेगा ?

मेरी प्रक्रिया तव त्रिरूपवती हो जायगी—परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया। परिमार्जन याने मैल को मिटाना, सशोधन याने स्वरूप को सुधारना तथा सशुद्धि याने मैल को पूरी तरह धोकर स्वरूप को शुद्ध वना लेना। जैसे किसी धव्वो वाले कपड़े को उजला बनाना हो तो पहले उसके चिकने धव्वो पर किसी ऐसे रसायन का प्रयोग करना पड़ेगा जिसके असर से उन धव्वों का मैल गलकर मिटने लगे। फिर पूरे कपड़े पर सावुन आदि का प्रयोग करना पड़ेगा जिससे कि उसका समूचा स्वरूप सुधरने लगे। उसके वाद साफ पानी से धोकर उसे पूरी तरह उजला वना सकेगे। यही क्रिया मेली आत्मा को उजली वनाने के लिये भी करनी होगी। यदि निष्ठापूर्वक मैं इस त्रिरूपवती क्रिया पर आचरण करू तो कोई कारण नहीं कि मैं अपने आत्म-स्वरूप को परम विशुद्ध न वना सकू।

मै मानता हू कि परिमार्जन, संशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया निरतर क्रियाशील प्रक्रिया वन जाती है क्योंकि मेरा 'मैं' एक पल के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता है। मै निरन्तर कोई न कोई क्रिया करता रहता हूं और उस क्रिया से सम्वन्धित कर्म वंध मेरे होता रहता है। अशुभ क्रिया होगी तो अशुभ कर्मों का वध होगा और उसके कारण मेरे आत्म-स्वरूप पर मैल की एक और परत चढ़ेगी। उस मैल को माजने, सुधारने व धोने की प्रक्रिया भी तव मैं साथ-साथ मे चलाऊगा। किन्तु शुभ क्रिया होगी और शुभ कर्मों का वध होगा तव भी मुझे उनके शुभ फल का उपभोग करना होगा। शुभ फल का उपभोग करते समय सच पूछें तो मेरी सावधानी और अधिक वढ़ जानी

चाहिये। प्रतिकूलताएँ सामने आती है और दु खदायी होती है—इस कारण उनसे सफल सघर्ष करना फिर भी सरल होता है। परन्तु अनुकूलताओं के सुख के समय उनमे रहे हुए आकर्षण को समझना, अपने क्रियाकलापो को संयमित रखना और सबसे ऊपर सम्यक्त्व एव समभाव को प्रखर वनाये रखना अपेक्षाकृत बहुत कठिन होता है। यदि उस समय मे मुग्धता, प्रलुब्धता तथा मोहाविष्टता का भाव समा जाय तो वे अनुकूलताएँ आत्मा के किये कराये परिश्रम को तो नष्ट कर ही देती है अपितु असज्ञा के ऐसे दलदल मे पुन फसा देती है और आत्मस्वरूप को मिथ्यात्व के काले रग मे इस तरह रग देती है कि उस दलदल से बाहर आना और काले रग को मिटाना एक भगीरथ कार्य हो जाता है।

अत मै अनुकूलताओं की उपस्थिति मे अपने-आपको अधिक जागरूक बना लेता हू और वह भी दो प्रकार से। एक तो उस प्राप्त अनुकूल सुख सुविधा में अपने को कतई असयमित नहीं वनाऊं तो दूसरे, उन अनुकूलताओं को अपने आत्म-विकास की सहयोगी सामग्री बनालूं। समझिये कि यह मनुष्य जीवन जो मुझे मिला है। वह एक सुखदायी अनुकूलता है क्योंकि इसके कारण मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन कैसा भी अनुभव लेने मे सक्षम है। एक प्रकार तो यह हो सकता है कि मै काम भोगों की तरफ आकृष्ट हो जाऊं तथा इन्द्रियों व मन के विषयो मे रम जाऊं। जिनेश्वर के सिद्धान्तो के प्रतिकूल श्रद्धा वाला वन जाऊंगा। यह दशा मिथ्यात्व की हो जाती है। दूसरा प्रकार होगा कि मैं प्राप्त इस मनुष्य जीवन का आत्म-साधना के हित मे पूर्ण सदुपयोग करू। यह मेरी आत्मा की जागृत अवस्था होगी तथा ऐसे समय मे सम्यक्त्व का मेरे भीतर सद्भाव होगा।

अत परिमार्जन, संशोधन एव संशुद्धि की प्रक्रिया के प्रति मेरी जितनी अधिक सावधानी होगी, उतना ही मै प्रतिकूलताओं मे तथा अनुकूलताओं मे भी अपने-आपको संयम मे स्थिर रख सकूगा। मिथ्यात्व के अधेरे को ऐसी मन स्थिति के साथ मैं दूर हटाते रहने मे और अपनी आन्तरिकता मे सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाते रहने मे भी सफल हो सकूगा।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व संघर्ष

मैं जव आत्म-नियत्रण, आत्मालोचना, आत्म-समीक्षण, आत्म-चिन्तन, आत्म-दमन तथा परिमार्जन- संशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया मे से प्रतिदिन गुजरता रहूंगा, तव मेरे भीतर मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व का तुमुल सघर्ष आरभ हो जायगा। एक ओर विषय, कषाय, काम भोग, मोह, प्रमाद आदि के रूप मे विकृत वृत्तियाँ मेरी इन्द्रियो को, मेरे मन को तथा मेरे 'मै' को भी मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण मोहदशा की ओर खीचेगी तो दूसरी ओर मेरी जितनी साधी हुई, जागृति होगी उसके अनुसार मेरा 'मैं' अपने आपको स्थिर रखेगा एव अपनी इन्द्रियो तथा मन को विदशा मे जाने से रोकेगा। जव तक मै विकारो का पूरी तरह से विनाश नही कर लूंगा तव तक अपने भीतर मे यह कठिन सघर्ष चलता ही रहेगा। कभी दो पग इधर तो कभी दो पग उधर का दृश्य पैदा होता रहेगा। कभी पांव जमेगा तो कभी उखड़ भी जायगा। कभी पांव जमाकर सम्यक्त्व की दिशा मे कदम वढ़ेगे तो कभी पांव फिसल कर मिथ्यात्व की ओर झुक जायेगे। कभी-कभी तो सम्यक्त्व की दिशा मे वहुत आगे तक वढ़ जाने याने कि व्रती आदि हो जाने के वाद भी ऐसी फिसलन आ सकती है कि मैं लुढ़कता हुआ फिर से मिथ्यात्व के गढ्ढे में गिर पड़ू। यह भीतर का द्वन्द्व वहुविध वहुरूपी वनकर चलता रहता है, किन्तु यह द्वन्द्व अवश्य ही इस तथ्य का प्रमाण होता है कि मेरे अन्त करण में आत्म-विकास की जागृति का सूत्रपात हो चुका है।

मिथ्यात्व—सम्यक्त्व सघर्ष की वेला मे मेरा 'मैं' द्विरूपी हो जाता है अथवा यो कहें कि वह दो भागों मे बंट जाता है। एक 'मै' दूसरे से कहता है—ऐ मूर्ख, क्या सयम और साधना की बात करता है ? देख, यह मनुष्य तन मिला है—सशक्त इन्द्रियाँ और मस्त मन मिला है। इनको पूरी तरह काम मे ले और ससार के काम भोगो का आनन्द उठा। ऐसा तन और जीवन वार-बार नहीं मिलेगा। जवानी दो दिन मे वीत जायगी और फिर दूसरे लोगो को ये आनन्द उठाते हुए देखकर पछतायगा। तेरे तन की आज जवानी है, सुगठित स्वास्थ्य है, धन और सारी सुख सामग्री सामने है देखता क्या है—मस्त वन और मौज उड़ा। जिनेश्वरो के सिद्धांन्तो का आज कोई औचित्य नहीं है। दूसरा 'मैं' इसे सुनता है और एकदम कोई उत्तर नहीं दे पाता है, वल्कि विचार मे पड़ जाता है। तव पहला 'मैं' अधिक जोश से कहने लगता है—अरे, सोच मे क्या पड़ गया है ? यह आयु सोच करने की नहीं है—वैठने और चलने की भी नहीं है। यह आयु तो हजार-हजार उमगो के साथ उड़ने की है। सुन, कितना कर्णप्रिय संगीत आ रहा है ? सुनकर तबियत वाग-वाग हो उठती है। देख, कितनी रूपवती कन्याएँ तुझे रिझाने के लिये सामने खड़ी है ? क्या इनकी अनुपम सुन्दरता तुझे मुग्ध नहीं वना रही है ? सूंघ, कितनी मस्त वना देने वाली इत्रो और सेटो की सुगन्ध है ? सूघकर ही तन-मन में मस्ती छा जाती है। तेरे सामने कितने प्रकार के सुमधुर तथा सुस्वादु व्यजन रखे हुए है, एक कौर चखकर तो देख—फिर कहीं उगलियाँ ही न काट खावे ? और इस शयनगृह मे प्रवेश तो कर—इसकी हर सजावट का स्पर्शसुख तो महसूस कर, तेरा रोम-रोम सुख के हिडोल मे झूलने लगेगा। कुछ भी सोच मत—रग, तरग और उमग के इस सरोवर मे आखे वन्द करके कूद जा —सुखो का पार नहीं है। इसका 'मैं' और अधिक चिन्ताग्रस्त हो गया—तव तक वह चिन्तनमग्न नहीं हो पाया था। वह किकर्त्तव्यमूढ़ता मे पड़ा हुआ था। यह देखकर तो पहले 'मै' का हौसला बहुत ज्यादा बढ़ गया। उसने अपनी दासियों और दास को आदेश दिया कि वे इस दूसरे 'मैं' को पकड़ कर मेरे पास ले आवे, ताकि हम दोनों आलिगनवद्ध होकर एक हो जावे और ससार के भोग-परिभोग मस्त होकर भोगे।

तव दूसरा 'मै' कुछ जागा क्योकि उसे अपने स्थान से डिगाये जाने का खतरा पैदा हो गया था। जागा तो उसकी चिन्तन-धारा भी सक्रिय हुई। अपने भीतर ही उसने विचार शुरू किया पहले कि क्या उस 'मै' के कहने मे कोई सच्चाई है ? क्या मनुष्य तन संसार के काम भोग भोगने के लिये ही मिला है अयवा चार गति चौरासी लाख योनियो की यह दुर्लभ प्राप्ति, धर्म का साधन वनने के लिये वड़े पुण्योदय से मिनी है ? यह पुकारने वाला 'मैं ' क्या अलग है और क्या 'मैं' अलग हूँ ? यदि हम दोनो एक है तो वह मेरे से वहक कर अलग क्यो रह गया है ? क्या मेरा यह कर्त्तव्य नही है कि पहले तो मै ही स्थिर वना रहूं और फिर उस 'मै' को भी अपने मे मिला लू ? हम दोनो एक ही तो हैं—वह वहका हुआ भाग और मै सधा हुआ भाग। ज्यो-ज्यो ये प्रश्न दूसरे 'मैं' को मथने लगे, उसका चिन्तन पुष्ट होता गया। तव उसने अपनी चुप्पी तोड़ी। वह स्नेह भाव से मधुर स्वर में वोला-भाई, तुम मुझे पुकार रहे हो—यह दोहरी भूल कर रहे हो। एक तो तुम खुद पदार्थ-मोह और काम भोगो मे पागल वन गये हो तो मुझे भी पतित वनने का आह्वान कर रहे हो। तुम सोचो कि क्या तुम सही जगह पर खड़े हो ? क्या तुम्हें अपनी जगह से कुछ भी दिखाई दे रहा है ? जव घटाटोप अन्धकार में खड़े हो तो भला तुम्हे कुछ भी दिखाई थोड़े ही दे रहा होगा ? देखते नहीं, मैं प्रकाश मे खड़ा हूं —मेरी सम्यक्त्व की पवित्र जगह है और तुम मिथ्यात्व के अधेरे मे अपने आपसे विस्मृत हो। यो मानो कि तुम अधे हो और मैं दृष्टिवान्। इसलिये अच्छा होगा कि तुम ही

मेरे पास चले आओ। तुम को और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा होगा किन्तु मै अवश्य दिखाई दे रहा होऊगा क्योंकि मै सम्यक्त्व के प्रकाश से आवृत्त हूँ। नजर उठाओ मेरी तरफ और चलना शुरू कर दो। उस जिनवाणी से विपरीत होने से अन्धकार मे है। और मै जिनवाणी के अनुकूल श्रद्धा आदि वाला होने से प्रकाश मे हूँ।

अव पहले 'मै' के चुप हो जाने की बारी आ गई थी। वह सोच मे पड़ गया कि क्या वह सही है या दूसरा 'मै' सही कह रहा है ? उसने महसूस किया कि वह अंधेरे मे खड़ा है। हकीकत मे उसको कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, लेकिन वह इस दूसरे 'मै' को देख पा रहा है—ऐसा क्यों है ? क्या प्रकाश उसके पास है और वह सिर्फ अंधेरा भोग रहा है ? उसने महसूस किया कि उसके पाव लड़खड़ाने लगे हैं और उसका सारा शरीर कापने लगा है। वह लज्जा के मारे जमीन मे गड़ने लगा लेकिन यह सोचकर कुछ राहत पाने लगा कि अधेरे के कारण उसकी लज्जा दूसरे 'मैं' से छिपी हुई है। उसका मुह खुल नही पाया और वह चुपचाप ही खड़ा रहा।

तव दूसरे 'मै' ने उत्साहित होकर—कहा इसमे लज्जा की कोई बात नही है, यदि तुम अंधकारपूर्ण मिथ्याव को पहिचान लो। देखो, मेरी आवाज सुनो और जागृति की अंगड़ाई लो। तुम अपने चेतन स्वरूप को भूल गये हो और जड़ तत्त्व को अपना मान वैठे हो, इसी कारण संसार के झूठे सुखो की खोखली पैरवी कर रहे हो। तुम नही देख रहे हो कि पदार्थ-मोह से जड़ग्रस्त होकर पापो के पंक मे गहराई तक डूब जाने की तुम तैयारी कर रहे हो। सुनो, मै तुम्हे तुम्हारी विकृति का भान कराता हूँ जिससे तुम अपने निज के सुख तथा जड़ पदार्थों के सुख में भेद कर सको और पापो के क्षेत्र से बाहर निकल कर बहुमुखी शुभता से अपने स्वरूप को उज्वल बना सको।

पहला 'मैं' स्तव्ध था और था हतप्रभ। वह बोला कुछ नही, मगर उसने आखो ही आखो सकेत दिया कि वह पापो को त्याग कर मिथ्यात्व के अंधेरे से वाकई वाहर निकल जाना चाहता है और सम्यक्त्व का प्रकाश आत्मसात् कर लेने को उत्सुक है। दूसरे 'मै' ने तव घोर गभीर वाणी मे उद्वोधन दिया—मेरे भाई, ये पापपूर्ण क्रियाएँ पाप-कर्मों का वध कराती है और फल, वध व उदय के चक्र मे पाप से पाप वढ़ता जाता है। इस कारण पापों के क्षेत्र को छोड़ो, अठारह पापो से क्रमश· कठिन संघर्प करो और अपने मूल गुणों को अपनाकर अपना वास्तविक विकास साधो।

दूसरे 'मै' का उद्वोधन प्रेरणा के प्रवाह मे वहने लगा—अपने झूठे सांसारिक सुखो के लोभ मे अथवा उनकी प्राप्ति या रखवाली मे जव भी तुम्हारी वृत्ति हिसा की तरफ आगे वढ़े तो तुम अपने आपको रोको, प्रमादवश किसी भी प्राणी के प्राणो को कष्टित वनाने के लिये आगे मत वढ़ो और हिंसा का सामना अपनी अहिसा वृत्ति से करो। अहिसा का अस्त्र तव हिसा को दूर भगा देगा और तुम अन्य प्राणियो के प्रति करुणा, सहानुभूति एवं सहयोगिता से भर उठोगे। जव झूठ किसी भी स्वार्थ या कारण से तुम्हारे मन मे उतरने लगे और जीवन पर चढ़ने लगे तो उसको दूर धक्का दे दो। उस समय सत्य का स्मरण करो और सत्य को अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों मे रमा लो। मृषावाद दूर भाग जावगा। जव तुम अपनी अनन्त इच्छाओं के कुप्रभाव से दूसरो की प्राप्तियो को चुराना या छीनना चाहो तो अचौर्य की भावना से अभिभूत वन जाओ और विचारो कि मुझे किसी भी दूसरे प्राणी को गुलाम नहीं वनाना है, किसी के भव्य हितो को आघात नहीं पहुचाना है वल्कि दूसरो की पीड़ाओं को दूर करने के लिये मुझे कार्यरत होना है। तव तुम शोपण या अकार्य नहीं करोगे। जव तुम्हारे सामने सुन्दर कामातुर रमणिया आवे और काम भोगो का न्योता देने लगे तव तुम फिसलो मत, ब्रह्मचर्य का

ध्यान करो और अपने को कुशील सेवन से बचालो। सब रमणियाँ तुम्हे अपनी माता और बहिनो के समान दिखाई देगी। जव तुम्हे परिग्रह की मूर्छा सताने लगे और सोने-चादी या सत्ता-सम्पत्ति की विपुलता ललचाने लगे तो तुम मूर्छा को त्याग दो, अपनी आवश्यकताओं की न्यूनतम मर्यादाए बाध लो और परिग्रह को मिट्टी के ढेले की तरह मान लो, तव मूर्छा और मोह तुम्हारा साथ छोड़ देगे, तुम निस्पृह वन जाओगे।

दूसरा 'मैं' कहता जा रहा था और पहला 'मैं' भावाभिभूत बना उस प्रवोधन को तन्मयतापूर्वक सुन रहा था—जब तुम्हे क्रोध आवे, शान्त हो जाओ और उसे बाहर प्रकट मत होने दो, क्षमा के शीतल जल से क्रोध की अग्नि को तत्क्षण बुझा दो। जव मान तुम्हारी गर्दन और तुम्हारे तन को तनाव दे दे तो तुम विनम्र वन जाओ और नम्रता से मान को जीत लो। माया जव तुम्हें प्रपच रचने की कुटिल सलाह दे तव तुम उसे ठुकरा दो और अपने हितो को सरलता से सुलझा लो। लोभ के तो तुम पास मे भी मत फटको और लाभ के जजाल मे मत पड़ो अपनी सन्तोष वृत्ति से इस जजाल का एक-एक ताना वाना तोड़ दो। अपने सम्वन्धो या पदार्थों पर जव राग वृत्ति उमड़ने लगे तो वैराग्य भाव लाकर सोचो कि यह राग मेरा नहीं है, मेरा तो वैराग्य और वीतराग भाव है जिसकी आराधना से ही मेरे विकास का मार्ग निष्कटक बन सकेगा। द्वेष को भी तुरन्त दबा दो क्योंकि द्वेष प्रतिशोध के लिये उतारू वनाता है। द्वेष की जगह सव पर अपने स्नेह की छाया तान दो। किसी भी कारण से किसी के भी साथ कलह मत करो—उसके स्थान पर सम्प और एकता वनाओ। तव सवके स्नेह से तुम आप्लावित हो जाओगे। किसी पर झूठा कलक मत लगाओ, किसी की चुगली मत खाओ और किसी की निन्दा मत करो। अन्दर-वाहर को दोगला मत रखो। एक वृत्ति वना लो ताकि कपट सहित झूठ वोलना भी छोड़ दो। और सवसे बड़ी बात है कि कुदेव पर श्रद्धा मत करो, कुगुरु के कहने पर मत चलो एव कुधर्म की प्रवृत्तियाँ मत अपनाओ। देव के गुणो को समझो, परीक्षा करो और सुदेव को अपनी श्रद्धा का केन्द्र वनाओ। गुरु के आत्म-विकास को परखो और सुगुरु की आज्ञा मे चलो। धर्म के लक्षणो का अध्ययन करो, सुधर्म के सिद्धान्तो के मर्म को हृदयगम करो तथा उसके निर्देशो का पालन करो। इस प्रकार सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर श्रद्धा करते हुए मिथ्यात्व के अधकार से वाहर निकलो तथा सम्यक्त्व के प्रकाश मे पग धरो मेरे भाई।

इतना कहकर दूसरा 'मैं' चुप हो गया और पहले 'मै' पर अपने कहने की प्रतिक्रिया देखने लगा। तव तक पहले 'मैं' का कदम आगे उठ चुका था और उसने दूसरे 'मै' की तरफ चलना शुरू कर दिया था। थोड़ी ही देर मे दोनों 'मैं' गले मिल गये और सम्यक्त्व के प्रकाश में एकमेक वन गये।

यह 'मैं' एकीभूत हो गया था, विचारो के द्वन्द्व से उवर कर समझ गया था कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण मेरा नहीं है। ये तो पर पदार्थों के प्रति मोह के कारण और पाप कार्यों के आचरण के कारण मेरे स्वरूप के साथ लिपट गये थे। अव मैंने अलग हो जाने के लिये कदम वढ़ा लिया है तो मैं मिथ्यात्व को पूरी तरह त्याग कर सम्यक्त्व के आलोक मे आगे वढूगा।

मेरे मन का एक तथ्य और वता दू कि एक ही सघर्ष मे मैं मिथ्यात्व पर पूर्ण विजय नहीं पा सका था। वार-वार यह द्वन्द्व मेरे भीतर उठता है किन्तु मेरा दूसरा 'मैं' वल पकड़ता जा रहा है, इस कारण पहले 'मै' के वहक जाने पर वह पुन. पुन॰ उसे समझाता है और अपने मे मिलाकर साधना के पथ पर प्रगति करता रहता है।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का ऐसा सघर्ष मेरे भीतर निरन्तर चल रहा है —प्रत्येक क्रिया पर चलता है, कभी उग्र होता है तो कभी मन्द, किन्तु सन्तोष का विषय यही है कि मै प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

समग्र आत्माओं की एकरूपता

मैंने इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञान किया है कि ससार मे परिभ्रमण करने वाली समग्र आत्माओं मे अपने मूल गुणो की दृष्टि से एकरूपता विद्यमान है जैसी कि सिद्धात्माओं की एकरूपता है। यह एकरूपता है—यह एक सत्य है।

सत्य तो है किन्तु आवश्यकता इस बात की भी है कि मै समग्र आत्माओं की इस एकरूपता को मानू। होने के साथ अगर मानना नहीं हो तो अभिवांछित व्यवहार का निर्माण नहीं हो सकता है। जव मै हृदय से इस एकरूपता को स्वीकार करता हूं तो मेरा आचरण इसी स्वीकृति पर आधारित होगा।

मैं तभी यह सोच पाऊंगा कि मै दुःख नहीं चाहता और सुख चाहता हू, उसी प्रकार सभी प्राणी दु ख नही चाहते, सुख चाहते है तो मै अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप मे इस बात का ध्यान रखूगा कि मैं अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को दु ख नही दू और अपनी शक्ति के अनुसार उनके दु.ख दूर करू एव उन्हे सुख देने का प्रयास करूं। मेरी यह मान्यता मेरे आचरण मे उतर कर सामाजिक व्यवहार मे एक मूल्य की स्थापना करेगी। तब यह स्पष्ट होगा कि सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार एक सामाजिक मूल्य है और इसको ही आधार मान कर सभी प्राणियो को अपना पारस्परिक व्यवहार सुनिश्चित करना चाहिये। तभी सामाजिक जीवन मे अहिसा प्रवेश पा सकेगी, क्योंकि सभी इस वस्तुस्थिति को मान लेगे कि किसी भी प्राणी के प्राणों को दु खित करना हिसा है तथा प्रत्येक प्राणी के प्राणो की रक्षा करना अहिसा है। अहिसा-पूर्ण व्यवहार के साथ ही इस आत्मीय भावना का विकास होगा कि जीओ ओर जीने दो।

यहाँ पर मैं इस तथ्य को हृदयगम करना चाहूगा कि यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति के सगठन से ही समाज का निर्माण होता है फिर भी व्यक्ति की शक्ति से भी ऊपर एक सामाजिक शक्ति का भी निर्माण हो जाता है। अहिसापूर्ण आचरण से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक साथी तथा अन्य प्राणी के प्रति अपने हार्दिक सहयोग से सम्वन्धित होगा तो सम्पूर्ण सामाजिक आचरण को भी इस रूप मे ढालेगा कि वह सामाजिक शक्ति सवको आगे वढ़ाने में सहायक वने। व्यक्ति अपने स्तर पर कार्य करता है तो इस सामाजिक शक्ति का कार्य सभी प्राणियो को आधार मान कर सामूहिक हित के रूप मे संचालित होता है।

मै यो मानता हू कि तव समाज और व्यक्ति एक सामूहिक शक्ति के ऐसे दो छोर वन जाते हैं जो दोनों ओर से प्राणियो को अपने व्यवहार मे विकास लाने की प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयासो में सलग्न होता है तो सामाजिक शक्ति के द्वारा सर्वत्र ऐसे वातावरण का विकास किया जाता है जिसमे व्यक्ति के अपने विकास के प्रयत्न अधिक सुविधा से सफल वन सकते हैं। इसे इस तरह समझे कि व्यक्ति अपने प्रयासों में अपने पांवो की शक्ति को सुदृढ वनाता है ताकि यह सुस्थिर गति से चल सके तो सामाजिक प्रयासो का यह लक्ष्य होना चाहिये कि उनके द्वारा ऊवड़-खावड़ व काटो भरे धरातल को समतल और साफ वनाया जाय। यदि धरातल कठिनाइयो से भरा हुआ ही रहे तो व्यक्तियो को अपनी गति वनाने मे वहुत ज्यादा शक्ति का व्यय करना पड़ेगा और हो सकता है कि उस परिस्थिति मे कई कम शक्ति वाले व्यक्ति अपनी चाल को ठीक नही कर पावे और उनके विकास

का क्रम टूट जाय। किन्तु जब सामाजिक शक्ति के प्रयोग से सुन्दर धरातल का निर्माण हो जाय तो शक्ति के ऊचे-नीचे स्तरो पर रहे हुए व्यक्तियो को भी चलना आसान हो जायगा। वर्तमान वातावरण की दृष्टि से मै इसको इस रूप मे भी समझ सकता हू कि अपने नैतिक एव आध्यात्मिक प्रयासो से व्यक्ति समाज मे फैली हुई आर्थिक विषमता को दूर करने की दिशा मे कार्यरत होता है, उस समय सामाजिक प्रयासो के रूप मे समाजवाद, साम्यवाद या ऐसी ही किसी विचारधारा का प्रयोग किया जाता है तो वह विषमता अधिक आसानी से दूर की जा सकती है। अत इस दृष्टि से समग्र आत्माओं मे एकरूपता की मान्यता समाज और व्यक्ति मे अधिक समरसता उत्पन्न कर सकती है।

दूसरा सूत्र और मेरा संकल्प

मैने इस दूसरे सूत्र के सदर्भ मे यह जान लिया है कि मैं प्रवुद्ध और सदा जागृत हूँ। मेरा 'मैं' स्वय अपना ज्ञाता है और इसी कारण वह सदा जागृत रह सकता है। जो अपने को जान लेता है, वह सबको जान लेता है तथा जो सवको जान लेता है, वह अपने को भी जान लेता है। स्वरूप ज्ञान ही वास्तव मे विश्व-ज्ञान होता है। स्वरूप दर्शन ही जगत्-दर्शन है। इस कारण मैं सोच लेता हू कि इस ससार मे मेरा अपना क्या है तथा क्या मेरा नहीं है। जीव और अजीव की युति मे अपने निज के स्वरूप को मै समझ लेता हूँ और जड़ तत्त्व को समझ कर उससे सम्वन्ध त्यागने के सारे यत्न आरभ कर देता हूँ। इस दृष्टि से एक ओर मैं पदार्थ-मोह को छोड़ता हूँ और अपने शरीर पर से भी ममता हटाता हू तो दूसरी ओर पदार्थ-मोह के कारण पैदा होने वाली अपनी विकार वृत्तियो को भी मैं परिमार्जित, सशोधित एव सशुद्ध बनाता हूँ। ये ही वे यत्न है जिनके कारण मैं मानता हू कि मेरा आत्म-स्वरूप उज्ज्वल बनेगा तथा मेरी आत्मा मुक्ति के गतव्य की दिशा मे आगे बढ़ेगी।

अत मै संकल्प लेता हूँ कि संसार के जड़ पदार्थों को मै कभी अपने नहीं मानूगा। अपने ही शरीर को भी अपना नहीं मानूगा। नहीं मानने के साथ ही मैं इन पर से अपना ममत्व भी घटाते हुए नष्ट कर दूगा। मोहग्रस्तता से उत्पन्न मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण को भी मै अपना नही मानूगा तथा सम्पूर्ण मिथ्यात्व के अधकार से वाहर निकलूगा एव अपने मन, वचन एव कर्म की क्रियाओं के कारण पुन' उस अधकार मे नही जाऊगा।

मै सकल्प लेता हू कि पर-पदार्थों के प्रति उपजे अपने प्रगाढ़ मोह को अपनी साधना के अभ्यास से समाप्त करके एव पाप कार्यो से शनै. शनै ही सही पीछे हटकर मैं सम्यक्त्व के आलोक मे पग धरूगा तथा सदा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण से अनुप्राणित रहूगा। मैं अपने सम्यक्त्व की अवधारणा को नवतत्त्व के ज्ञान पर आधारित रखूगा ताकि वह कभी डगमगायगी नही। सम्यक्त्व को परिपुष्ट वनाने की प्रक्रिया मे मै सदैव आत्म-नियंत्रण आत्मालोचना तथा आत्म-समीक्षण की पद्धति को अपनाऊगा ताकि मेरी आत्मा के मूल गुण प्रकट होते रहे और वह अपने विशुद्ध स्वरूप के प्रति निष्ठा धारण कर ले।

मेरा यह सकल्प होगा कि मै स्वय के आत्म-विकास को साधता हुआ ससार की समग्र आत्माओं के विकास मे कार्यरत वनूगा जिसके कारण मेरा आत्म-विकास भी सपुष्ट वन सकेगा। मैं आत्म विसर्जन की उस भूमिका तक वढ़ चलूगा जहा संसार की समस्त आत्माओं मे एकरूपता के दर्शन होते हैं।

अध्याय चार

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ३ :

मै विज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है

और कौनसे सिद्धान्त अपनाने है?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मै सत्य श्रद्धा एव श्रेष्ठ सिद्धान्तो से कितना दूर हूँ? मै सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूगा, श्रावकत्व एव साधुत्व के पालन मे सत्सिद्धान्तो के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूँगा और ज्ञान व क्रिया के सयोग से निर्विकारी बनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

सूत्र तीसरा

मै विज्ञाता हूँ, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान का महासागर मेरे भीतर तरगित हो रहा है। ऐसा महासागर जिसमे अनन्त सीपियॉ अपने मुह बद किये विश्राम कर रही है। उनमे अनन्त मोती हैं परन्तु वन्द है। ये ज्ञान विज्ञान के मोती-अमूल्य मोती है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मैं इस रहस्य को जानता हूँ या इस रहस्य से मै अभी तक अनभिज्ञ ही हूँ? इस अवसर पर मुझे एक कथा याद आ रही है। एक हीरो की खान थी विना खोदी हुई। कोई नहीं जानता था कि इस छोटी सी टेकरी के नीचे बहुमूल्य हीरे दबे पड़े हैं। एक महात्मा ही उसे जानता था जो टेकरी पर बैठा हुआ था। उस ओर से एक आदमी गुजर रहा था, महात्मा ने उसे वुलाया और कहा—भद्र, यहाँ आओ और यहाँ से भूमि को खोदो —नीचे हीरो की खान है। एक ही प्रयत्न मे तुम्हारा जन्म-जन्मो का दारिद्र्य समाप्त हो जायेगा। उस आदमी ने जैसे सुना ही नहीं और यह कहते हुए आगे चला गया कि क्यो राह से गुजरने वालो को पागल वनाते हो? यदि तुम कहते हो, वैसा ही है तो तुम ही क्यो नही खोद लेते हो?

थोड़ी देर वाद एक दूसरा आदमी वहाँ से निकला। उसे भी महात्मा ने वही वात कही। उसने महात्मा की वात ध्यान से सुनी और अपना उत्साह भी प्रकट किया। महात्मा ने उसे एक कुदाली भी दे दी। वह उस टेकरी को खोदने लगा। कुछ मिट्टी खोदकर वह खड़ा हो गया। तव महात्मा ने कहा—भद्र, अभी तो वहुत खोदना होगा। हीरे वहुत गहराई मे पड़े हुए है। उसने अपने माथे से पसीना पोछा और आलस्य से वोला —मै तो वुरी तरह से थक गया हूँ। कौन जाने, आप सच कह रहे हैं? फिर एक अविश्वास भरी नजर महात्मा पर फेकी और धीरे धीरे वहाँ से चला गया।

फिर आया तीसरा आदमी। उसके चेहरे पर ओज झलक रहा था। महात्मा ने उससे भी वही वात कही। वह रुक गया और महात्मा को उसने नमस्कार किया, फिर वोला—आपने मुझे अपूर्व जानकारी दी है इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। तव उसने महात्मा के पैर छुए और कुदाली हाथ मे पकड़ ली। वह खोदता गया, खोदता चला गया विना रुके, विना अश्रद्धा वताये और विना थकान दिखाये। महात्मा मुस्कराते जा रहे थे और वह जैसे उस मुस्कराहट से अधिकाधिक ऊर्जा ग्रहण करते हुए अथक परिश्रम करता चला जा रहा था। परिश्रम पुरुषार्थ मे और पुरुषार्थ पराक्रम मे वदलता गया। जव पराक्रम परम ओजस्वी वन जाय तो कौनसा ऐसा लक्ष्य होगा जो लक्षी के चरणो में न आ गिरे? उसका पराक्रम सफल हो गया। वहुमूल्य हीरे चरणो पर लोट गये।

महात्मा ने तीनो को एक सा ज्ञान दिया। एक ने विश्वास ही नहीं किया। दूसरे ने विश्वास किया पर छिछला और क्षुद्र कि वह जल्दी ही उखड़ गया। प्रमाद ने उसे आ घेरा और वह क्लान्त हो उठा। लेकिन तीसरे ने उस ज्ञान के प्रति गहरा विश्वास किया और परिश्रम में जुट गया। यदि वह भी हीरो की वात जान कर उसे मानता नहीं और मानकर उन्हे निकाल लेने का पुरुषार्थ नहीं करता तो क्या वह हीरो को प्राप्त कर सकता था?

मै भी विज्ञाता हूँ क्योंकि वीतराग देवो का ज्ञान मुझे आचार्य परम्परा से मिला है किन्तु मुझे देखना है कि विज्ञाता होकर भी मैं क्या कर रहा हूँ?

मैं दृष्टा भी हूँ क्योंकि मुझे अपने आप को देखने की अभिलाषा है। यह जानना और देखना ही मुझे प्रेरित कर सकेगा कि मुझे जो ज्ञान लाभ मिला है उसे मै अपने सम्पूर्ण हृदय से मानता हूँ या नहीं? क्योकि मेरा उसे मानना ही मुझे उसके लिए करने की अनुप्रेरणा दे सकेगा।

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मै जान गया हूँ कि मेरे भीतर ज्ञान और विज्ञान का महासागर तरंगित हो रहा है, उसमे अनन्त सीपियॉ अपना मुह वन्द किये पड़ी है तथा उनमे अनन्त अमूल्य मोती भरे हुए है। और मै यह सब देख भी रहा हूँ और यह भी देख रहा हूँ कि मै उन अमूल्य मोतियों को पाने के लिए क्या कुछ पुरुषार्थ कर रहा हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि क्या मेरा पुरुषार्थ उन अमूल्य मोतियो को निकाल लाने के कठिन लक्ष्य के अनुकूल भी है या नही? इस ओर मुझे अभी बहुत गहराई से देखना है ताकि मै अपने पुरुषार्थ को सक्रिय वना सकूं। उस कठिन लक्ष्य के अनुकूल अधिक सक्रिय वन सकू।

आत्मा का ज्ञाता व दृष्टाभाव

मैं विज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, इस कारण मै ज्ञान का स्मरण करता हूँ, विशेष ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ और उस ज्ञान के प्रकाश मे अपने आचरण की सक्षमता का मूल्याकन करना चाहता हूँ। क्योकि मूल्याकन की इस कसौटी पर कसा जाकर ही मेरे ज्ञान-विज्ञान का मापदड स्थापित होगा कि वह हीरो की खान खोदने के लक्ष्य के प्रति चलने वाले तीसरे आदमी जैसा है जिसने ज्ञान लेने के साथ ही अपना अटल विश्वास दिखाया, विश्वास के सम्वल से अथक पुरुषार्थ किया और सफलता को अपनी वाहो मे भर ली।

मेरे भीतर मे सवाल उठता है कि यह मूल्याकन करेगा कौन? मेरा 'मैं' जान गया है कि साध्य क्या है और उसे किन साधनो से प्राप्त किया जा सकेगा और समझिये कि वह उन साध्य-साधनो को मान भी गया है तथा कुदाली उसने अपने हाथ मे पकड़ भी ली है, लेकिन वह कुदाली चलायेगा। इसे कौन देखेगा कि 'मैं' स्वय उस कुदाली को कितने वेग से चला रहा हूँ और जमीन किस कदर खुद रही है? कौन करेगा उसके पुरुषार्थ का मूल्याकन?

मेरे 'मै' के भीतर तव एक जिज्ञासा जागती है। उसकी अन्दर की आंख जैसे अन्दर ही खुल पड़ती है। वह अपने को ही अपनी आख से देखता है और उसके अन्दर एक बिजली सी कौंध जाती है। अरे, यह तो मै ही मै को देख रहा हूँ—फिर समस्या कहॉ रह जाती है? मेरी करनी को मैं ही देखूगा—मेरे पुरुपार्थ का मै ही मूल्याकन करूगा। क्योकि मै ही मेरा दृष्टा भी हूँ।

तव मेरी आन्तरिकता के कपाट खुलते है कि मै विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मेरा विज्ञान अपनी किरणे फेंकने लगा है और मेरे भीतर की आख चारो ओर देखने लगी है। यह 'चारो ओर' वाहर का चारो ओर नहीं, भीतर का चारो ओर है, जिसे चर्म चक्षु नहीं, भीतर के 'ज्ञान चक्षु ही देख सकते हैं। ये ज्ञान चक्षु भीतर ही भीतर देखते है, किन्तु भीतर का विश्व इतना विराट् है कि वे देखते चले जाते हैं—देखते चले जाते हैं फिर भी क्षितिज के समीप नही पहुँच पाते हैं। क्षितिज विस्तीर्ण से विस्तीर्ण होता हुआ दिखाई देता है। यह विराट् विश्व ही मेरे 'मै' का अन्तर्जगत् है — आत्मा का अन्तर्जगत है।

मुझे इस अन्तर्जगत् को थोड़ा-थोड़ा करते हुए भी सम्पूर्ण रूप से देखना है, तभी मेरा दृष्टा-भाव सिद्ध हो सकेगा। जब मैं को ही मै पूरी तरह से जानूगा—मै को ही मै पूरी तरह देखूंगा, तभी मैं पूरी तरह से विज्ञाता बनूगा दृष्टा बनूगा। अभी तो मेरे विज्ञाता और दृष्टा-भाव का पहला ही चरण उठा है, अभी मुझे अपने विज्ञान और अपनी दृष्टि की कई मजिले पार करनी है।

इस दृष्टि से मै अपना अभ्यास बना रहा हूँ कि मै जानू, जितना जान सकू उससे और अधिक जानने की पिपासा जागृत करता रहू। मै जानू जो वीतराग देवो ने अपने स्वानुभव के बाद कहा है और मै उसे जानू अपने ही जीवन के क्रिया-कलापो तथा उनके परिणामो से। चेष्टा यह हो कि मै जानता रहू, अपने बाहर के और भीतर के नैत्र हमेशा खुले रखू। और जो जानता जाऊ उसे अपने देखने की कसौटी पर कसता जाऊ। जानूं भीतर बाहर से लेकिन देखू भीतर से अपने ज्ञान चक्षु से, क्योकि मूल्यांकन वही होगा और वहीं से उसके परिणाम का पता चलेगा तो वहीं से आगे के लिए यथोचित निर्देश भी मिलेगा। मेरा यह अभ्यास चलता रहे जिसके चलते रहने से ही मेरा आचरण ढलता रहेगा, सुधरता रहेगा और निखरता रहेगा। जानने और देखने की प्रक्रियाएँ क्रमानुसार चलती रहेगी और मेरे भीतर के प्रकाश एव सामर्थ्य को बढ़ाती रहेगी।

मै जानूगा तो देखूगा और देखूगा तो करूगा, लेकिन करने को भी देखता रहूगा और जानता रहूगा कि मै क्या कर रहा हूँ, कैसा कर रहा हूँ तथा जो कर रहा हूँ —सही कर रहा हूँ या नही और सही नही कर रहा हू तो उस करने को सही कैसे बनाऊ ? इसके लिए सही क्या है—यह मुझे अपने देखने से भी जानना पड़ेगा तो वीतराग देवो ने जो देखा और किया है उसको जान कर भी जानना पड़ेगा। मै जिसे सही जानूगा उसको मन से भी सही मानूगा। इस तरह जान और मान लेने के बाद करने का काम मुख्य बन जायेगा, फिर भी उस करने को भी मुझे हमेशा देखते और जानते रहना होगा। और इसी रूप मे मेरा यानी कि मेरी आत्मा का विज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव सतत जागृत बना रहेगा।

मै अपने ही ज्ञान और विज्ञान के असीम कोष के कपाट कितने खोल पाता हूँ—यह मेरे अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है परन्तु यह सत्य तो मेरे गले उतर ही जाना चाहिये कि मेरा ज्ञान कोष अपार है और मेरी दृष्टि अनन्त है। अभी मैं जितना जानता हूँ या जितना देख पाता हूँ, वह उस महासागर की एक बूद भी नही है। तो मुझे समझना होगा कि मेरे आत्म-विकास की महायात्रा कितनी दीर्घ, कितनी कठिन और कितनी श्रमसाध्य हो सकती है ? किन्तु मुझे सत्सकल्प करना होगा कि मै अपनी इस महायात्रा का उत्साहजनक श्रीगणेश भी करू तो तीव्रगति के साथ उसे सम्पूर्ण करने के लिए निरन्तर आगे से आगे भी बढ़ता चलू।

तर्क और आस्था का अन्तर

मैं जानता हूँ कि मै विज्ञाता हूँ और मेरा यह जानना भी मेरे विज्ञाता होने का ही प्रमाण है। किन्तु मै यह भी जानता हूँ कि मुझे विज्ञाता बनने के लिये अभी बहुत-बहुत जानना है। अगर मै मात्र अपने ही प्रयासो से इस जानने के पूरे क्षेत्र की यात्रा करना चाहूगा तो हो सकता है कि मुझे कई वर्ष ही नहीं, अपने कई जन्म भी पूरे कर देने पड़े।

क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि मैं कम से कम समय मे अधिक से अधिक जान सकू ? मैं अपनी आत्मा के विकास की महायात्रा पर हूँ यह सही है, किन्तु अनन्त आत्माओं ने अब तक

अपना आत्म-विकास सिद्ध भी किया है और वे अपने चरण चिह्न छोड़ गये है—ऐसे चरण चिह्न जो ज्ञान-विज्ञान और दृष्टि की उनकी परिपूर्णता सिद्ध हो जाने के वाद अंकित हुए हैं। वे चरण चिह्न ही हमे उनका वह अपार ज्ञान कोष और उनकी असीम दृष्टि वताते हैं जिन्हें हम अपने ज्ञान व दृष्टि के वर्तमान विकास के स्तर से ग्रहण कर सकते है। जितना नवनीत हम वहाँ से ले ले, उतना दूध हमे कम जमाना पड़ेगा—विलौना कम करना पड़ेगा। सच तो यह है कि हमे दूध से मक्खन निकालने का श्रम ही न करना पड़े, यदि हम आत्मविकास के सम्पूर्ण विज्ञान का उन चरण चिह्नो से सम्यक् अनुसरण कर ले।

लम्वे रास्ते को छोटा करने का यही श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि हम भी दूध जमायेगे और खूब मथनी घुमायेगे तो वही मक्खन निकलेगा जो हमे वीतराग देवो की आज्ञा के रूप मे सीधा ही मिल रहा है। वह सिद्धान्त-सार हमारे सामने है, हम स्वतत्र हैं कि उसकी विशेषताओं को हृदयंगम करे और उनको अपने आचरण में उतारे। लेकिन क्या हम उस सिद्धान्त-सार को यो ही अपने आचरण मे उतार पायेगे ?

यही आकर आस्था का प्रश्न खड़ा होता है। आस्था का प्रश्न सामने आते ही तर्क तन कर पूछता है —क्या आस्था आख मींच कर की जाय ? आस्था आख मींचकर करने का प्रश्न ही नही है—वह तो अन्धश्रद्धा कहलायेगी और अन्धश्रद्धा से कभी किसी का भला नहीं हो सकता है। आस्था आंखे खोलकर ही की जायगी, वल्कि हमारे सम्यक् ज्ञान और विवेक का जो भी स्तर हो, उस पर आस्था के विपय को खरा मानकर ही आस्था से ओतप्रोत होगे।

तर्क एक प्रश्न और प्रस्तुत करता है और वह यह कि जव वीतराग देवो की आज्ञापालन करने की वात कही जाती है और उसके प्रति पूरी आस्था रखने की भी वात कही जाती है तो क्या यह चिन्तक आत्मा की विचार-स्वतत्रता का हनन नहीं है ? और इसी प्रश्न का उत्तर खोजने मे हमे आस्था और तर्क के अन्तर को भलीभाति समझ लेना चाहिए।

मै विना लागलपेट सोचता हूँ कि मेरा मन कव किसी की वात को मानना चाहता है ? यह सही है कि मैं किसी की विना हाथ-पैर की वात कभी भी नहीं मानना चाहता हूँ। वात के हाथ-पैर होने चाहिए। क्या मतलव है इसका ? समझिये कि किसी ने आकर मुझे एक वात कही तो पहले मैं उस वात की सभावना पर सोचता हू, फिर कहने वाले व्यक्ति की विश्वस्नीयता पर। यदि दोनो वाते अनुकूल हैं तो मै कहने वाले से तर्क करता हूँ—सीधा भी और उल्टा भी ताकि कहने वाले का जितना असत्य हो वाहर फूट जाय। इतना करने के वाद जव मेरा मन आश्वस्त हो जाता है, तव ही कहने वाले की वात को मैं मानता हूँ। मानने के वाद भी उस वात की सत्यता की अपने आचरण के माध्यम से वरावर जांच करता रहता हूँ।

इस सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से मै कहना यह चाहता हूँ कि मानव मात्र का स्वभाव अपने ज्ञान और विवेक के अनुसार किसी भी वात को मानने का ही होता है। इसका अभिप्राय यह हे कि मनुष्य किसी भी तथ्य की पुष्टि के लिए पहला आश्रय तर्क का ही लेता है। तर्क का अर्थ होता है कि जैसी भी और जितनी भी वुद्धि उसके पास है, उसकी सहायता से सामने आई हुई वात की जांच-पड़ताल करना। तार्किकता मनुष्य का स्वभाव होता है और हठवाद से दूर एक सीमा तक यह स्वभाव सही काम करता है। किसी भी वात को आंख मींच कर मान लेने को वुद्धिमानी नहीं कहा जाता है। वुद्धि का माप तर्क से ही निकलता है।

किन्तु मेरा मानना है कि तर्क का उपयोग एक सीमा तक ही किया जा सकता है और इसके परिप्रेक्ष्य मे इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिये कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतंत्रता का हनन नहीं है? यह साफ है कि तर्क का वाहन बुद्धि ही होता है और प्रत्येक की अपनी-अपनी बुद्धि के विकास के स्तर भिन्न-भिन्न होते है और यह भी सही है कि अपूर्ण व्यक्तियो की बुद्धि भी पूर्ण नहीं होती है। अपूर्ण बुद्धि वाले को तर्क के आधार पर पूर्ण समाधान मिल जाय—यह भी सभव नही है। तर्क की गति बुद्धि तक और बुद्धि की गति उस व्यक्ति के आत्म-विकास तक, फिर वह व्यक्ति उससे आगे किस आधार पर निर्णय ले—यह एक ज्वलंत प्रश्न उठ खड़ा होगा। या तो वह उस विन्दु तक पहुँच कर अपनी गति को विराम दे दे या अनसोचे वातावरण मे और अविचारित योजना के साथ अधे जंगल मे वह अपनी गति को मोड़ दे दे? क्या दोनों बाते सही होगी? गति का विराम भी गलत और विगति भी गलत। तव क्या किया जाय?

आगे भी प्रारभिक आश्रय तो तर्क का ही लिया जायेगा। यह होगा व्यक्ति की विश्वसनीयता जाचने का तर्क। कल्पना करे कि एक व्यक्ति के साथ आपका वीसो वार काम पड़ा और हर वार उसकी बात पूरी सच निकली। उसके वाद उसकी बात की विश्वसनीयता आप कैसी मानेगे? कहेगे—तर्क की जरूरत नहीं है, हम उसे सही ही मानते हैं। यदि उसकी विश्वसनीयता की गहराई और अधिक हुई तो भले ही आप तार्किक हो पर इतना तक कह देगे—आप क्यो टोकते है? मै तो उसकी वात आख मीच कर मानता हूँ।

इस विन्दु पर मै यह कहना चाहूगा कि तर्क से जव हम सन्तुष्ट हो जाते हैं तव आस्थावान वन जाते है। फिर तर्क छोटा पड़ जाता है और आस्था वहुत वड़ी हो जाती है। उस वृहदाकार आस्था मे कोई तर्क उठावे तो आप उसे वचकानापन ही मानेगे।

तो प्रारभिक तर्क से हम यह जानने का यत्न करते हैं कि उस व्यक्ति का भव्य स्वरूप कैसा हो सकता है जिसने अपनी आत्मा का पूर्ण विकास सिद्ध कर लिया हो। यह अध्ययन और तर्क का विषय होगा। ये कसौटियाँ वीतराग देव के स्वरूप पर कसकर जव आप सन्तुष्ट हो जायेगे तव आप उनकी आज्ञा की वास्तविकता एव सार्थकता के प्रति भी सन्तुष्ट हो जायेगे। जिस विधि विधान पर उन्होंने अपनी सफल आत्मसाधना की और स्वानुभव से जो आनन्द उन्होंने प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने सर्व जगत् कल्याण हित प्रकट कर दिया। यह प्रकटीकरण विना किसी पक्षपात या भेदभाव के समान रूप से उन्होंने किया। उनकी आज्ञाए ऐसी ही हैं जैसी कि सूरज की धूप होती है या चदा की चादनी। इन सव पर किसी का एकाधिकार नही होता यानी कि वे सवकी होती हैं और सवको सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की प्रेरणा देती है। अव प्रश्न है इन आज्ञाओं के प्रति आस्था का।

मैं विचारता हूँ कि तर्क और आस्था का अन्तर स्पष्ट हो गया है। तर्क निरूपयोगी नहीं होता और आस्था कभी अंधी नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक मेरी बुद्धि और मेरा विवेक दोड़ सकता है, वहा तक मेरा विचार है कि मेरा तर्क भी दोड़ना चाहिए किन्तु अन्तर यही है कि तर्क के दोड़ने की सही सीमा मेरी अपनी बुद्धि और मेरे अपने विवेक से आगे वहुत कम रहती है। वस इतनी ही कि वह मोटे तोर पर विश्वसनीयता की समस्या को भली प्रकार मे समझ ले और उसका सही समाधान निकाल ले। मैंने अनुभव किया है कि आस्था के आगे तर्क सदा ही झुकता आया है

क्योकि आस्था की कोई सीमा नहीं होती—वह असीम वन सकती है। अत आस्था की अनिवार्यता यह मानकर स्वीकार करनी होगी कि जहाँ तर्क की गति समाप्त हो जाती है, वही से आस्था की गति आरभ होती है।

आस्था की अनिवार्यता

मै इस विश्लेषण के साथ आज्ञापालन के महत्त्व तथा आस्था की अनिवार्यता के प्रश्न को सुलझाना चाहता हूँ। आज्ञापालन मे मनुष्य की स्वतत्रता का हनन होना तब माना जायगा, जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जा सकने वाली समस्याओं मे भी आज्ञापालन को ही प्रथम और अन्तिम महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो और जहाँ पहुँच कर तर्क भी थम जाय, ऐसे आध्यात्मिक रहस्यो के क्षेत्र मे आत्मानुभवी एव समतादर्शी महापुरुषो की आज्ञाओं का पालन एक साधक के लिये अपने आत्म-विकास का सबल माध्यम हो सकता है। कहा गया है कि ससार को जानने के लिये सशय अनिवार्य है और सशय तर्क को जन्म देता है किन्तु समाधि (आत्म-सुख) के लिये आस्था अनिवार्य है।

मै अपने व्यावहारिक अनुभव का भी चिन्तन करता हू तो लगता है कि वहाँ पर भी व्यक्ति की विश्वसनीयता का महत्त्व कम नहीं है। पूरा विश्वास उपज जाने पर अधेपन से भी उस व्यक्ति का आश्रय ले लिया जाता है अपने गहरे विश्वास के कारण। फिर उन महापुरुषो की आज्ञाओं पर भला आस्था बलवती क्यो नही बनेगी, जिनकी आज्ञाएँ मूलत और पूर्णत मेरे ही व्यापक हित के लिये हैं। यह नही कि मै उन आज्ञाओं को समझू ही नही। नही समझूगा तो उनका पालन ही कैसे करूंगा? लेकिन समझने के साथ अपनी गहरी आस्था को उनके साथ जोडू, क्योकि उनका वस्तुविषय कम से कम अभी मेरे लिये अगम्य है। किन्तु आस्था मजबूती से जुड़ेगी तो वह अगम्यता मेरे लिये बाधक नही बनेगी। बाधक क्या, मै उस अगम्यता मे भी साहस के साथ प्रवेश कर जाऊँगा, क्योकि आस्था मेरा सुदृढ़ सबल हो जायगी।

कल्पना करे कि मै बम्बई कभी नही गया, लेकिन मेरा एक विश्वसनीय मित्र कई बार बम्बई जा चुका था तो क्या मै अपने उस मित्र का निर्देशन लेकर पहली बार ही सही मगर भरोसे से बम्बई नहीं जा सकता हूँ? निर्देशन हो या आज्ञा—अधिक अनुभवी पर विश्वास किया ही जाता है। यह सामान्य बात है। किन्तु गहन आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे तो आस्था ही मुख्य बात होगी। किसी स्थूल उपलब्धि की बात हो या सासारिकता का विषय हो तो तर्क से ही काम चला सकते हैं। ससार की बातो मे तो तर्क उचित भी रहता है क्योंकि तर्क के आधार पर नई-नई जानकारिया होती हैं। ससार के क्षेत्र मे सशय हो या असन्तोष—उससे भौतिक विषयो का ज्ञान-विज्ञान बढ़ता है। यह स्थूल उपलब्धियो की बात है। किन्तु जहाँ अपने ही आत्मस्वरूप का ज्ञान करना है अथवा अपने भीतर अक्षय सुख की खोज करनी है तो इन सूक्ष्म विषयो मे तर्क का कोई काम नहीं रहता। केवल आस्था का काम रहता है कि उन महापुरुषो की आज्ञा मानी जाय जिन्होंने स्वय ने अपने आत्मस्वरूप को हस्तामलकवत् जाना है और अक्षय सुख से स्वय को परमानन्द स्वरूप बना लिया है। आत्मानुभूति के क्षेत्र मे आस्था की अनिवार्यता है।

मै आत्मानुभूति के क्षेत्र को सुखानुभूति का क्षेत्र मानता हूँ। सासारिक सुखो मे सच्चाई नही होती—वे सुखाभास मात्र होते है। आत्मा का सुख ही सच्चा सुख होता है—ऐसा सुख जिसने

आन्तरिक समाधि प्राप्त होती है। आत्म समाधि के इस मार्ग पर चलने तथा लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये आत्मानुभवियो तथा समदर्शियो की आज्ञा का पालन अनिवार्य ही नहीं साधक का एक पावन कर्त्तव्य भी है। वीतराग देवों की आज्ञाओं का पालन करके ही आध्यात्मिक रहस्यों को जानने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है और इन आज्ञाओं के साथ साधक की आस्था एकात्म रूप से जुड़ी हुई होनी ही चाहिये।

वीतराग देवो द्वारा दर्शित आध्यात्मिक साधना कोई सामान्य साधना नहीं, मूल्यो की साधना होती है और मूल्यो की साधना मे मूल्यो के प्रति अमिट आस्था होनी चाहिये। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि ससार के व्यवहार मे मनुष्य कोई सत्कार्य भी प्रशसा या यश प्राप्त करने के लिये अधिकाशत. करता है परन्तु उसकी इस भावना का दुष्परिणाम यह होता है कि यदि उसे वाछित प्रशंसा या कीर्ति नहीं मिलती है तो वह निराश होकर अपने सत्कार्यों को ही छोड़ देता है अथवा उसके सत्कार्य अपने 'सत्' गुण को त्याग देते है क्योंकि वह कैसा भी जोड़ तोड़ करके प्रशसा या कीर्ति प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहता है। इस कारण मूल्यो के साधक के लिये प्रशसा या कीर्ति की चाह करना निषिद्ध है। एक तो उसके इस असाधारण कार्य को सामान्य जन समझ नही पायेगे तो दूसरे, प्रशसा या कीर्ति की लालसा उसके कार्य की शुद्धता को बनाये नही रखेगी। इस कारण मूल्यो के साधक के लिये आस्था ही नौका हो और आस्था ही खिवैया। एक आस्थावान् साधक अपनी आस्था के सम्व ल के साथ अपने को सर्वाधिक सुरक्षित मानता है। वैसा साधक तो अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन मे भी मूल्यो की साधना से अमिट आस्था के साथ जुड़ा हुआ रहता है।

मै जान गया हू कि मुझे भी यदि आत्मविकास की इस महायात्रा में विज्ञाता और दृष्टा वनना है तो आस्था का सम्वल लेना ही होगा। वह आस्था सम्यक् हो याने कि सम्यक् प्रतिमानो के प्रति हो। सम्यक् श्रद्धा होगी, तभी ज्ञान भी सम्यक् वनेगा और आचरण भी सम्यक्त्व स्वरूपी होगा।

मै यह भी जान गया हूँ कि आत्मा के ज्ञाता और द्रष्टा-भाव का सम्यक् विकास भी वीतराग देवो की आज्ञाओं का सम्यक् श्रद्धा के साथ पालन करने से ही होगा। जो आत्मस्वरूप का ज्ञाता होता है, वही दृष्टा वनता है तथा जो आत्म-दृष्टा हो जाता है, वह अप्रमादी, जागृत, अनासक्त और कुशल वीर भी हो जाता है क्योकि आत्म-दृष्टा के लिये फिर किसी उपदेश की आवश्यकता शेष नही रह जाती है। आत्म-दृष्टा के ज्ञान चक्षु इतने विस्तृत हो जाते है कि वे सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष देख लेते है। आत्म-दृष्टा वधन और मुक्ति के विकल्पो से परे होने लग जाता है तो शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से दूर होकर द्वन्द्वातीत भी वन जाता है। आत्म-दृष्टा आध्यात्मिकता मे ही जागता है और सदा अनुपम प्रसन्नता मे रहता है। मैं इस दृष्टा-भाव को आस्था के आधार पर ही जागृत वना सकूगा —यह मै जान गया हूँ।

विश्वसनीयता के प्रतिमान

मैं मान चुका हू कि आत्मविकास की मेरी महायात्रा मे आस्था का अवलम्बन अपरिहार्य है। वहाँ तर्क की उपयोगिता समाप्त हो जाती है यह जानने के वाद कि इस महायात्रा मे हमारी विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमान कोन सिद्ध हो सकते हैं ?

विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमानो का निर्धारण करने के लिये अवश्य ही मै अपनी तार्किक वुद्धि का उपयोग करता हूँ। मुझे मेरी इस महायात्रा मे वे प्रतिमान चाहिये जो इस महायात्रा का

सार्थक अनुभव रखते हो या स्वयं इस महायात्रा में अग्रगामिता के साथ गतिशील हो अथवा जिसके माध्यम से इस महायात्रा के गूढ़ रहस्यों तथा विधि-विधानो का सम्यक् ज्ञान होता हो।

मेरी विश्वसनीयता के पहले प्रतिमान होगे वीतराग के रूप मे सुदेव जिन्हे अरिहत नाम से जानते हैं। मेरे तर्क ने कई देव नामधारी व्यक्तित्वो की जाच परख की है तो अधिकांश को यह निर्देश देते हुए पाया है कि मुझे ही पूजो, मेरी ही स्तुति करो तव मै ही तुम्हे तारूँगा। 'मै ही सच्चा हूँ और वाकी सव झूठे है'—यह कथन मेरे तर्क को भाया नही। जो खुद खुद को ही सच्चा कहता है, वह हकीकत मे कितना सच्चा होगा? लोग कहने चाहिये कि वह सच्चा है तो उसकी सच्चाई की तरफ नजर डाल सकते है। फिर 'व्यक्ति' कव तक सच्चा रहेगा और कव वदल जायगा—इसकी क्या गारंटी है? इस वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे तर्क ने निश्चय किया कि गुणमूलक व्यक्तित्व को ही अपनी आस्था का केन्द्र वनाया जाय, किसी व्यक्ति को नहीं, क्योंकि मेरा तर्क व्यक्ति-पूजा को कतई महत्त्व नहीं देता।

यही कारण है कि मेरे तर्क ने वीतराग या अरिहत को सुदेव के रूप मे प्रतिष्ठित कर मुझे आस्था को सौप दिया है। वीतराग वे महापुरुष कहलाते हैं जो राग-द्वेषातीत हो जाते है —समभावी और समदर्शी वन जाते है। कौन समभावी या समदर्शी है इसका निर्णय मेरे तर्क ने कर दिया और यह भी बता दिया कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति ही निष्ठा वनाने या वनाये रखने का सवाल नहीं है। जो भी समभावी और समदर्शी व्यक्तित्व हुए है, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगे—वे सव सुदेव हैं इसलिये वे ही मेरी विश्वसनीयता के प्रतिमान हैं—मेरी श्रद्धा के केन्द्र है।

तो पहला प्रतिमान मैंने निर्धारित कर लिया है देव अरिहत को। अरिहत का भी वही अर्थ है जो वीतराग का अर्थात् जिन महान् आत्माओं ने अपने समस्त घातीकर्म शत्रुओं (कर्मों) को परास्त कर दिया और जो समग्र ज्ञानादि चतुष्ट्य रूप आत्म-गुणो से विभूषित वन गये। ऐसे अरिहंत का आदर्श ही मेरे लिये सच्चा आदर्श हो सकता है और उन्होंने आत्म विकास का जो मार्ग वताया है, वही मेरे लेये ग्राह्य हो सकता है। इसलिये मैं उनकी आज्ञापालन को ही सवसे वड़ा धर्म मानता हूं। इस मान्यता के साथ ही मेरे तर्क का कार्य समाप्त हो जाता है और मेरा समूचा जीवन अमित आस्था से आप्लावित वन जाता है।

जव मैंने सुदेव के रूप में अरिहत जैसी महान् आत्माओं को अपनी विश्वसनीयता का पहला प्रतिमान निर्धारित कर लिया है तो शेष दो प्रतिमान—सुगुरु तथा सुधर्म भी वे ही हो सकते हैं जो अरिहंत देव की महानता की कसौटी पर खरे उतरते हो। मैंने अरिहत देव की आज्ञा को ही प्रधानता दी है तो मेरे लिये सुगुरु वे ही हो सकते है जो उनकी आज्ञा मे विचरण करते हो और स्वयं के निर्माण के साथ धर्म का प्रचार करते हो। ऐसे सुगुरु निर्ग्रथ होने चाहिये। निर्ग्रथ का अर्थ है ग्रंथिरहित। उन साधु-महात्माओं के जीवन मे संसार के काम-भोगो या पदार्थों की अथवा सांसारिक वृत्तियो या प्रवृत्तियो की कोई ग्रंथि नहीं होनी चाहिये। इसीलिये मेरे तर्क ने सुगुरु पद के लिये मुझे समाधान दिया है कि सुगुरु वे, जो निर्ग्रथ हो। चूकि अरिहंत देव प्रत्यक्ष मे आज हमारे सामने विराजमान नहीं है अत· उनके ज्ञान-विज्ञान की ज्योति लिये निर्ग्रथ साधु ही कल्याण कार्य मे लगे हुए हैं। 'गुरु-गोविन्द दोनो खड़े, काके लागू पाय' —की उक्ति के अनुसार आज का सीधा समाधान होगा—गुरु पद की प्रमुखता। मैंने सुगुरु पद के लिये निर्ग्रथ का चयन कर लिया है जिनके प्रति मेरी अमिट आस्था ढल रही है।

किन्तु निर्ग्रंथत्त्व की कसौटी के लिये मै अपने तर्क को भी सक्रिय बनाये रखता हूँ। मै हर किसी साधु को निर्ग्रथ नही मान लेता हूँ। किसी साधु के दर्शन होते है तो मेरा तर्क सतर्क हो उठता है। मैं जाचता हूँ—परखता हूँ कि वह साधु निर्ग्रंथ है या नही और अरिहन्त देव की आज्ञा मे चलता है या नही। जब मेरा तर्क सन्तुष्ट हो जाता है तभी मेरी आस्था मुड़ती है क्योंकि मेरी आस्था अधी नहीं है।

तीसरा प्रतिमान मुझे चाहिये सुधर्म का। यो तो हर अच्छी बुरी बात धर्म के नाम मे लपेट कर ही की जाती है ताकि आस्थावान् लोगो को भ्रमित किया जा सके, लेकिन वे सब धर्म वास्तविकता से परे ही होते हैं। कुछ व्यक्तिपरक धर्म होते है जो श्रद्धा का केन्द्र व्यक्ति विशेष को बनाने की बात कहते है। वे धर्म भी उतने वास्तविक नहीं होते। सच्चा धर्म वही कहलायगा जो ससार की सभी आत्माओं मे 'एगे आया' (एक ही आत्मा) के दर्शन कराता हो, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ससार के समस्त प्राणियो के प्रति अपने हृदय की दया को बिखेर देने की प्रेरणा देता हो। जो धर्म दयामय हो, वही सच्चा धर्म होगा—ऐसा मै मानता हूँ और ऐसे धर्म का मार्ग प्रशस्त किया है अरिहत देवो ने और ऐसे ही धर्म का प्रचार करते हैं निर्ग्रथ मुनिगण।

इस प्रकार मैंने अपनी आत्म-विकास की महायात्रा मे अपने विश्वसनीय तीनो प्रतिमान सुनिश्चित कर लिये हैं जो है—१. देव अरिहत —सुदेव, २ गुरु निर्ग्रथ—सुगुरु तथा ३ धर्म दयामय—सुधर्म और इन्हीं प्रतिमानो को मैने अपनी समग्र आस्था अर्पित कर दी है। इस समर्पण के पश्चात् मेरा आत्म-विश्वास सुदृढ़ बन गया है कि मै अपने आत्मस्वरूप को भी अरिहत देवो की आत्माओं के समान ही परमोज्ज्वल स्वरूप प्रदान करने मे अवश्य सफल बनूगा।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति

किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी आस्था को समर्पित करने की अपेक्षा मै सदा ही सत्य सिद्धान्तो तथा गुणमूलक सस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने को श्रेष्ठतर मानता हू। मेरी इस मान्यता के कई समुचित तथा पुष्ट कारण हैं।

मैं मानता हू कि व्यक्ति-पूजा सामान्यत किसी भी साधक को तटस्थ अथवा पक्षहीन नहीं रहने देती। वह उसे एक तरफ झुकाती है तो निश्चय है कि वह दूसरी तरफ से उपेक्षित बनता है। इससे वह भेद, हठ और पक्ष के भवर मे गिर जाता है। इसी भवर से राग और द्वेष की ज्वालाएँ उठती है। जो इन ज्वालाओं मे खुद भी सुलगने लग जाता है, वह फिर भला साधक ही कहाँ रहता है? वह पथभ्रष्ट हो जाता है। ऐसी व्यक्ति-पूजा का मै अनुसरण कैसे कर सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि कोई भी व्यक्ति पूजा जाता है तो अपने श्रेष्ठ सिद्धान्तो तथा उत्तम आचरण के आधार पर ही—तो मैं व्यक्ति को क्यो अग्रिम स्थान दू? मैं उन सिद्धान्तो और उस आचरण को ही प्रथम महत्त्व क्यो न दू, जिन्होंने व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्माण किया है। अत मैं सत्सिद्धान्तो को मानता हूँ, उत्तम आचरण को मानता हूँ और आत्मीय गुणो के विकास को मानता हूँ—ये जिनमे पाये जावे वह व्यक्ति भी आस्था का केन्द्र बन सकता है।

मै सत्सिद्धान्तो मे अपनी आस्था का नियोजन इस दृष्टि से करता हूँ कि एक सिद्धान्त सदा एक समान रहता है और सिद्धान्त जिसे भी अपनी ओर प्रभावित करता है, वह प्रभावित व्यक्ति को परिवर्तित करता है। सिद्धान्त गुणमूलक होता है जो गुणी को उसके गुण मे ढालता है और किसी

अन्य के साथ भेद नही करता। सिद्धान्तो पर आधारित सभ्यता अथवा सस्कृति ही दीर्घजीवी होती है। इसका कारण है कि सद्गुण और सत्सिद्धान्त व्यक्ति की विकासशीलता के सामने सदैव ज्योतिर्स्तंभो के रूप मे चमकते रहते है। और सन्मार्ग दर्शाते रहते हैं।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति ही अपने यथार्थ अर्थ मे मूल्यो की सस्कृति होती है —ऐसा मै मानता हूँ। वस्तुत. गुणो का नाम ही मूल्य है। गुण वे है जो गुणी को गुणवान् बनाते है या यो कहें कि एक मनुष्य को मनुष्यता के गुणो से विभूषित करते हैं। मनुष्य मात्र होना उतना सार्थक नहीं है, बल्कि यदि उसमें मनुष्यता के गुणो का सम्यक् विकास नहीं हुआ है तो वह निरर्थक भी कहला सकता है। मनुष्य होने के साथ मनुष्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा जल हो जिससे प्यास ही नहीं बुझती हो तो फिर उसे जल मानेगा ही कौन ? जल का गुण है प्यास बुझाना और यदि गुणी मे उसके गुण का ही अभाव है तो गुणी निर्गुणी ही कहलायगा। इसी प्रकार मनुष्यता के अस्तित्व से ही मनुष्य का बोध होता है अत मनुष्यता उसका मूल गुण है—उसका मुख्य मूल्य है। मनुष्य के लिये यही मूल्यात्मक जीवन है कि वह सर्वप्रथम मनुष्यता को धारण करे। यदि एक मनुष्य मे मनुष्यता ही नही है तो वह गुणहीन होगा—मूल्यहीन कहलायगा।

मनुष्यता होती है मानवोचित सिद्धान्तो तथा गुणो का पुज। यही मनुष्य के मूल्यो का समूह भी होगा। मानवोचित विशेषण का क्या अर्थ ले ? मानवोचित का अर्थ होता है जो मनुष्य के लिये उचित हो। मनुष्य के लिये उचित क्या ? इस विषय पर वीतराग देवो ने सम्पूर्ण प्रकाश डाला है जिसे हम आत्मसात् करके अपने आप को भी मनुष्यता पहिचानने की कसौटी बना सकते हैं। इस पहिचान मे मेरी मान्यता है कि मेरी आस्था भी उपयोगी होगी तो मेरा तर्क भी कार्य करेगा। व्यावहारिक वातावरण के प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ जब मै अपने हृदय को जोड़ूगा तो स्वाभाविक रूप से मुझे समझ मे आता रहेगा कि मानवोचितता क्या होती है ? उसे बताने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वयमेव मेरी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समाहित होती जायगी जिसका सभी अनुभव कर लेगें। एक हृदय से दूसरे, तीसरे और इस तरह कई हृदयो को स्पन्दित करती हुई मानवोचितता एक स्पष्ट मूल्य का रूप ले लेगी। अत सब सिद्धान्त व गुणमूलक सस्कृति को ही मैं अपने और सभी प्राणियो के आत्मविकास के अबाध मार्ग के रूप मे देखता हू।

सत्सिद्धान्त कौनसा ? सद्गुण क्या ? अथवा श्रेष्ठ मूल्य किसे कहे ? यह जांच-परख मुझे करनी होगी। मेरी आस्था मुझे बता देगी कि जो सिद्धान्त-निरूपण, गुण-प्रतिपादन एव मूल्य-समर्थन वीतराग जैसे सुदेवों ने किया है तथा निर्ग्रंथ जैसे सुगुरु जिसे परिभाषित कर रहे है तथा जिसका समस्त ज्ञान दयामय धर्म मे समाविष्ट है, वह मेरे लिये माननीय है। मेरा तर्क भी मुझे बतायेगा कि जो सिद्धान्त, गुण और मूल्य नाना प्रकार के नाम से अथवा भांति-भाति के रूपों मे मेरे सामने आते हैं, इसकी परीक्षा कैसे की जाय ? जो सत्यांश है उसे कैसे धारण कर ले और जो असत्य है उसे कहाँ और कब छोड़ दे ? तर्क और आस्था से मंडित मेरा मन कसौटी का पत्थर बन जायगा जो प्रत्येक सिद्धान्त, गुण या मूल्य की रगड़ देख कर बता देगा कि कौन-सा सोना है और कौनसा पीतल ? यह भी बता देगा कि जो सोना है, वह कितना खरा है और कितना खोटा ? वीतराग देवो की आज्ञा यही बताती है कि सत्यांशों को संचित करते रहो ताकि एक दिन पूर्ण सत्य से साक्षात्कार हो सके।

सिद्धान्तो की इस रूप मे परीक्षा के क्रम मे मैं सर्वथा ऐसे गुणमूलक सिद्धान्तो की चर्चा करना चाहता हूँ जिनका यदि सम्यक् रूप से आचरण किया जाय तो वे मनुष्य को मनुष्यतामय ही नही, मनुष्य को देव भी वनाने की क्षमता रखते है।

आचरणदर्शिका अहिंसा

अहिसा का मूल स्वरूप आचरण-दर्शक है। ससार के समस्त प्राणियो के साथ रहते हुए एक सामान्य मनुष्य को अपना व्यवहार किस रूप मे ढालना चाहिये कि वह सवके साथ हिलमिल कर प्रेमपूर्वक रह सके—यह विधि अहिसा का सिद्धान्त वताती है। इस सिद्धान्त के विशिष्ट महत्त्व का अकन करते हुए ही अहिसा को परम धर्म कहा गया है।

अहिसा नकारात्मक याने निषेध रूप शब्द है जिसका विपर्यय है हिसा। हिंसा की व्याख्या इस तरह की गई है कि किसी भी प्राणी के सभी या किन्ही प्राणो को अथवा किसी भी एक प्राण को प्रमाद के योग से छेदना-भेदना, कष्ट देना अथवा किसी भी रीति से सत्रस्त वनाना हिसा है। इतना ही नहीं, किसी भी प्राणी पर निरर्थक हकूमत चलाना या अपने वर्चस्व को थोपना भी हिसा मे ही लिया गया है। मात्र किसी का वध करना ही हिसा नही है। यह तो स्थूल हिसा है। इसके अनेक सूक्ष्म रूप हैं जो दस प्राणो से सम्वन्धित हैं। किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय को भी कष्ट पहुंचाओ या हैरान करो तो वह भी हिसा है। कोई तेज आवाज सह नहीं सकता और किसी ने जाकर वहाँ ढोल वजाना शुरू कर दिया तो उसके श्रोतेन्द्रिय प्राण को कष्ट पहुचाने के कारण ढोल वजाने वाला हिसा का आचरण कर रहा है—ऐसा माना जायगा। मै मानता हू कि किसी भी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, उसके मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तथा आयुष्य पर आघात करने वाला भी हिसा का ही आचरण है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की हिसा को सर्वत्र रोकना अहिसा है और यह अहिसा का निषेध रूप है। जवकि अहिसा का विधि रूप होगा—प्राणियो के कष्ट दूर करना, उनके प्राणो की रक्षा करना, षड्काया के सभी जीवो पर दया—अनुकम्पा रखना आदि।

यह एक प्राकृतिक तथ्य है कि हिसा का आचरण क्रूरता, निर्दयता और राक्षसी वृत्ति को पैदा करता हे जिसके कारण मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर पशुता की तरफ जाता है। इस के विपरीत मनुष्य अपने आचरण मे जितना अधिक अहिसा का समावेश करता है, उतने ही अधिक मानवीय गुण उसके जीवन मे फूलते फलते है। इतना ही नही, यदि मन, वाणी और कर्म मे पूर्णत अहिसा की वृत्ति अपना ली जाय तो वैसा मनुष्य स्वाभाविक रूप से देवत्व की सीढ़िया चढ़ने लगेगा।

मैं आज जव अपने देश और सारे ससार की परिस्थितियो पर सरसरी नजर दौड़ाता हू तो मुझे साफ महसूस होता है कि समूचा वातावरण हिसा के आवरण मे लिपटता जा रहा है। जहाँ देखे, वहीं हिसा का ताडव दिखाई दे रहा है। चाहे सामूहिक समस्याएँ हो अथवा व्यक्तिगत उलझनें, सवको हिसा से निपटाने की ही चेष्टाएँ की जाती है। परिणामस्वरूप अपराध वृत्ति वढ़ गई है, काले धधे धड़ल्ले से चल रहे है और हिंसापूर्ण दगो, आन्दोलनो या युद्धो की आशकाए मुह वाए खड़ी होती जा रही है। मेरा मानना है कि वर्तमान वातावरण मे अहिसामय आचरण की अधिक आवश्यकता है।

मै इसे विचारणीय मानता हू कि अहिसा के सिद्धान्त के पीछे कितने व्यापक लक्ष्य अन्तर्निहित उन्हे समझने की आवश्यकता है। इस ससार मे छोटे हो या वड़े, सूक्ष्म हो या स्थूल सभी

जीव शरीरधारी होते हैं। इन शरीरो मे अधिकांश अक्षम शरीर होते है और जिनके शरीर कार्यक्षम होते हैं उनमें भी कई दुर्वल होते हैं तो कुछ सवल ? कइयो के पास अपनी रक्षा के साधन नही होते तो कुछ के पास रक्षा के साधन और सामर्थ्य दोनो इतनी मात्रा में होते हैं कि वे सिर्फ अपनी रक्षा ही नहीं कर सकते हैं वल्कि दुर्वलो के अधिकार व पदार्थ छीन कर उनको सत्रास भी दे सकते हैं। शरीर होने से निर्वाह की आवश्यकता होती है तथा निर्वाह के साधन अपार नहीं होते, सीमित होते है। निर्वाह के वे साधन, समानता से वितरित नही होते अथवा विकेन्द्रित नहीं होते। सशक्त शरीरधारी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हे केन्द्रित कर लेते है, सचित बना लेते है। इस संचय वृत्ति से प्राणियो के वीच निर्वाह के साधनो के लिये संघर्ष और टकराव पैदा होते है। यही सघर्ष सत्ता और सम्पत्ति के शोषण व सचय की अंधी गलियो से गुजरता हुआ महायुद्धों के विध्वस तक पहुच जाता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस दृष्टि से अहिसा व्यक्ति के आचरण को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को सदाशयमय वनाना चाहती है। कोई भी प्राणी किसी भी दूसरे प्राणी के किसी भी प्राण को कष्टित नहीं करे—इसका आशय यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों या हितो अथवा अपनी निर्वाह योग्य आवश्यकताओं को इतनी सीमित वनादे कि उसको किसी भी स्तर पर टकराव न करना पड़े अथवा टकराव न झेलना पड़े। इस वृत्ति से सचय की कोई गुजाइश नहीं रह जायगी। यदि संचय नहीं होगा तो सघर्ष भी नहीं होगा और संघर्ष के अभाव मे प्राप्त पदार्थों के सम-वितरण की ओर सवके प्रयास प्रारभ होगे। सहृदयता ऐसे सम-वितरण की आत्मा वन जायगी।

मैं अहिसा के सिद्धान्त की पृष्टभूमि मे थ्योरी क्या है, उसका भी जिक्र करदू। यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता। सभी जीवो को अपनी आयु प्रिय है। वे सुख चाहते है और दुख नहीं चाहते। उन्हे वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय। इसी सदर्भ मे भगवान् महावीर ने भी कहा है—मै कहता हूं कि भूतकाल मे जो तीर्थंकर हुए है, वर्तमान काल मे जो तीर्थकर है और भविष्य मे जो तीर्थकर होगे, उन सभी ने यही कहा है, कहते है और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिये, उन पर शासन नहीं चलाना चाहिये, उन्हे अधीन नहीं वनाना चाहिये, उन्हे परिताप नही देना चाहिये तथा उन्हे प्राणो से वियुक्त नहीं करना चाहिये। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

मैं सवसे पहले अपने लिये सोचना चाहता हू कि क्या मै जीना नहीं चाहता ? क्या मुझे सुख प्रिय नही है ? क्या मुझे दु ख या वध प्रिय है ? मेरा यही उत्तर होगा कि मुझे जीवन और सुख प्रिय है, दु ख और वध अप्रिय हैं। तो मुझे यही सोचना है कि जो मुझे प्रिय है वहीं सभी जीवो को प्रिय है तथा जो मुझे अप्रिय है, वह सभी जीवो को अप्रिय है। इसके साथ ही मै निश्चय करना चाहता हूं कि मैं अन्य प्राणियो के साथ वैसा ही व्यवहार करूगा, जो मुझे और उन्हे प्रिय लगता है। अप्रिय व्यवहार मैं नहीं करूगा। इसी भावना की भूमिका पर अहिसामय आचरण का श्री गणेश किया जा सकता है।

तदनन्तर मेरे मन, वाणी तथा कर्म मे निरन्तर अहिसा का सुप्रभाव अभिवृद्ध होता जायगा। विश्व के सभी जीवो की रक्षा रूप दया को मैं हृदय मे वसा लूंगा। मैं जानता हू कि दया की आराधना से जीवो के दु'ख और पापो का शमन होता है तथा सभी का कल्याण सधता है। मैं इस सत्य की

गाठ वाध लूगा कि जिस प्रकार दु.ख मुझे अप्रिय लगता है, उसी प्रकार से संसार के सभी जीवो को भी दु ख अप्रिय लगता है अत सभी प्राणियो पर मै आदर एव उपयोग के साथ दया करूगा। मैं जब किसी भी प्राणी को हनन, आज्ञापन, परिताप, परिग्रह या विनाश के योग्य समझूगा तो सबसे पहले यह विचार करूगा कि जिसके साथ तुम हिसा का आचरण करना चाह रहे हो, वह कोई अन्य प्राणी नहीं, तुम स्वय हो, क्योकि मेरी और उसकी आत्मा एक समान होती है। मै मानता हूं कि यह जीव हिसा ही ग्रथि (आठ कर्मों का वध) है, यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। मुझे अनुभव है कि जो पुरुष स्वय प्राणियो की हिसा करता है, दूसरे से हिसा करवाता है और हिसा करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने लिये वैर ही वैर बढ़ाता है।

मैं अहिसा के इस मूलमत्र को हृदयगम करना चाहता हू कि जीवन पर्यन्त ससार के सभी प्राणियो पर—फिर भले ही वे शत्रु हो या मित्र—समभाव रखू और सभी प्रकार की हिसा का त्याग करू जो अपने आप मे एक अति दुष्कर कार्य है। जीव की हिसा करना अपनी आत्मा की हिसा करना है और जीवो की रक्षा करना अपनी आत्मा की रक्षा करना है। मै यह भी जानता हू कि ससार मे जो कुछ भी उदार सुख, प्रभुत्व, प्रकृति की सुन्दरता, आरोग्य एव सौभाग्य दिखाई देता है, वह सव अहिसा का ही फल है। जगत् मे सुमेरू पर्वत से ऊचा तथा आकाश से विशाल कोई नही है, उससे भी अधिक निश्चय पूर्वक मैं समझता हू कि अखिल विश्व मे अहिसा जैसा दूसरा धर्म नही है।

मैंने किन्ही अज्ञानियो के आरोप सुने है कि अहिसा कायरता सिखाती है। यह एकदम गलत है। अहिसा का सिद्धान्त सम्पूर्ण वीरता का परिचायक है। कायरता अथवा दुर्वलता के लिये उसमे कोई स्थान नही है। एक हिसक से अहिसक बनने की आशा की जा सकती है। किन्तु कायर कभी अहिसक नही वन सकता है। यह अहिसा आत्म-वल पर आधारित होती है। इसी तरह इस आरोप को भी मै सही नही मानता कि अहिसा जीवन मे अव्यावहारिक है। अहिसा का व्यवहार तो एक नागरिक या सामाजिक सदस्य के लिये व्यावहारिक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अहिसा को अपनाने से एक ओर काम क्रोध आदि विकारो को हटा कर क्षमा, शान्ति आदि सद्गुणो को ग्रहण कर सकते है तो दूसरी ओर आवश्यकताओं को निरन्तर कम करते हुए और सादगी को वढ़ाते हुए श्रेष्ठ व्यावहारिक जीवन का निर्माण भी कर सकते हैं।

मै इन आप्तवचनो का स्मरण करके सावधान हो जाता हू कि कुछ लोग प्रयोजन से हिसा करते है, कुछ लोग विना प्रयोजन भी हिसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिसा करते है, कुछ लोग लोभ से हिसा करते है और कुछ लोग अज्ञान से हिसा करते है। किन्तु हिसा के कटुफल को भोगे विना छुटकारा नही है। प्राणवध चड है, रौद्र हे, क्षुद्र है, अनार्य हे, करुणा रहित है, क्रूर है और महा भयकर हे। इसलिये मैं निष्प्रयोजन या क्रोध, लोभ व अज्ञान से हिंसा नहीं करने का निश्चय करूगा वल्कि प्रयोजन पूर्ण हिसा को भी विवशता व दुर्वलता मानूगा तथा उससे छूटते रहने का यत्न करूंगा। प्राणवध को मै सर्वथा हेय समझूंगा और अपनी क्रियाओं मे हिसा के प्रति पूरी सावधानी रखूंगा। इस प्रकार का चिन्तन प्रत्येक पुरुष के लिए आवश्यक है।

सत्य भगवान् होता है

यह आप्तवचन मेरे हृदय मे जमा हुआ है कि सत्य वास्तव मे भगवान् होता है। यह जो आत्म-साक्षात्कार है, वही तो सत्य का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से सत्य ही साध्य है और उसकी साधिका है अहिंसा। अहिंसामय आचरण ही मुझे सत्य की ओर ले जायगा। सत्य ही शिव

(कल्याण) को प्राप्त कराता है तो सर्व कल्याण ही सुन्दरता का प्रतिरूप होता है। सत्य ही आत्मा को कल्याणकारी स्वरूप प्रदान करके उसे भव्य सौन्दर्य से विभूषित वनाता है।

अतः सत्य की उपलब्धि की शोध ही मेरा परम साध्य है और जब मेरे मन, वचन तथा कर्म मे सत्य रम जायगा तव मेरे जीवन मे सत्य का क्या, ईश्वरत्त्व का ही स्वरूप निखरने लगेगा। सत्य तेजोमय भी होता है तो अमिट शान्ति का प्रदाता भी। मै हमेशा सत्य को ही हृदय मे स्थान दू, सत्य ही वोलू और अपने प्रत्येक आचरण को सत्यमय ही बनाऊ यह मेरा जीवन मंत्र होना चाहिये। सत्य वोलू लेकिन सावद्य नहीं बोलू अर्थात् सत्य वोलूं और प्रियकारी सत्य बोलू, अप्रियकारी नहीं।

मैं जानता हू कि सत्य-भाषण से आत्मा की ओजस्विता बढ़ती है क्योंकि सत्य और निर्भीकता सदा जुड़े हुए रहते है। सत्य और भय का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता है। चारों ओर से दु.खों से घिरे हुए रहने पर भी एक सत्यवादी कभी झूठ नहीं वोलता क्योंकि वह सत्य के सहयोग से निर्भय होता है। वह अपने उद्देश्य से कभी डिगता नही है। इसलिये मैं अवधारणा लेता हू कि मैं अपने लिये भी झूठ नहीं वोलू, दूसरो से भी झूठ नहीं वुलवाऊ तथा झूठ का कभी भी अनुमोदन भी नहीं करूं। सत्य को जानते हुए मै कभी अपनी आत्म-प्रशसा भी नही करू तो पर निन्दा के पाप मे भी नही पड़ू। मै न तो किसी स्वार्थ के वहकावे मे आकर झूठ वोलू और न कभी क्रोध के आक्रोश मे भी झूठ वोलू। मै जानता हू कि एक झूठ के कारण हजारो दोष मुझे घेर लेगे। सत्य मुझे गभीर वनायगा, शान्त और प्रशान्त करेगा तो मेरी आस्था को अडिग रखेगा।

मैं यह भी जानता हू कि सत्य असह्य होता है, फिर भी सत्य को मै एक पल के लिये भी अपने से दूर नहीं करूगा। सत्य और शुद्ध सत्य का मै पुजारी वनूगा। सत्य को मै इस दुर्भावना से तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करूगा कि वह ऊपर से तो सत्य दिखाई दे परन्तु भीतर से मै उसकी आड़ मे अपने स्वार्थों को साधू। सत्य को मै किसी पर प्रहार का साधन नही वनाऊगा याने कि सत्य होते हुए भी मै न किसी का मर्म उघाड़ूगा और न मर्मभेदक वचन कहूगा। सत्य को मै मर्यादा-पालन का सवल सहायक वनाऊगा। सत्य को मै मूर्खता का चिह्न भी नहीं बनाऊगा—एक एक शब्द को तोलकर—उसके परिणाम को आककर ही वोलूगा। यथायोग्य स्थान पर यथायोग्य रीति से इस प्रकार वोलूगा कि मेरे भाषा के सुसस्कार सवको दिखाई दे और उनका सव पर सुप्रभाव पड़े। मेरे वचन सत्य होते हुए भी न तो हिसक रूप ले और न मै अप्रियकारी सत्य वोलू। कपटपूर्वक सत्य वोलने को भी मैं झूठ का ही रूप मानूं। सत्य भाषी के साथ मै मित भाषी भी वनू। जिससे हित साधन होता हो, वही प्रखर सत्य होता है अत ऐसे सत्य का दमन मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी न छोड़ू। मेरा सत्य पूर्वापर-अविरुद्ध हो तथा मन, वाणी एव कर्म के तीनो योगो से अकुटिल हो। मै स्पष्ट सत्य का पक्षधर रहूगा। मैं असत्य पक्ष का कभी साथ नहीं दूगा और सत्य का अन्वेषण निरन्तर करता रहूंगा। मै सत्य वचन का न तो कभी स्वयं अपमान करूगा और न दूसरो से उसका अपमान सहूगा।

मै जीवन भर सत्यान्वेषी वना रहूंगा, क्योंकि मैं जानता हू कि सत्यान्वेषण ही विचार समन्वय का प्रतीक होता है। मैं कहता हू वही सत्य है और जो दूसरे कहते है वह सर्वथा असत्य है छद्मस्थ के ऐसे हठाग्रह से ही मिथ्या का जन्म होता है। जहाँ भी मैं एकान्तवाद ले आया वहा सत्य असत्यमय बन जायगा। इस संसार मे जितने मस्तिष्क होते हैं, उतने ही भांति-भांति के विचार होते

हैं और चूकि अधिकांश अपूर्ण लोगो के मन मे जो यह हठाग्रह जम जाता है कि उनका विचार ही सत्य है, उससे वढ़कर सत्य का अहित दूसरा नहीं होता है। पूर्ण सत्य के निकट पहुच जाना मैं बहुत दूर की बात मानता हू, अत मैं यह विचार रखता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति के विचारो मे कुछ न कुछ सत्यांश सामान्यतया रहता है अत मुझ जैसे सत्यान्वेषी की यह चेष्टा रहनी चाहिये कि मैं किसी भी अन्य के विचार मे स्थित सत्याश समादर करूं और उस सत्यांश को उद्घाटित करू। असत्य को छोड़ता रहू और सत्य को ग्रहण करता रहू। इस प्रकार सत्यांशो का चयन ही एक दिन मुझे पूर्णं सत्य का साक्षात्कार करा सकेगा।

मैं सर्वत्र फैले सत्याशो का चयन कैसे करूंगा—इस पर मुझे गहरा विचार करना होगा। सत्य के कई पहलू होते हैं। यदि उन सभी पहलुओं को मैं नहीं समझू तथा एक पहलू पकड़ कर ही सत्य का हठ करलू तो वह हठ मुझे सत्य से दूर फैक देगा। उदाहरण के तौर पर सोचू कि एक व्यक्ति पुत्र भी है, पिता भी है, पति भी है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बन्ध रखता है। ये सभी पहलू सही हैं। किन्तु यदि मैं हठ करलू कि मैं तो पिता ही हूं तो क्या यह सच होते हुए भी झूठ नहीं हो जायगा? यह सच है कि वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। तो अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है। जहाँ तक विभिन्न अपेक्षाओं को नजर मे रखते हुए वह 'भी' का प्रयोग करता है तो वे सव पहलू सच है लेकिन जहा उसने एक पहलू पद 'ही' लगा लिया तो वह एकान्तवाद होकर झूठ हो गया। सात अधों और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जव दृष्टिहीन वे लोग हाथी के एक एक अग को पकड़ कर उसको 'ही' हाथी वता रहे थे तव वे आशिक रूप से सच कहने के वावजूद झूठे कहलाये। और जव किसी नैत्रधारी ने उनको यह रहस्य वताया कि तुम सभी अंगो को मिला लो तो पूरा हाथी बन जायगा, तव वे सभी सच हो गये।

इस तरह मैं देखता हू कि इस संसार मे अधिकांश लोग अपने सत्याश को ही पूर्ण सत्य वताकर विवाद और सघर्ष करते रहते हैं। वे लोग अपने हठ को छोड़ते नहीं और दूसरे के सत्याश को समझना चाहते नहीं, जिससे विचार संघर्ष चलता रहता है। विचार सघर्ष जितना वढ़ता है, उतना मनभेद और कर्मद्वन्द्व भी वढ़ता जाता है। कहते हैं कि मतभेद हो लेकिन मनभेद नहीं होना चाहिये—उसका आशय मैं यही समझता हू कि मतभेद स्वाभाविक है किन्तु यदि उस मतभेद को अनेकान्त, स्यात् अथवा सापेक्षता की रीति से समझले तो मनभेद की स्थिति तो पैदा ही नहीं होती है वल्कि मतभेद भी मिट जाते है। वहा विचार समन्वय की सदाशयता फैल जाती है। अनेकान्त, स्यात् या सापेक्षता का यही मर्म है कि सत्य को उसके अनेक पहलुओं से परखो, स्यात् अस्ति और स्यात्-नास्ति के तराजू मे तोलो तथा सभी अपेक्षाओं से सत्य के विराट स्वरूप को जानो।

मैं अनुभव करता हू कि इस संसार मे मुख्य रूप से दो ही प्रकार के सघर्ष होते हैं। एक तो होता है स्वार्थों का सघर्ष और दूसरा विचारो का सघर्ष। स्वार्थों का सघर्ष इस कारण फैलता है कि मनुष्य अहिसा का आचरण नहीं करता। अपने ही उचित-अनुचित सभी स्वार्थ पूरे कर लेना चाहता है किन्तु दूसरो के उचित हित को भी काटता रहता है। ऐसा जीवन के आचरण मे अहिसा के अभाव से होता है क्योंकि एक अहिंसावादी एक ओर अपने स्वार्थों को उचित आवश्यकता से अधिक फैलाता नहीं तो दूसरी ओर अपने स्वार्थों से भी ऊपर दूसरो के हितो को पहले स्थान देता है। हृदय का ऐसा उदारवाद ही टकराव समाप्त कर सकता है। उसी प्रकार हृदय का ऐसा उदारवाद

विचारों के टकराव को भी समाप्त कर सकता है। और उसका मार्ग है अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद का।

मेरा विचार है कि सभी प्रकार के सघर्षो से विचारो का सघर्ष अधिक जटिल और अधिक घातक होता है। उद्देश्यो मे असमानता कम होती है लेकिन उन्हे प्राप्त करने के उपायो के बारे मे ही मतभेद अधिक होता है। यह मतभेद बहुत करके व्यक्तिगत हठ से अधिक बढ़ता है। विचारो के टकराव का निवारण सत्य के विभिन्न पहलुओं को ध्यान मे लेने तथा सभी विचारो का समादर करने से ही हो सकता है। सभी के विचारो के सत्यांश का समादर होगा तो व्यर्थ का असन्तोष नहीं भड़केगा। प्रत्येक विचार मे रहे सत्याश को खोजा जायगा तो विभिन्न विचारो का विश्लेषण भी सम्यक् रीति से किया जा सकेगा तथा समस्याओं के समाधान भी आसानी से निकाले जा सकेगे। यही विचार समन्वय की सही विधि हो सकती है। समन्वय के लिये सत्य का सुदृढ़ आश्रय भी आवश्यक है तो हृदय का उदारवाद भी। यही सत्यान्वेषण का मार्ग भी है।

मै जानता हू कि ससार मे सत्य ही सार भूत है जो महासमुद्र से भी अधिक गभीर होता है। सत्य चन्द्रमडल से भी अधिक सौम्य तो सूर्यमडल से भी अधिक तेजस्वी होता है। मैं ऐसा सत्य वचन बोलू जो हित, मित और ग्राह्य हो, लेकिन सत्य से सयम की घात होती हो तो वैसा सत्य भी नहीं बोलू। मै न क्रोधवश असत्य बोलू, न लोभवश। सत्य वचन के दस प्रकारो का मैं पूरी तरह से ध्यान रखू। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताऊ फिर भी एक जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताता है तो दूसरी जगह दूसरे अर्थ को, किन्तु मेरी विवक्षा ठीक रहे तो दोनो जगहो पर प्रयुक्त शब्द सत्य ही रहेगा। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य के ये दस प्रकार बताये गये है (१) जनपद—सत्य-जिस देश वा क्षेत्र मे जिस वस्तु का जो नाम हो, वह नाम वहा सत्य है। दूसरे देश वा क्षेत्र मे उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी क्षेत्रीय दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए वह असत्य नहीं है। (२) सम्मत सत्य—आचार्यों या विद्वानो ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है, उस अर्थ मे वह शब्द सम्मत सत्य है। जैसे पकज का अर्थ कमल ही होता है। मेढक नही यद्यपि मेढक भी कीचड़ से उत्पन्न होता है फिर भी उसको पकज नहीं कहा जाता (३) स्थापना-सत्य के दो भेद है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। सद्भाव स्थापना है सद्भूत पदार्थों को सद्भूत के रूप मे कहना और लिखना और असद्भाव स्थापना है असत् भूत को असत् भूत कहना और लिखना। (४) नाम सत्य—गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से पुकारना। जैसे अधे को नयनसुख कहना। (५) रूप सत्य—वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे नाटक के पात्र को राजा कहना। (६) प्रतीत सत्य (अपेक्षा सत्य)—किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बड़ी कहना। (७) व्यवहार सत्य—जो बात व्यवहार मे बोली जाती है, जैसे पर्वत पर लकड़िया जलती है लेकिन कहा जाता है कि पर्वत जल रहा है। (८) भाव सत्य—निश्चय की अपेक्षा कई बातें होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसे वही बताना जैसे तोते मे कई रग होते हैं फिर भी उसको केवल हरा बताते हैं। (९) योग सत्य—किसी चीज के सम्बन्ध मे व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना, जैसे लकड़ी ढोने वाले को लकड़हारा कहना। (१०) उपमा सत्य —किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना।

सत्य से विपरीत मृषावाद होता है तथा मृषा वचन भी दस प्रकार से निकलते है —(१) क्रोध से निकलने वाला (२) मान से निकलने वाला (३) माया से निकलने वाला, (४) लोभ से निकलने वाला, (५) प्रेम से निकलने वाला, (६) द्वेष से निकलने वाला, (७) हास्य (हसी) से निकलने वाला, (८) भय से निकलने वाला, (९) आख्यायिका (कहानी) के बहाने निकलने वाला तथा (१०) उपघात —प्राणियो की हिसा से निकलने वाला वचन। इस प्रकार सत्यामृषा याने मिश्र भाषा के भी दस प्रकार होते है—(१) उत्पन्नमिश्रिता, (२) विगतामिश्रिता, (३) उत्पन्न-विगत मिश्रिता, (४) जीवमिश्रिता, (५) अजीव मिश्रिता, (६) जीवाजीव मिश्रिता, (७) अनन्त मिश्रिता, (८) प्रत्येक मिश्रिता, (९) अद्धामिश्रिता व (१०) अद्धद्धामिश्रिता।

सत्य—निर्णय की दृष्टि से भाषा के चार भेद किये गये है —(१) सत्य भाषा—विद्यमान जीवादि तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप कहना। (२) असत्य भाषा—जो पदार्थ जिस स्वरूप मे नही है, उन्हे उस स्वरूप मे कहना। (३) सत्यामृषा (मिश्र) भाषा —जो भाषा सत्य भी हो और मृषा भी। (४) असत्यमृषा (व्यवहार) भाषा—जो भाषा न सत्य है और न असत्य है।

असत्य भाषा भी चार प्रकार की बताई गई है—(१) सद्भाव प्रतिषेध—विद्यमान वस्तु का निषेध करना, (२) असद्भावोद्भावन—अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना, (३) अर्थान्तर—एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना एव (४) गर्हा—दोष प्रकट कर किसी को पीड़ाकारी वचन कहना।

सत्य के विश्लेषण एव अन्वेषण के महत्त्व को आत्मसात् कर मै सदा सत्य की आराधना करूगा, सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियो के साथ मैत्री भाव रखूगा तथा सत्य पर दृढ़ रहूगा क्योंकि लोक मे जो भी मत्र, योग, जप, विद्या, जृम्भक, अस्त्र,शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थित है तथा सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगो का विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह पूज्य होता है और स्वजन की तरह सभी को प्रिय लगता है।

अस्तेय की ओजस्विता

अस्तेय शब्द भी अहिसा की तरह निषेध रूप है। चौर्य कर्म करना स्तेय या चौर्य कहलाता है तो इसका प्रतिपक्ष अस्तेय या अचौर्य होता है। इसे अदत्तादान-विरमण भी कहते है। इसका सामान्य अर्थ यह होता है कि जो दी नहीं गई है या बिना आज्ञा ली गई है, वह चोरी कहलाती है। चोरी नहीं करना अस्तेय है याने कि दूसरे की कोई भी चीज आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिये।

अस्तेय व्रत के सदर्भ मे मै जब आप्त वचनो का स्मरण करता हू तो मुझे प्रतीति होती है कि ज्ञानियो ने इस व्रत का लक्ष्य बहुत ही गहरा और व्यापक रखा है। कहा गया है कि जो असविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण नही करता है और असंग्रह रुचि है याने कि साथियो के लिये समय पर उचित सामग्री का सग्रह कर रखने मे रुचि नहीं रखता है तथा अप्रमाण भोजी है अर्थात् मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता है। इसके विपरीत जो सविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण करता है और सग्रह व उपग्रह मे कुशल है याने कि साथियों के लिये यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने मे दक्ष है, वही अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

मै गभीरतापूर्वक सोचता हू कि आप्त-पुरुषो ने अस्तेय व्रत के संदर्भ मे सविभाग को इतना महत्त्व क्यो दिया है ? सविभाग का अर्थ होता है समान रूप से विभाजन। सविभागी है वह अचौर्य

व्रत का पालक है, वरना असंविभागी को चोर कहा गया है। इस मंतव्य को हमे समाज के विस्तृत क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य मे देखना होगा। सोचे कि एक व्यक्ति अर्थोपार्जन करता है जो अपनी कुशलता अथवा सुसाधन संयुक्तता से अच्छा अर्जन कर लेता है या यो कहिये कि दूसरो से अधिक अर्जन कर लेता है। जहाँ तक उसने अधिक अर्थोपार्जन किया है किन्तु साथ ही सविभाग की वृत्ति रखता है व प्रवृत्ति करता है, तब तक वह उपार्जन चोरी नहीं है। परन्तु यदि वह उस उपार्जन को अपने पास अपने ही लिये रख लेता है और उसका सविभाग नही करता है तो उसका उपार्जन अनुचित है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि अर्थोपार्जन की विधि मे अन्य प्राणियो के हित की भावना रहती हो और उपार्जित-सचित पदार्थों के यथास्थान सवितरण की आस्था हो वह अचौर्य है तथा उपार्जन की विधि मे परहित का किचित भी ख्याल न रखा जाता हो एव उपार्जित-सचित पदार्थों के यथा स्थान संवितरण की आत्था न हो वह चौर्य कर्म परिधी में समाविष्ट हो जाता है।

मेरा चिन्तन चलता है कि अर्जन वह अपनी कुशलता या साधन सामग्री (पूजी आदि) से करता है, फिर उस अर्जन को निन्दनीय क्यो माना गया है ? मैं अर्जन को निन्दनीय इसलिये कह रहा हू कि यदि वह उसका सविभाग कर देता है तो यह कह सकते है कि उसने उसका प्रायश्चित कर लिया और सविभाग नहीं करता तो यह माना गया है कि वह अस्तेय व्रत की आराधना नही करता। सविभाग कैसे करे—उसका भी कुछ स्पष्टीकरण आप्त पुरुषों ने दिया है। अधिक अर्थोपार्जन करने वाले के पास अपने निर्वाह से अधिक सामग्री है तो सविभाग की दृष्टि से उसे अपनी प्राप्त सामग्री का सम्यक् रीति से वितरण कर देना चाहिये। वितरण की सम्यक् रीति क्या होगी ? जिसको जिस सामग्री की आवश्यकता हो, उसे वह सामग्री देने मे संकोच न हो। सामाजिक आवश्यकता-पूर्ति को इस रूप मे व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य कहा गया है। यथायोग्य अवसर पर यथायोग्य लोगो को यथायोग्य रीति से अपनी प्राप्त सामग्री का यथोचित वितरण कर देना अस्तेय या अचौर्य है। संविभाग की दूसरी वात यह कि वह अपने पास सामग्री का सग्रह भी करे तो अपने लिये नहीं, जरूरत मंद आवश्यक मंद अन्य प्राणियों के लिये करे, ताकि आवश्यकता होने पर यथावसर उन्हे वह सामग्री सहायता रूप दी जा सके। संविभाग की तीसरी वात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि अधिक अर्थोपार्जन भले किया है, लेकिन स्वय अप्रमाण भोजी (भोगी) न हो, भोजन भी वह सयत करे और अन्य सामग्रियो का भोग-उपभोग भी वह मर्यादित वनावे। यदि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला सामाजिक आवश्यकता-पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता, सग्रह या सचय का उपयोग अपने साथियो के लिये नहीं करता अथवा अपने ही सुख भोग के लिये प्राप्त सामग्री वेमाप ओर वेहिसाव खर्च करता है तो वह असविभागी है और अस्तेय व्रत का आराधक नहीं है। जो अस्तेय व्रत का आराधक नहीं माना जायगा, वह निश्चय ही उस प्रकार स्तेय या चौर्य कर्म कर रहा है।

मैं अपनी दृष्टि को व्यापक वनाता हू और सोचता हू कि आप्त पुरुषो ने आज के अर्थ युग की जटिलताओं और समस्याओं को ज्ञान मे देख लिया था और उन्होंने इन जटिलताओं के समाधान रूप मे ही सविभाग का मत्र प्रदान किया। जो आज की अर्थोपार्जन प्रणाली से परिचित हैं, वे जानते हैं कि आवश्यकता से अधिक अर्थ का उपार्जन करना नैतिकता से संभव नहीं है। अधिकाशतया समाज मे अधिक होशियार लोग कम-समझ लोगों की मेहनत का फल चुराते हैं तभी अधिक अर्थोपार्जन संभव होता है। अनैतिक अर्थ सचय का तो आधार ही चौर्य अथवा शोषण होता है वर्तमान युग मशीनी युग है और इसमे एक साथ हजारो लोग श्रम करते हैं। श्रमिक का श्रम ही

प्रमुख साधन होता है जबकि (श्रमिको की तरह) श्रम न करने वाला कारखाने का मालिक पूजी, बुद्धि आदि के साधनो से सशक्त होता है। इस आर्थिक प्रणाली मे आसानी से ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि प्रत्येक को उसके श्रम का पूरा लाभ न दिया जाय या दूसरे शब्दो मे यह कहे कि उसके श्रम के लाभ का काफी अंश मालिक अपने पास रखले। तो नैतिक धर्म इसे चौर्य कहता है और आज का अर्थ जगत् उसे शोषण का नाम देता है। यह चौर्य अथवा शोषण ही आज कुछ हाथो मे हो रहे धन सचय का मूल है।

मुझे आश्चर्य होता है कि इस प्रकार का मह सचय तो चौर्यपूर्ण होगा लेकिन चौर्य कर्म समाप्त कहा होता है? यदि प्राप्त सामग्री का ठीक से वितरण कर दिया जाय और सविभागी हो जाय, तब तो उस चौर्य कर्म का प्रायश्चित हो जायगा। लेकिन आज के भौतिक वैभव सम्पन्न क्या ऐसा करते हैं? वे तो चौर्य से प्राप्त सामग्री को अपने ही लिये सचित करते है व सचित धन का अधिक शोषण के लिये अधिक नियोजन करते हैं। फलस्वरूप चौर्य या शोषण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है तो सचय का परिमाण भी बढ़ता जाता है। सचय वृद्धि और सविभाग का अभाव जो निरन्तर चलता रहे तो क्या वह उसे एक मानव से मानवेतर तो नहीं बना देगा? चोरी के धन से आदमी देव तो बन ही नही सकता, लेकिन क्या वह अपनी मनुष्यता को भी बचा सकता है? धन-सामग्री मिल जाने के बावजूद मनुष्य की मनुष्यता को बचाने के लक्ष्य से ही वीतराग देवो ने सविभाग की आज्ञा दी है।

मै इस अर्थ विन्यास को स्पष्ट करता हू तो लगता है कि दूसरे के द्वारा न दी गई वस्तु को लेना तो चोरी है ही, किन्तु यह चोरी का उससे भी अधिक घृणित रूप होगा कि किसी का लाभाश इस तरह छीन लिया जाय जिससे छीनने वाला तो बिना श्रम अधिक अर्थोपार्जन करे और जिनका लाभाश छीना जाय वे अपने निर्वाह के आवश्यक साधनो से भी वचित हो जाय। सविभाग वृत्ति का अर्थ-विन्यास सामाजिक सदर्भ मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक प्रभाव वाला है। जब व्यक्ति समाज मे एक साथ रहते हैं तो उनके बीच मे अधिकाधिक समता-भरा वातावरण भी होना चाहिये। आर्थिक समता मूल मे दूसरी प्रकार की समताओं का विकास करती है। इसी से अहिसामय आचरण का विस्तार हो सकता है। इसके विपरीत विषमताएँ हिसा और कटुता को जन्म देती है। आर्थिक हो या अन्य प्रकार की—विषमता सामाजिकता के पृष्ठ बल के ही तोड़ती है। इसी विषमता को समाज मे न आने देने के लिये तथा अधिक अर्थोपार्जन करने वाले सदस्यो के मन मे व कर्म मे समता को जागृत वनाये रखने के लिये ही सविभाग का निर्देश दिया गया है। सविभागी को ही अस्तेय व्रत का सम्यक् आराधक इसीलिये कहा गया है कि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला केवल अपने लिये धन सामग्री का सचय करने से डरे और अपने माथे पर चोरी का कलक न लगने दे। व्रती साधक के लिये चौर्य कर्म त्याज्य माना गया है और इसी त्याग के प्रेरक रूप सविभाग का प्रावधान किया गया है। अत सविभाग का अर्थ-विन्यास सामाजिक समता की दृष्टि से वहुत व्यापक भी है।

मै इस परिप्रेक्ष्य मे जव अस्तेय की ओजास्विता पर चिन्तन करता हू तो मै स्तव्ध रह जाता हू क्योकि अस्तेय व्रत आर्थिक सविभाग के माध्यम से सामाजिक समता का धरातल तैयार करता है तथा व्यक्ति को समाज के हित मे त्याग करने की प्रेरणा देता है। चौर्य कर्म को उकसाने वाला होता है लोभ और लोभ व्यक्ति को पतित बनाता है तो व्यक्ति की लोभ वृत्ति के दुष्परिणाम

रूप समाज भी विषम, कदाग्रही और कलुषित बनता है। यदि अस्तेय व्रत का यथार्थ अर्थ मे पालन किया जाय तो व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और सन्तोषी व्यक्तियो का समाज सदा ही सुखी होगा। अधिक लोभ से अधिक लाभ कमाने की लालसा ही व्यक्ति को चौर्य कर्मों मे प्रवृत्त बनाती है। छोटे स्तर पर वह देते वक्त माल कम तोलता है या कपड़ा कम नापता है तो लेते वक्त तराजू के टल्ला मारकर अधिक तोलकर कम का मूल्य देता है। यह दुष्कर्म जितना फैलता जाता है, व्यक्ति अपने आपको शोषण, काले धधो और तस्करी आदि मे लगाकर अधिक से अधिक मुफ्त का लाभ कमाना चाहता है। व्यक्ति ऐसे उद्यमो पर स्वय भावनापूर्वक अकुश लगाने और अस्तेय व्रत की महत्ता को महसूस करे, परन्तु उसके साथ ही उस लोभ पर अकुश लगाने का कोई सामाजिक प्रयास किया जाय तो उसके कारण भी लोभी व्यक्तियो की वृत्ति सविभाग की दिशा मे मोड़ी जा सकेगी।

यह सब समझ कर मै सोचता हू कि मै सविभागी बनूगा, लोभ को खत्म करूगा तथा अपनी आवश्यकताओं को भी मर्यादित बनाऊगा। चाहे किसी का तिनका ही क्यो न लेना हो मै उसकी बिना आज्ञा नही लूगा। मै औरो के धन पर कभी भी अपना अधिकार नही करूगा। प्राप्त वस्तुओं का सम्यक् विभाग करके धन पर अपना राग-भाव मिटाने का प्रयत्न करूगा। और अस्तेय व्रत मे कही भी गाठ नहीं रखूगा। मै अपनी भावना बनाऊगा कि जब मै परिपूर्ण अस्तेय व्रत को अपनाऊगा तब मै भिक्षा तक को भी बाट कर खाऊगा और अप्रमाण योगी कभी नही बनूगा। चौर्य कर्म करके मुझे कितना भी मान-सम्मान मिलता हो तब भी मै उसे ठुकरा दूगा।

मै जानता हू कि मनोज्ञ रूप आदि इन्द्रिय विषयो से जो सन्तुष्ट नहीं रहता है, वह उनके परिग्रह मे आसक्ति एव लालसा वाला बना रहता है और अन्त मे असन्तोष से दु खी एव लोभ से कलुपित वह आत्मा अपनी इष्ट वस्तु पाने के लिये चोरी करता है। इस कारण मै चौर्य कर्म को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से इन्द्रिय-सयम को धारण करूगा। इन्द्रियो और मन की गतिविधियो पर नियत्रण करके मै अपनी आवश्यकताओं को सीमित व मर्यादित कर सकूगा जिसके कारण लोभ रूप कषाय मेरे अन्तर्मन को कलुषित नही कर पायगी और लोभ को मै रोक लूगा तो अदत्तादान विरमण भी साध लूगा। अस्तेय व्रत की ओजस्विता में अपने चरित्र को निर्भीक व निर्मल बना लूगा।

प्रभावकतापूर्ण ब्रह्मचर्य

मिथुन या कुशील सेवन को एक अनाचार माना गया है तो ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय सयम को एक महानतम तप, क्योंकि ब्रह्मचर्य से विवेक जागृत होता है और जीवन की प्राभाविकता सिद्ध होती है। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की सम्यक् साधना का मूल ब्रह्मचर्य माना गया है। ब्रह्मचर्य के विना मुक्ति की सभावना ही नहीं मानी जा सकती है। ब्रह्मचारी एक कछुए की तरह अपनी इन्द्रियो को सिकोड़ कर काम भोगो से दूर हो जाता है तथा भय से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश तो यो मानिये कि सभी आत्मगुणो का नाश और ब्रह्मचर्य की साधना तो एक लाठी से सभी भैंसो को हाकने की तरह सभी आत्म गुणो का आधिपत्य है। यह सही है कि ब्रह्मचर्य अति दुष्कर व्रत है किन्तु जो काम की मार को मार देता है, वह आत्म-शत्रुओं को भी मार देता है।

मैं देखता हू कि इस ससार मे काम वासना का ताडव बड़ा भीषण होता है। कही पर भी वासना जन्य दु.खों को देखकर ब्रह्मव्रत के महात्म्य का अनुभव किया जा सकता है। गध, शब्द, रूप, रस, एव स्पर्श रूपी काम भोग पाच प्रकार के होते है और इनके प्रति रही हुई वासना दुर्जेय

बन जाती है। पुरुष के लिये स्त्री ससर्ग और स्त्री के लिये पुरुष ससर्ग वासना के बांध को तोड़ देता है, बल्कि यहा तक कहा गया है कि वैतरणी दु स्तर नही, नर-नारी का परस्पर संग दु स्तर है समस्त विषय भोग अस्थिर होते हैं तथा विषयग्रस्त व्यक्ति अस्वस्थ और सत्रस्त रहता है। वासना तो तालपुट विष रूप मानी गई है। ये तीन बाते जिसमे पहली देहविभूषा, दूसरा स्त्री ससर्ग और तीसरा सरसप्रणीत भोजन है। इन तीनो से आत्मगवेषी ब्रह्मचारी बच कर चलता है। उसके चित्त मे से कामेच्छा निकल जाती है, नैनो मे से राग निकल जाता है और स्त्री के प्रति हृदय मे वैराग्य जाग जाता है। उसे स्त्रियो के रूप की चर्चा करने का अवकाश ही नही मिलता है क्योकि वह अपना सारा समय निर्मल ज्ञानाभ्यास मे लगा देता है। वह पूर्वकृत काम क्रीड़ाओं को भी यदि नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि उस याद से भी उन्माद पैदा हो सकता है। एक ब्रह्मव्रती को कप, स्वेद या मूर्छा की आशका नहीं रहती तो शक्ति क्षय की ग्लानि भी नही। वह तो आत्म-रमणमय बन जाता है क्योंकि वह देह तृप्ति से दूर हट कर आत्म-सन्तुष्टि मे लीन हो जाता है। जिसके मन पर काम की सूक्ष्म छाप भी नहीं रह जाती, वह मुक्तात्मा बनने लगता है। वह आत्मानन्द का रसास्वादन करने लग जाता है।

'स्व' स्थ जीवन के लिये ब्रह्मव्रत की आराधना अपरिहार्य है—ऐसा मेरा अनुभव है। जैसे ब्रह्मचर्य को मुक्ति का प्रतीक माना है, वैसे ही काम-भोग ससार के प्रतीक माने गये है। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है अत ब्रह्मचर्य की साधना की दिशा मे आगे बढ़ते रहना अनिवार्य है। सर्वांशत ब्रह्मचारी नहीं बन सकते हैं तब तक भी इन्द्रिय सयम मे आचरण का अभ्यास चलता रहना चाहिये। जब जब किसी भी वर्ग मे ऐसा अभ्यास टूटा है और मुक्त मैथुन का समर्थन किया गया है, तब तब उस वर्ग मे विषय वासना की ऐसी आधियाँ चली हैं, जिनमे क्षत-विक्षत होने से कोई नहीं बचा होगा। यह ठीक है कि ससार मे कामेच्छा अपनी जगह पर होती है तथा प्रजनन भी ससार के ससरण का एक प्रमुख साधन है, तब भी विकसित सस्कृतियो ने काम को सदा ही सुसस्कारित तथा नियमित बनाने का प्रयास किया है। विवाह सस्था की स्थापना ऐसे ही प्रयासो का परिणाम है। छुट्टे साड की तरह आदमी भोग लिप्त बन कर अपनी ही रचनाओं को उजाड़ने न लग जाय—इस उद्देश्य से विवाह प्रथा प्रारभ हुई कि कामेच्छा—पूर्ति की दृष्टि से एक पुरुष और एक स्त्री परस्पर प्रतिबधित हो जाय। इसे दुष्चरित्र माना गया कि ऐसे प्रतिबंधित स्त्री-पुरुष अपने प्रतिबध को तोड़कर अन्य स्त्री अथवा पुरुष के साथ गमन करे। गुप्त रूप से भी ऐसा करना पाप माना गया। ऐसी सस्कृति के फलस्वरूप काम भोगो के विकराल दुष्परिणामो से भारतीय समाज बचा हुआ रहा है।

वर्तमान विश्व मे काम भोगो की लिप्सा के जघन्य रूप को जब मैं देखता हू, तो पश्चिम के देशो का ध्यान आता है, जहा काम-पूर्ति के लिये मुक्त वातावरण चुना गया, किन्तु आज उन देशो मे सामाजिक व्यवस्था यौन अपराधो के अधेरे मे छिन्न-भिन्न हो गई है तो काम भोगो मे सम्पूर्ण सुख मानने वाले उन देशो के नागरिक आज अपनी ही मानसिकता से अत्यधिक अशान्त एव विक्षुब्ध हैं। अभी भी वे लोग अपनी अशान्ति को घोर नशीले पदार्थों मे डुवो देने की कुचेष्टा ही कर रहे हैं। इसके विपरीत जब वे इन्द्रिय सयम तथा ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व देगे, तभी वे अपनी वर्तमान दुरावस्था को सुधार सकेगे।

मेरा अनुभव है कि भारत मे भी जव से ब्रह्मचर्य—साधना का महत्त्व किन्हीं वर्गों ने कम करके देखा है तो वे वर्ग यौन अपराधो से संत्रस्त वने है तथा उनकी सामाजिकता अति अस्त-व्यस्त

हुई है। ऐसे वर्गों की काम लिप्सा एक प्रकार से सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन पर भी बुरा असर डाल रही है। ऐसे विकृत होते वातावरण मे संसार के व्यवहार को संशोधित करने की दृष्टि से विवाह-व्यवस्था को व्यवस्थित करना तथा मूल रूप से ब्रह्मचर्य साधना की दिशा मे गति करना आवश्यक हो गया है।

मै मानता हू कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते है। किन्तु एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब गुण-शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते है। एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जो शुद्ध भाव से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है। ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिये जो जीवन यात्रा एव सयम यात्रा के लिये उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रशना। साधक को कमल पत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये।

मैं ब्रह्मचर्य की अवधारणा मूलरूप मे यह मानता हू कि मैं अपने मन, वचन एव काया के समस्त योगो को सासारिक वासनाओं से हटाकर आत्म चिन्तन मे लगा दू। न तो वैक्रिय शरीर के देव सम्बन्धी भोगो का मन वचन काया से स्वय सेवन करूं, न दूसरे से कराऊ और न उनकी अनुमोदना करू और इसी प्रकार मैं औदारिक शरीर के मनुष्य, तिर्यच सम्बन्धी काम भोगो का भी त्याग करू ताकि मैं अट्ठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन कर सकू। ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानो का भी मैं ध्यान रखू तथा अपने-आपकी काम वासनाओं से रक्षा करूं। दस समाधि स्थान इस प्रकार हैं—(१) जिस स्थान मे स्त्री, पशु और नपुसक रहते हो, वहा ब्रह्मचारी न रहे, (२) वह स्त्री सम्बन्धी कथा न करे तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर अन्त मुहुर्त पहले न बैठे, (३) स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे (४) स्त्री के मनोहर व सुन्दर अग-प्रत्यगो को न देखे, (५) पर्दे, दीवाल आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियो के विषयोत्पादक शब्द, गीत, हास्य या विलाप को न सुने, (६) पहले भोगे हुए काम भोगो का स्मरण न करे, (७) सरस और कामोत्तेजक आहार न करे, (८) शास्त्रोक्त परिमाण से अधिक आहार न करे, (९) स्नान, मजन आदि करके शरीर को अलंकृत न करे तथा (१०) सुन्दर शब्द, रूप रस, गध और स्पर्श मे आसक्त न बने।

ब्रह्मचर्य-शील की आराधना करते हुए मै स्त्रियो के रूप लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को अपने मन मे तनिक भी स्थान नहीं दूगा और रागपूर्वक देखने का प्रयत्न भी नहीं करूगा। मैं स्त्रियों का चिन्तन एव कीर्तन भी नहीं करूगा। क्योंकि मैं जानता हू कि ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से ही उत्तम श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ऋषि है, वही मुनि है, वही साधु है और वही भिक्षु है। मन, वचन, काया का गोपन करने वाले मुनियो को चाहे वस्त्राभूषणो से अलकृत अप्सराए भी सयम से विचलित नही कर सके तब भी उन्हे एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये—यही अत्यन्त हितकारी और प्रशस्त है। टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है। साधु स्वय स्थिर चित्त हो फिर भी पुरुष व महिला की साक्षी के बिना आर्या के साथ पठन-पाठन आदि आर्या का सम्पर्क भी ठीक नहीं है। जैसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता है, उसी प्रकार साधु ससर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है।

मैं जान चुका हू कि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषो का पुज रूप है। दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव गधर्व, यक्ष, राक्षस, और किन्नर आदि

सभी नमस्कार करते हैं। यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव धर्म है, नित्य है, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट है। इसका आचरण कर पूर्वकाल मे कितने ही जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान मे हो रहे है तथा भविष्य मे होगे। जो पुरुष स्त्रियो का त्रिक त्रियोग से सेवन नही करते, उनका सर्व प्रथम मोक्ष होता है। ब्रह्मचर्य सभी तपो मे प्रधान है। यह तो ब्रह्मचर्य की प्रचलित व्याख्या हुई किंतु व्युत्पत्ति की दृष्टि से ब्रह्म+चर्य=अर्थात् ब्रह्म याने आत्मा-परमात्मा वीतराग देव उस वीतराग स्वरूप मे सदा चित्त की चर्या रहे वह ब्रह्मचर्य है। यह लक्षण जिसमे पाया जाय उसे ब्रह्मचारी कहते है।

अपरिग्रहवादी साम्यता

मैं देखता हू कि सारे ससार मे परिग्रह के लिये जो दौड़धूप हो रही है, जो कृत्य-अकृत्य किये जा रहे हैं तथा जो तृष्णा व वितृष्णा की लालसा भड़क रही है —वह सब परिग्रहवाद है। जिसके पास परिग्रह नहीं हो वह भी परिग्रहवादी हो सकता है क्योंकि वह परिग्रहवाद की मूर्च्छा (मोह) से पीड़ित होता है। मुख्यत यह मूर्च्छा या मोह ही परिग्रह है। यदि यह नही है और सयम निर्वाहार्थ पदार्थ हुए भी तो वह परिग्रह नहीं पदार्थ मूर्च्छारहित बनकर पदार्थ को धारण करने वाला भी अपरिग्रहवादी हो सकता हैं क्योंकि मूलत मूर्च्छा को ही परिग्रह माना गया है।

इसलिये मै मानता हू कि समाज मे परिग्रह की सुव्यवस्था करके परिग्रहवादी मूर्च्छा मनोवृत्ति की समाप्ति की जा सकती है। वह सुव्यवस्था परिपूर्ण अपरिग्रहवादी साम्यता की होगी, जिसमे व्यक्ति की समानता की इच्छा भी काम करेगी तो ऐसे यथास्थान सामाजिक सुव्यवस्था के उपाय भी कार्यान्वित किये जा सकेगे जिनके कारण पदार्थ रूप सम्पत्ति के प्रति व्यक्तियो का मोह-जाल कट जाय। इनमे से एक सामाजिक उपाय स्वामित्व समाप्ति का हो सकता है। भगवान् ऋषभदेव से पूर्व मे युगलिया (आदिम) काल था। तब सम्पत्ति पर किसी का स्वामित्व नहीं था। वृक्ष सभी के थे, सभी इच्छानुसार फल खाते थे। सरोवर सभी के थे, सभी अपनी तृषा शान्त करते थे। किन्तु जब मनुष्य का निर्वाह स्वाभाविक रूप से प्राकृतिक साधनो द्वारा नही होने लगा तो मनुष्य अपने श्रम से उत्पादन की ओर बढ़ा। फिर खेती, व्यापार, उद्योग आदि बढ़ते गये, त्यो-त्यो व्यक्तिगत स्वामित्व की परिपाटी मजबूत बनती गई। व्यक्तिगत स्वामित्व होता है इसीलिये अधिकाधिक सचय करने की उद्दाम लालसा बनी रहती है। इस व्यवस्था मे जितना सचय नहीं होता उससे हजार गुनी मूर्च्छा बनी रहती है। चौबीसो घटे मनुष्य इस मूर्च्छा मे मूर्च्छित ही बना रहता है। व्यक्तिगत के विरुद्ध यदि सामाजिक स्वामित्व की कोई विधि अपनाई जाती है तो सभव है कि व्यक्ति की इस घनघोर मूर्च्छा मे कमी आवे। जैसे एक छात्रावास मे मेज कुर्सी आदि पर किसी एक छात्र का स्वामित्व नही होता, वे मात्र उनका उपयोग ही कर सकते हैं तो उस सम्पत्ति पर किसी भी छात्र की मोह भावना नहीं होती है। वह उनका निरपेक्ष भाव से उपयोग करता है। ऐसी ही निरपेक्ष भावना पदार्थ-परिग्रह के प्रति यदि सारे समाज मे ढल जाय तो निश्चित मानिये कि वैसा समाज आत्म विकास की महायात्रा मे लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ बहुत आगे निकल जायगा।

मेरा अनुभव है कि वस्तुत यह परिग्रहमोह ही मनुष्य को सासारिकता के बधनो मे मजबूती से बाँधे रखता है। इसीलिये देखा जाता है कि सत्ता या सम्पत्ति के अपने मोह के पीछे मनुष्य अपने आत्मीयजनो तक के प्रति कटु और कुटिल बन जाता है। यही मोह मनुष्य को हिसा और प्रतिहिसा की आग मे जलने-जलाने के लिये छोड़ देता है। मैंने परिग्रह के लिये मूर्च्छाग्रस्त

मनुष्यो की दुर्दशा देखी है जिसे देखकर मै स्तब्ध रह गया हू। यह मूर्च्छा शराब के नशे से भी ज्यादा गहरी और घातक होती है। इसलिये मै इस मूर्च्छा से दूर रहना चाहूगा जिसका एक मात्र उपाय यह है कि किसी भी वस्तु के सग्रह करने की इच्छा तक न की जाय। मै थोड़े से लोभ के कारण पहले थोड़ा सा सग्रह करूंगा तो सग्रह से लोभ और लोभ से सग्रह का परिमाण निरन्तर बढ़ता हुआ चला जायगा, जिस को रोक पाना मेरे लिये कठिन हो जायगा। यह मै जानता हू कि परिग्रह रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुऍ रखते है, वे एकमात्र सयम की रक्षा के लिये है और अनासक्त भाव से वे उनका उपयोग करते है। इस अनासक्त भाव के कारण, वे परिग्रही नही होते क्योंकि उसमे आसक्ति का होना ही वास्तव मे परिग्रह है। यदि मै भी परिग्रह के प्रति मूर्च्छा-मोह छोड़ दू, आसक्ति त्याग दूं तथा अपने निर्वाह की मूल आवश्यकता रूप पदार्थ ही अपने पास रखू तो मै पूर्ण परिग्रही या परिग्रहवादी नही कहलाऊंगा। किन्तु यदि एक साधु अपने वस्त्र-पात्र के साथ भी आसक्ति के बधन मे बध जाय तो वह साधु भी परिग्रही या परिग्रहवादी बन जायगा। इसलिये ज्ञानी पुरुष सयम के सहायभूत वस्त्र-पात्रादि उपकरणो को केवल सयम की रक्षा के खयाल से ही रखते है, मूर्च्छाभाव से नहीं। वस्त्र-पात्रादि पर ही क्या, वे महात्मा पुरुष तो अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते है।

मै भी इस ममत्व को घटाने का अभ्यास करूंगा। मै सँचित या अचित्त थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से नही रखूगा अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा नही दूगा क्योंकि यदि ऐसा करूगा तो मेरा कभी दु ख से छुटकारा नहीं हो सकेगा। मै जानता हू कि ज्यो ही मैं परिग्रह-मोह मे गिरा नही कि मायादि शल्य, दड, गारव, कषाय, सज्ञा, शव्दादि गुण रूप आश्रव, असंवृत्त इन्द्रियॉ तथा लेश्याए सभी मेरे आत्मस्वरूप को घेर लेगे। सारे लोक मे सभी जीवो के लिये परिग्रह जैसा कोई दूसरा पाश या प्रतिवध नहीं है। यह सत्य है कि जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का भी त्याग करता है। जिसके ममत्व और परिग्रह नही है, वही मुनि ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जानता है। जो साधु वस्त्र-पात्रादि सयम के उपकरणो मे मूर्च्छा एव शुद्धि भाव का त्याग करता है शास्त्र-विहित कुलो से थोड़ी भिक्षा लेता है, सयम को असार वनाने वाले दोपो से तथा क्रय, विक्रय, और सचय से दूर रहता है और सभी द्रव्य भाव संयोग से निर्लिप्त रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

मै मानता हू कि इस रूप मे परिग्रह दो प्रकार का हो गया— मूर्च्छा-मोह रूप आभ्यन्तर परिग्रह तथा धन-धान्यादि वाह्य परिग्रह। इस परिग्रह मोह को जानकर भी जो उसका त्याग प्रत्याख्यान नहीं करता, वह इन ग्यारह उपलब्धियो को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है—(१) केवली—पुरुपित धर्म सुनना, (२) बोधिप्राप्त करना, (३) गृहस्थावास छोड़कर साधु बनना, (४) व्रह्मचर्य पालन करना, (५) विशुद्ध सयम प्राप्त करना, (६) सवर साधना का सफल होना, (७) निर्मल मतिज्ञान प्राप्ति, (८) श्रुति-प्राप्ति (६) अवधि ज्ञान की प्राप्ति, (१०) मन पर्यय ज्ञान की प्राप्ति तथा (११) केवल ज्ञान की प्राप्ति। किन्तु जो इस परिग्रह मोह को जान कर उसका त्याग करता हे, वही ये ग्यारह उपलव्धियाँ प्राप्त करने मे समर्थ वनता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से परिग्रह सज्ञा उसे कहते है जो लोभ मोहनीय के उदय से सचित्त आदि द्रव्यो को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा या तृष्णा के रूप मे उत्पन्न होती है। यह परिग्रह

सज्ञा चार कारणो से उत्पन्न होती है—(१) परिग्रह की वृत्ति होने से, (२) लोभ मोहनीय कर्म के उदय होने से, (३) सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनने और देखने से तथा (४) सदा परिग्रह का विचार करते रहने से। ऐसी सज्ञा, मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह रूप है। किसी भी वस्तु मे चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य, आभ्यन्तर या किसी प्रकार की हो—अपनी हो या पराई हो, उसमे आसक्ति रखना, उसमे बध जाना या उसके पीछे पड़कर अपने विवेक को खो बैठना परिग्रह है। धन सम्पति आदि वस्तुएँ परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा की कारणभूत होने से परिग्रह कह दी जाती है किन्तु वास्तविक परिग्रह उन पर होने वाली मूर्च्छा है। मूर्च्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट भी अपेक्षा से अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्च्छा होने पर एक भिखारी भी परिग्रही कहलाता है।

बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है—(१) क्षेत्र —धान्य आदि उत्पन्न करने के खेत भूमि आदि, (२) वास्तु —घर, भूमिगृह, महल आदि, (३) हिरण्य —चादी घड़ी या बिना घड़ी हुई, (४) सुवर्ण —सोना घड़ा या बिना घड़ा हुआ तथा हीरा, माणक, मोती आदि जवाहरात, (५) धन—गुड़ शक्कर आदि पदार्थ व मुद्रा, (६) धान्य —चावल, गेहू, बाजरा, मूग, चना आदि (७) द्विपद —दास, दासी, पक्षी आदि (८) चतुष्पद—हाथी, घोड़े, गाय, भैस, वगैरह एव (६) कुप्य —सोने, बैठने, खाने, पीने आदि के काम मे आने वाली धातु की बनी या दूसरी वस्तुएँ (घर-बिखरी)।

आभ्यन्तर परिग्रह के भी ग्रथि-रूप चौदह भेद कहे गये है—(१) हास्य—जिसके उदय से जीव को हसी आवे, (२) रति —सासारिक पदार्थो मे रुचि हो, (३) अरति—धर्म कार्यो मे अरुचि हो, (४) भय—सात प्रकार के भयो की उत्पत्ति हो, (५) शोक—शोक, चिन्ता, रुदन आदि पैदा हो, (६) जुगुप्सा—घृणा उत्पन्न हो, (७) क्रोध—गुस्सा पैदा हो, (८) मान—अहकार पैदा हो, (६) माया—कपट वृत्ति पैदा हो, (१०) लोभ—लालच, तृष्णागृहित उत्पन्न हो, (११) स्त्रीवेद—स्त्री को पुरुष की इच्छा हो, (१२) पुरुषवेद—पुरुष को स्त्री की इच्छा हो, (१३) नपुसकवेद—नपुसक को स्त्री व पुरुष की इच्छा हो तथा (१४) मिथ्यात्व—मोहवश तत्त्वार्थ मे श्रद्धा न हो अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

अपने लक्षणो की दृष्टि से मोह रूप इस परिग्रह के तीस नामो का उल्लेख आया है—(१) परिग्रह (२) सचय (३) चय (४) उपचय (५) निधान (६) सभार (७) सकर (८) आदर (६) पिड (१०) द्रव्य सार (११) महेच्छा (१२) प्रतिवध (१३) लोभात्म (१४) महर्षि (१५) उपकरण (१६) सरक्षणा (१७) भार (१८) सम्पातोत्पादक (१६) कलह भाजन (२०) प्रविस्तार (२१) अनर्थ (२२) सस्तव (२३) अगुप्ति (२४) आयास-खेद (२५) अवियोग (२६) अमुक्ति (२७) तृष्णा (२८) अनर्थक (२६) आसक्ति व (३०) असन्तोष।

मै इसे सत्य मानता हू कि जो अपरिग्रही (अकिचन) हो जाता है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है। जब लोभ नष्ट हो जाता है तो उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तो उसका मोह नष्ट हो जाता है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो उसका दु ख नष्ट हो जाता है। भौतिक उपलब्धियो की इच्छाए आकाश के समान अनन्त होती है और इनकी पूर्ति मे ज्यो ज्यो लाभ होता है त्यो-त्यो लोभ बढ़ता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है। दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोड़ो स्वर्ण मुद्राओं से भी सन्तुष्ट नही हो पाया। मैं इन शाश्वत-प्रभावी बातो

पर विचार करता हूं तो वर्तमान युग से सम्बन्धित एक कठिन समस्या मेरे सामने आ खड़ी होती है। वह यह कि एक व्यक्ति तो उच्चतम सीमा तक अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बन सकता हैं किन्तु क्या पूरे समाज को भी एक सीमा तक परिग्रही या अपरिग्रहवादी बना सकते हैं ?

मै इसमे सदेह नहीं करता कि परिग्रह अधिकाशतः आभ्यन्तर वृत्तियो से जुड़ा हुआ रहता है और अल्पाशत· बाह्य परिग्रह के साधनो के साथ। एक व्यक्ति प्राप्त तो बाह्य परिग्रह के साधन ही करना चाहता है जिसके प्राप्त होने पर वह अपना ऐश्वर्य, वैभव व वर्चस्व को बढ़ा सके लेकिन उस बाह्य परिग्रह के साधनों को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त हो जाने पर उन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिये वह अपनी वृत्तियो को इतनी मोह-मूर्च्छा तथा आसक्तिमय बना लेता है कि जिनके कारण वह भयंकर से भयकर दुष्कृत्य तथा अनर्थ कर बैठता है, करता रहता है। इनका उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, पूरे सामाजिक जीवन पर भी बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता है। यह मान ले कि व्यक्तिगत बुराइयो से तो व्यक्ति ही छुटकारा पाने का यत्न करे किन्तु उन बुराइयो का जो सामूहिक असर हो जाता है, उसे कैसे मिटाया जायगा ? निश्चय है कि उसके लिये यत्न भी सामूहिक ही करना पड़ेगा। वैसे भी वर्तमान युग मे सामाजिकता अति घनिष्ट भी हो गई है तो अति जटिल भी बन गई है। इस स्थिति मे सामूहिक या सामाजिक प्रयत्न भी अति आवश्यक हो गये है कि जिनके माध्यम से ऐसा सुधरा हुआ सामाजिक वातावरण तैयार किया जाय जिसमे व्यक्ति को अपना सुधार करना आसान बन जाय। परिग्रह वृत्ति एव परिग्रह सग्रह के सम्बन्ध मे भी ऐसे सामाजिक प्रयास अच्छे परिणाम दिखा सकते है जो व्यक्ति की सत्ता या सम्पत्ति की लिप्साओं पर सामूहिक प्रतिबंध लगाते हो।

मेरी मूल भावना यह है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार के प्रयासो से परिग्रह मूर्च्छा घटानी चाहिये तथा परिग्रह सग्रह पर भी रोक लगानी चाहिये। समाज की व्यवस्था समता पर आधारित होनी चाहिये। वहॉ की आर्थिक परिस्थितियो मे भी विषमता मिट जानी चाहिये। लाभ और लोभ के व्यक्तिगत प्रयत्न इस तरह प्रतिबधित किये जाय कि सबको अपनी मूल आवश्यकता की सुलभ उपलब्धि के साथ लाभ-लोभ की दिशा मे बढ़ने की लालसा या गुजाइश ही न रहे। अपरिग्रहवादी साम्यता का यही लक्ष्य माना जा सकता है कि भौतिक सत्ता और सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एवं कर्त्तव्य परायणता का लक्ष्य बने जिससे कि समाज मे पदार्थों का कुछ व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रीकरण न हो और वे सर्व-जन मे विकेन्द्रित बने। यदि कही किसी व्यवस्था-दोष से अन्यथा कुछ केन्द्रीकरण भी हो जाता है तो उसे सविभाग द्वारा मिटाया जाये। निर्वाह के साधन सबको सुलभ हो तथा आसक्तिमूलक सग्रह व सचय को स्थान न रहे। आर्थिक साम्यवाद का ही आदर्श रूप होगी अपरिग्रहवादी साम्यता, जिसके परिणामस्वरूप बाह्य परिग्रह तो समवितरित तथा सन्तुलित होगा ही, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह की कलुषित एव विकृत वृत्तियॉ समाप्तप्राय· होती चलेगी।

मै ऐसे अपरिग्रही आदर्श समाज की कल्पना करता हू जो अपने स्वस्थ वातावरण से सिद्धान्तनिष्ठ सयम वृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहिक बनायेगा। यह अपरिग्रहवाद के मर्मज्ञो पर निर्भर है कि वे वर्तमान अर्थलिप्सु समाज का कायाकल्प कैसे करे तथा कैसे इन विकृतियो को सत्वृत्तियो मे ढाल दे ?

सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन

मै चिन्तवन करता हू कि मैं इसी जीवन मे सर्वांशत सिद्धान्तनिष्ठ जीवन जीऊँ तथा आत्मविकास की महायात्रा को सार्थक बनाऊँ। मूल मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पाचो सिद्धान्त संयमी जीवन के आधारभूत है। सबसे पहले मैं मिथ्यात्व के अधकार से बाहर निकलता हू तो सम्यक्त्व का प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश से त्याग करने और व्रत लेने की निष्ठा उत्पन्न होती है। तब इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तो का अशत पालन शुरू करता हूं जो देशविरति होता है। वहॉ से इन्हीं सिद्धान्तो के सर्वाशत पालन का मार्ग आरभ होता है। यह सयमी जीवन दुधारी तलवार पर चलने जैसा कठिन जीवन होता है। इस जीवन मे सिद्धान्त-निष्ठा जितनी प्रबल होती जाती है, आत्म-स्वरूप की अनुभूति भी प्रखर बनती जाती है।

मुझे यह ज्ञात है कि मेरी आत्मा का याने मेरा सर्वोच्च लक्ष्य इस जड़ ससार से सभी सम्बन्ध समाप्त कर देना है अर्थात् मेरा मार्ग ससार से निवृत्ति का मार्ग है— प्रवृत्ति का नहीं। जो निवृत्ति व्रत प्रत्याख्यान की धारणा के साथ शुरू होती है, त्याग-तप की कठिन आराधना के साथ ज्यो-ज्यो वह निवृत्ति गहरी होती चली जाती है, त्यो-त्यो सम्पूर्ण सासारिकता के प्रति मेरी अरुचि भी बढ़ती जाती है। मै पदार्थ-मोह को त्यागता हू किन्तु उसके बाद अपने शरीर के प्रति भी अपने ममत्व को घटा देता हू। इस शरीर को मात्र धर्माराधना का साधन मान कर चलाता हूँ—इसके सुख के सारे ख्याल मिटा देता हू। इतना ही नहीं, इच्छापूर्वक इसको सविवेक ऐसे कष्ट भी देता हू कि इसकी कष्ट-सहिष्णुता सुदृढ़ बन जाय। मै रत्न त्रय की साधना मे निमग्न हो जाता हूँ क्योकि प्रतिपल मुझे अपने सर्वोच्च लक्ष्य का ध्यान रहता है।

मै सर्वाशत सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन या अणगार चारित्र धर्म मे अपनी समस्त आत्म शक्तियो को नियोजित कर देता हू। मै जानता हू कि सर्व विरति रूप यह धर्म मुझे तीन करण तीन योग अर्थात् मन, वचन व काया से न करने, न करवाने तथा न अनुमोदना करने के त्याग की प्रेरणा देता है। मेरी सर्वांशत सिद्धान्त-निष्ठा महाव्रतों का रूप लेती है जो सर्वविरति रूप होते है। उपरोक्त सिद्धान्तो के अनुसार ही मेरे महाव्रत पाच होते हैं—

(१) प्राणातिपात विरमण महाव्रत—प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर (स्थूल), त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवों के पाच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास और आयु रूप दस प्राणो मे से किसी का अतिपात (नाश) करना प्राणातिपात है। सम्यक् ज्ञान एव श्रद्धापूर्वक जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण तीन योग से निवृत्त होना प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है। यह महाव्रत सर्वप्राणातिपात से निवृत्ति रूप है। अर्थात् सर्व जीव को अभय दान देने रूप विधायक रूप भी है।

प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पाच भावनाएं इस रूप मे है —(१) साधु ईर्या समिति मे उपयोग रखने वाला हो, क्योंकि ईर्या समिति रहित साधु प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिसा करने वाला होता है। यतना पूर्वक गमनागमन करने को ईर्या समिति कहते है। (२) साधु सदा उपयोगपूर्वक देखकर चौड़े मुख वाले पात्र मे आहार, पानी ग्रहण करे एव प्रकाश वाले स्थान मे देखकर भोजन करे। अनुपयोग पूर्वक विना देखे आहारादि ग्रहण करने वाले एव भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिसा की सभावना रहती है। (३) अयतना से पात्रादि

भडोपकरण लेने और रखने का आगम मे निषेध है। इस लिये साधु आगमानुसार देखकर और पूज कर यतनापूर्वक भडोपकरण लेवे और रखे, अन्यथा प्राणियो की हिसा सभव है। (४) सयम मे सावधान साधु मन को शुभ प्रवृत्तियो मे लगावे। मन को दुष्ट रूप से प्रवर्तने वाला साधु प्राणियो की हिसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्मवध का कारण होती है। (५) सयम मे सावधान साधु अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन मे प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन मे प्रवृत्ति करने वाले के प्राणियो की हिसा सभव है।

(२) मृषावाद विरमण महाव्रत—प्रियकारी, पथ्यकारी एव सत्य वचनो को छोड़कर कषाय, भय, हास्य आदि के वश असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म व बादर के भेद से असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा के भेद से असत्य वचन चार प्रकार का भी है। अप्रिय वचन क्या? चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना या काने को काना कहना आदि अप्रिय वचन है। अहित वचन क्या? शिकारियो के पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हे विधि रूप मे उत्तर देना अहित वचन है। ये अप्रिय एव अहित वचन व्यवहार मे सत्य होने पर भी पर-पीड़ाकारी होने से एव प्राणियो की हिंसा के पाप-हेतु होने से सावध है। अत हिसायुक्त होने से वास्तव मे असत्य ही है। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन पर्यन्त तीन करण योग से निवृत्त होना मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत है।

मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पाच भावनाए इस प्रकार है —(१) सत्यवादी साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये, क्योकि हास्यवश मृषा-भाषण हो सकता है। (२) साधु को सम्यक् ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये, क्योंकि विना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है। (३) क्रोध के कुफल को जानकर साधु को उसे त्यागना चाहिये। एक क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है, वह स्व-पर का भान भूल जाता है और जो मन मे आता है, वही कह देता है। इस कारण उसके झूठ बोलने की बहुत सभावना रहती है। (४) साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये, क्योंकि लोभी व्यक्ति धनादि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि से झूठ बोल सकता है। (५) साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राणादि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित कर असत्य मे प्रवृत्ति कर सकता है।

(३) अदत्तादान विरमण महाव्रत—कही पर भी ग्राम, नगर, अरण्य आदि मे सचित्त, अचित्त, अल्प, वहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की विना आज्ञा लेना अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ एव गुरु के भेद से चार प्रकार का होता है— स्वामी से विना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु लेना स्वामी अदत्तादान है, (व) कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा विना उसे लेना जीव अदत्तादान है। जैसे माता-पिता या सरक्षक द्वारा पुत्रादि को शिष्य भिक्षा रूप मे दिये जाने पर भी उन्हे उनकी इच्छा पूर्वक दीक्षा लेने का परिणाम न होने पर भी उनकी सहमति के बिना उन्हे दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि पदार्थ स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा नहीं होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस रूप मे सचित्त वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ साथ तृतीय महाव्रत भी भंग होता है। (स) वीतराग देवो व तीर्थकर देवो द्वारा प्रतिपेध किये हुए आधा कर्मादि आहार ग्रहण करना तीर्थकर अदत्तादान है। (द) स्वामी द्वारा निर्दोष

आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है। किसी भी क्षेत्र एव वस्तु विषयक उक्त चारो प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से निवृत्त होना अदत्तादान विरमण रूप तृतीय महाव्रत है।

अदत्तादान विरमण महाव्रत रूप तृतीय महाव्रत की भी पाच भावनाए इस प्रकार हैं— (१) साधु को स्वय (दूसरो के द्वारा नहीं) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकार प्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करनी चाहिये, अन्यथा साधु को अदत्त ग्रहण का दोष लगता है। (२) अवग्रह की आज्ञा लेकर भी वहाँ रहे हुए तृणादि का ग्रहण करने के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुनकर ही साधु को उन्हे लेना चाहिये अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एव भोगने का दोषी बन जाता है। (३) साधु को उपाश्रय की सीमा खोलकर एव आज्ञा प्राप्त कर उसका सेवन करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार-बार उपाश्रय का परिमाण खोल कर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लानादि अवस्था मे लघुनीत, बड़ीनीत परिठवने, अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा होने पर भी, याचना करनी चाहिये ताकि दाता का दिल दुखित न हो, (४) गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके आहार करना चाहिये। आशय यह है कि सूत्रोक्त विधि से प्रासुक ऐषणीय प्राप्त आहार को उपाश्रय मे लाकर गुरु के आगे आलोचना कर और आहार दिखलाकर फिर साधु मडली मे या अकेले उसे खाना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणो का ग्रहण एव उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये। (५) उपाश्रय मे रहे हुए समान आचार वाले सभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहा रहना एव भोजनादि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

(४) मैथुन विरमण महाव्रत—देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी दिव्य एवं औदारिक काम-सेवन का तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त का त्याग करना मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पाच भावनाए इस प्रकार है —(१) ब्रह्मचारी साधु को आहार के विषय मे सयत होना चाहिये। अति स्निग्ध, सरस आहार न करना चाहिये और न परिमाण से अधिक ठूस-ठूस कर ही आहार करना चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिये भी पीड़ाकारी होता है। (२) ब्रह्मचारी को शरीर की विभूषा अर्थात् शोभा-सुश्रूषा नही करनी चाहिये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि शरीर की सजावट मे दत्त-चित्त साधु सदा चचल-चित्त रहता है और उसे विकारोत्पत्ति होती है, जिससे चौथे महाव्रत की विराधना भी हो सकती है। (३) स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगो को काम वासना की दृष्टि से नही निरखना चाहिये। वासना भरी दृष्टि के साथ उन्हे देखने से ब्रह्मचर्य का खडित होना सभव है। (४) स्त्रियो के साथ परिचय न रखे। स्त्री, पशु, नपुसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन न करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य का महाव्रत भग हो सकता है। (५) तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री-विषयक काम कथा न करे। स्त्री-कथा मे आसक्त साधु का चित्त विकृत हो जाता है। स्त्री-कथा को ब्रह्मचर्य के लिये घातक समझकर इससे ब्रह्मचारी को सदा दूर रहना चाहिये। पूर्व-क्रीड़ित अथवा गृहस्थावस्था मे भोगे हुए काम-भोग आदि का स्मरण

भी नहीं करना चाहिये क्योंकि पूर्व रति एव क्रीड़ा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है जो ब्रह्मचर्य के लिये घातक है।

(५) परिग्रह विरमण महाव्रत—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना परिग्रह विरमण रूप पचम महाव्रत है। मूर्च्छा-ममत्व होना भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छा भाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह है और वे भी त्याज्य है। भाव परिग्रह मुख्य है और द्रव्य परिग्रह गौण। इसलिये यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एव शरीर पर साधु के मूर्च्छा ममता भाव जनित राग-भाव न हो तो वह उन्हे धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

परिग्रह विरमण रूप पंचम महाव्रत की पांचो भावनाए पांचो इन्द्रियो से सम्बन्धित हैं। पाचो इन्द्रियो के विषय—शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय गोचर होने पर मनोज्ञ विषयो पर साधु मूर्च्छा-गृहि भाव न लावे और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। यो तो विषयो के गोचर होने पर इन्द्रिया उसमे लगती ही है, परन्तु साधु को मनोज्ञ एव अमनोज्ञ विषयो पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये। पचम महाव्रत मे मूर्च्छा रूप भाव परिग्रह का त्याग किया जाता है, इसलिये मूर्च्छा-ममत्व करने से यह महाव्रत खंडित हो जाता है।

साधु प्राणातिपात से निवृत होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृति करता है, वह समिति कहलाती है। प्रशस्त एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली समिति के पाच भेद बताये गये है (१) ईर्या समिति—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निमित्त युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि मे यतनापूर्वक गमनागमन करना, (२) भाषा समिति—यतनापूर्वक भाषण मे प्रवृति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषो का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असदिग्ध वचन कहना, (३) ऐषणा समिति—गवैषणा, ग्रहण और ग्रास, सम्बन्धी ऐषणा के दोषो से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवाधिका आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट, पाटलादि औपग्रहिक उपधि का ग्रहण करना। (४) आदान, मड मात्र निक्षेपणा समिति—आसन, संस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दडादि उपकरणो को उपयोगपूर्वक देखकर एवं रजोहरणादि से पूजकर लेना एव उपयोगपूर्वक देखी और पूजी हुई भूमि पर रखना, तथा (५) उच्चार प्रस्रवण खेलसिघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति—स्थडिल के दोषो का वर्जन करते हुए परिठवने योग्य लघुनीत, बड़ीनीत, थूक, कफ, नासिका मल, और मैल आदि को निर्जीव स्थडिल मे उपयोगपूर्वक वोसिराना।

मोक्ष के लिये किये जाने वाले ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार कहलाते हैं, जो पाच है (१) ज्ञानाचार—सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारण भूत श्रुतज्ञान की आराधना करना, (२) दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की नि शकितादि रूप से शुद्ध आराधना करना, (३) चारित्राचार—ज्ञान एव श्रद्धापूर्वक सर्व सावध योगो का त्याग करना चारित्र है और उसका सेवन करना चारित्राचार, (४) तपाचार—इच्छा निरोध रूप अनशनादि तप का सेवन करना एव (५) वीर्याचार—अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्म कार्यों मे यथा शक्ति मन, वचन, काया द्वारा प्रवृत्ति करना।

चारित्र दोष के कारण पाच प्रकार के साधुओं को अवन्दनीय माना गया है (१) पासत्थ जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन मे सम्यक् उपयोग वाला नहीं है, (२) अवसन्न—जो समाचारी के विषय मे प्रमाद करता है, (३) कुशील—जिसका कुत्सित याने निंद्य शील आचार हो, (४) ससक्त—जिसमे मूल व उत्तर गुणो के दोष पाये जाते हो, और (५) यथाच्छन्द— जो सूत्र विपरीत प्ररूपणा करने तथा आचरण रखने वाला हो।

इस प्रकार सर्वाशत सिद्धान्तनिष्ठ जीवन स्वीकार करने वाले साधु मुनियो के लिये उपरोक्त आधारभूत पाच सिद्धान्त पाच महाव्रतो के रूप मे मूल गुण कहलाते है। इन मूल गुणो की सुरक्षा के लिये आचार सम्बन्धी जो कई प्रकार के नियम, वाड़ वगैरह बताये गये है, वे साधु के उत्तर गुण कहलाते है।

आजकल कई लोगो द्वारा जो यह दलील दी जाती है कि जमाने को देखते हुए साधुओं को अपने आचार नियमो मे आवश्यक सशोधन करने चाहिये। उस दलील के जवाब मे मोटी बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि साधु के मूल गुण तो आधारभूत है जिनमे कोई परिवर्तन कतई नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आधार को ही हटा लोगे या मूल मे ही भूल करते जाओगे तो साध्वाचार का स्वरूप ही विकृत हो जायगा। उत्तर गुणो मे सयम को आघात नहीं पहुंचाने वाला ऐसा कोई सशोधन हो तो उस पर साधु समाज विचार करके योग्य निर्णय ले सकता है।

साध्वाचार की भव्य गरिमा को भली भाति समझकर मै जब सच्चे साधु या श्रमण की महिमा को हृदयगम करता हू तो मेरा मन आत्मानन्द से ओतप्रोत हो जाता है कि मैं भी उस महिमा को आत्मसात् करने मे आदर्शसिद्ध होऊ। मै समझता हू कि एक भिक्षु के वास्तविक चिह्न —क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि मेरे आत्मस्वरूप को भी प्रकाशमान बनावे। मेरा इन्द्रिय निग्रह भी इस रूप मे प्रशस्त बने कि शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श मे मेरा चित्त कतई अनुरक्त न हो और न ही मैं उनसे द्वेष करू। मैं अपनी कुमार्गगामिनी इन्द्रियो के दुष्ट घोड़ो को कुशल सारथि की तरह नियत्रण मे रखूगा और सयम पथ पर आगे बढ़ाता रहूगा।

मै जानता हू कि सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जगल मे रहने से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नही होता, इसलिये मै समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस वनूगा। श्रमण स्वरूप मे मेरा कोई स्वजन नही तो कोई परजन नही होता। सर्वत्र समतामय रूप मुझे दिखाई देता है। मै हवा के समान निरालव और आकाश के समान निरूपलेप होऊगा, मेरा श्रमणत्व इसी मे सार्थक होता है कि सारी दुनिया के साथ अपनी देह पर से भी अपना ममत्व हटा लू। मैं सदा ऋजुता तथा मृदुता से सयुक्त रहना चाहता हू। जीव मात्र पर मेरी समदृष्टि रहती है और सुख दु ख, लाभ अलाभ, निन्दा स्तुति, मान-अपमान या जीवन-मरण मे भी मेरी समता वृत्ति घटे नही यह मेरा सत्प्रयास रहता है। आधार मिल जाए तो मैं हर्ष नही मनाऊ और निराहार रह जाना पड़े तव भी विषाद नहीं, मै तो सर्वदा आत्मस्थिति में ही लीन रहना चाहता हू। लब्धिया भी मुझे मिल जाय तव भी किसी प्रकार का अभिमान मै नहीं करू, क्योंकि क्षुद्र अहभाव का मेरे जीवन मे कोई स्थान नहीं होता। अहर्निश धर्मध्यान मे मै निमग्न रहना चाहता हू और कठिन तप की आराधना करते हुए

कर्मों से सम्पूर्ण मुक्ति की मै कामना करता रहता हू। इस कारण मेरी समग्र क्रियाए संयमनिष्ठ रहती है। मेरे सयम को डिगाने वाली कितनी ही कठिनाइयाँ क्यो नहीं आवे, मै उनमे अविचलित रहना चाहता हूँ। जिस प्रकार धरती सारे कष्टो को सहते हुए भी महती सहनशील बनी रहती है, उसी प्रकार मै भी परिषहो को सविवेक सहते हुए अपनी आत्म साधना को कष्ट-सहिष्णु बना लेता हू। राग और द्वेष को लेश मात्र भी नहीं आने देकर मैं सासारिकता के इन बीजो को समाप्त कर देना चाहता हू। मेरी अभिलाषा है कि मै समतामय बन जाऊ—मेरे भाव, मेरी दृष्टि तथा मेरा सम्पूर्ण आचरण समता से ओत-प्रोत बन जाय।

मै वीतराग देवो की आज्ञा की आराधना करते हुए जिस श्रद्धा से मैंने सयम अंगीकार किया, उससे भी अधिक श्रद्धा से मैं सयम का सम्यक् पालन करता ही चला जाऊ—अपने सकल कर्मों का क्षय करता हुआ, रत्न त्रय की आराधना करता हुआ और जीवन को स्व-पर हित मे नियोजित करता हुआ आत्म विकास की महायात्रा मे अग्रगामी बन जाऊ।

सिद्धान्तों का आंशिक पालन

मै भावना भाऊ कि जब तक उपरोक्त सिद्धान्तो का सर्वांशत पालन करने मे मै समर्थ न बन जाऊ तब तक सिद्धान्तो का आशिक पालन ही पूरी निष्ठा से करू क्योकि मै जानता हू कि देशविरति सयम ही सर्वविरती सयम मे प्रतिफलित होता है—साधुत्व की आधारशिला श्रावकत्व की आराधना ही होती है। महासत्वसम्पन्न तीर्थंकरो के लिये साधुत्व को पाने के लिये श्रावक बनने की आवश्यकता नहीं रहती

अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के सिद्धान्तो पर आधारित मेरे श्रावकत्व के अणु (छोटे) व्रत होते है, महाव्रत की अपेक्षा छोटे एकदेशीय त्याग रूप। मेरे अणुव्रत पाच, गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत चार कुल बारह व्रत होते है। पाच अणुव्रत निम्नानुसार हैं—

(१) अहिसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात का त्याग) स्वशरीर मे पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो की सकल्पपूर्वक हिसा दो करण तीन योग याने मन, वचन, काया से न करना और न करवाना। इस अणुव्रत के पाच अतिचार हैं। वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम कहलाता है, व्रतभग रूप कार्य पूर्ति के लिये साधन जुटाना व्यतिक्रम है तो व्रतभग की पूरी तैयारी कर लेना अतिचार होता है। यह अतिचार भी तब तक है जब तक कि व्रतभग नही किया है। अत अतिचार उसको कहते है जहाँ व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अश मे व्रत का भग किया जाय। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए सकल्पपूर्वक व्रत भग करना अनाचार होता है। अनाचार की आज्ञा नहीं है और अतिचार का प्रायश्चित्त किया जाता है। अहिसा अणुव्रत के अतिचार पाच इस प्रकार कहे गये है (अ) बध—द्विपद, चतुष्पद आदि को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बाधना बध है जो द्विपद-चतुष्पद के भेद से दो प्रकार का तो प्रत्येक अर्थ बध व अनर्थ बध के भेद से दो-दो प्रकार का होता है। अर्थ बध भी दो प्रकार का है, सापेक्ष वध तथा निरपेक्ष बध। लापरवाही के साथ निर्दयतापूर्वक क्रोधवश गाढ़ा बधन बाध देना निरपेक्ष अर्थ बध होता है। सापेक्ष अर्थ बध श्रावक के लिये अतिचार नहीं है किन्तु अनर्थ बध तथा निरपेक्ष अर्थ बध उसके लिये अतिचार होते है अत त्याज्य होते है। (ब) वध—कोड़े आदि से मारना वध है। इसके भी अर्थ-अनर्थ, सापेक्ष-निरपेक्ष भेद होते हैं। अनर्थ एव निरपेक्ष भेद अतिचार मे शामिल

हैं। शिक्षा के हेतु दास, दासी, पुत्र आदि को या नुकसान करते हुए चतुष्पद को आवश्यकता होने पर दयापूर्वक उनके मर्मस्थानो को चोट न लगाते हुए मारना सापेक्ष अर्थ बध होता है जो श्रावक के लिये अतिचार नहीं है। (स) छविच्छेद—शस्त्रो से अगोपागो का छेदन करना छविच्छेद है। निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना अतिचार रूप है। किन्तु प्रयोजन होने पर दयापूर्वक सामने वाले की भलाई के लिये चीर फाड़ (डॉक्टरी) आदि सापेक्ष छविच्छेद है जो अतिचार नहीं होता। (द) अतिभार—द्विपद, चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना आतिभार है। श्रावक को मनुष्य अथवा पशु पर क्रोध अथवा लोभवश निर्दयता के साथ अधिक भार नही धरना चाहिये। और न ऐसी वृत्ति (रोजगार) करनी चाहिये। सामान्यतया उठा सके उतना ही भार लादना चाहिये। श्रावक को चतुष्पदी सवारी पर चढ़ने का भी विवेक रखना चाहिये। (य) भक्तपान विच्छेद—निष्कारण निर्दयता के साथ किसी के आहार पानी का विच्छेद करना भक्त पान विच्छेद अतिचार है। श्रावक को इसका परिहार करना चाहिये। रोगादि निमित्त से, वैद्यादि के कहने पर या शिक्षा के हेतु खाना पीना न दिया जाय—वह अतिचार मे शामिल नहीं है। बिना कारण किसी का रोजगार उजाड़ना या नियत समय पर वेतन आदि न देना इसी अतिचार मे शामिल है।

(२) सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद का त्याग) दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य-झूठ स्थूल मृषावाद होता है। अविश्वास आदि के कारण स्वरूप इस स्थूल मृषावाद का श्रावक दो करण तीन योग से त्याग करता है। स्थूल मृषावाद पाच प्रकार का होता है—(अ) कन्या-वर सम्बन्धी झूठ, (ब) गाय, भैस आदि पशु सम्बन्धी झूठ, (स) भूमि सम्बन्धी झूठ, (द) किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध मे झूठ बोलना तथा (य) झूठी गवाही देना।

सत्याणुव्रत के भी पाच अतिचार होते हैं—(अ) सहसाभ्याख्यान —बिना विचारे किसी पर मिथ्या आरोप लगाना। अनुपयोग अथवा असावधानी से बिना विचारे आरोप लगाना अतिचार है। जानते हुए इरादे के साथ तीव्र सक्लेश से मिथ्या आरोप लगाना अनाचार होता है तथा उससे व्रत भग हो जाता है। (ब) रहस्याख्यान—एकान्त मे सलाह करते हुए व्यक्तियो पर आरोप लगाना। एकान्त विशेषण होने से यह अतिचार पहले अतिचार से भिन्न है। इस अतिचार मे सभावित अर्थ कहा जाता है। (स) स्व-दार मत्र भेद —स्व-स्त्री के साथ एकान्त मे हुई विश्वस्त मत्रणा को दूसरे से कहना अथवा विश्वास करने वाली स्त्री, मित्र आदि की गुप्त मत्रणा को प्रकाश मे लाना। सत्य होते हुए भी यह बात लज्जा और सकोच पर प्रहार करती है अत अतिचार है। इससे घात या आत्म-घात की आशंका रहती है। यह अनर्थ परम्परा भी है सो त्याज्य है। श्रावक इसका ध्यान रखे। (द) मृषोपदेश—बिना विचारे अनुपयोग से या किसी बहाने से दूसरो को असत्य उपदेश देना। पीड़ाकारी वचन कहना या दूसरो को असत्य वचन बोलने को प्रेरित करना भी इसी अतिचार मे शामिल है। कोई अपना सदेह निवारण करने आवे, उसे उत्तर मे अयथार्थ स्वरूप कहना या सम्वन्ध जोड़ने आदि का उपदेश देना मृषोपदेश ही है। (य) कूट लेखकरण—झूठा लेख या लिखत लिखना, जाली दस्तावेज मोहर या हस्ताक्षर वनाना और प्रमाद तथा अविवेक से ऐसा करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा हो पर विवेक का अभाव रहे तो अतिचार होता है, वरना जानवूझ कर कूट लेख लिखना अनाचार है।

(३) अचौर्याणुव्रत (स्थूल अदत्तादान का त्याग)—क्षेत्रादि मे सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना स्थूल अदत्तादान है। खात खनना, गाठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग मे चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि स्थूल अदत्तादान मे शामिल है। श्रावक ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता है।

स्थूल अदत्तादान विरमण रूप तीसरे अणुव्रत के पाच अतिचार है—(अ) स्तेनाहृत चोर की चुराई हुई वस्तु को खरीदना या यो ही छिपा कर ले लेना। (ब) स्तेन प्रयोग—चोरो को चोरी की प्रेरणा देना, चोरी के उपकरण देना या बेचना अथवा चोर की सहायता करके उसको चोरी के लिये उकसाना। (स) विरुद्ध राज्यातिक्रम —शत्रु राज्यो के राज्य मे जाना आना। (द) कूट तुला कूट मान—झूठा याने हीनाधिक तोल या माप रखना। परिमाण से बड़े तोल व माप से वस्तु लेना और छोटे तोल-माप से वस्तु बेचना। (य) तत्प्रतिरूपक व्यवहार बहुमूल्य बढ़िया वस्तु मे समान दीखने वाली घटिया वस्तु की मिलावट करना तथा नकली वस्तु को असली बताकर बेचना।

(४) स्व-दार सन्तोष—स्व-स्त्री अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री मे सन्तोष करना। अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय शेष औदारिक शरीरधारी मनुष्य-तिर्यच के शरीर को धारण करने वालो के साथ एक करण एक योग से (काया से सेवन नही करूगा इस प्रकार) तथा वैक्रिय शरीरधारी तथा देव देवी के साथ दो करण तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग करना स्वदार सन्तोष नामक चौथा अणुव्रत है।

इस अणुव्रत के पाच अतिचार इस प्रकार है (अ) इत्वरिका परिगृहीतागमन—भाड़ा देकर कुछ काल के लिये अपने अधीन की हुई स्त्री से गमन करना। (ब) अपरिगृहीता गमन—विवाहित पत्नी के सिवाय वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि से गमन करना। इन दोनो प्रकार से गमन करने का सकल्प एव तत्सम्बन्धी उपाय, आलाप, सलाप, आदि अतिक्रम, व्यतिक्रम की अपेक्षा ये दोनो अतिचार है और ऐसा करने पर व्रत एक देश से खडित होता है। सुई डोरे के न्याय से इनका सेवन करने मे सर्वथा व्रत भग हो जाता है। (स) अनगक्रीड़ा—काम सेवन के जो प्राकृतिक अग हैं, उनके सिवाय अन्य अगो से क्रीड़ा करना। वर्ज्य स्त्रियो (स्वस्त्री सिवाय) के साथ मैथुन क्रिया को छोड़ अनुराग से आलिगन आदि करना भी अतिचार है। (द) पर विवाहकरण—अपना और अपनी सन्तान के सिवाय अन्य का विवाह करना अतिचार है। (य) काम भोग तीव्राभिलाष—पाच इन्द्रियो के विषय शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श मे आसक्ति होना। श्रावक को पुरुषवेद जनित बाधा की शान्ति के उपरान्त स्व-स्त्री के साथ भी मैथुन सेवन नहीं करना चाहिये। कामशास्त्र अथवा बाजीकरण औषधियो से निरन्तर रति क्रीड़ा का सुख चाहने से भी यह व्रत मलिन होता है। खुद खाज पैदा कर उसे खुजलाने मे सुख का अनुभव करना बुद्धिमत्ता नही है।

(५) इच्छा (परिग्रह) परिमाण—खेत, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद एव कुप्य (धातु व घरबिखरी) रूप नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना तथा मर्यादा के उपरान्त परिग्रह का एक करण तीन योग से त्याग करना इच्छा परिमाण व्रत है। तृष्णा व मूर्च्छा को कम करके सन्तोष मे रत रहना ही इस व्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

परिग्रह-परिमाण व्रत के पाच अतिचार हैं—(अ) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम—खेती की जमीन दो प्रकार की सेतु (सिंचित) व केतु (वर्षा-सिचित) होती है तथा वास्तु घर मकान को कहते है, इन सबकी जो मर्यादा ली है, उसका अतिक्रमण अतिचार है। (ब) हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम—घड़े, बिना घड़े सोने चादी तथा जवाहरात की मर्यादा का अतिक्रमण करना। (स) धनधान्यातिक्रमण—गणिम, धरिम, गेय, परिच्छेद्य रूप चार प्रकार के धन तथा चौबीस प्रकार के धान्य की स्वीकृत मर्यादा का उल्लघन करना। (द) द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—द्विपद सन्तान, स्त्री, दास-दासी, पक्षी तथा चतुष्पद गाय घोड़ा आदि के परिमाण का उल्लघन करना। (य) कुप्य प्रमाणातिक्रम—सोने चादी के सिवाय अन्य धातु तथा घर बिखरी की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना।

श्रावक के पांच अणुव्रत के बाद तीन गुण व्रतो का क्रम आता है जो इस प्रकार है —

(६) दिशा परिमाण व्रत—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अधो (नीची) व ऊर्ध्व (ऊची) इन छ दिशाओं के क्षेत्रो की मर्यादा निर्धारित करना तथा मर्यादा के उपरान्त आगे के क्षेत्रो मे जाने आने की क्रियाओं का त्याग करना। इस व्रत का यह व्यवहार अंश है तो चार गति को कर्म की परिणति समझ कर उनमे उदासीन भाव रखना तथा सिद्धावस्था को उपादेय मानना निश्चय दिशा परिमाण व्रत है। पाच अतिचार—(अ) ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लघन। (ब) अधोदिशापरिमाणातिक्रम—नीची दिशा की मर्यादा का उल्लघन। (स) तिर्यग् दिशा परिमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन। इन उल्लघनो मे अनुपयोग या असावधानी रहे तो अतिचार और जान बूझकर उल्लघन करे तो अनाचार होगा। (द) क्षेत्र वृद्धि—एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा देना। (य) स्मृत्यन्तर्धान—ग्रहण की हुई मर्यादा का स्मरण न रहना स्मृतिभ्रश अतिचार है।

(७) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—उपभोग (एक बार भोगी जाने वाली वस्तुए जैसे भोजनादि) तथा परिभोग (अनेक बार भोगी जाने वाली वस्तुए जैसे वस्त्र, अलकार आदि) की वस्तुओं की इच्छानुसार मर्यादा रखना और मर्यादा के उपरान्त सभी वस्तुओं के उपभोग-परिभोग का त्याग करना। निश्चय दृष्टि से आत्मा ही ज्ञानादि स्वगुणो का कर्त्ता और भोक्ता होता है अत आत्मस्वरूपानुगामी परिणाम का निश्चय उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत कहते है। पाच अतिचार (अ) सचित्ताहार—परिमाण से अधिक सचित्त वस्तु का आहार करना, (ब) सचित्त प्रतिवद्धाहार—सचित्त वृक्ष बीज आदि से सम्बद्ध पके फल आदि का आहार करना। मर्यादा उपरान्त सचित्त से सम्बन्ध (सघट्टा) रखने वाली अचित्त वस्तु को खाना भी अतिचार है। (स) अपक्व औषधि भक्षण—अग्नि मे विना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना। अनुपयोग से खाने मे यह अतिचार है। (द) दुष्पक्व औषधि भक्षण—बुरी तरह से पकाई हुई अग्नि मे अधपकी औषधि को पकी हुई जानकर भक्षण करना। (य) तुच्छौषधि भक्षण—असार औषधियो का भक्षण करना। अल्प तृप्ति के गुण वाली ऐसी चीजो को खाने से वड़ी विराधना होती है। इस व्रत मे भोजन की अपेक्षा से ये पाच अतिचार है तथा वृत्ति की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार के अकरणीय व्यवसाय (कर्मादान) वताये गये हैं।

(८) अनर्थदड विरमण व्रत—निष्प्रयोजन, अपनी आत्मा को पाप, आरभ आदि कार्यों मे लगाना अनर्थदड है। इसका त्याग करना व्यवहार अनर्थदंड विरमण व्रत है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग से जिन शुभाशुभ कर्मो का बध होता है, उनमे अपनापन रखना निश्चय

अनर्थदड है। इन्हे आत्मा से भिन्न समझकर इनसे व इनके कारणो से आत्मा को बचाना निश्चय अनर्थदड विरमण व्रत है। पाच अतिचार (अ) कन्दर्प—काम उत्पन्न करने वाले वचन का प्रयोग करना, राग के आवेश मे हास्य मिश्रित मोहोद्दीपक मजाक करना। (ब) कौत्कुच्य—भाडो की तरह अंगो को विकृत बनाकर दूसरो को हसाने की चेष्टा करना। (स) मोखर्य —ढिठाई के साथ असत्य-ऊटपटाग वचन बोलना। (द) सयुक्ताधिकरण—कार्य करने के योग्य ऐसे ऊखल-मूसल, शिला-लोढा, धनुष-बाण आदि अधिकरणो को जो साथ साथ मे काम आते हैं, एक साथ रखना। (य) उपभोग परिभोगतिरिक्त उबटन, तैल, वस्त्राभूषण आदि उपभोग-परिभोग की वस्तुओं को अपने व अपने आत्मीयजनो के उपयोग मे अधिक रखना।

पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत—ये कुल मिलाकर बारह अणुव्रत श्रावक के होते हैं। चार शिक्षाव्रत निम्न है—

(९) सामायिक व्रत—मन, वचन, काया को पाप व आरभ से हटाना और पापारंभ न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है। जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणो का विचार करना और आत्म गुणो की अपेक्षा सर्व जीवो को समान समझ कर समता भाव धारण करना निश्चय सामायिक है। पाच अतिचार—(अ) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट प्रयोग करना याने मन को बुरे योग-व्यापार मे लगाना। जैसे सामायिक करके घर सम्बन्धी अच्छे-बुरे कार्यों का विचार करना। (ब) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग करना जैसे असभ्य, कठोर एव सावध वचन बोलना। (स) काय दुष्प्रणिधान—बिना देखी, बिना पूजी जमीन पर हाथ, पैर आदि अवयव रखना। (द) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति नहीं रखना अर्थात् उपयोग नही रखना। प्रमादवश भूल जाना। (य) अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना जैसे अनियत अल्पकाल तक ही बैठना या अस्थिरता से अनादरपूर्वक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग तो बाद के दो अतिचार प्रमाद से अधिक सम्बन्धित हैं।

(१०) देशावकाशिक व्रत—मन, वचन, काया के योगो को स्थिर करना और एक जगह बैठकर धर्मध्यान करना व मर्यादित दिशाओं से बाहर आश्रवो का सेवन नहीं करना। ज्ञान स्वरूप जीव द्रव्य का ध्यान करना एव इसी मे रमण करना। पाच अतिचार —(अ) आनयन प्रयोग—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वय न जा सकने से दूसरे से सदेश आदि देकर सचितादि द्रव्य मगाना। (ब) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर मर्यादा अतिक्रम के भय से स्वय न जाकर नौकर-चाकर आदि को भेजकर द्रव्य मगाना या कार्य कराना। (स) शब्दानुपात —मर्यादा अतिक्रम के भय से बाहर के निकटवर्ती लोगो को छीक, खासी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना। इसमें व्रत भंग का भय भी रहता है। (द) रूपानुपात—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरो को अपने पास बुलाने के लिये अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना। (य) बहिर्पुद्गल प्रक्षेप—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरो को जताने के लिये ढेला, ककर आदि फैकना।

(११) पौषध व्रत—चार प्रहर से लेकर आठ प्रहर तक सावद्य व्यापार का त्याग कर समता परिणाम को धारण करना और स्वाध्याय तथा ध्यान मे प्रवृत्ति करना व्यवहार पौषध व्रत है। अपनी आत्मा को ज्ञान-ध्यान द्वारा पुष्ट करना निश्चय पौषध व्रत है। पाच अतिचार—(अ) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या सस्तारक शय्या, सस्तारक का आखो से निरीक्षण न करना या अन्यमनस्क होकर

असावधानी से निरीक्षण करना। (ब) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या सस्तारक—शय्या, सस्तारक को न पूजना अथवा अनुपयोगपूर्वक असावधानी से पूजना। (स) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र आदि परिठवने के स्थडिल को न देखना या बिना उपयोग असावधानी से देखना। (द) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि स्थडिल को न पूजना या अनुपयोग पूर्वक असावधानी से पूजना। (य) पौषधोपवास का सम्यक् अपालन —आगमोक्त विधि से स्थिर चित्त होकर पौषधोपवास का पालन न करना तथा पौषध मे आहार, शरीर सुश्रूषा, अब्रह्म तथा सावध व्यापार की अभिलाषा करना।

(१२) अतिथि सविभाग व्रत—हमेशा और विशेष कर पौषध के पारणे के दिन पचमहाव्रत धारी साधु एव स्वधर्मी बधु को यथाशक्ति भोजनादि देना व्यवहार अतिथि सविभाग व्रत है। अपनी आत्मा एव शिष्य को ज्ञान दान देना या स्वय पढ़ना, शिष्य को पढ़ाना तथा सिद्धान्तो का श्रवण करना और कराना निश्चय असविभागव्रत है। पाच अतिचार—(अ) सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक सचित्त धान्य आदि पर अचित्त अन्नादि का रखना। (ब) सचित्त अपिधान —साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक अचित्त अन्नादि को सचित्त फलादि से ढकना। (स) कालातिक्रम—उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना। काल के अतिक्रम हो जाने पर यह सोचकर दान के लिये उद्यत होना कि अब साधुजी आहार तो लेगे नही पर वे जान लेगे कि यह श्रावक दातार है। (द) पर-व्यपदेश —आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना। (य) मत्सरिता—अमुक पुरुष ने दान दिया है तो क्या मै कृपण या हीन हू—ऐसे ईर्ष्या भाव से दान देने मे प्रवृत्ति करना। मागने पर कुपित होना या होते हुए भी नही देना। कषाय कलुषित चित्त से साधु को दान देना।

एक सुश्रावक मे इक्कीस गुणो की अपेक्षा रखी गई है—(१) अक्षुद्र —गभीर स्वभावी, (२) रूपवान् —सागोपाग (३) सौम्य प्रकृति—स्वभाव से विश्वसनीय, (४) लोकप्रिय—गुणसम्पन्नता से, (५) अक्रूर —क्लेश रहित, (६) भीरू—पाप भय, (७) अशठ—निष्कपट, (८) सदाक्षिण्य —परोपकार उत्सुक (६) लज्जालु —पाप सकोच (१०) दयालु—पर दु ख द्रवित, (११) मध्यस्थ—तटस्थ विचारक (१२) सौम्यदृष्टि —स्नेहालु (१३) गुणानुरागी —सद्गुण समर्थन, (१४) सत्कथक सुपक्षयुक्त, कथोपदेशक व न्यायी, (१५) सुदीर्घदर्शी—दूरदर्शिता (१६) विशेषज्ञ —हिताहित ज्ञाता, (१७) वृद्धानुगत —अनुभवियो का अनुगामी, (१८) विनीत —नम्र, (१६) कृतज्ञ—उपकार मानने वाला, (२०) परहितार्थकारी—सदा दूसरो का हित साधने वाला, एव (२१) लब्धलक्ष्य—विद्याभ्यासी।

श्रावकत्व के बारह व्रतो तथा इक्कीस गुणो का आदर्श आराधक बनने के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। इस रूप मे उसके चार विश्राम होगे। (१) पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा अन्य त्याग-प्रत्याख्यान को अगीकार करे। (२) दूसरा विश्राम होगा सामायिक, देशावशिक व्रतो का पालन करू एव अन्य ग्रहण किये हुए व्रतो मे रखी हुई मर्यादाओं का प्रतिदिन संकोच करता रहूँ और उनका सम्यक् पालन करू। (३) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करू। (४) अन्त समय मे सलेखना अगीकार कर आहार पानी को त्याग निश्चेष्ट रहते हुए और मरण की इच्छा न करते हुए रहू —यह चौथा विश्राम होगा।

श्रावकत्व की सफलता ही उसको ऊपर के साधुत्व के सोपान पर आरूढ़ करायेगी, जिस प्रकार सम्यक्त्व जागरण ने उसको श्रावकत्व के ऊपर के सोपान पर उठाया था। मेरी यही मनोकामना रहती है कि मेरे आत्मविकास की महायात्रा सतत रूप से चलती रहे तथा प्रगति के नये-नये आयाम खोजती और प्राप्त करती रहे।

ज्ञान विन क्रिया, क्रिया बिन ज्ञान

मुझे यह सत्य सुविदित है कि ज्ञान एव क्रिया के सार्थक सयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। दोनो मे से एक का अभाव दूसरे को भी निरर्थक बना देगा। मुझे लगड़े और अधे का रूपक याद है। ज्ञान को लगड़ा समझिये तो क्रिया को अधी। लगड़ा चल नहीं सकेगा क्योंकि उसके पाव नहीं होते और क्रिया भी अच्छी तरह चल नहीं सकेगी क्योंकि उसके आखे नहीं होती। लेकिन दोनो मिल जाय तो चले भी जाय। क्रिया के कधो पर ज्ञान बैठ जाय और उसे रास्ता सुझाता रहे तो क्रिया भली-भांति चलती रहेगी तथा गतव्य तक पहुचा देगी।

मैं सोचता हू कि ज्ञान बिना क्रिया का हो तो वह क्या होगा? कल्पना करे कि मै रोगी हू, अपने रोग की रामबाण औषधि जानता भी हू परन्तु औषधि लेने की क्रिया नही करता तो मेरे रोग का क्या होगा? क्या मेरे मात्र औषधि ज्ञान से मेरा रोग चला जायगा? क्रिया बिना मेरा वह ज्ञान निरर्थक रहेगा। अतः मैं आध्यात्मिक विषयो को जानू—यह पहली आवश्यकता है ही किन्तु जो मै जानता जाऊ, उसे मै मानता जाऊ और उसे क्रियान्वित करता जाऊ तभी कार्य सम्पादन का क्रम बना रह सकता है। बिना क्रिया भी ज्ञान तो रहेगा, लेकिन वह निष्प्रयोजन तथा निरूपयोगी होगा। फिर मै सोचता हू कि उस क्रिया की क्या दशा होगी जो ज्ञानपूर्ण न हो? कल्पना करे कि मै रोगी हू और औषधि लेने को आतुर व सक्रिय भी, लेकिन औषधि का ज्ञान नहीं है। यह अज्ञान मुझे विष भी खिला सकता है। इस कारण बिना ज्ञान की क्रिया तो भयावह परिणाम वाली हो सकती है।

मेरी मान्यता बन गई है कि चारित्र रहित पुरुष को बहुत से शास्त्रो का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है? क्या लाखो दीपको का जलाना भी कहीं अँधे को देखने मे सहायक हो सकता है? जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार ही का भागी है। चन्दन की शीतलता उसे नहीं मिलती है। इस प्रकार चारित्र्य रहित ज्ञानी का ज्ञान केवल भार रूप है। वह सुगति का अधिकारी नहीं होता। क्रियाशून्य ज्ञान निष्फल है। अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नही होती है। आग लग जाने पर पगु पुरुष का देखना उसे आग से नही बचा सकता और न अधे पुरुष का पराक्रम ही उसे निरापद स्थान पर पहुचा सकता है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञान क्रिया वाले दोनो ही आग मे जल जाते है।

मै आप्त वचनो का पुण्य स्मरण करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि पहले ज्ञान होना चाहिये और फिर तदनुसार दया अर्थात् क्रिया या आचरण। अज्ञानी आत्मा क्या करेगी? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगी? जो श्रेय हितकर हो उसी का आचरण करना चाहिये। जो न जीव (चेतन) को जानता है, न अजीव (जड़) को, वह सयम को कैसे जान पायेगा?

इस विन्दु पर मै चिन्तन करता हू कि मैं सयम को कैसे जान, मान और धार पाऊगा? उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर मेरा ध्यान केन्द्रित होता है कि ज्ञान और क्रिया के डग साथ-साथ

उठने चाहिये। साधारण सी विधि है कि जब एक पथिक अपने गतव्य का मार्ग नही जानता तो ज्ञाताओं से मार्ग पूछता रहता है और आगे बढ़ता जाता है। बीच-बीच मे सन्देह होने पर अपनी मार्ग सम्बन्धी धारणा की पुष्टि भी करवाता रहता है। यही विधि वीतराग देवो ने भी बताई है। पहले मिथ्यात्व के पतनकारक स्वरूप को समझो और उसके दलदल से बाहर निकलो। फिर सम्यक्त्व के प्रकाश को निहारो और अपने आत्म स्वरूप को परखो। उसे परखने पर आवरण दिखेगे तब आवरणो का भी ज्ञान करो, मूल स्वरूप को भी जानो और सयम की शुभ क्रिया मे सक्रिय बन जाओ। जानते रहो, करते रहो और बढ़ते रहो। सम्यक्त्व के प्रकाश मे ही व्रत धारण करने की निष्ठा उत्पन्न होती है। छोटे-छोटे व्रत और त्याग प्रत्याख्यान लेते हुए एक एक करके या एक साथ श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये जा सकते है। उससे आगे का चरण सर्वाशत सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन अगीकार करने का हो सकता है। सयम की अडिग साधना ही ऊचे से ऊचे गुणस्थानो मे पहुचाकर आत्मा को परम समाधि का अक्षय सुख प्रदान कर सकती है।

मै सोचता हू कि ज्ञान बिन क्रिया और क्रिया बिन ज्ञान की अवस्था को किसी भी स्तर पर अपने जीवनाचरण में न आने दू और ज्ञान व क्रिया के दोनो पहियो पर सयम का रथ मोक्ष के राजमार्ग पर चलाता रहू और रत्नत्रय की आराधना मे तल्लीन बन कर प्रतिपल उस रथ को आगे और आगे बढ़ाता रहू।

निर्विकारी स्वरूप की ओर

मै सोचता हू कि वास्तव मे 'निर्विकारी स्वरूप की ओर'—यह शब्द समूह एक प्रकार से भ्रामक है क्योकि मेरा अपना निर्विकारी स्वरूप कहीं बाहर नही है जिसकी ओर मै जाऊ, वह स्वरूप तो मेरे भीतर मे ही विराजमान है जिसे मुझे निरावृत्त करना है। निरावृत्त इसलिये कि उस पर आवरण छाये हुए हैं और वे आवरण हैं मेरे ही अपने विकारो के। ये विकार है मेरे अपने मोह-महत्त्व के विकार जो राग और द्वेष के बीजो पर अकुरित होकर विषय और कषाय के रूप मे वट वृक्ष की तरह फैलते है। फिर मै प्रमादग्रस्त हो जाता हू। जितना प्रमाद बढ़ता है, मिथ्यात्व का अँधकार बढ़ता है, मेरा अपना स्वरूप मैल और अधेरे की हजारो हजार परतो से आवृत्त हो जाता है। मुझे इन्हीं विकारो को पूरी तरह से हटा लेना है, साफ कर लेना है। विकार हटे और मेरा अपना परम ज्ञान एव अमिट सुखमय स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। यही मेरा निर्विकारी स्वरूप होगा, ऐसा स्वरूप जो फिर विकारो मे कभी भी किसी भी रूप मे लिप्त नहीं बन सकेगा। मैं अपने उसी निर्विकारी रूप मे अजरामर हो जाऊगा—सदा सदा के लिये सिद्ध।

निर्विकारी स्वरूप मे स्थित हो जाना यही मेरा परम और चरम लक्ष्य है। यही मेरे आत्म विकास की महायात्रा का गतव्य है। इसी गतव्य पर पहुचने का मुझे पराक्रम दिखाना है जो सर्वश्रेष्ठ पराक्रम है। पराक्रम और ऐसा सर्वश्रेष्ठ पराक्रम सफलतापूर्वक दिखाना आसान नही है यह मैं जानता हूँ। इसके लिये मुझे परम पुरुषार्थ करना होगा—घटाटोप अधकार से निकलकर सदा प्रकाशमान दिव्यालोक मे अवस्थान बना लेने का पुरुषार्थ। यही पुरुषार्थ सम्यक्त्व, सयम और समता का पुरुषार्थ है। मेरा सम्यक्त्व अविचल बनेगा, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर अडिग आस्था से जो तर्कसगत भी होगी तो परम श्रद्धास्वरूप भी। तर्क एक सीमा तक मुझे अग्रगामी बनायगा, किन्तु जहा तर्क का क्षेत्र भी समाप्त हो जायगा, वहा मेरी अमित आस्था का क्षेत्र आरभ होगा कि मै पूरे

आत्म विश्वास के साथ सयम की कठिन साधना मे प्रवृत्त हो जाऊ, अपने मन, वचन एव कर्म के अशुभ योग व्यापार को समाप्त करता चलू तथा सत्य श्रद्धा के साथ श्रेष्ठ सिद्धान्तों के पालन मे एकनिष्ठ वन जाऊ।

मै जानता हूं कि साधक की यह संयम साधना बहुआयामी होगी। सम्यक् श्रद्धा वाला बनेगा तभी सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण को वरण करने वाला भी बन सकेगा। तभी वह त्याग वृत्ति की ओर उन्मुख भी बन सकेगा। विविध प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यानो के अनुसरण से इसी महत्कार्य मे सचेष्ट बना रहता है कि धीरे-धीरे वह सासारिकता ही त्याग करता रहे। पहले श्रेष्ठ पांच सिद्धान्तो के आशिक पालन करने मे प्रवृत्त हो। ताकि वह एक सद्‌गृहस्थ और एक सुश्रावक बन सके—ऐसा सद्‌गृहस्थ जो अपने घर-परिवार मे रहता हुआ भी धर्माचरण मे दत्त चित्त बन जाता है और जिसकी अर्थोपार्जन की नीति भी सम्पूर्णतया अहिसा एव नैतिकता पर आधारित हो जाती है। जो अपनी गृहस्थी का कार्य चलाने के लिये परिग्रह कमाता है और रखता है किन्तु स्वय परिग्रहवादी नही होता। जो विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानो के माध्यम से अपने विकारो को समाप्त करता जाता है तथा अपने भीतर और वाहर चारो तरफ के वातावरण मे समता का शान्तिदायक आलोक फैलाता रहता है। जो अपने स्वीकृत व्रतो के छिद्रो को रोकता है, प्रतिक्रमण द्वारा पापों से पीछे हटता है और श्रमणोपासना से स्वय श्रमण बन जाने के मनोरथ पर निरन्तर चिन्तवन करता रहता है।

वह जब ऐसा सद्‌गृहस्थ बन जाएगा तो प्रगति के पथ पर उसके चरण रुकेगे नही। तव सासारिकता से विमुख वन कर वह इसी ससार मे अपने तथा अन्य प्राणियो के कल्याण कार्य मे सर्वतोभावेन सलग्न हो जाने के लिये साधु धर्म अगीकार कर लेगा। वह साधु धर्म जो तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर होता है और इतना दुष्कर कि मेरु पर्वत को अपने तराजू से तोलो। वह अपने सयम के तराजू से मेरु पर्वत को भी तोल लेने का सामर्थ्य और पुरुषार्थ दिखायेगा। अपने हृदय मे क्रोध के स्थान पर सहिष्णुता, मान के स्थान पर विनम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर सन्तोष को बसा लेने का प्रयास करेगा। यहा तक कि वह अपनी सयमोपलब्धियो को अहभाव नही छू पाए इस ओर सावधान रह सकेगा और न ही उनके द्वारा अपनी कीर्ति की लालसा को कोई स्थान दे सकेगा। अपने सदाचरणमय जीवन को लोकोपकार हेतु विसर्जित कर गन्तव्य की ओर गतिशील होगा।

तीसरा सूत्र और मेरा संकल्प

तीसरे सूत्र के सदर्भ मे मैं सकल्पवद्ध होता हू कि मै अपने चरम लक्ष्य को सम्यक् रीति से पहिचानूगा, मानूगा और अपनी समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो को लक्ष्याभिमुखी बनाऊगा। लक्ष्य के उस उत्कृष्ट बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करके ही मै जान सकूगा कि वहा से मै कितनी दूरी पर खड़ा हुआ हूं और मुझे कितना चलना है? मै अडिग निश्चय के साथ चलूगा सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तो का सम्वल लेकर। मै सम्यक्त्त्व से लेकर श्रावकत्व एवं साधुत्व के सोपानो पर ऊपर से ऊपर चढ़ता जाऊगा। मेरी उस ऊर्ध्वगामिता का आधार होगा ज्ञान एव क्रिया का अद्‌भुत सयुक्तीकरण तथा अपने समस्त विकारो (कर्मों) का क्षयीकरण। मैं अपने उस परिमार्जित आचरण के साथ निर्विकारी वनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

अध्याय पांच

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ४ :

मै सुज्ञ हूँ, सवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और कार्य तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो है?

अनुभूति के क्षणो मे मुझे ज्ञात होगा कि अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप मे ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है? यही मेरी तुच्छता व हीन भावना का कारण है, जिसे मै धर्माराधना से दूर करूगा। मन, वाणी व कार्यों मे लोक कल्याण की महानता प्रकटाऊगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

चौथा सूत्र

मैं सुज्ञ हू, सवेदनशील हूं। मैं सब जानता हू, इतना ही नहीं हैं। मै सबका अच्छा जानता हू—हित जानता हू, शुभ जानता हू—इसीलिये मै सुज्ञ हू। मै सबका अच्छा, हित और शुभ जानता हू तो क्या अपना स्वय का अच्छा, हित और शुभ नहीं जानता? ऐसा कैसे हो सकता है? क्या सब मे मेरा सम्मिलन नही है? सबमे मै भी तो आ ही जाता हू। अन्तर है तो यह कि मै अपना ही अच्छा, हित और शुभ नहीं चाहता हू—सबका चाहता हू, अपना भी चाहता हू। यही तो मेरी सुज्ञता है।

मैं सुज्ञ हू सबका हित जानता हू और चाहता हू। मेरा हृदय ऐसे सरोवर के समान है जो मानो स्फटिक शिलाओं के मध्य निर्मल जल से भरा हुआ हो जिसमे—मैल का अश तक नही। विशुद्ध निर्मलता सबके लिये हैं, मेरे लिये है। मेरी आन्तरिकता मे ऐसा अनुपम सरोवर लहरा रहा है। जल की सतह शान्त और प्रशान्त है। ऊपर से ही भीतर की स्फटिक शिलाए चमक रही है। तल से लेकर सतह तक निर्मलता की एकरूपता है। यह सरोवर मेरे अन्त करण मे मूल रूप से विभूषित अनन्त दया और अनन्त करुणा का सरोवर है। मेरी यह दया और करुणा समता से आप्लावित है। वह कोई विषमता का भेद नही जानती। ससार के समस्त प्राणियो पर यथायोग्य रूप से बरसना चाहती है। मेरी करुणा मुझ पर ही बरसे—यह आश्चर्य की बात हो सकती है किन्तु मैं सुज्ञ हू अत जानता हू कि मैं स्वय करुणा का कितना बड़ा पात्र हू? मेरी आज की विदशा क्या मुझ पर अपार करुणा नही उपजाती? क्या मै ही मेरी दुर्दशा पर तरस नहीं खाता हू? मेरी यह करुणा ही मुझे जगाती है कि उठो और अपने भीतर के सरोवर के चारो ओर फैली गदगी को दूर करलो। तुम जैसे निर्मल के लिये यह मल का अस्तित्व कलक की बात है। यह बद्ध कर्मो का मल है जिसे मेरी सुज्ञता स्वच्छ बना देने को आतुर है। वह सबको प्रेरणा देना चाहती है कि सभी प्राणी अपने हृदय मे स्थित इस सरोवर के चारो तरफ के मल को स्वच्छ करले, ताकि सरोवर की निर्मल शोभा सुप्रकट हो जाय।

मैं सुज्ञ हू इसीलिये सवेदनशील हू। मेरी करुणा के जल सतह पर लगने वाला सूक्ष्म आघात भी मुझमे तीव्र स्पन्दन उत्पन्न कर देता है—लहरो पर लहरे उठने लग जाती है। मै करुणा से हिल उठता हू। यह आघात दूसरे ही नहीं करते, मैं स्वयं भी करता हू। मेरी एक अशुभ क्रिया भी मुझे संवेदित करती है कि मै उसकी अशुभता को समझू और अशुभता के स्थान पर शुभता का संचार करू। जव दूसरे की अशुभ क्रिया भी अपने ही किसी साथी को पीड़ा पहुँचाती है, तव वह पीड़ा भी मुझे सवेदित और स्पन्दित वना देती है। मैं अपार करुणा से ओतप्रोत हो जाता हू। करुणा अपनी पीड़ा पर तो करुणा दूसरो की पीड़ा पर —यह करुणा मेरा धर्म वन जाती है।

कभी आपने किसी झील के शान्त जल को देखा है? उसमे गिरने वाला एक छोटा-सा ककड़ भी उस शान्त जल को आन्दोलित वना देता है। ककड़ के गिरने के स्थान से लहरे उठती ही

चली जाती है। उस जल मे अगर शिलाखड गिर जाय तो समझिये कि सारे सरोवर मे हलचल मच जाती है। सवेदनशीलता भी ऐसी ही होती है।

मैं सवेदनशील हू, इस कारण पीड़ा के मर्म को भलीभाति समझता हूं। मेरी अपनी पीड़ा भी कम नही होती है। सोचिये कि एक आदमी उड़ना चाहे और उड़ने के लिये तत्पर हो जाय, तभी उसे ज्ञात हो कि उसके पैरो मे तो बेड़िया पड़ी हुई है—वह उड़ तो क्या, चल भी नहीं सकता है। तो विचार कीजिये कि उसकी उड़ने की उग्र उमग को बेड़ियो की विवशता किस कदर कुचल देती है? उसकी उस समय की पीड़ा का अनुभव कीजिये। वैसी ही मेरी अपनी पीड़ा है। मेरा जो मूल आत्मस्वरूप है, ऊर्ध्वगामिता उसका प्रधान गुण है। मैं ऊपर उठना चाहता हू किन्तु अपने ही कृत कर्मों की मेरे पैरो मे पड़ी भारी बेड़िया जब मुझे अपनी जगह से हिलने तक नहीं देती है तो मैं अपने ही भीतर की भीषण पीड़ा से कराह उठता हू। तब मेरी सवेदना पर चोट पड़ती है—मेरे सरोवर मे हलचल मच जाती है, भावोर्मिया उठती है और मेरी ही करुणा मेरे ऊपर बरसने के लिए आतुर हो जाती है। मेरी करुणा मुझे जगाती है कि उठ और अपने पांवों की बेड़ियो को तोड़—बधनो को तोड़, तू ऊपर उठ सकेगा।

मेरी सुज्ञता तब मेरी सवेदनशीलता मे घुलमिल कर एकाकार बन जाती है —अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो जाती है। मुझे जगाने के वाद ही वास्तव मे मेरी सवेदनशील सुज्ञता का कार्य और प्रभावक्षेत्र प्रारभ होता है जो सम्पूर्ण विश्व के विशाल क्षेत्र मे प्रसरित हो जाना चाहता है।

सुज्ञता और सवेदनशीलता

सच पूछे तो जब सुज्ञता होती है, तब ही सवेदनशीलता आती है और सवेदनशीलता की गूढ़ता के साथ सुज्ञता की प्रखरता बढ़ती जाती है। मेरे अन्त करण मे सुज्ञता और सवेदनशीलता की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सुज्ञता मुझे सबका हित जानने की प्रेरणा देती है तो सवेदनशीलता उस हित को साधने के लिये मुझे तत्पर बनाती है। ज्ञान और क्रिया का सजीव साम्मिश्रण हो जाता है जो मुझे स्व-पर कल्याण हेतु जागृत और सक्रिय बना देता है।

मैं जानता हू कि मैं सुज्ञता और सवेदनशीलता का स्फटिक सरोवर हू किन्तु मै यह भी जानता हू कि अभी मैने उस सरोवर को आवृत्त कर रखा है—प्रभावहीन बना रखा है। इस कारण मुझे देखना है कि मेरी सुज्ञता कैसे जागे —मेरी सवेदनशीलता कैसे स्पन्दित हो?

यह सही है कि सुज्ञता और सवेदनशीलता का अपार कोष अन्तरात्मा मे भरा पड़ा है, किन्तु वह अनेकानेक आवरणो से बधा हुआ है। इस कारण सुज्ञता का मुक्त प्रसार नहीं दिखाई देता व सवेदनशीलता का मुक्त सचार भी दिखाई नही देता फिर भी कुछ कारण ऐसे रहते है जिनमे यदि मेरी चेतना की जागृति बनी रहे तो इन दोनो गुणो का सुप्रभाव बाहर प्रकट होता रहता है। मै अकेला नही रहता हू, समाज मे रहता हू, जहा अन्य लोगो के साथ तो मेरा ससर्ग होता ही है किन्तु छोटे बड़े प्राणी भी मेरे सम्पर्क मे आते है। यह सामाजिक सम्पर्क ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप मे हर समय मौजूद रहता है। यह ससर्ग मेरे व्यवहारगत भी होता है तो अव्यवहारगत भी। जैसे मै सड़क पर चला जा रहा हू, मैंने देखा कि सड़क के किनारे एक आदमी बेहोश पड़ा हुआ है। उसके मुह से झाग निकल रहे है। उसका जीवन खतरे मे दिखाई देता है। मेरी सुज्ञता मुझे खड़ा कर देती है और स्थिति का अनुमान लगाने को कहती है। मेरी सवेदनशीलता मेरे हृदय को द्रवित

बना देती है और निर्देश देती है कि इस मृत्योन्मुख मनुष्य को तुरन्त शुभ भावो से उपयोगी सहायता दो। मेरी उस बेहोश पड़े आदमी से कोई जान-पहिचान नही, न मेरा उसके साथ कभी कैसा भी व्यवहार पड़ा है—सिर्फ मेरा ससर्ग हुआ उसकी पीड़ाभरी बेहोशी के साथ और इसी ससर्ग ने मेरी सुज्ञता को जगाया और मेरी सवेदनशीलता मे कोमल स्पदन पैदा कर दिये।

मै कल्पना करता हू कि यदि हृदय के साथ आखे खुली हुई रहे तो ऐसे करुणाजनक दृश्य रात दिन दिखाई दे सकते है। एक सुज्ञ पुरुष ऐसा सुकोमल सहायक होता है जो स्वय की पीड़ा को भी देखता है तो पर-पीड़ा का छोटा-सा दृश्य भी उसे द्रवित बना देता है क्योंकि उसकी सवेदनशीलता सदा प्रवहमान रहती है। मै अनुभव करता हू कि अपनी पीड़ा भी दो प्रकार की होती है। एक तो तब जब मुझे कोई अन्य कष्ट पहुचाता है और दूसरी तब जब मै किसी अन्य को कष्ट देता हू। पहली प्रकार की पीड़ा के समय मेरी अज्ञता मुझे उत्तेजित और प्रतिशोध हेतु तत्पर बनाती है किन्तु मेरी सुज्ञतापूर्ण सवेदनशीलता मेरे क्रोध पर मरहम लगाती है और मै सहनशीलता के साथ शान्त हो जाता हूं। फलस्वरूप मुझे कष्ट पहुचाने वाला स्वय पश्चाताप से ग्रस्त हो जाता है। दूसरी प्रकार की पीड़ा मेरे अपने कुकृत्य की पीड़ा होती है। मेरी सुज्ञता मुझे फटकारती है कि मैंने ऐसा कुकृत्य क्यो किया ? ग्लानि के उन क्षणो मे मेरी सवेदनशीलता मेरी पीड़ा पर अपनी करुणा बरसाती है—मुझे प्रेरित करती है उस व्यक्ति से क्षमा चाहने के लिये, जिसको मैने दुखित किया था और इस प्रकार मेरे और उसके हृदयो मे से कटुता निकल जाती है। ऐसे चमत्कार करती ही रहती है मेरी सुज्ञता और मेरी संवेदनशीलता —जो ऐसी करुणा को बारबार बरसाती हुई अधिकाधिक परिपुष्ट होती जाती है।

यो कहे कि बाह्य जगत् का ससर्ग ही मेरी सुज्ञता एव मेरी सवेदनशीलता की कसौटी का काम करता है। इसी कसौटी से रगड़ खाकर इसका खरा-खोटापन सामने आता है और यह स्वरूप भी सामने आता है कि उनकी, परिपुष्टता कितने टच की बन गई है। और मेरी आत्मा के साथ —मेरे जीवन के साथ बाह्य जगत् का ससर्ग प्रतिपल होता रहता है। प्रतिपल ऐसी परिस्थितिया सामने आती रहती है जो मेरी सुज्ञता और सवेदनशीलता का दामन खींचती है कि आगे बढ़ो, दु ख की पीड़ा को कम करो अपनी करुणा और सहायता से तथा आवश्यकता समझो तो अपना सब कुछ न्यौछावर कर दो इस सदुद्देश्य के लिये। मै जानता हू कि करुणा की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि उसकी कोमलता अपार होती है। कई वक्त मै ऐसी करुणा से द्रवित हो उठता हू और यथाशक्ति दु ख दूर करने का सत्प्रयास करता हूं किन्तु कई बार ऐसा होता है कि प्रमाद, प्रतिशोध या ऐसी ही किसी विकारग्रस्तता के कारण मै सामने आई हुई उस पीड़ा को नजरन्दाज कर जाता हू—अपनी सुज्ञता और सवेदनशीलता को सोई हुई ही रहने देता हू। यह मेरे हृदय का कठोर व्यवहार होता है, बल्कि यो कहू कि वह मेरे हृदय की तुच्छता होती है। और हृदय जब तुच्छता को पकड़ता है तो मेरा विचार, मेरा वचन और मेरा कर्म भी तुच्छ बनता जाता है। यह तुच्छता पनपती है मेरी सुज्ञता और सवेदनशीलता की सुप्तावस्था मे। जब मेरी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे इस प्रकार की तुच्छता का विस्तार होता चला जाता है तो मेरी आन्तरिकता भी निष्करुण हो जाती है, क्योकि मेरी सुज्ञता का प्रकाश मिट जाता है और मेरी सवेदनशीलता के तार झकृत नही होते।

तुच्छता जड़ग्रस्तता से

किन्तु ऐसा क्यो होता है ? यही स्थिति और समस्या मेरे मन-मस्तिष्क को मथती रहती है। तब मै अपनी अन्तर्दृष्टि को जगाता हूं यह देखने के लिये कि मेरे भीतर ऐसा क्या हो रहा है, जिसने

गया है कि मैं अत्यन्त तुच्छ और हीन हो गया हूँ? दूसरो के दु ख नहीं देखता हूँ या दूसरो को सुख पहुँचाने की भावना नही रखता हूँ—इतनी ही तुच्छता मेरे मे नहीं पनपी है, अपितु अब तो मैं दूसरे का सुख देख भी नहीं सकता हूँ। मुझे सिर्फ अपना ही सुख दीखता है। दूसरे का सुख नहीं देखूं—वह भी एक बात, लेकिन मैं इतना निर्दयी हो गया हूँ कि दूसरे का सुख कुचल कर अपनी सुख सामग्री जुटाने मे उतारू बन जाता हूँ। मेरी तुच्छता और हीनता कितने नीचे स्तर तक पहुँच गई है?

चिन्तन के इस प्रवाह मे मै मेरे मन की हीन तुच्छता का आकलन करने लगता हूँ तो मुझे अनुभव होता है कि मेरा मन ऐसी-ऐसी नीच वृत्तियो मे डूबा हुआ है—(१) गर्हित—सावद्य एव निन्दित हिसापूर्ण वृत्तियो से युक्त (२) सक्रिय —निन्दनीय वृत्तियो को कुत्सित प्रवृत्तियो मे ढालने से युक्त, (३) सकर्कश—कठोर भावो से युक्त, (४) कटुक —अपनी आत्मा के लिये और दूसरे प्राणियो के लिये अनिष्टकारी वृत्तियो से युक्त, (५) निष्ठुर—कोमलताहीन भावो से युक्त, (६) परुष—स्नेह रहित मानसिक वृत्तियो से युक्त, (७) आश्रवकारी—अशुभ कर्मो के आगमन की तत्परता से युक्त, (८) छेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणो को छेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त (९) भेदकारी —अमुक प्राणी के प्राणो को भेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (१०) परितापनाकारी—प्राणियों को सन्ताप आदि उपजाने की हीन वृत्तियो से युक्त (११) उपद्रवकारी—अमुक प्राणी को ऐसी वेदना हो कि उसका प्राणान्त हो जाय ऐसी घृणित दुष्चिन्ताओं से युक्त तथा (१२) भूतोपघातकारी—जीवो को विनष्ट कर देने के क्रूर भावो से युक्त। मेरी जड़ग्रस्तता से उत्पन्न ऐसी तुच्छ और हीन मेरी मन स्थिति मेरे लिये चिन्तनीय बन गई है। मन की ऐसी अचिन्तनीय वृत्ति मुझे अब अखरने लगी है।

किन्तु मै देखता हूँ कि मनोवृत्तियो की मेरी तुच्छता और हीनता के कारण मेरी वाणी की विद्रूपता भी असह्य होने लगी है। जिसके कारण, मुझे वक्तव्य-अवक्तव्य का भी भान नही रहा है। वचन से जो कहा जाना चाहिये वह वक्तव्य और जो नही कहा जाना चाहिये —वह अवक्तव्य होता है। छहों द्रव्यो मे अनन्त गुण और अनन्त पर्याय वक्तव्य है। वीतराग देव सर्व द्रव्यो और उनकी सर्व पर्यायो को देखते है, परन्तु उनका अनन्तवॉ भाग ही कह सकते है। उस कथित ज्ञान को भी सपूर्ण रूप से गणधर आगम रूप मे गूथ नही पाते है तथा उन आगमो का भी यत्किंचित् भाग ही वर्तमान मे उपलब्ध है—वह भी इतना कल्याणकारी है कि मेरी वाणी की विद्रूपता उसे सुनकर कहने नहीं देती—उसका रसास्वादन करने नहीं देती। मेरे वचनो की विपरीत प्रवृत्ति बन गई है। वे (१) असत्य, (२) तिरस्कार युक्त (३) दूसरो को झिड़कने वाले, (४) कठोर (५) अविचारपूर्ण तथा (६) शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन बन गये हैं। मै ऐसी भाषा बोलता हूँ। जिसमे यह भान नही रखता कि उससे चारित्र शुद्ध हो रहा है अथवा अशुद्ध बल्कि भाषा द्वारा प्रकट होने वाली भावना का भी ध्यान नहीं रखता हूँ। इसीलिये मेरे वचनो मे भी ये दोष उत्पन्न हो गये है—(१) कुवचन—कुत्सित वचन बोलना, (२) सहसाकार—सहसा अविचारपूर्ण तथा अप्रतीतिकर वचन बोलना, (३) सच्छन्द—धर्मविरुद्ध राग-द्वेष बढ़ाने वाले वचन बोलना, (४) सक्षेप—सामायिक आदि के पाठ को छोटा करके बोलना, (५) कलह—क्लेश फैलाने वाले वचन बोलना, (६) विकथा —स्त्री कथा आदि चार विकथा करना, (७) हास्य—कौतूहल तथा कटाक्षपूर्ण वचन बोलना, (८) अशुद्ध—मलिनता फैलाने वाले वचन बोलना, (९) निरपेक्ष—असावधानी या अनुपयोग से बोलना, तथा (१०) मुण-मुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। चाहे धार्मिक अनुष्ठान के समय मे हो या अन्यथा, ऐसे वचन,

मेरी वाणी तुच्छता के चिह्न रूप होते हैं। मेरे वचनो का ऐसा विद्रूप भी कई बार प्रकट होता है—(१) आलाप—थोड़ा पर टेढ़ा बोलना (२) अनालाप—दुष्ट भाषण करना (३) उल्लाप—व्यगपूर्वक बोलना, (४) अनुल्लाप—व्यग के साथ दुष्टतापूर्वक बोलना, (५) सलाप—गुप्त वार्तालाप करना, (६) प्रलाप—निरर्थक बकवास करना, (७) विप्रलाप—निष्प्रयोजन भाषण करना। मुझे लगता है कि मेरी वाणी की तुच्छता इन सभी रूपो मे सीमा पार कर रही है।

मेरे मन और मेरी वाणी की तुच्छता भला मेरे कार्यों की तुच्छता को क्यो नही भड़कायगी? मेरे कार्यों की तुच्छता भी दयनीय बनी हुई है। वह तुच्छता शरीर की असावधानी से अशुभ व्यापारपूर्ण इन कार्यों मे प्रकट होती है—(१) असावधानी से जाना, (२) असावधानी से ठहरना, (३) असावधानी से बैठना (४) असावधानी से लेटना, (५) असावधानी से उल्लघन करना, (६) असावधानी से इधर-उधर बार-बार उल्लघन करना तथा (७) असावधानी से सभी इन्द्रियो व योगो की प्रवृत्ति करना। इस प्रकार मेरी शरीर की विषय, कषाय एव प्रमादपूर्ण क्रियाओं से निरन्तर कर्म बध होता रहता है। दुष्ट व्यापार विशेष रूप तथा कर्म बध के कारण रूप मेरी ऐसी क्रियाए पांच प्रकार की होती है—(१) कायिकी—काया के दुष्ट व्यापार से होने वाली क्रिया, (२) आधिकरणिकी—जिस दुष्प्रवृत्ति विशेष अथवा बाह्य खड्ग आदि शस्त्र से आत्मा का पतन होना है, उसे अधिकरण कहते है, अत ऐसे अधिकरण से होने वाली क्रिया, (३) प्राद्वेषिकी—जीव के मत्सर भाव रूप अकुशल परिणाम रूप प्रद्वेष से होने वाली क्रिया, (४) परितापनिकी—ताड़नादि से दु खित करने वाली परिताप आदि की क्रिया, (५) प्राणातातिपातिकी क्रिया—इन्द्रियादि प्राणो को अतिपात पहुँचाने वाली क्रिया। अन्य प्रकार से इन्ही क्रियाओं के पाच भेद इस रूप मे भी होते है। (१) आरभिकी छ काया रूप जीव की हिसा से लगने वाली क्रिया, (२) पारिग्रहिकी—मूर्च्छा-ममत्त्व से लगने वाली क्रिया, (३) माया प्रत्यया—कपटपूर्वक दूसरो को ठगने से लगने वाली क्रिया, (४) अप्रत्याख्यानिकी—अव्रत याने थोड़ी-सी भी विरति के परिणाम न होने रूप क्रिया तथा (५) मिथ्यादर्शन प्रत्यया—मिथ्यात्व से लगने वाली क्रिया। अन्य अपेक्षा से क्रियाओं के पाच प्रकार इस रूप मे भी होते है। —(१) प्रेम प्रत्यया—माया और लोभ से उपजे राग भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (२) द्वेष प्रत्यया—क्रोध और मान से उपजे द्वेष भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (३) प्रायोगिकी क्रिया—आर्तध्यान व रौद्रध्यान जनित पापजनक काय-व्यापार से लगने वाली क्रिया, (४) सामुदानिकी क्रिया—समग्र आठ कर्मों को ग्रहण करने से अथवा अनेक जीवो को एक साथ एक-सी पाप क्रिया से लगने वाली, तथा (५) ईर्यापथिकी क्रिया —उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली —इन तीन गुणस्थानो मे रहे हुए अप्रमत्त साधु के केवल योग कारण से साता वेदनीय कर्म रूप वधने वाली क्रिया।

मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य किस प्रकार के तुच्छ भावो से ग्रस्त है —यह मैंने जाना है और यह भी जाना है कि वे ऐसे हीन तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो है? इसका कारण है अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता जिसके अनेकानेक आवरणो ने मेरे आत्म-स्वरूप को आवृत्त वनाकर उसके स्वरूप को अपरूप बना दिया है। यह स्वरूप विकृति मेरे लिये कलक रूप वन गई है। मेरी मूल महत्ता तो छिपी ही है, किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी सुशुप्त हो गया है। मै यह जान गया हूँ कि मेरी यह स्वरूप विकृति मेरी ही तुच्छता और हीन भावना के कारण हुई है। पदार्थ मोह मे पड़ा हुआ मैं कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ अपने आत्म-स्वरूप को जड़ता से ढक रहा हूँ तो वाहर भी इन्हीं पदार्थों को प्राप्त करने की भाग-दौड़ मे अपने मन, वचन एव काया के योग व्यापार को जड़ता से

मलिन बना रहा हूँ। अब मैं इस जड़ग्रस्त तुच्छता से विलग तभी हो सकता हूँ जब मैं एक ओर अपने अशुभ योग व्यापार को शुत्रता से ढालू तथा दूसरी ओर अष्ट कर्मों के कठिन बंधनो को धर्माराधना से तोड़ूं व अपनी स्वरूप-विकृति को स्वरूप-शुद्धि में परिवर्तित करू।

अष्ट कर्मों के बन्धन

सासारिकता के कारणभूत इन कर्मों की प्रक्रियाओं को मुझे गहराई से समझना होगा, क्योकि मेरी स्वरूप-विकृति इन्हीं के बधनो की वजह से है। इस समझ के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी समाधान मागता है कि इस ससार के संचालन का सूत्रधार कौन है ?

मै तथा अन्य प्राणी अपने-अपने अनुभव से यह तथ्य जानते हैं कि इस ससार की प्रकृति मे जो कार्य हो रहे है, वे बहुत ही विधिवत हो रहे है। प्रकृति के इस सुव्यवस्थित क्रम को भग करता है तो अधिकाशत बुद्धिशाली मनुष्य ही। फिर भी ऐसी अनेक घटनाएं सबके ध्यान मे आती हैं जिनके कारण खोजने से भी नहीं मिलते। अपनी कर्तृत्व शक्ति एव गूढ़ वैचारिकता के कारण मनुष्य का महत्त्व कम नही है, फिर भी वह अनेक बार अपने को ऐसा असहाय महसूस करता है कि वह अपने से ऊपर एक शक्ति को मान लेने के लिये विवश हो जाता है। इस शक्ति के आगे वह अपने को अशक्त अनुभव करने लग जाता है।

मै सोचता हू कि शायद ऐसी ही विवशता की छाया मे मनुष्य ने संसार के एक रचयिता की कल्पना की हो। अत यह मान्यता उपजी और फैली कि इस ससार की रचना करने, इसका पालन करने तथा विनाश करने वाला स्वय परमात्मा है। इतना ही नही, इस ससार मे होने वाली किसी भी तत्त्व की क्रिया या प्रक्रिया का प्रेरक भी परमात्मा ही है —यह मान्यता मनुष्य के मन मे बैठी जिसके आधार पर ही वह कहने लगा कि परमात्मा ही सारे ससार की समस्त हलचलो का संचालक है तथा उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता है। मै देखना चाहता हूँ कि क्या यह मान्यता मनुष्य के वास्तविक शक्तिसम्पन्न ज्ञान से उत्पन्न हुई है अथवा मात्र अज्ञानजनक भय से ?

इस मान्यता की थोड़ी-सी मीमासा जरूरी है। पहले इस बात का निर्णय करना होगा कि यह मनुष्य मात्र परमात्मा जैसी किसी शक्ति के हाथ का खिलौना है अथवा स्वय एक शक्तिशाली आत्मा ? यदि उसे कठपुतली मान लेते है तो इस जीव तत्त्व को अजीव ही कहना पड़ेगा जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहे। किन्तु सभी अपने-अपने अनुभव से जानते है कि ऐसा कुछ नहीं है। सब आत्माए स्वतन्त्र शक्ति की धारिणी हैं तथा अपने-अपने शक्ति-विस्फोट के अनुसार अपने-अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भी करती रहती है जिसे सब देखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य की आत्मा भी अपना सर्वोच्च विकास साध ले तो वह स्वयं भी परमात्मा बन सकती है। आत्मा से परमात्मा —यह सबकी समझ मे बैठी हुई उक्ति है। फिर एक बार जो आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है, वह अपने अनन्त सुख को त्याग कर भला ससार के पचड़ो मे फिर क्यो पड़े ? कल्पना करले कि परमात्मा फिर से ससार का सचालन सूत्र पकड़ने के लिये यहाँ आवे भी याने अवतार ले भी तो क्या वह अपने पद की उज्ज्वलता और शुद्धता को भी तिलाजलि दे देगे जो इस ससार की घोर विषमताओं का सचालन करे ? और यदि वह अपने पद से पतित होकर ऐसा सचालन समालते हैं तो वह भेदभावपूर्ण सचालन मान्य ही कैसे हो सकता है ? अत ससार के सचालन का सूत्रधार

परमात्मा या ईश्वर हो —यह न तो बोध गम्य है और न अनुभव गम्य। कारण, फलस्वरूप विशुद्ध स्वरूपी परमात्मा कभी भी पुन. ससार मे आते नही और सासारिकता से सपृक्त बनते नहीं।

तब प्रश्न पैदा होता है कि फिर ससार का इतना सुव्यवस्थित सचालन कैसे होता है? उसका उत्तर यह है कि यह सचालन स्वचालित है। जैसे कि ऑटोमेटिक घड़ी होती है तो वह बिना चाबी भरे ही चलती रहती है। हाथ इधर-उधर हिलते रहते है और घड़ी के पुर्जे चलते रहते हैं। ऐसा ही इस ससार मे होता है। हाथ चलने की तरह जीव एव अजीव तत्त्व का सयोग चलता रहता है और घड़ी से समय निकलने की तरह उस सयोग की हलचलो का फलाफल निकलता रहता है। इसे यो कहे कि मैंने एक क्रिया की तो उसके प्रभाव रूप उस तरह के कार्माण वर्गणा के पुद्गल मेरे आत्म स्वरूप से बंध जाते है। फिर स्थिति पकने पर ये पुद्गल अपना शुभ अथवा अशुभ फल देकर ही छूटते है या साधना के बल पर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। कर्मों के बध, उदय और फल का जो यह क्रम चलता रहता है, वही शरीरधारी सभी प्राणियो की स्थिति परिस्थिति तथा वृत्तियो-प्रवृत्तियो का कारणभूत बनता है। कर्मों का यह क्रम काफी हद तक सुव्यवस्थित होता है जिसे आत्म-जागृति से खडित किया जा सकता है। असल मे कर्मों का यही क्रम सारे ससार का सचालन करता है जो एक प्रकार से स्वचालित होता है। यही कर्मवाद अथवा स्वनिर्मित भाग्यवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

कर्मवाद के इस सिद्धान्त को कुछ गहराई से समझे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म प्रदेशो मे हलचल होती है तब जिस क्षेत्र मे आत्म-प्रदेश है उसी क्षेत्र मे रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के साथ बध को प्राप्त होते है। जीव और कर्म का यह मेल ठीक वैसा ही होता है, जैसा दूध या पानी का या अग्नि और लौह पिड का। इस प्रकार आत्म-प्रदेशो के साथ बध को प्राप्त कार्माण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते है। या यो कहे कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनो मे घटित होता है। आत्मा के राग द्वेषादि रूप वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और कर्म वर्गणा के पुद्गलो का समूह द्रव्य कर्म है। राग द्वेषादि के वैभाविक परिणामो मे जीव उपादान कारण होता है, इसलिये भाव-कर्म, कर्त्ता उपादान रूप से जीव है। द्रव्य कर्म मे जीव निमित्त कारण है। इसलिये निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भावकर्म के होने मे द्रव्य कर्म निमित्त है और द्रव्य कर्म मे भाव कर्म निमित्त है। आपेक्षिक दृष्टि से इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म इन दोनो का परस्पर बीज और अकुर की तरह कार्यकारण भाव सम्बन्ध है।

ससार के सभी जीव आत्म स्वरूप की अपेक्षा से एक से है, फिर भी वे पृथक्-पृथक् योनियो मे भिन्न-भिन्न शरीर धारण किये हुए है और भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विद्यमान है। एक ही माँ की कोख से जन्म लेने पर भी तथा एक-सी परिस्थितियो मे पले पोसे और शिक्षित हुए दो सगे-भाइयो मे भी कई बातो का अन्तर दिखाई देता है। यह विचित्रता तथा विषमता विना किसी कारण के हो—ऐसा नहीं होता। इस सुख-दु ख, सम्पन्नता-विपन्नता अथवा सवलता-दुर्वलता का कोई कारण होना चाहिये जैसे कि अकुर का कारण वीज होता है। अत इस विषमता का कारण कर्म ही हो सकता है।

मै देखता हूँ कि कई लोग इस तथ्य में पूरा विश्वास नहीं करते है और दलील देते हैं कि सुख-दु'ख के कारण तो प्रत्यक्ष दिखाई देते है, जैसे माला, शय्या, स्त्री आदि सुख के कारण है तो

कंटक, विष आदि दु.ख के कारण, फिर दृश्यमान सुख-दु ख के कारणो को छोड़कर अदृष्ट कर्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? सुख-दु ख के इन बाह्य साधनो से भी परे सुख-दु ख के कारण की खोज इसलिये करनी पड़ती है कि सुख की समान सामग्री प्राप्त पुरुषो के सुखानुभव मे भी अन्तर दिखाई देता है। इस अन्तर का कारण कर्म के सिवाय क्या हो सकता है? एक व्यक्ति को सुख के कारण प्राप्त होते है तो दूसरे को नहीं। इसका भी नियामक कारण होना चाहिये और वह कर्म ही हो सकता है।

आत्मा के बाह्य शरीर औदारिक आदि रूप तो प्रत्येक जन्म मे बदलते रहते हैं किन्तु कर्म बद्ध रूप उसका कार्माण शरीर जन्म जन्मान्तर मे भी साथ चलता है। यह शरीर विग्रह गति मे भी जीव के साथ रहता है और उसे उत्पत्ति क्षेत्र मे ले जाता है। दानादि क्रियाए भी फलवाली होती हैं क्योकि वे सचेतन द्वारा की जाती हैं, अत· उनका फल भी कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यह कर्म पुद्गल रूप माना गया है अत. मूर्त्त लक्षण वाला होता है। जो कार्य मूर्त्त होता है उसका कारण भी मूर्त्त ही होता है जैसे घट का कारण मिट्टी। कर्म कारण है तो उसका कार्य शरीर आदि मूर्त्त रूप मे ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब कर्म मूर्त्त रूप है तो वह अमूर्त्त रूप जीव के साथ अपना सम्बन्ध कैसे जोड़ता है? ससारी जीव अनादिकाल से कर्म सन्तति से सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर-नीर की तरह एक रूप हो रहा है। यह एकरूपता उसके अमूर्त्तत्व गुण को आवृत्त करके रहती है इसलिए अमूर्त्त जीव सकर्म अवस्था मे मूर्त्त कहा जाता है इसी बात को भगवती सूत्र मे 'रूपी आया' के रूप मे कहा गया है? आत्मा को रूपी सकर्म की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। ऐसी मूर्त्त आत्मा ही मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध जोड़ती है।

अब यह विचार उठता है कि जड़ कर्म फल कैसे देते है? सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है, पर बुरे कर्म का दु·ख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। किन्तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि जीव-चेतन के सग से कर्मों मे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वय ही फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले—यह सभव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वत हो जाता है। कारण—सामग्री की पूर्ति हो जाने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो—ऐसी बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसके तीखेपन का अनुभव स्वत हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे—यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य आत्मा की ही आवश्यकता पड़ती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय मे भी है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ —इन पाच समवायो के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर कर्म स्वय फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल-भोग ले लेता है। इसमे परमात्मा या किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नही पड़ती है।

कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड़ जाते है कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म का फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वत प्रकट कर देता है। कर्मों की शुभाशुभता का प्रश्न भी विचारणीय है। लोक में सर्वत्र कर्म वर्गणा के पुद्गल भरे हुए है। उनमे शुभाशुभ का भेद नहीं है। जीव अपने शुभाशुभ परिणामो के अनुसार कर्मों को शुभाशुभ रूप मे परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार जीव के

परिणाम कर्मों की शुभाशुभता के कारण है। दूसरा कारण है आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत जीव का भी यह स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभाशुभ रूप से परिणत करके ही ग्रहण करता है। प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग की विचित्रता व प्रदेशो के अल्पबहुत्त्व का भेद भी जीव कर्म-ग्रहण करने के समय ही करता है। इसे एक दृष्टान्त से समझे। सर्प और गाय को एक से दूध का आहार दिया जाय तब भी सर्प के शरीर मे वह दूध विष रूप मे परिणत हो जाता है तथा गाय के शरीर में दूध रूप मे। इसका कारण है आहार और आहार करने वाले का स्वभाव। एक ही समय मे पड़ी हुई वर्षा की बूंदो का आश्रय के भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र मे गिरी हुई बूदे सीप के मुह मे जाकर मोती बन जाती है और सर्प के मुह मे जाकर विष। यह तो भिन्न-भिन्न शरीरो मे आहार की विचित्रता होती है किन्तु एक शरीर मे भी एक से आहार की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार भी ग्रहण करते हुए सार-असार रूप मे परिणत हो जाता है एव आहार का सार भाग भी सात धातुओं मे परिणत होता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप मे परिणत होते है।

कर्म का आत्मा के साथ सम्वन्ध अनादिकालीन है। वह सदा यथायोग्य मन, वचन, काया के व्यापारो मे प्रवृत्त रहता है—इससे उसके प्रत्येक समय कर्म बध होता रहता है। इस रूप मे पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बधते रहते है। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे हैं। देह युक्त आत्मा से कर्म होता है और कर्म युक्त आत्मा देह धारण करती है। इस प्रकार देह और कर्म एक दूसरे के हेतु हैं। दोनो मे हेतु हेतु मद्भाव का सम्वन्ध है और यह सम्बन्ध अनादि है।

कर्म बध के मुख्यत पाच कारण माने गये है—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। सक्षेप मे योग और कषाय कर्म बध के कारण है। कर्म बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—ये चार भेद किये है? इनमे प्रकृति और प्रदेश बध योग-निमित्तक हैं और स्थिति और अनुभाग वध कषाय-निमित्तक हैं। योग को भी गौण कर दे तो कषाय ही मुख्य कर्मवध का कारण हो जाता है। कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार होते हैं जिनमे राग और द्वेष का भी समावेश हो जाता है। यो कोई भी मानसिक विकार हो, उसकी जड़ राग या द्वेष मे ही होती है। ये राग द्वेषात्मक वृत्तियाँ ही मनुष्य को कर्म जाल मे फसाती तथा फसाये रखती है। जैसे मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने ही बनाये हुए जाले मे फसती है, उसी प्रकार जीव भी स्वकीय राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से अपने को कर्म पुद्गलो के जाल मे फसा लेता हे। राग-द्वेष की वृद्धि के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर मिथ्या ज्ञान मे परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार शरीर मे तैल लगाकर कोई धूल मे लेटे तो रेत कण उसके शरीर से चिपक जाते है। उसी प्रकार राग-द्वेषात्मक परिणामो से परिणत जीव भी आत्मा से घिरे हुए क्षेत्र मे व्याप्त कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। राग-द्वेष की चिकनाई ही मुख्य रूप से कर्मवध का कारण बनती है। इस चिकनाई के तीव्र होने पर उत्कट कर्मों का वध होता है। राग-द्वेष की कमी के साथ अज्ञान घटता है और ज्ञान विकसित होता है। ऐसी दशा मे कर्म-वध तीव्र नही होता।

कर्मवध हमेशा आत्म प्रदेशों के साथ वंधे हुए ही रहे—यह स्थिति नहीं है। क्षीर-नीर की तरह एकमेक वने कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं, परन्तु राग-द्वेप की नई-नई

परिणतियो से नये-नये कर्मों का बध भी होता जाता है। इस प्रकार ससार का क्रम चलता रहता है। किन्तु कर्मों से छुटकारा भी होता है। मुक्ति कर्मों से पूरे छुटकारे का ही दूसरा नाम है। जैसे सोना और मिट्टी जमीन के भीतर एकमेक बने हुए होते है किन्तु उन्हे बाहर निकाल कर तापादि प्रयोग द्वारा पूरी तरह से विलग कर दिया जाता है। सोना अपने पूर्ण शुद्ध रूप मे पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार धर्माराधना से आत्मा कर्म-मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानादि मय शुद्ध स्वरूप को सुप्रकट कर लेती है।

ये कर्म आठ प्रकार के बताये गये है—(१) ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान पर आवरण डाल देने वाले, (२) दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन (आस्था) पर आवरण डाल देने वाले (३) वेदनीय कर्म—सुख या दु ख पूर्ण वेदना का अनुभव देने वाले, (४) मोहनीय कर्म —परिग्रह रूप जड़ग्रस्तता से जकड़ देने वाले, (५) आयु कर्म—आयुबध कराने वाले, (६) नाम कर्म—गति आदि पर्यायो का अनुभव देने वाले, (७) गौत्र कर्म—उच्च व नीच शब्दो से सम्बोधित कराने वाले तथा (८) अन्तराय कर्म—विभिन्न प्रकार की प्राप्तियो मे बाधा डालने वाले।

ये अष्ट कर्म आत्म-गुणो पर अष्ट आवरण के समान है अत इन आवरणो को जब तक हटाने का प्रयास प्रारंभ न करे, तब तक उन सम्बन्धित गुणो के प्रकट होने का अवसर नहीं आता है। जैसे ज्ञान का आवरण रूप कर्म जिस रूप मे हटता जायगा, उसी रूप मे आत्मा का ज्ञान गुण प्रकाशित होता जायगा। मेघाछन्न आकाश के समान मानिये कि बादलो का घनत्व जिस रूप मे घटेगा, उसी रूप मे सूर्य की आभा प्रकट होगी। सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी सम्पूर्ण आभा से प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणो को हटा देने के बाद ससार मे बद्ध यह आत्मा मुक्त होकर बुद्ध तथा सिद्ध बन जाती है।

इन आठो कर्मों की प्रवृत्तियो, बध कारणो तथा क्षय-उपायो पर विचार आवश्यक है। जिससे मेरी आत्मा कर्म सिद्धान्त की समूची प्रक्रिया को भली-भाति समझ सके तथा उन उपायो पर चल सके जिनके द्वारा कर्मों का उपशय-क्षय करते हुए अनावृत्त स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान शक्ति के आवरण

मेरी विकास की महायात्रा मे अपनी आत्मा का जो मार्गदर्शक गुण है, वह है ज्ञान गुण। सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे ही इस महायात्रा का समारभ, सचालन तथा समापन सभव हो सकता है। मेरे भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश अल्प क्यो है ? इसलिये कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों को मैंने बाध रखा है जिन्हे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है। मै ज्ञान शक्ति के इस आवरण को मन्द कैसे बनाऊ और धीरे-धीरे समाप्त कैसे करू—इसके लिये मैं इस कर्म का पूरा स्वरूप जानना चाहता हूँ।

मेरा अध्ययन और अनुभव बताता है कि वस्तु के विशेष अववोध को ज्ञान कहते है तथा ज्ञानावरणीय कर्म इस अवबोध-शक्ति को आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार आखो पर पट्टी बाध देने से वस्तुओं को देखने मे बाधा पड़ती है, उसी तरह इस कर्म के दुष्प्रभाव से आत्मा को सम्यक् एव यथार्थ पदार्थ ज्ञान मे बाधा पड़ती है। मेरा यह पक्का अनुभव है कि ज्ञानावरणीय कर्म का कैसा भी गहरा आच्छादन हो जाय तब भी आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य कभी भी नहीं होती है क्योंकि ज्ञान और उपयोग उसका मूल लक्षण है। ज्ञान का यह शाश्वत सद्भाव ही उसे पुन. पुन जागृत बनाता

परिणतियो से नये-नये कर्मों का बध भी होता जाता है। इस प्रकार ससार का क्रम चलता रहता है। किन्तु कर्मों से छुटकारा भी होता है। मुक्ति कर्मों से पूरे छुटकारे का ही दूसरा नाम है। जैसे सोना और मिट्टी जमीन के भीतर एकमेक बने हुए होते हैं किन्तु उन्हे बाहर निकाल कर तापादि प्रयोग द्वारा पूरी तरह से विलग कर दिया जाता है। सोना अपने पूर्ण शुद्ध रूप मे पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार धर्माराधना से आत्मा कर्म-मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानादि मय शुद्ध स्वरूप को सुप्रकट कर लेती है।

ये कर्म आठ प्रकार के बताये गये है—(१) ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान पर आवरण डाल देने वाले, (२) दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन (आस्था) पर आवरण डाल देने वाले (३) वेदनीय कर्म—सुख या दुःख पूर्ण वेदना का अनुभव देने वाले, (४) मोहनीय कर्म —परिग्रह रूप जड़ग्रस्तता से जकड़ देने वाले, (५) आयु कर्म—आयुबंध कराने वाले, (६) नाम कर्म—गति आदि पर्यायों का अनुभव देने वाले, (७) गौत्र कर्म—उच्च व नीच शब्दो से सम्बोधित कराने वाले तथा (८) अन्तराय कर्म—विभिन्न प्रकार की प्राप्तियो मे बाधा डालने वाले।

ये अष्ट कर्म आत्म-गुणो पर अष्ट आवरण के समान है अतः इन आवरणो को जब तक हटाने का प्रयास प्रारभ न करे, तब तक उन सम्बन्धित गुणो के प्रकट होने का अवसर नही आता है। जैसे ज्ञान का आवरण रूप कर्म जिस रूप मे हटता जायगा, उसी रूप मे आत्मा का ज्ञान गुण प्रकाशित होता जायगा। मेघाछन्न आकाश के समान मानिये कि बादलो का घनत्व जिस रूप मे घटेगा, उसी रूप मे सूर्य की आभा प्रकट होगी। सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी सम्पूर्ण आभा से प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणो को हटा देने के बाद संसार मे बद्ध यह आत्मा मुक्त होकर बुद्ध तथा सिद्ध बन जाती है।

इन आठो कर्मों की प्रवृत्तियो, बध कारणो तथा क्षय-उपायो पर विचार आवश्यक है। जिससे मेरी आत्मा कर्म सिद्धान्त की समूची प्रक्रिया को भली-भाति समझ सके तथा उन उपायो पर चल सके जिनके द्वारा कर्मों का उपशय-क्षय करते हुए अनावृत्त स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान शक्ति के आवरण

मेरी विकास की महायात्रा मे अपनी आत्मा का जो मार्गदर्शक गुण है, वह है ज्ञान गुण। सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे ही इस महायात्रा का समारभ, सचालन तथा समापन सभव हो सकता है। मेरे भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश अल्प क्यो हैं? इसलिये कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों को मैंने बाध रखा है जिन्हे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है। मै ज्ञान शक्ति के इस आवरण को मन्द कैसे बनाऊ और धीरे-धीरे समाप्त कैसे करू—इसके लिये मै इस कर्म का पूरा स्वरूप जानना चाहता हूँ।

मेरा अध्ययन और अनुभव बताता है कि वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते है तथा ज्ञानावरणीय कर्म इस अवबोध-शक्ति को आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार आखो पर पट्टी बाध देने से वस्तुओं को देखने मे बाधा पड़ती है, उसी तरह इस कर्म के दुष्प्रभाव से आत्मा को सम्यक् एव यथार्थ पदार्थ ज्ञान मे बाधा पड़ती है। मेरा यह पक्का अनुभव है कि ज्ञानावरणीय कर्म का कैसा भी गहरा आच्छादन हो जाय तब भी आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य कभी भी नही होती है क्योकि ज्ञान और उपयोग उसका मूल लक्षण है। ज्ञान का यह शाश्वत सद्भाव ही उसे पुन· पुनः जागृत बनाता

(१) चक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आखों) द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उस ग्रहण शक्ति पर आवरण डालने वाले कर्म।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आखो) के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियो तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का आभास होता है, उसे ढक देने वाले कर्म।

(३) अवधि दर्शनावरणीय—इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उस बोध को आवृत्त बना देने वाला कर्म।

(४) केवल दर्शनावरणीय—आत्मा द्वारा ससार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उस ज्ञान को आच्छादित बनाने व बनाये रखने वाले कर्म।

(५) निद्रा—जिस निद्रा मे सोने वाला सुखपूर्वक धीमी-धीमी आवाज से जग जाता है, वह निद्रा है।

(६) निद्रा-निद्रा—जिस निद्रा मे सोने वाला जीव बड़ी मुश्किल से जोर-जोर से चिलाने या हाथ से हिलाने पर जगता है, वह निद्रा-निद्रा है।

(७) प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे व्यक्ति को जो नीद आती है, वह प्रचला है।

(८) प्रचला-प्रचला—चलते-चलते व्यक्ति को जो नीद आती है, वह प्रचला-प्रचला है।

(९) स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा मे जीव दिन या रात मे सोचा हुआ काम निद्रितावस्था मे कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। वज्र ऋपभनाराच सहनन वाले जीव को ऐसी निद्रा आती है तव उसमे वासुदेव का आधा बल आ जाता है।

आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाले दर्शनावरणीय के ये नौ प्रकार वस्तु के सामान्य ज्ञान के दर्शन को वाधित करते है। दर्शनावरणीय कर्म को द्वारपाल के समान माना गया है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन मे वाधा डालता है, उसी प्रकार यह कर्म पदार्थों के स्वरूप को देख पाने मे वाधा डालता है। यह आत्मा की दर्शन-शक्ति को प्रकट नही होने देता है। चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि की घात करते है और पाच निद्राएँ प्राप्त दर्शन शक्ति की घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

दर्शनावरणीय कर्म के बध होने के भी छ कारण बताये गये हैं— (१) दर्शनवान् के साथ विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना, (२) दर्शन का गोपन करना, (३) दर्शन मे अन्तराय—वाधा देना, (४) दर्शन से द्वेप करना, (५) दर्शन अथवा दर्शनवान् की असातना या अवमानना करना, तथा (६) दर्शन या दर्शनवान् के साथ निरर्थक विवाद करना अथवा उनमे दोप दिखाने की चेष्टा करना। इनके सिवाय दर्शनावरण कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म वाधता हे। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव उसके नव भेदो की दृष्टि से नव प्रकार रूप है। यह अनुभाव स्वत और परत रूप से दो प्रकार का भी कहा गया हे। स्वत अनुभाव इस प्रकार है कि दर्शनावरणीय पुद्गलो के उदय से दर्शन शक्ति का उपघात होता हे और जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नही पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी देख नहीं सकता तथा एक वार देखकर वापिस भूल जाता है। उसकी दर्शन शक्ति दव जाती हे। परत अनुभाव के रूप मे

आवरण। प्रत्येक कर्म का अनुभाव स्व और पर की अपेक्षा से होता है। गति, स्थिति और भव पाकर कर्मोदय से जो फल-भोग होता है, वह स्वत अनुभाव है। उदीरणा आदि शक्ति विशेष के माध्यम से पुदगल और पुदगल परिणाम की अपेक्षा जो फल-भोग होता है, उसे परत' अनुभाव समझना चाहिये। स्वत अनुभाव मे कोई कर्म, गति-विशेष को पाकर ही तीव्र फल देता है, जैसे कुछ असाता वेदनीय कर्म नरक गति मे तीव्रतम फल देता है। तीव्र अनुभाग के उदय के साथ स्थिति से भी तीव्र फल मिलता है जैसा कि मिथ्यात्व की स्थिति में। भव विशेष पाकर भी कभी-कभी कर्म का तीव्र फल होता है। इस प्रकार परतः अनुभाव मे कर्म किसी पुद्‌गल का निमित्त पाकर फल देता है जैसे किसी के लकड़ी या पत्थर फैंकने पर चोट पहुचती है। इसी प्रकार मदिरा पान से ज्ञानावरणीय का भी उदय होता है। अत' इस अनुभाव को दस से सक्षिप्त करके केवल दो भेदों मे भी देखा जा सकता है —स्वत. निरपेक्ष तथा परत सापेक्ष। पहली स्थिति मे बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही स्वाभाविक ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव ज्ञातव्य वस्तु को नही जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान पाता है और एक बार जानकर भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है। यहा तक कि वह आच्छादित ज्ञान शक्ति वाला हो जाता है, जबकि दूसरी स्थिति मे पुद्‌गल, पुद्‌गल परिणाम की अपेक्षा ज्ञान शक्ति का आच्छादन होता है तथा जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुचाने के लिये पत्थर, ढेला या शस्त्र, फैंकता है तो उनकी चोट से उसके ज्ञान मे लगने वाले उपयोग बाधा उत्पन्न होती है। क्योकि उसका उपयोग ज्ञान मे न लग कर चोट मे लग जाता है। यह पुद्‌गल की अपेक्षा हुई। फिर पुद्‌गल परिणाम की अपेक्षा यह होगी कि एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन ठीक तरह से न होने के कारण वह अजीर्णवश दु खानुभव करता है, और उस दु'ख की अधिकता से वस्तु विशेष को जानने की ज्ञान शक्ति पर बुरा असर पड़ता है। स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम की अपेक्षा से शीत, ऊष्ण आदि के कारण जीव की इन्द्रियो मे क्षति पहुचने से इन्द्रियजन्य ज्ञान मे वाधा पहुचती है।

मै ज्ञानावरणीय कर्म के इस स्वरूप विश्लेषण से यह शिक्षा लेना चाहता हू कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों के जो कारण है, उनसे दूर रहू और बचूं। दूसरे, जब मेरे पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्म का उदय काल आवे तथा उस फल भोग के कारण मेरे ज्ञानार्जन मे बाधाए खड़ी हो, तब मैं उन बाधाओं को शान्तिपूर्वक सहू और अपने प्रयासो की निरन्तरता को बनाये रखू। साथ ही ज्ञान के प्रसाद एव ज्ञानियो की सेवा मे मै अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाऊ ताकि मेरे ज्ञान के आवरण कर्मो का क्षयोपशम और क्षय भी होता चले। इस कर्म के बधनो को तोड़ने मे मुझे सफलता इसी आधार पर मिल सकती है कि मैं हर समय समभाव पूर्वक सावधान, सतर्क और जागृत रहू जिससे मेरी वृत्तिया और प्रवृतिया ज्ञान के क्षेत्र मे बाधक न रह कर सहायक वन कर प्रवृत्ति करे।

आवृत्त दर्शन-शक्ति

वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है। यह ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से अभिव्यक्त होता है। और इस सामान्य ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म दशानिवरणीय कर्म कहलाता है।

दर्शन चार प्रकार का बताया गया है—(१) चक्षु दर्शन, (२) अचक्षु दर्शन, (३) अवधि दर्शन तथा (४) केवल दर्शन। इन प्रकारो के साथ पाच प्रकार की जागरणहीन अवस्थाओं को मिलाने से दर्शनावरणीय कर्म के नव प्रकार कहे गये हैं. —

कोमल शय्या आदि के रूप में एक या अनेक पुद्‌गलो का निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। पुद्‌गल परिणाम रूप भैस के दूध का दही आदि भी निद्रा का कारण होता है तथा स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम रूप बरसात की झड़ी आदि निद्रा मे सहायक होती है।

इस प्रकार मेरी आवृत्त दर्शन शक्ति ही मेरी दुर्बलता की प्रतीक बनी हुई है। किसी भी वस्तु स्वरूप को जानकर उसे देखने का जो प्रतिभास होता है, वह कम महत्त्व का नही होता। जैसे घड़ा एक बार देखा और जाना, फिर उसके बाद बिना घड़े की मौजूदगी के उसके आकार रग आदि का जो प्रतिभास होता रहता है, वह वस्तु स्वरूप का सामान्य दर्शन है। इस आवृत्त दर्शन शक्ति के प्रकटीकरण के लिये दर्शनावरणीय कर्म बध को धर्माराधन से क्षयोपशम और क्षय करते हुए चलना चाहिये। ज्ञान और दर्शन के बधन जब मन्द हो जाते है तो ज्ञान और दर्शन की क्षमता अधिक बढ़ाई जा सकती है।

वेदना की शुभाशुभता

मुझे अनुकूल विषयो से जो सुख रूप तथा प्रतिकूल से जो दु ख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव होता है, वह वेदनीय कर्म के प्रभाव से होता है। यो तो सभी प्रकार के कर्मों का वेदन होता है, परन्तु साता-असाता याने सुख-दु ख का अनुभव कराने वाले कर्मविशेष मे ही वेदनीय रूढ़ है, इसलिये इस अनुभव से अन्य कर्मों का बोध नहीं लिया जाता है।

वेदना की शुभाशुभता की दृष्टि से इस वेदनीय कर्म के दो भेद होते है —

(१) साता वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयो की प्राप्ति हो तथा शारीरिक एव मानसिक सुख का अनुभव हो, वह साता वेदनीय कर्म होता है।

(२) असाता वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयो की अप्राप्ति से तथा प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति से दु ख का अनुभव होता है, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।

इस वेदनीय कर्म को मधु-लिपटी तलवार की उपमा दी जाती है कि जैसे तलवार पर लगे शहद का स्वाद साता वेदनीय के समान और तलवार की धार से जीभ कटने का दु ख असाता वेदनीय के समान है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वीतराग गुणस्थान को छोड़कर बारह अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

जीव को साता वेदनीय कर्म का बध इन कारणो से होता है कि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा—दया की जाय, उन्हे दु ख न पहुचाया जाय, उन्हे शोक न कराया जाय जिससे कि वे दीनता दिखाने लगे, उनका शरीर कृश हो जाय और उनकी आखो से आसू व मुह से लार गिरने लगे, उन्हे लकड़ी आदि से ताड़ना नही दी जाय तथा उनके शरीर को परिताप या क्लेश न पहुचाया जाय। साता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव साता वेदनीय कर्म बाधता है। इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रखे, उन्हे दु:ख, परिताप, क्लेश आदि पहुचावे तथा उपरोक्त कार्यों से विपरीत कार्य करे तो उससे जीव को असाता वेदनीय कर्म का वध होता है। असाता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असाता वेदनीय कर्म बांधता है।

साता वेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का होता है—(१) मनोज्ञ शब्द, (२) मनोज्ञ रूप, (३) मनोज्ञ गध, (४) मनोज्ञ रस, (५) मनोज्ञ स्पर्श (६) मन की स्वस्थता एव सुख की

महसूसगिरी, (७) कानो को मधुर लगने वाली तथा मन मे हर्ष उत्पन्न करने वाली वाणी रूप सुखी वचन तथा (८) स्वस्थ, निरोग व सुखी काया। यह अनुभाव परत भी होता है और स्वत भी। पुद्गलो के भोगोपभोग, देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्गलो के परिणाम तथा शीतोष्ण रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप जीव जिस रूप मे सुख का अनुभव करता है, वह जीव का परत' सापेक्ष अनुभाव होता है। मनोज्ञ शब्दादि विषयो के बिना भी साता वेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का अनुभाव करता है, वह निरपेक्ष स्वत- अनुभाव होता है। तीर्थंकर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी जीव का सुख ऐसा ही होता है।

इसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है —(१) अमनोज्ञ शब्द, (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ गध, (४) अमनोज्ञ रस, (५) अमनोज्ञ स्पर्श (६) अमनोज्ञ (अस्वस्थ) मन, (७) अमनोज्ञ वाणी तथा (८) दु खी काया। यह अनुभाव भी परत' एव स्वत दोनो प्रकार का होता है। परत अनुभाव पुद्गल, पुद्गल परिणाम, तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप तीन प्रकारो से जीव को दु ख भोग कराता है। स्वत अनुभाव की दृष्टि से असाता वेदनीय कर्म के उदय से वाह्य निमित्तो के न होते हुए भी जीव को असाता या दु ख का भोग होता है।

महावली कर्मराज मोहनीय

मै जानता हू कि अष्ट कर्मों मे मोहनीय कर्म को कर्मराज माना गया है क्योंकि मेरे आत्मस्वरूप के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मों मे सासारिकता के प्रति मोहग्रस्तता के कर्म महावली होते है। यदि मैं अपनी सम्पूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे मोह-ममत्त्व का शमन और दमन कर दू तो फिर ऐसा कोई कर्म नही रहता जिसका सरलता से क्षय नही किया जा सके। मै अष्टकर्मों को पाप का वट वृक्ष मानू तो मोहनीय कर्म उसकी जड़ कहलायगा। वृक्ष कितना ही विशाल क्यों न हो— उसका फैलाव भी कितना ही व्यापक क्यो न हो, यदि उसकी जड़ो को उखाड़ फैकू तो वह सारा वृक्ष धराशायी हो जायगा और उसके वेशुमार, पत्ते फल-फूल देखते-देखते सूख कर नष्ट हो जायेगे। जड़ो को उखाड़ फेकने का ही श्रम कठिन और कष्ट साध्य होगा। इसके वाद वृक्ष का पूर्णतया विनाश करने के लिये कोई उल्लेखनीय श्रम नही करना पड़ेगा। यही स्थिति मोहनीय कर्म की होती है। मोह-ममत्व ही सम्पूर्ण कर्म बंधन की जड़ के समान होता है। मोह उखड़ जाय तो अन्य कर्म बधन स्वत ही टूट जायेगे।

मै इस दृष्टि से मोहनीय कर्म को आठो कर्म का राजा और महावली मानता हू। राजा को परास्त कर दिया जाय तो मान लिया जायगा कि उसके अन्य सभी योद्धा तथा सारी सेना परास्त कर दी गई है।

ससारी जीव के नाते इस ससार के वाह्य पदार्थों एव सम्वन्धो के साथ मानव की घनिष्ठ मूर्च्छा भावना होती है। वह समझता है कि मेरी हस्तगत सम्पत्ति और सत्ता मेरी है, घ्रर-मकान मेरा है, परिवार, पत्नी, पुत्र-पुत्रियां आदि मेरी हैं और सवसे बढ़कर यह शरीर मेरा है। सवके प्रति गहरा ममत्व ही मेरा मोह है। मै जानता और देखता हू कि वह मानव 'मेरे' समझे जाने वाले इन भौतिक पदार्थों एवं सम्वन्धो के लिये किस प्रकार अपना सारा समय, अपनी सारी शक्तिया और अपने सारे प्रयत्न नियोजित करता है? रात-दिन इन्हीं की प्राप्ति के लिये अथवा प्राप्त उपलव्धियो को वनाये रखने व वढ़ाते रहने के लिये गभीर रूप से चिन्तित रहता है। इस गाढ़ी मोहग्रस्तता के कारण वह

किसी भी आत्मार्थी अथवा लोकोपकार के कार्य मे अपना मन एकाग्र नहीं बना पाता है। उसे हर वक्त बाह्य ससार का मोह सताता रहता है और वह संसार के बाह्य वातावरण मे ही अपना सुख खोजता रहता है। मोहजनित मूर्च्छा और प्रमाद अभेद्य आवरणों के रूप लेकर उसके आत्म स्वरूप पर छाये रहते है। ऐसी स्थिति को देखकर मै अपने सम्यक् ज्ञान और अपनी ऊर्ध्वगामी दृष्टि को भी कई बार इन आवरणों को भेद कर अपनी आन्तरिकता की जाच-परख करने मे अपने आपको नियोजित कर पाता हू। मोहनीय कर्म को बाधते और भोगते समय मेरी आत्मदशा असहाय जैसी हो जाती है जो मेरे लोभी मन और कामना ग्रस्त इन्द्रियो के नियंत्रण पाश से बंध कर छटपटाती रहती है, लेकिन उस पाश को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं कर पाती है।

मै मानता हूं कि मोहनीय कर्म उसे कहते है जो आत्मा को मोहित कर देता है —उसे भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है। जैसे एक शराबी शराब पीकर अपना हिताहित सर्वथा भूल-सा जाता है और परवश बन जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के दुष्प्रभाव से मेरा जीव भी सत् और असत् का विवेक खोकर पर-पदार्थों तथा सम्बन्धो मे उलझ कर परवश हो जाता है। मोहनीय कर्म के मुख्य रूप से दो भेद माने गये है —यथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (१) दर्शन मोहनीय —दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक् अवबोध मे रुकावट डालता है जिससे आत्मा की दर्शन-शक्ति कुंठित बन जाती है। दर्शन के तीन भेद किये गये है— (अ) मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव मे देव बुद्धि और अधर्म मे धर्म बुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते है। (ब) सम्यक् दर्शन—यह दर्शन तब होता है जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है और आत्मा मे सम्यक् दर्शन के भाव उमड़ते है। सम्यक् दर्शन का उदय हो जाने पर मति, श्रुति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप मे परिणत हो जाते हैं। (स) मिश्रदर्शन—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से यथार्थ तत्त्वो का प्रकाश भी फैलता है तो कुछ अयथार्थ तत्त्वो का भी आत्मा के श्रद्धान मे अस्तित्व रहता है तब मिश्र दर्शन होता है। इस सम्बन्ध मे एक शका उठ सकती है कि सम्यक्त्व मोहनीय तो वीतराग देवो द्वारा प्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है और वह दर्शन की घात नही करता तब उसे दर्शन मोहनीय के भेदो मे क्यो गिना जाता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे चश्मा आखो का आवरण करने वाला होने पर भी देखने मे रुकावट नही डालता, उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्व मोहनीय भी तत्त्वार्थ —श्रद्धान मे रुकावट नहीं डालता है परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो होता ही है। इसके सिवाय सम्यक् मोहनीय मे अतिचारो की भी सभावना रहती है। औपशमिक और शायिक सम्यक्त्व दर्शन के लिये यह स्वच्छ दर्शात्मक के रूप भी है। इसलिये यह दर्शन मोहनीय के भेदो मे दिया गया है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय की स्पष्ट व्याख्या यह होगी कि जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप मे समझना और विश्वास करना यह तो दर्शन और इसको विपरीत रूप से समझना यह दर्शन मोहनीय। तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन से दर्शन मोहनीय कर्म का दर्शन भिन्न हो जाता है।

(२) चारित्र मोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसे चारित्र कहते है। यह भी आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद कहे गये हैं —(अ) कषाय मोहनीय—कष अर्थात् जन्म

मरण रूप ससार की प्राप्ति जिसके कारण हो, वह कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जो मलिन बनाता है, उसे कषाय कहते है। यह कषाय ही 'कषाय मोहनीय' है। कषाय चार होती है—क्रोध, मान, माया, और लोभ।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा सज्वलन के भेद से प्रत्येक कषाय के चार-चार प्रकार हैं अत· कषाय के कुल सोलह प्रकार है। (ब) नोकषाय मोहनीय —कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय हैं। ये क्रोधादि कषायो को उभारते है। नौ भेद होने से क्रोधादि के सहचर होने से ये नोकषाय हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, तथा नपुसक वेद। मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इस प्रकार मोहनीय कर्म कुल ३+१६+९=२८ प्रकार का होता है।

मोहनीय कर्म का बंध छ प्रकार से किया जाता है—(१) तीव्र क्रोध करके, (२) तीव्र मान करके, (३) तीव्र माया करके, (४) तीव्र लोभ करके (५) तीव्र दर्शन मोहनीय के द्वारा तथा (६) तीव्र चारित्र मोहनीय के द्वारा। यहा चारित्र मोहनीय का अर्थ नोकषायो से लिया जाना चाहिये। मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म का बध करता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पाच प्रकार का बताया गया है—(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय (३) सम्यकृत्व मिथ्यात्व मोहनीय (४) कषाय मोहनीय तथा (५) नोकषाय मोहनीय। यह अनुभाव पुद्गल तथा पुद्गल परिणाम की अपेक्षा होता है तो स्वत भी होता है। सम, सवेग आदि परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलो को पाकर जीव सम्यक्त्व मोहनीय आदि को वेदता है। देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव प्रशमादि भाव का अनुभव करता है। आहार के परिणाम विशेष से भी कभी-कभी कर्म पुद्गलो मे विशेषता आ जाती है, जैसे ब्राह्मी औषधि आदि आहार परिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध है। कर्मों के उदय, क्षय और क्षयोपशम जो कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव पाकर होते है। बादलो के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार सम, सवेग आदि परिणामो के कारणभूत जो भी पुद्गल आदि है, उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्व आदि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है। यह परत अनुभाव हुआ। सम्यक्त्व मोहनीय आदि कार्मण पुद्गलो के उदय से जो प्रशम आदि भाव होते है, वह स्वत अनुभाव है।

मोह का समीक्षण

मै मनुष्य जीवन की गरिमा को पहचान गया हू। मै इस जीवन से ही ऊर्ध्वरिता बन सकता हू, ऊर्ध्वारोहण कर सकता हू वीतराग देव की पवित्र वाणी से मेरा अत करण रूपान्तरित होकर सम्यक् दृष्टि भाव की सर्चलाइट श्रद्धा के रूप मे अभिव्यक्त हो चुकी है, उसके आलोक मे हेय, ज्ञेय और उपादेय को मै जान चुका हू। मेरा स्वरूप जागृत हो चुका है, मेरी बहिर्आत्मा सर्पकञ्चुकी की तरह अलग भाषित होती है उसको हेय मानने की अभिनव चेतना जागृत हो चुकी है। दर्शन मोह की जड़ो को मै उखाड़ चुका हू, मेरी प्रसन्नता क्षायिक भाव-सी लगने लगी है। अन्य सकल्प तीव्र बन चुका है। मेरी अन्त ध्वनि हेय अवस्था को त्यागने के लिए छटपटा रही है, ज्ञपरिज्ञा को प्रत्याख्यान परिज्ञा मे परिणत करता हुआ ऊर्ध्वगमन आखिरी मजिल को लक्ष्य रूप से निर्धारित कर

चुका हू वही लक्ष्य त्रिकाल स्थायी एव अबाधित है मै उस ध्रुवयुक्त उत्पाद व्यय के साथ परिणामि चैतन्य देव के ज्ञानान्द मे रमण करने के लिए अत्यत उत्सुक हू।

सभी विकारी उपाधियो से निर्लिप्त रहता हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान को वरने के लिए छटपटा रहा हूं वह अतीन्द्रिय ज्ञान एव अतीन्द्रिय गुण मय चितामणी रत्नो का अखूट खजाना मेरी अतरात्मा श्रद्धा रूप से चमक उठा है! मै निश्चय कर चुका हू कि चारित्र मोह के अनादि कालीन योद्धाओं को परास्त करने मे सक्षम बनू। उस सक्षमता मे मेरा सत्पुरुषार्थ निरतर चालू रहे, साध्य एव साधन की समन्वयात्मक उपादान आदि की अवस्था मे साध्य को कार्य रूप मे परिणत करके ही रहूगा।

साध्य और साधन मे जरा भी मोच नही आने दूंगा यह मेरा साधनागत आतरिक सूत्र है। यह जीवन के गुणो के साथ संबद्ध रहा है, रह रहा है, और रहेगा। इसमे संशय को अवकाश ही नहीं है क्योंकि मेरा जीवन आर्य क्षेत्र कुल आदि के साथ आर्य गुणो के साथ सम्पन्न हो चुका है। इसीलिए मेरी चित परिणति को आंतरिक अध्यवसाथ को कर्म जनित सभी रगो से रहित बनाकर रहूगा। यह मेरी दृढ़ धारणा ही समर्थ सहकारी कारणो के साथ सयुक्त है। इस धारणा को तोड़ने का त्रिकाल मे भी प्रसग नहीं आ सकता। परिषह उपसर्ग इस धारणा को विमोचित करने के लिए उपस्थित हो सकते हैं कितु उनको भी मै यथा तथ्य रूप से समीक्षण चक्षु से ही अवलोकित करूगा। पूर्व मे बहिर् आत्मा से संबन्धित जो उपकरण, परिवार आदि की उपाधिया आमने-सामने तैर रही हैं। कितु मै उनको भी आसक्ति के रग से अनुरजित होकर नही देखूगा।

उस आसक्ति के रग को अनासक्ति मे परिणत करने वाला समत्व गुण समीक्षण दृष्टि से उपलब्ध हो चुका है। अतएव ममत्व की जजीरे समत्व की छेनी से ही परिछेदित की जा सकती है। यह परिछेदन की शक्ति मेरे मे रही हुई है। मै शारीरिक, मानसिक आदि साधनो की शक्ति के अनुपात से सत्पुरुषार्थ पराक्रम चालू करने के लिए कटि-बद्ध हो चुका हू। उसमे कोई कसर नही रहने दूंगा। प्राप्त सासारिक वैभव परित्यक्त करने का आतरिक परिणाम परिपूर्ण रूप से नही जगेगा तब तक कमल वत रहता हुआ यथायोग्य कर्तव्यो का पालन करूगा। लेकिन सभी कर्तव्यो मे लक्ष्यानुरूप उपयोग धारा रखूगा। समय आने पर उस परिवार आदि परिधि का भी अतिक्रमण कर वसुधैव कुटुम्बक की वृत्ति का परिपूर्ण जागरण करूगा। शुभ योग की सड़क पर लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाता हुआ अप्रमतत्ता की जागृति मे अपने आपको समर्पित करता हुआ मोह कर्म के यौद्धाओं का शमन, सक्षय आदि वृत्तियो मे अपने आपको सक्षम बनाऊँगा, सक्षय की अतिम रणभेरी के साथ ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अतराय के सहयोगी यौद्धाओं को परास्त कर साधन और साध्य की परिधि को पार करूंगा।

रत्नत्रय रूप साधनो को चरम सीमा मे पहुचाता हुआ क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान और क्षायिक चारित्र की स्व स्वभाव का त्रिपुटी को आपेक्षिक अभेद रूप मे सलोकित करूगा कितु शरीर परिधि की सीमा को भी अतिक्रमण कर असख्य प्रदेशों को सदा-सदा के लिए ध्रौव्य, एव अचलत्व को परिणति दूंगा। अततोगत्वा साकार उपयोग के साथ सिद्धत्व स्वरूप को सदा सदा के लिए वरूगा। यह सिद्धि इस जन्म मे नही तो अन्य जन्म मे अवश्य पाऊगा।

आयुष्य के बन्धन

मै जानता हू कि मेरी तरह प्रत्येक शरीरधारी ससारी जीव का अपनी-अपनी गति मे उसका निश्चित आयुष्य होता है, जो आयु कर्म के अनुसार प्राप्त होता है। आयु की इस निश्चित अवधि

को, किसी अपराधी को मिले कारागार के दड की अवधि के समान माना गया है। जैसे दडाज्ञा की नियत अवधि के पहले कारागार से छूटा नही जा सकता है वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने प्राप्त शरीर मे बधा रहता है। अवधि पूरी होने पर ही वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नही। अत जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते है। आयु कर्म के प्रभाव से ही जीव एक गति से दूसरी गति मे जाता है अथवा स्वीकृत कर्म से प्राप्त नरक आदि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को आयु कर्म उसी गति मे रोके रखता है। यह आयु कर्म प्रति समय भोगा जाता है या जिसके उदय मे आने पर भव (जन्म) विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते है।

आयु कर्म के चार भेद कहे गये है—(१) नरकायु—इस आयु बध के चार कारण है — (अ) महारभ—बहुत प्राणियो की हिसा हो—इस प्रकार के तीव्र परिणामो से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, (ब) महा परिग्रह—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना, (स) पचेन्द्रिय वध—पचेन्द्रिय (पाचो इन्द्रियो से सम्पन्न) जीवो की हिसा-हत्या करना तथा (द) कुणिमाहार—मास आदि का आहार करना। इन चार कारणो से जीव नरकायु का बध करता है। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव नरकायु का बध करता है। नरकायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

(२) तिर्यंचायु—इस आयुबंध के भी चार कारण है— (अ) माया—(कुटिल परिणामो वाला) जिसके मन मे कुछ और हो और बाहर कुछ और अर्थात् जो विषकुभ —पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो और भीतर से अनिष्ट चाहने वाला हो। (ब) विकृति वाला—ढोग, आडम्बर आदि करके जो दूसरो को ठगने वाला हो। (स) जो झूठ बोलने वाला हो। (द) झूठे तोल झूठे माप वाला—खरीदने के लिये बड़े और बेचने के लिये छोटे बाट नाप रखने वाला। शोषण सम्वन्धी श्रम-चोरी का समावेश इसी मे होता है। ऐसे जीव तिर्यंच (पशु) गति के योग्य कर्म का बध करते है। तिर्यचायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव तिर्यंचायु का बध करता है। तिर्यंच की आयु जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्लोपम की है।

(३) मनुष्यायु—मनुष्य जन्म भी चार प्रकार के कारणो से प्राप्त होता है—(अ) जो भद्र—सरल प्रकृति (स्वभाव) वाला हो, (ब) जो स्वभाव से ही विनीत हो, (स) जो दया और अनुकम्पा के परिणामो (भावो) वाला हो तथा (द) जो मत्सर अर्थात ईर्ष्या-डाह न करने वाला हो। ऐसा जीव मनुष्यायु योग्य कर्म बाधता है। मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव मनुष्य जन्म की आयु का बध करता है। मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्लोपम की है।

(४) देवायु—देवायु बध के भी चार कारण बताये गये हैं— (अ) जो सराग सयम का धारक रहा हो, (ब) जिसने देश विरति श्रावक धर्म का पालन किया हो, (स) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणो से कर्मो की निर्जरा करने वाला, तथा (द) बाल भाव से विवेक के बिना अज्ञानपूर्वक कायाक्लेश आदि तप करने वाला। ऐसा जीव देवायु के योग्य कर्म बाधता है। देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव देव की आयु का बध करता है। देवायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु। यह अनुभाव स्वत· और परतः रूप दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्गलो के निमित्त से, विषमिश्रित अन्नादि रूप पुद्गल परिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि आयु कर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है, वह स्वत· अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय तथा अनपवर्तनीय। बाह्य शस्त्र आदि का निमित्त पाकर जो आयुस्थिति पूर्ण होने के पहिले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है, वह अपवर्तनीय आयु है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है—बीच मे नहीं टूटती, वह अनपवर्तनीय आयु है। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बंध स्वाभाविक नहीं है। यह परिणामो के तार-तम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म मे बधती है। आयु बध के समय यदि परिणाम मद हो तो आयु का बध शिथिल होता है। इससे निमित्त पाने पर बध काल की काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयु बध के समय परिणाम, तीव्र हो तो आयु का बध प्रगाढ़ होता है। बध के प्रगाढ़ होने से निमित्त पाने पर भी बध-काल की काल-मर्यादा कम नहीं होती। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इसमे विष, शस्त्र आदि का निमित्त प्राप्त होता है और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। किन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम एवं निरूपक्रम दोनो प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकाल मृत्यु योग्य विष, शस्त्र आदि का सयोग होता है और निरूपक्रम आयु वाले को नही होता। विष, शस्त्र आदि का निमित्त मिलना उपक्रम कहा जाता है। अपवर्तनीय आयु शीघ्र ही समय से पहले भोग ली जाती है अतः उसमे शस्त्र आदि की नियमत· आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्तनीय आयु बीच मे नही टूटती। उसके पूरी होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जाय तो उसे सोपक्रम कहा जायगा, यदि निमित्त प्राप्त न हो तो निरूपक्रम। देवता, नारकी, असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यच और मनुष्य, उत्तम पुरुष (तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी भव मे मोक्ष जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते है और शेष जीव दोनो प्रकार की आयु वाले होते है।

नाम की विचित्रताए

मुझे ज्ञात है कि नाम कर्म एक चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर-असुन्दर रूपमय चित्र बनाता है, उसी प्रकार यह नाम कर्म जीव को सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक रूप धारण करवाता है। नाम कर्म वह कर्म है जिसके उदय से जीव नारक, तिर्यच आदि नामो से सम्वोधित होता है जैसे कि अमुक जीव देव है, अमुक नारकी है, अमुक तिर्यच है, अमुक मनुष्य है आदि। यह कर्म जीव को विचित्र पर्यायो में परिणत करता है या गति आदि पर्यायो का अनुभव करने के लिये करता है।

नाम कर्म के मूल भेद बयालीस कहे गये है—चौदह पिड प्रकृतिया, आठ प्रत्येक प्रकृतिया, दस त्रसदशक तथा दस स्थावरदशक। चौदह पिड प्रकृतिया इस प्रकार है—

(१) गति—गति नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय। यह चार प्रकार की है—(अ) नरक गति, (ब) तिर्यच गति, (स) मनुष्य गति तथा (द) देवगति।

(२) जाति—अनेक मे एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे गोत्व (गाय पना) सभी भिन्न-भिन्न वर्णों की गोत्वो मे एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि जीवो मे एक, दो या इसी प्रकार इन्द्रियो की प्राप्ति से समानता का बोध होता है, इसलिये एकेन्द्रिय आदि जाति कहलाती है। जाति के पाच भेद है—(अ) एकेन्द्रिय—केवल एक ही इन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय के धारक जीवो की जाति, जैसे पृथ्वी, पानी आदि। (ब) द्विन्द्रिय —जिनके स्पर्श और रसना रूप दो इन्द्रिया होती है जैसे लट, सीप, अलसिया वगेरा। (स) त्रिन्द्रिय —जिन जीवो के स्पर्श, रसना और नासिका—ये तीन इन्द्रिया हो जैसे चींटी, मकोड़ा आदि। (द) चतुरिन्द्रिय—जिन जीवो को श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य चारो इन्द्रिया प्राप्त हो उन जीवो की जाति, जैसे मक्खी, मच्छर, भवरा वगेरा तथा (य) पचेन्द्रिय—जिन जीवो के स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और श्रोत्र ये पाचो इन्द्रिया हो वे पचेन्द्रिय है, जैसे गाय, भैस, सर्प, मनुष्य आदि।

(३) शरीर—जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्णशीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, ये शरीर पाच प्रकार के होते है— (अ) औदारिक—उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलो से बना हुआ शरीर। यह अन्य शरीरो की अपेक्षा अवस्थित रूप से बड़े परिमाण वाला होता है। इसके प्रदेश अल्प, पर परिमाण वड़ा होता है जो मास, रुधिर, अस्थि से बना होता है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यचो के होता है। (ब) वैक्रिय—जिस शरीर से विविध व विशिष्ट क्रियाए होती है अर्थात् जो एक रूप होकर अनेक रूप धारण कर सकता है, छोटे से बड़ा तथा बड़े से छोटा शरीर बना सकता है। इस शरीर से पृथ्वी या आकाश पर चला जा सकता है। दृश्य-अदृश्य रूप वनाये जा सकते है। यह शरीर दो प्रकार का होता है— औपपातिक एव लब्धि प्रत्यय। जन्म से वैक्रिय शरीर मिले वह औपपातिक तथा तप आदि लब्धि से मिले वह लब्धि प्रत्यय। देवो व नारकीयो का वैक्रिय शरीर औपपातिक होता है तथा मनुष्य या तिर्यंच इसके लब्धि—प्रत्यय रूप को प्राप्त कर सकते है। (स) आहारक—प्राणी दया तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा सशय निवारण आदि प्रयोजनो से चौदह पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह क्षेत्र आदि मे विराजमान तीर्थकर भगवान के समीप भेजने के लिये लब्धि विशेष से अतिविशुद्ध, स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला निकालते है, वह आहारक शरीर कहलाता है। (द) तैजस—तेज पुद्गलो से बना हुआ शरीर जो प्राणियो के शरीर मे ऊष्णता रूप होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। इसी शरीर के कारण तपविशेष से तैजस लब्धि प्राप्त होती है। (य) कार्मण—कर्मो से बना हुआ शरीर जो जीव के प्रदेशो के साथ आठ प्रकार के कर्म पुद्गल रूप लगा हुआ होता है। यह शरीर ही सब शरीरो का बीज है। क्रम स १ से ३ के शरीर क्रमश अधिक सूक्ष्मतर होते हैं तथा क्र स ४ व ५ के शरीर सभी ससारी जीवो के होते है। इन-दोनो शरीरो के साथ ही जीव मरण स्थान को छोड़ कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। इन दोनो शरीरो से मुक्ति तो मोक्ष मे जाने वाले की ही होती है।

(४) अगोपाग—इस नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर के विभिन्न अग या उपाग प्राप्त होते है। ये तीन होते है—औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक।

(५) बधन—जिस प्रकार लाख, गोद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजे आपस मे जोड़ दी जाती है, उसी प्रकार जिस नाम कर्म से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलो के साथ वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गल परस्पर बध को प्राप्त होते है। इस नाम कर्म के पाच भेद है—(अ) औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, (व) वैक्रिय शरीर बधन, (स) आहारक शरीर बधन (द) तैजस

शरीर बंधन तथा (य) कार्मण शरीर बधन। पहले के तीन शरीरो मे उत्पत्ति के समय सर्वबध तथा बाद मे देश बध होता है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति न होने से उनमे सदा देशबध ही होता है।

(६) सघात—जो नाम कर्म गृहीत और ग्रह्यमाण शरीर पुद्‌गलो को परस्पर सन्निहित कर व्यवस्था से स्थापित कर देता है, वह सघात नाम कर्म है। यह भी पाच शरीरो के रूप से पाच भेद वाला होता है।

(७) सहनन—शरीर की हड्डियो की रचना विशेष को सहनन कहते है। यह रचना छ: प्रकार की होती है—(अ) वज्र ऋषभ नाराच सहनन—जिस सहनन मे दोनो ओर से मर्कट बध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियो पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारो ओर से वेष्टन हो ओर जिसमे इन तीनो हड्डियो को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो। (ब) ऋषभ नाराच सहनन—उपरोक्त प्रकार मे जब वज्र नामक हड्डी की कील न हो। (स) नाराच सहनन—पहले प्रकार मे जब कील और वेष्टन पट्ट भी न हो। (द) अर्ध नाराच सहनन—जब एक ओर मर्कट बध हो और दूसरी ओर कील हो। (य) कीलिका सहनन—जिसमे हड्डिया केवल कील से जुड़ी हुई हो तथा (फ) सेवार्त्रक सहनन—जिसमे हड्डियां, पर्यन्त भाग मे एक दूसरे को स्पर्श करती हुई रहती है और सदा चिकने पदार्थ की अपेक्षा रखती है।

(८) सस्थान—शरीर के आकार को संस्थान कहते है। इसके भी छ भेद है—(अ) समचतुरस्त्र सस्थान, पालथी मार कर बैठने पर आकार चार समकोण के समान हो। (ब) न्यग्रोध परिमडल सस्थान —वट वृक्ष की तरह ऊपर से विस्तृत तथा नीचे से सकुचित आकार का हो। (स) सादि सस्थान—नाभि से नीचे का भाग पूर्ण तथा ऊपर का भाग हीन हो। (द) कुब्ज सस्थान-हाथ, पैर, गर्दन आदि ठीक हो लेकिन पेट-पीठ टेढ़े हो। (य) वामन सस्थान—पेट-पीठ के अवयव ठीक हो लकिन हाथ पैर आदि छोटे हो। तथा (फ) हुडक सस्थान—समस्त अव्यय बेढ़ब हो।

(९) वर्ण—मूल वर्ण पाच—काला, नीला, लाल, पीला, सफेद ही होते है, बाकी सब इनके सयोग से बनते है।

(१०) गध—जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गध हो। यह दो प्रकार की होती है—सुरभिगध तथा दुरभिगध।

(११) रस—रस भी मूल रूप से पाच प्रकार के होते हैं—तीखा, कडुआ, कषैला, खट्टा तथा मीठा। शेष रस इन्हीं के सयोग से बनते हैं।

(१२) स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर मे कोमल रूक्ष आदि स्पर्श प्राप्त हो। स्पर्श आठ प्रकार के हैं—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

(१३) आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुचता है। यह नाम कर्म नाथ के समान होता है जिससे इधर उधर भटकते हुए बैल को इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। गति के नाम मे ही इसके चार भेद होते है।

(१४) विहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की गति (चाल) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊट या गधे के समान अशुभ होती है। इसके दो भेद है —शुभ विहायोगति एव अशुभ विहायोगति।

आठ प्रत्येक प्रकृतिया निम्नानुसार होती है—

(१) पराघात—जिसके उदय से जीव बलवानो के लिये भी अजेय हो।

(२) उच्छ्वास—जब श्वासोश्वास लब्धि से युक्त हो।

(३) आतप—जब जीव का शरीर स्वय ऊष्ण न होकर ऊष्ण प्रकाश फैलाता हो।

(४) उद्योत—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है।

(५) अगुरुलघु—जब जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का अर्थात् सन्तुलित होता है।

(६) तीर्थंकर—जिस कर्म के उदय से जीव तीर्थकर पद पाता है।

(७) निर्माण—जब जीव के शरीर के सभी अग और उपाग यथास्थान व्यवस्थित हो।

(८) उपघात—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से क्लेश पाता है जैसे प्रति जिह्वा, चोर दात, छठी अगुली आदि।

त्रसदशक की दस प्रकृतियो का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) त्रस—जो जीव सर्दी-गर्मी से अथवा अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते है। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते है।

(२) बादर—जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् सूक्ष्म होते है।

(३) पर्याप्ति—आहार आदि के लिये पुद्गलो को ग्रहण करने तथा उन्हे आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह छ प्रकार की है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन।

(४) प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से जीव मे पृथक-पृथक शरीर होता है।

(५) स्थिर—जब शरीर के अवयव स्थिर निश्चल होते है।

(६) शुत्र—नाभि से ऊपर के अवयव जब शुत्र होते हैं।

(७) सुभग—जब किसी उपकार या सम्बन्ध के बिना ही जीव सबका प्रीतिपात्र हो।

(८) सुस्वर—जब जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी हो।

(९) आदेय—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

(१०) यश कीर्ति—जिस कर्म के उदय से ससार मे जीव की यश-कीर्ति का प्रसार हो।

स्थावरदशक प्रकृतियो का स्वरूप ठीक त्रसदशक की प्रकृतियो के विपरीत होता है, जो इस प्रकार है—(१) स्थावर (२) सूक्ष्म (३) अपर्याप्ति (४) साधारण (५) अस्थिर (६) अशुभ (७) दुर्भग (८) दु स्वर (९) अनादेय तथा (१०) अयशकीर्ति।

नामकर्म की पिंड प्रकृतियो के उत्तर भेद गिनने पर तिरानवे प्रकृतिया होती है। यो नाम कर्म के सक्षिप्त दो भेद है—शुभ तथा अशुभ। शुभ नाम कर्म के बध-कारण हैं—(१) काया की सरलता। (२) भाव की सरलता, (३) भाषा की सरलता तथा (४) अविसवादन योग-कथनी करनी के भेद को विसवादन कहते है और अविसवादन का अर्थ है एकरूपता। शुभ नाम कर्म मे तीर्थंकर

नाम कर्म भी सम्मिलित है जिसे बाधने के ये कारण हो सकते है—(१) अरिहत, (२) सिद्ध, (३) प्रवचन, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मे भक्ति भाव रखना, इनके गुणो का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना (८) निरन्तर ज्ञान मे उपयोग रखना, (९) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना, (१०) निर्दोष रूप से ज्ञान आदि विनय का सेवन करना, (११) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना, (१२) मूल गुणो व उत्तर गुणो मे अतिचार नहीं लगाना, (१३) सदा-सवेग भाव और शुभ ध्यान मे लगे रहना। (१४) तप करना (१५) सुपात्रदान देना (१६) दस प्रकार की वैयावृत्य करना (१७) गुरु आदि की समाधि हो वैसा काम करना (१८) नवीन ज्ञान सीखना (१९) श्रुत का बहुमान करना तथा (२०) प्रवचन की प्रभावना करना।

अशुभ नाम कर्म इन कारणो से बधता है—(१) काया की वक्रता (२) भाषा की वक्रता (३) मन की वक्रता तथा (४) विसवादन योग।

शुभ नाम कर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव होता है—(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) इष्ट गति (७) इष्ट स्थिति (८) इष्ट लावण्य (९) इष्ट यश कीर्ति (१०) इष्ट उत्थान बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम (११) इष्ट स्वरता (१२) कान्त स्वरता (१३) प्रिय स्वरता तथा (१४) मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम कर्म के अनुभाव भी चौदह प्रकार के हैं किन्तु इनसे विपरीत होते है। दोनो प्रकार के नाम कर्म का अनुभाव स्वत भी होता है तथा परत' भी होता है।

गौत्र की नीचोच्चता

मै ऊचा हू या नीचा हू—यह भेदस्थिति गौत्र कर्म के प्रभाव से होता है। इस कर्म के उदय से जीव ऊच—नीच शब्दो से सम्बोधित किया जाता है तथा जाति, कुल आदि की अपेक्षा छोटा बड़ा कहा जाता है, गौत्र कर्म को एक कुभकार के समान कहा गया है। जैसे कुम्हार कई घड़ो को इस तरह बनाता है कि लोग उनकी प्रशसा करते है तथा कलश मान कर अक्षत चन्दन से पूजा करते है। किन्तु वह कई घड़े ऐसे भी बनाता है जिनमे मदिरा आदि भरी जाने के कारण वे निध होते है। ऊच-नीच के भेद इसी कुभकार की तरह गौत्र कर्म बनाता है। उच्च गौत्र के उदय से जीव धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊचा माना जाता है और नीच गौत्र के उदय से धन, रूप आदि से सम्पन्न होते हुए भी वह नीच ही माना जाता है।

जीव उच्च गौत्र कर्म का बध आठ प्रकार के मद (अभिमान) नहीं करने से करता है जो इस तरह है—(१) जाति का मद, (२) कुल का मद, (३) बल का मद (४) रूप का मद, (५) तप का मद, (६) श्रुत का मद, (७) लाभ का मद और (८) ऐश्वर्य का मद। इसके विपरीत जो इन आठो स्थितियो का अभिमान करने वाला होता है, वह नीच गौत्र कर्म का बध करता है। उच्च या नीच गौत्र कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से भी उच्च या नीच गौत्र का वध होता है।

उच्च गौत्र का अनुभाव आठ प्रकार से होता है—(१) जाति विशिष्टता (२) कुल विशिष्टता (३) बल विशिष्टता (४) रूप विशिष्टता (५) तप विशिष्टता (६) श्रुत विशिष्टता (७) लाभ विशिष्टता और (८) ऐश्वर्य विशिष्टता। यह अनुभाव स्वत' भी होता है तथा परत भी। एक या अनेक बाह्य द्रव्य आदि रूप पुद्‌गलो का निमित्त पाकर जीव उच्च गौत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुषो द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल मे उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति—कुल सम्पन्न की तरह

माना जाता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का अनुभव करता है। जैसे किसी ने अकस्मात् बादलो के आने की बात कही और सयोगवश बादलो के आ जाने से बात मिल गई। यह परत अनुभाव हुआ। उच्च गौत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का भोग करना—यह स्वत' अनुभाव है।

नीच गौत्र कर्म का वेदन जीव नीच कर्म का आचरण, नीच पुरुष की सगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलो का सम्बन्ध पाकर करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका चला कर या दूसरा नीच कार्य करके निन्दनीय हो जाता है। पुदगल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी नीच गौत्र कर्म का परत अनुभाव प्राप्त होता है। नीच गौत्र कर्म के उदय से जातिहीन कुलहीन आदि होना स्वत अनुभाव है।

अवरोधी अन्तराय

मेरा अनुभव है कि अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि शक्तियो को अवरुद्ध बनाकर उनकी घात करता है। मेरे दान, लाभ आदि कार्यों मे जो बाधाए तथा रुकावटे आती है, वे इसी कर्मोदय के कारण आती हैं। इस कर्म को भडारी के समान माना गया है कि राजा कोई पुरस्कार देने की आज्ञा दे दे किन्तु भंडारी के विरुद्ध होने से वह आज्ञा कार्यान्वित न हो सके और याचक को खाली हाथ लौटना पड़े। राजा की इच्छा को भी भडारी सफल नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव राजा है, दान देने की उसकी इच्छा है, साधन भी उसके पास है किन्तु भडारी के समान यह अन्तराय कर्म उसमे रुकावट डाल देता है। और जीव विवशतावश होकर कुछ भी नहीं कर पाता है।

अन्तराय कर्म के पाच भेद बताये गये है—

(१) दानान्तराय—दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है फिर भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता या दान के बीच मे कोई अवरोध खड़ा हो जाता है। यह दानान्तराय का कुप्रभाव होता है।

(२) लाभान्तराय—योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वह लाभान्तराय कर्म है। लाभ पाने के बीच मे रुकावट आ जाती है और लाभ नहीं मिलता।

(३) भोगान्तराय—त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से भोग न कर सके, वह भोगान्तराय कर्म है।

(४) उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव त्याग-प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा रहते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

(५) वीर्यान्तराय—शरीर निरोग हो, तरुण अवस्था हो, बल का भी सयोग हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव प्राणशक्ति रहित होता है तथा सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करता है, वह

वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद बताये गये हैं— (अ) बाल वीर्यान्तराय—समर्थ होते हुए और चाहते हुए भी जिसके उदय से जीव सांसारिक कार्य नही कर सके, वह बाल वीर्यान्तराय कर्म है। (ब) पंडित वीर्यान्तराय—सम्यक् दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी जिस कर्म के उदय से जीव मोक्ष-प्राप्ति के योग्य, क्रियाए न कर सके, वह पंडित वीर्यान्तराय है। (स) बाल-पडित वीर्यान्तराय-देशविरति रूप श्रावक धर्म की आराधना की चाह रखते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक की क्रियाओं का पालन न कर सके, वह बाल—पडित वीर्यान्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

अन्तराय कर्म के बध के भी पांच ही कारण हैं —(१) दान मे अन्तराय या बाधा डालना (२) लाभ में बाधा डालना (३) भोग मे बाधा डालना (४) उपभोग में बाधा डालना तथा (५) वीर्य-प्राण शक्ति मे बाधा डालना। अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव अन्तराय कर्म बाधता है।

अन्तराय कर्म का अनुभाव भी दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य मे विघ्न बाधा होने रूप पाच प्रकार का है। यह अनुभाव स्वत' भी होता है तथा परत' भी। परत अनुभाव पुद्गल निमित्त, पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से होता है तो स्वत' अनुभाव अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि मे अन्तराय रूप फल के भोगने से होता है।

जो जैसा करता है, वैसा भरता है।

मै अनुभव करता हू कि संसार में अष्ट कर्मों का स्वचालित शासन इतना सन्तुलित एव सुव्यवस्थित है कि कहीं कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि यह शासन समता-भाव का प्रतीक भी है जहां किसी के साथ पक्षपात या भेदभाव होने की कोई सभावना ही नहीं है। जो जैसा करता है, वैसा भरता है। करने के वक्त वह स्वतंत्र होता है किन्तु भरने (फल भोग के समय) के वक्त भरे बिना किसी हालत मे छुटकारा नहीं होता यानि कि उस भरने मे किसी की कोई मदद भी नहीं चलती। स्वयं करो—यह पुरुषार्थ का विषय है और स्वयं ही भोगो—इसे भाग्य भी मान सकते हैं क्योंकि कर्मवाद का यह सिद्धान्त भाग्य और पुरुषार्थ का सुन्दर समन्वय है तथा विकास के लिये इसमे विशाल क्षेत्र है।

कर्मों की सफलता के सम्बन्ध मे मुझे वे आप्त वचन याद आते है जिनमे कहा गया है कि प्राणियो के सभी अनुष्ठान फल सहित होते है। फल भोग किये बिना उनसे छुटकारा नही होत क्योंकि वे कर्म अपना फल अवश्य देते है। जैसे सधिमुख पर चोरी करते हुए पकड़ा गया चो अपने चौर्य कार्य से दु'ख पाता है, वैसे ही यहा और परलोक मे जीव स्वकृत कर्मों से ही दुख भोगते हैं। फल भोगे बिना कृत कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती है। यह आत्मा अपने कर्मोके अनुसार कभी देवलोक मे कभी नरक मे और कभी असुरो मे आदि विभिन्न योनियो में उत्पन्न ोती रहती है। पापी जीव का दु.ख न जाति वाले बटा सकते हैं और न मित्र लोग ही। पुत्र एव भाई बंधु भी उसके दु ख के भागीदार नहीं होते। केवल पाप करने वाला अकेला ही दु.ख भोगा है क्योंकि कर्म कर्त्ता ही के साथ जाते हैं। द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन, धान्य—इन सभी ो यहीं छोड़कर परवश हो यह आत्मा अपने कर्मों के साथ परलोक मे जाती है और वहा अपने ्मों के अनुसार अच्छा या बुरा भव प्राप्त करती है।

मैं समझ गया हू कि आठो कर्मो के बध के कौन-कौनसे कारण है और उन्हे जानकर यह भी समझ गया हू कि किस प्रकार मै इन कारणों को रोकने मे समर्थ हू? यही सामर्थ्य मुझे आठो कर्मों से विलग कर सकता है। यदि मैं कर्मों के बध को ही रोकने लग जाऊ तो फिर ये कर्म मेरा कुछ भी नही बिगाड़ सकेगे। तब मै अपनी सवर साधना के माध्यम से आते हुए कर्मों को रोक सकूगा तो पहले के बधे हुए कर्मों को क्षय करने की दिशा मे भी अपने पुरुषार्थ को लगा सकूगा। इस क्रमिक प्रक्रिया की सफलता के साथ मै आशा कर सकता हू कि एक दिन मै अपनी बद्ध आत्मा को बुद्ध तथा सिद्ध भी बना सकूगा।

मैं जान गया हूं कि सामान्य रूप से आयु कर्म के सिवाय सभी सातो कर्मों का बंध एक साथ होता है। इनके क्रम का कारण यह है—ज्ञान और दर्शन जीव के स्वतत्व रूप है क्योकि इनके बिना जीवत्व की उत्पत्ति ही नहीं होती है। जीव का लक्षण चेतना-उपयोग है और उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप होता है। ज्ञान और दर्शन मे भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही वैचारिकता जागती है तथा लब्धिया प्राप्त होती है और जिस समय जीव सकल कर्मों से मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानोपयोग वाला ही हो जाता है। इसी कारण ज्ञान के आवरक कर्म को पहले क्रम पर रखा गया है। ज्ञानोपयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग मे स्थित होता है अत दूसरा क्रम दर्शनावरणीय कर्म का है। ये दोनो कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख-दु ख रूप वेदनीय कर्म मे निमित्त होते है, इसलिये इसका तीसरा क्रम है। वेदनीय कर्म दृष्ट वस्तुओं के सयोग में सुख तथा अनिष्ट वस्तुओं के सयोग मे दु ख उत्पन्न करता है जिसके कारण राग और द्वेष के भाव पैदा होते हैं। ये राग और द्वेष के भाव ही मोह के कारण है, अत. चौथे क्रम पर मोहनीय कर्म रखा गया है। मोहनीय कर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारभ, महापरिग्रह आदि मे आसक्त होकर नरक आदि का आयुष्य बाधते है इसलिये बाद मे आयु कर्म का क्रम है। आयु कर्म के बाद नाम व गौत्र की रचना होती है तथा अन्तराय की स्थिति पैदा होती है। अत इस क्रमिकता के अनुसार ही आठो कर्मों का क्रम है।

मै यह भी जान गया हू कि मेरी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र मे घुमाने वाला कर्म ही है। यह कर्म मेरे ही अतीत के कार्यों का अवश्यभावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियो का कर्म ही प्रधान कारण है। मेरी वर्तमान अवस्थाए किसी बाह्य शक्ति की बनाई हुई या दी हुई नहीं है। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म मे मेरे ही किये हुए कर्मों का फल है। मैं जो कुछ भी अभी घटित होते हुए देखता हू, वह मेरी ही किसी अन्तरग अवस्था का परिणाम होता है। मैं जो कुछ पाता हू, वह मेरी ही अपनी खेती का फल है। मै जैसा बोता हू, वही काटता हू। या यो कहू कि मैने जैसा किया है, वैसा भरता हू और जैसा अभी करता हू, वैसा आगे भरूगा। मै ही अपने बनने वाले भाग्य का नियन्ता हू। मै जब अपने भाग्य को दोष देता हू तो यह भी मुझे समझना चाहिये कि वह दोष मेरा ही है। इस समझ से मेरे भीतर यह ज्ञान जागेगा कि मुझे जैसा आगे अपना भाग्य चाहिये, वैसा ही पुरुषार्थ मै आज करू। मै पूर्ण रूप से स्वतत्र हू कि मै अपने भाग्य को आज किस रूप मे ढालू। अष्ट कर्मों के इस विश्लेषण ने मुझे जगा दिया है कि मैं अपनी अज्ञानता को समाप्त करू, अपने पुरुषार्थ को क्रियाशील बनाऊ तथा अपनी स्वरूप-विकृति को परिमार्जित करने लगू। मै अपने मन, वचन तथा कर्म की तुच्छता-हीनता को समझू, उससे अपने आपको लज्जित अनुभव करू एव तुच्छता के स्थान पर उदारता व उच्चता की प्रतिष्ठा करने के सत्प्रयास मे सलग्न बन जाऊ। मैं जान गया हू कि यह तुच्छता धर्माराधना मे प्रवृत्ति करने से ही मिट सकेगी। ससार के सभी प्राणियो

के प्रति जो मेरी हीन-भावना है, वह स्वार्थवश है और जब धर्म की सच्ची आराधना से स्वार्थपूर्ण मेरा, ममत्व घटेगा, तो मेरी आन्तरिकता मे सबके प्रति उदार भाव का सचार होगा। यह उदार-भाव एक ओर मेरी त्याग वृति को उभारेगा तो दूसरी ओर मेरे त्याग को दूसरे प्राणियो के प्रति सहानुभूति एवं सहयोग के रूप मे नियोजित करने की प्रेरणा प्रदान करेगा। मेरा त्याग भाव जितने अशो मे प्रबलता ग्रहण करता जायगा, लोकोपकार एवं लोक कल्याण मे मेरी वृत्ति और प्रवृत्ति गहरी होती जायगी।

मेरा अनुभव है कि जब मै लोकोपकार के कार्यों मे तल्लीन होता जाऊगा तो मेरा 'मै' विराट् स्वरूप लेता जायगा, तब 'मैं' मात्र 'मैं' मे ही सीमित नहीं रह जाऊगा बल्कि मेरा 'मै, सम्पूर्ण विश्व मे विस्तृत हो जायगा तथा सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं के साथ मत्री भाव मे समा कर एकाकार-सा हो जायगा। वह मेरी हीन भावना के विसर्जन की अवस्था होगी।

आत्मीय समानता का संदेश

मेरी गूढ़ वैचारिकता जब कर्म सिद्धान्त के मर्म मे गहरे पैठती है तो मेरा यह अनुभव होता है कि इस सिद्धान्त के साथ ही आत्माओं की समानता तथा महानता का सन्देश जुड़ा हुआ है। मेरी अनुभूति स्पष्ट होती है कि मेरी आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति या इच्छा के अधीन नहीं है एवं अपने संकल्पो तथा अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मुझे किसी का भी दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। अपने पापो का नाश करने के लिये और अपने उत्थान के लिये मुझे किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मागने की आवश्यकता है और न ही उसके आगे रोने या गिड़गिड़ाने की आवश्यकता है।

मेरे सामने कर्मवाद का यह मंतव्य साफ हो जाता है कि ससार की सभी आत्माए एक समान है तथा सभी आत्माओं मे एक समान ही शक्तियां रही हुई है। इस ससार मे सभी आत्माओ के बीच मे जो भेद-भाव दिखाई देता है, वह उनकी मूल शक्तियो के कारण नही अपितु उन शक्तियो के न्यूनाधिक विकास के कारण है। यह विकास अपने अपने पुरुषार्थ पर निर्भर होता है।

आत्मिक विकास की चरम सीमा का भी मुझे ज्ञान हो गया है कि मै आत्मा हूं और मुझे परमात्मा बनना है। आत्मा और परमात्मा की स्थिति के बीच जो अन्तर है वही कर्मों के आवरण हैं। कर्मों के इन बादलो को अगर मैं छाटकर हटा दू तो फिर मेरी आत्मा रूप सूर्य को प्रकट होने से कौन रोक सकता है? यह सूर्य रूप ही सिद्ध रूप का प्रतीक है। आज मेरी आत्म-शक्तियां विभिन्न कर्मों से आवृत्त बनी हुई है, अविकसित हैं एवं परिग्रह से मूर्च्छाग्रस्त है। मुझे अपने ही आत्मत्व को विकसित बनाकर अपनी इन शक्तियो का विकास करना है। इसी विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर मै परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। अपने इस पूर्ण विकास के लक्ष्य को थिर बनाने मे मुझे कर्मवाद से ही अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

मैं महसूस करता हू कि अन्य प्राणियो के समान मेरा जीवन भी विघ्न-बाधाओं, दुखो व आपत्तियो से भरा हुआ है। जब ये मुझे घेर लेती है तो मै घबरा उठता हू और मेरी बुद्धि अथिर बन जाती है। मै दो पाटो के बीच मे फस जाता हूं क्योंकि एक ओर तो बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियाँ मुह बाए खड़ी होती हैं, तो दूसरी ओर चिन्तित व तनावग्रस्त बनकर मैं अपनी अन्तरग स्वस्था को

भी बिगाड़ लेता हू। परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियो से सफल सघर्ष करने का मेरा सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। ऐसी दुर्वल बनी मनोदशा मे भूल पर भूल करते हुए चले जाना जैसे मेरा स्वभाव बन जाता है । ऐसी अवस्था मे कभी-कभी हताशा मुझे इतनी बुरी तरह से झकझोर डालती है कि मै अपने हाथो मे लिये हुए सत्कार्य को छोड़ बैठता हूँ। जब दु खो का क्रम चल पड़ता है तो मै अपना धीरज भी छोड़ बैठता हूॅ और रोने-चिल्लाने लग जाता हूॅ। उस दवी हुई विचार स्थिति मे मैं यही समझने लग जाता हूॅ कि बाह्य निमित्त ही मुझे दु ख देने वाले हैं। इसीलिये मै बाह्य परिस्थितियो तथा उनके निमित्त बनने वाले व्यक्तियो को कोसता और दोष देता हूँ। इस सम्बन्ध मे मै अव समझ गया हूँ कि यह व्यर्थ का दोपारोपण मुझे व्यर्थ के क्लेश मे फसा देता है और उस रूप मे मैं अपने लिये व्यर्थ ही मे एक नये दु ख को खड़ा कर लेता हूँ। इस प्रकार की विशृखलित मन स्थिति मे यह कर्मवाद का सिद्धान्त मेरा सच्चा शिक्षक बन जाता है और मुझे पथभ्रष्टता से बचाता है कि हे आत्मन्, तू अपना भ्रम छोड़ दे और इस सत्य को समझले कि तू ही अपने भाग्य का प्रणेता है। सुख और दु ख तेरे अपने ही किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति न तुझे सुखी बना सकती है और न दु खी। जैसे वृक्ष के अस्तित्व का मूल कारण वीज होता है तथा पृथ्वी, पवन, पानी तो उसके निमित्त मात्र होते है। उसी प्रकार दु ख का बीज तेरे अपने पूर्वकृत कर्मों मे रहा हुआ है और ये बाह्य व्यक्ति या साधन तो निमित्त मात्र है। न इनको क्लेशित कर और न स्वय क्लेशित बन। अपनी आत्मशक्ति को ही जगा कि वह उस बीज को समाप्त कर दे—फिर कोई दु ख नहीं रह जायेगा।

यह शिक्षा और चेतावनी जब मुझे कर्मवाद के सिद्धान्त से मिलती है तब मैं सावधान हो जाता हूँ और अपने विश्वास को दृढ़ वना लेता हू। तब दु ख और विपत्ति के समय मेरा आकुल व्याकुल होना घट जाता है और विवेक भी जागता रहता है। फिर मै अपने दु खो के लिये न दूसरो को दोष देता हूॅ और न उन्हे क्लेशित करता हूँ। मै तब अपने आपको निराशा के अधकार मे डूबने से भी बचा लेता हूँ। मुझे दु खों को सहने की ऐसी शक्ति मिल जाती है कि दु ख के पहाड़ टूट पड़े तब भी मैं अपने हृदय की शान्ति तथा बुद्धि की स्थिरता को बनाये रखता हूँ और प्रतिकूल परिस्थितियो का धैर्य के साथ सामना करने मे कुशल बन जाता हूॅ। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह मै शान्त भाव से कर्मों का ऋण चुकाता हूँ तथा कर्म-फल को उसी शान्त भाव से सह लेता हूँ। अपनी प्रत्यक्ष भूल से होने वाली बड़ी से बड़ी हानि को जिस प्रकार मै शान्त भाव से सह लेता हूँ, वही सहनशीलता मैं कर्म फल भोगने मे भी स्थिर रख लेता हूँ। फिर अपने भूतकाल के अनुभवो से मै अपने भविष्य-निर्माण के प्रति सजग बन जाता हूँ। इस प्रकार सुख और सफलता मे सयत रहने की मुझे ऐसी शिक्षा मिलती है कि मै अपनी आत्मा को किसी भी परिस्थिति मे अनियत्रित, उच्छृखल या उद्दड बन जाने से बचा लेता हूँ।

आत्माओं की समानता के सदर्भ मे मै यह समझ गया हूॅ कि मै विकास की इस प्रक्रिया मे स्वय घनिष्ठता से जुड़ू तथा अपने सम्पर्क मे आने वाले सभी प्राणियो को भी इस प्रक्रिया से जुड़ने की अनुप्रेरणा दू।

तुच्छता वनाम पुरुषार्थ

तुच्छता और हीनता उस मन स्थिति का नाम है, जब मनुष्य मे अमुक-अमुक कार्य करने की शक्ति तो नही होती, किन्तु वह वैसी शक्ति का अपने मे सद्भाव मान कर अहकार से भर जाता है। उसका अहकार थोथा होता है और थोथा चणा, बाजे घणा की उक्ति के अनुसार उसकी वह

तुच्छता उसके मन, उसकी वाणी तथा उसके कर्म से बराबर फूटती रहती है। वह दूसरो को हीन इसलिये समझने लग जाता है कि वह स्वयं हीनमन्यता से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी तुच्छता और हीनता उसकी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों मे प्रवेश पाकर स्वार्थ, ममत्व तथा प्रमाद को उकसाती है और उसे आत्म-विमुख बना देती है। उस समय उसका पुरुषार्थ भी शिथिल और मलिन बन जाता है। इस रूप मे तुच्छता की वृत्ति तथा पुरुषार्थ वृत्ति परस्पर विरोधी होती है। तुच्छता बनी रहेगी तो आत्म पुरुषार्थ जागृत नही बनेगा और जब आत्म पुरुषार्थ जाग जायेगा तो फिर तुच्छता ठहर नहीं सकेगी। उसके स्थान पर उदारता और उच्चता का अवश्य ही विस्तार होने लगेगा। इस कारण मन, वाणी तथा कर्म की तुच्छता को मिटाना है तो अपने आत्म पुरुषार्थ को जगाना ही होगा। ऐसा जागृत बना आत्म पुरुषार्थ सबसे पहले आत्म स्वरूप के साथ बधे हुए कर्मों के क्षयोपशम के सत्प्रयास मे ही जुटेगा।

मै तुच्छता एव हीनता के ओछेपन मे भटकता हुआ अपने मन, वचन तथा कर्म की नीच क्रियाओं को भुगत चुका हू क्योंकि वे क्रियाए अपने साथियो को छेदने, भेदने और परिताप उपजाने वाली ही अधिक होती थी। उस समय की अपनी मनोदशा को आज जब याद करता हू तो महसूस होता है कि मै अपनी सामान्य कार्य स्थिति से भी कितना नीचे गिर गया था और व्यर्थ मे ही नये-नये कर्मों का बध कर लेता था। अब उन्हीं कर्म-बधों को तोड़ने के लिये मैं कठिन पुरुषार्थ करना चाहता हूं।

विचारो की इस अवस्था मे मेरे मन मे एक शका पैदा होती है कि जब पूर्वकृत कर्मानुसार ही जीव को सुख-दु ख होते है तथा किये हुए कर्मों को भोगे बिना आत्मा का छुटकारा भी संभव नहीं है तो सुख प्राप्ति तथा दु ख निवृत्ति के लिये मेरे द्वारा प्रयत्न किया जाना क्या व्यर्थ नहीं होगा? भाग्य-फल को रोका नही जा सकता तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही कहा रह जाती है? क्या इस धारणा को लेकर कोई भी पुरुषार्थ विमुख नहीं होगा? इन प्रश्नो के साथ ही मेरा चिन्तन चलता है कि होना है सो होना है तथा होनी को टाल नही सकते है तो किसी भी प्रकार के प्रयत्न या पुरुषार्थ के लिये कहा स्थान रह जाता है? किन्तु आप्त वचन मेरी शका का सम्यक् समाधान करते है और मै पुरुषार्थ की प्रक्रिया को भली-भाति जान और मान लेता हू। यह सही है कि अच्छा या बुरा कोई भी कर्म बिना फल भोग दिये नष्ट नही होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है उसको वापिस नहीं लौटाया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार सामने से वेग-पूर्वक आता हुआ पत्थर पहले वाले पत्थर से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उस की दिशा को बदल देता है, ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्म परिणामो की तीव्रता या मन्दता के अनुपात से न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते है, दूसरे रूप मे बदल जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते है। कर्म की एक निकाचित अवस्था ही ऐसी होती है, जिस मे कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पड़ता है। शेष अवस्थाएँ आत्म-परिणामानुसार परिवर्तनशील होती हैं। अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ परिवर्तन ला सकता है तथा कर्म की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को बदल सकता है। पुरुषार्थ के प्रभाव से कर्मों की सारी अवस्थाए परिवर्तित हो सकती है—एक मात्र निकाचित अवस्था ही अप्रभावित रहती है। आत्म पुरुषार्थ के बल पर एक कर्म को दूसरे कर्म मे बदला जा सकता है। लम्बी स्थिति वाले कर्म छोटी अवधि की स्थिति मे तथा तीव्र रस वाले कर्म मन्दरस मे परिणत किये जा सकते हैं। कई कर्मों का वेदन विपाक से न होकर प्रदेशो से ही हो जाता है। अत' कर्मवाद का सिद्धान्त इस आत्मा

को पुरुषार्थ से विमुख नहीं बनाता, बल्कि उसके पुरुषार्थ को जगाता है कि उस पुरुषार्थ की कठोरता के बल पर पूर्व कृत कर्मों के स्वरूप को परिवर्तित कर सकते है। नये कर्म बाधने की दृष्टि से पुरुषार्थ ही शत-प्रतिशत मूल कारण होता है। सवर की साधना को सुदृढ़ बना ले। प्रत्येक स्थिति मे पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये किन्तु यदि पुरुषार्थ सफल नही होता है तो धैर्य धारण कर सोचना चाहिये कि वहा कर्म की प्रबलता या निकाचितता है। किन्तु पुरुषार्थ उस स्थिति मे भी व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि उसके प्रभाव से शेष कर्म तो छोटे और हल्के हो ही सकते हैं। इस सम्पूर्ण विषय को चिन्तन मे लेकर मै दृढ़तापूर्वक सकल्पित हो जाता हू कि सत्पुरुषार्थ को मै सर्वोपरि ही मानूगा।

मेरी मान्यता दृढ़ हो गई है कि आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया एक ओर मेरी तुच्छता एव हीनता की वृत्तियो को उदारता और उच्चता मे परिवर्तित करेगी तो दूसरी ओर मेरे अधिकाश पूर्व कृत कर्मों को छोटे और हल्के रूप मे भी परिवर्तित कर देगी। इस कारण सत्पुरुषार्थ का पथ ही मेरे लिये साध्य तक पहुचाने वाला पथ है।

मुझे समझना है कि मेरा यह पुरुषार्थ क्या और कैसा होगा तथा वह मेरी आत्म विकास की महायात्रा के साथ कैसे जुड़ा हुआ रह सकेगा ? यह सत्य है कि मेरे आत्म पुरुषार्थ का चरम साध्य अपनी आत्मा को सर्वथा कर्म बधन से मुक्त एव रहित बना देना है और कर्म बधन को क्षय करने का मार्ग है श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का पुरुषार्थ, यही मुक्ति का मार्ग है। किन्तु अपने चरम साध्य को दृष्टि मे रखते हुए उस दिशा मे अपने पुरुषार्थ का प्रारभ तो अपनी नई ढली क्रियाओं के साथ ही करना होगा। जब मुझे कर्म बध के कारणो का ज्ञान हो गया है तो मेरे पुरुषार्थ का पहला चरण यही होगा कि मै उन कारणो का निरोध करू याने कि अपनी क्रियाओं को इस नयेपन मे ढालू जो पाप-प्रभाव से मुक्त रहें। मेरी नई क्रियाए स्व-पर कल्याण की प्रेरक क्रियाए होनी चाहिये। क्योंकि स्व-कल्याण की प्रक्रिया मे कुछ पुष्टता आने पर पर-कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति की प्रगाढ़ता के साथ स्व-कल्याण स्वय सरल बनता जाता है। स्व-पर कल्याण तब अभिन्न हो जाते है।

लोकोपकार से महानता

एक अज्ञान या निष्क्रिय व्यक्ति तो लोकोपकार को समझेगा ही क्या ? लोकोपकार की तरफ अभिरुचि उस व्यक्ति की होगी, जिसका ज्ञान इतना विकसित हो गया है कि अपने जीवन को अहिसा के आचरण मे ढालने का उपक्रम कर सके तथा जिसकी क्रियाशीलता इतनी सजग हो गई है जो परहित से ऊपर स्व-स्वार्थों को उठने नहीं दे। इसका अर्थ ही यह होगा कि अपने जीवन मे सामान्य-सा विकास हो जाने के बाद सबसे पहले अन्य प्राणियो के लिये सवेदना प्राप्त हो जाती है। क्योंकि सुज्ञता के साथ सवेदनशीलता बढ़ती ही है और जब संवेदनशीलता बढ़ती है तो व्यक्ति शुभ क्रियाओं मे अधिकाधिक प्रवृत्ति करना आरभ कर देता है।

इस प्रक्रिया का मैं यह अभिप्राय समझता हू कि मै ससारी जीवो की स्थिति तथा अपनी आत्मा की अवस्था को जानकर सुज्ञ बनू और निश्चित है कि मेरी सुज्ञता मेरी सवेदनशीलता को उभारेगी एव वस्तुत मेरे पुरुषार्थ को उभारेगी कि मैं दूसरे प्राणियो के दु ख दूर करने एव उन्हे सुखी बनाने मे प्रयत्नशील बनू। जब मै ऐसा करने लगूगा। तो मै अहिसक बनूगा। मै दूसरो के हित मे अपने परिग्रह का त्याग करूगा, तब मै पहले अपरिग्रहवादी, तटस्थ एव निष्काम बनने लगूगा। मै

छ काया के समस्त जीवो की रक्षा मे उदार बनूगा तो पहले मेरी ही आचार-विचार सम्बन्धी विशृंखलताएं दूर होगी और मै सत्य-दर्शन के समीप पहुचने लगूंगा।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि दूसरे प्राणियो को कम या ज्यादा लाभ पहुचे परन्तु मुझे तो अत्यधिक लाभ मिलेगा। मेरा विश्वास है कि सुमर्यादित लोकोपकार की विशुद्ध भावना ही मुझे महान् बना सकती है। लोकोपकार का क्षेत्र इतना व्यापक और इतने प्रभाव वाला होता है कि बाहर के ससार मे भी अच्छाई फैलती है और भीतर के आन्तरिक ससार मे भी नित नये-नये आत्मीय गुणों का विकास होता हुआ चला जाता है।

लोकोपकार की महत्ता को समझने के लिये मै श्रावक के पहले अणुव्रत अहिसा का ही उदाहरण दू। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है और साधु सम्पूर्ण हिसा का। श्रावक के हिसा त्याग का स्वरूप क्या ? अपराधी को छोड़ शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो की संकल्पपूर्वक हिसा का दो करण तीन योग से त्याग। इस अहिसा अणुव्रत को ग्रहण कर श्रावक तो शुभता प्राप्त करेगा, किन्तु इस हिसा-त्याग का सीधा लाभ किनको प्राप्त होगा ? उन द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो को यदि श्रावक पहला अणुव्रत ग्रहण नही करता तो वे जीव उसके हाथो प्राणघात पाते। इसका अर्थ यह लीजिये कि पर कल्याण के साथ ही, बल्कि उसकी साधना से ही स्व-कल्याण की साधना संभव बनती है। अत आत्म कल्याण के नाम पर लोकोपकार को अलग नही किया जा सकता है बल्कि लोकोपकार को गहरा बनाते जाने पर ही स्व-कल्याण का मार्ग सुगम बनता जाता है।

व्यक्ति समाज मे रहता है और न केवल अन्य व्यक्तियो के बल्कि पशु पक्षियो आदि स्थूल एव पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म प्राणियो के भी सम्पर्क मे वह रात-दिन आता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सामाजिक सुव्यवस्था को बल देने वाला हो—यह आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन मे सुधार का पहला दृष्टिकोण इसी आशय का रहता है। इसी तथ्य को इस भाषा मे भी कह सकते है कि सम्यक् लोक कल्याण की उच्चतम साधना में ही आत्म-कल्याण की उत्कृष्टता भी समा जाती है और जो जितना बड़ा लोकोपकारी हो जाता है, वह उतना ही महान् भी कहलाता है। क्योंकि श्रावक स्थूल हिसा का ही त्याग करता है उसका व्रत छोटा व्रत (अणुव्रत) कहलाता है किन्तु साधु सम्पूर्ण हिसा का त्याग करके सभी स्थूल एव सूक्ष्म प्राणियो (छ काया) का रक्षक भी बनता है, अत उनका व्रत महाव्रत कहलाता है। तो यह 'अणु' और 'महा' इसी सत्य पर बने है कि आपका लोक कल्याण का क्षेत्र कहा तक विस्तार पा गया है ? इस प्रकार मै समझ गया हू कि मेरी महानता का मार्ग लोक कल्याण के अहर्निश प्रयासो मे सन्निहित है।

स्व-पर कल्याण की शुभ प्रवृत्ति मेरे आत्म स्वरूप के साथ शुभ कर्मों को सलग्न करेगी। शुभ कर्मों के फलोदय से शुभ संयोगो की प्राप्ति होगी, जिनकी सहायता से मेरी आत्मविकास की महायात्रा आसान बन जायगी। पाप की तरह पुण्य भी कर्म पुज ही होता है, लेकिन पाप कर्मों के फल से दुर्योग मिलते हैं और पुण्य कर्मों के फल से शुभ सयोग। साध्य तक पहुचने के लिये शुभ संयोगो की भी आवश्यकता होती है। जैसे मार्ग मे आई हुई नदी को पार करनी है तो नाव की जरूरत होगी। यद्यपि उस किनारे पर पहुच जाने के बाद नाव भी छोड़नी पड़ेगी, फिर भी किनारे तक पहुचने के लिये नाव की सहायता अनिवार्य है। वैसे ही पुण्य कर्म मोक्ष तक पहुचाने मे नाव के समान सहायक होता है। इस रूप मे कर्म बंध, कर्म क्षय एव कर्म मुक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये।

कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति

वस्तुत· स्व-पर कल्याण का जो पुरुषार्थ होता है, वह प्रारंभ की स्थिति है तो उसी पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति कर्म मुक्ति के रूप मे ही प्रतिफलित होती है। जहा तक शुभ कर्मों के बध का प्रश्न है, कर्म बध मे भी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है तो कर्म क्षय मे कठोर पुरुषार्थ की। कर्ममुक्ति तो आत्म-पराक्रम की परमोत्कृष्टता की प्रतीक होती है। अत· कर्म बध, क्षय एवं मुक्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल की मालिश करके रेत पर लेटे तो रेत के कण उसके शरीर पर चिपक जायेगे। उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से आत्म प्रदेशो मे जब हलचल होती है तो जिस आकाश मे आत्म प्रदेश होते है, वहीं के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्‌गल परमाणु आत्मा के एक-एक प्रदेश के साथ बध जाते हैं। कर्म तथा आत्म प्रदेश दूध पानी या लोहपिड आग्नि की तरह एकमेक हो जाते है। आत्मा के साथ कर्मों का यह जो बध होता है, उसे ही कर्म बध कहते है।

कर्म बध चार प्रकार का कहा गया है—(अ) प्रकृति बध —कर्म पुद्‌गलो मे भिन्न-भिन्न स्वभावो तथा शक्तियो का पैदा होना। (ब) स्थिति बंध—कर्म पुद्‌गलो मे अमुक काल तक आत्मा के साथ बधे रहने की कालावधि का होना। (स) अनुभाग बध— कर्म पुद्‌गलो मे अनुभव के तरतम भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, तथा (द) प्रदेश बंध—कर्म पुद्‌गलो मे न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कधो का सम्बन्ध होना। कर्म बध का सम्पूर्ण ज्ञान इन चार प्रकारो से होता है कि बधे हुए कर्म का स्वभाव कैसा है, वह बध कितनी कालावधि का है, उसका अनुभव कैसा होगा तथा उसका घनत्व कितना है? जैसे सौंठ, पीपल, कालीमिर्च आदि कई वस्तुओं को मिला कर लड्डू बनाया जाता है तो उस वस्तु बध रूप लड्डू से कर्म बध का स्वरूप समझिये। कल्पना करें कि वह लड्डू वायुहरण के लिये बनाया गया है तो वायुनाशक उस लड्डू की प्रकृति हो गई। वह लड्डू एक सप्ताह, दो सप्ताह या अमुक अवधि तक अपना निजी स्वभाव याने ताजगी बनाये रखेगा —यह उसकी स्थिति हो गई। उस लड्डू का स्वाद अधिक मधुर है या अधिक कटु—यह उसका अनुभाग, अनुभव या रस हुआ। उसी प्रकार प्रदेश यह होगा कि वह लड्डू छोटे आकार का है या मध्यम या बड़े आकार का। इस प्रकार कर्म बध के ये चार पहलू हैं।

कर्म बध के प्रारभ को उपक्रम कहते है, जो चार प्रकार का है— (१) बन्धनोपक्रम—कर्म पुद्‌गल एव आत्म प्रदेशो के एकरूप सम्बन्ध होने को बधन कहते है और इसी बन्धन के आरभ को बन्धनोपक्रम। इसका अर्थ हुआ कि बिखरी हुई अवस्था मे रहे हुए कर्मों को आत्मा से सम्बन्धित अवस्था वाले बना देना। (२) उदीरणोपक्रम—विपाक अर्थात् फल देने का समय नहीं होने पर भी कर्मों का फल भोगने के लिये प्रयत्न विशेष से उन्हे उदय—अवस्था मे प्रवेश कराना उदीरणा है। उदीरणा के प्रारभ का नाम है उदीरणोपक्रम। (३) उपशमनोपक्रम—कर्म उदय, उदीरणा, निधत्तकरण और निकाचना करण के आयोग्य हो जाए इस प्रकार उनकी स्थापना करना उपशमना है और इसका आरभ उपशमनोपक्रम है। इसमे आवर्तन, उदवर्तन और सक्रमण—ये तीन करण होते हैं। (४) विपरिणामनोपक्रम—सत्ता, उदय, क्षय, क्षयोपशम, उद्वर्तना, अपवर्तना आदि द्वारा कर्मों के परिणाम को बदल देना विपरिणामना है जिससे कर्म एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे बदल जाते है। इस

उपक्रम के प्रारंभ को विपरिणामनोपक्रम कहते है। इन उपक्रमो से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अपने योग्य पुरुषार्थ से कर्मों के मूल बंधानुसार नियत फल भोग, उदय उदीरणा तथा अवस्था तक मे परिवर्तन कर सकती है। इस का अभिप्राय यही है कि यद्यपि एक बार बध जाने पर कर्म अपना फल देते ही है, फिर भी आत्मा उनके फल देने के पहले ही धर्माराधना के बल पर उनके प्रभाव को मन्दतर बना सकती है। आत्म पुरुषार्थ कभी भी निरूपयोगी नहीं होता।

इसी आत्म पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का सक्रमण (सक्रम) भी किया जा सकता है। आत्मा जिस प्रकृति का कर्म बंध कर रही है, उसी विपाक मे पुरुषार्थ विशेष से दूसरी प्रकृति के कर्म पुद्गलो को परिणत करना संक्रमण कहलाता है। इससे बंधे हुए कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप बन जाते है। यह चार प्रकार का होता है —प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एव प्रदेश।

आत्म पुरुषार्थ से सभी श्रेणियो के कर्म बध मे परिवर्तन लाया जा सकता है किंतु इसकी एक ही श्रेणी अपवाद रूप है और वह है निकाचित कर्मों की श्रेणी। निकाचित कर्म उन्हे कहते हैं जिनका फल कर्म बध के अनुसार ही निश्चय रूप से भोगा जाता है और जिन्हे बिना भोगे आत्मा का छुटकारा नहीं होता है। निकाचित कर्म मे कोई भी कारण नही होता। ये आत्मा के साथ प्रगाढ़ता से सम्बन्धित हो जाते है।

बंध से लेकर कर्म की चार अवस्थाए बताई गई है :—(१) बंध—मिथ्यात्व आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप मे परिणत होकर कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिल जाना बध कहलाता है। (२) उदय—उदय काल याने फल देने का समय आने पर कर्मों के शुभा-शुभ फल देने को उदय कहते है। (३) उदीरणा—आबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्म दलिक (समूह) पीछे से उदय मे आने वाले है, उनको पुरुषार्थ विशेष से खींच कर उदय प्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है। (४) सत्ता—बधे हुए कर्मों का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाता है।

कर्म अथवा कर्म के कारण होने वाले भव का अन्त करना अन्तक्रिया है। यो तो अन्तक्रिया एक ही स्वरूप वाली होती है किन्तु सामग्री के भेद से चार प्रकार की बताई गई है। (१) पहली अन्तक्रिया —अल्प कर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, प्रचुर सयम, सवर और समाधि की साधना करती है तथा तपाराधन, शुभ ध्यान आदि से लम्बी दीक्षा पाल कर निर्वाण को प्राप्त हो जाती है। उसे उपसर्ग जनित घोर वेदना नहीं सहनी पड़ती है और घोर तप भी नही करना पड़ता है। (२) दूसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, किन्तु महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना भी सहती है। इस प्रकार की आत्मा थोड़ी ही दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध हो जाती है। (३) तीसरी अन्तक्रिया —महाकर्म वाली तथा दीर्घ दीक्षा पर्याय पालने लावी आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है किन्तु महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना सहती है। फिर वह दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध होती है। (४) चौथी अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली तथा अल्प दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है

परन्तु वह न तो घोर तप करती है, न ही घोर वेदना सहती है, बल्कि वह अल्प दीक्षा पर्याय पाल कर ही सिद्ध हो जाती है।

कर्म क्षय के लिये दो बाते आवश्यक है—(१) नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा (२) सचित कर्मों का नाश करना। नवीन कर्मों का आगमन सवर से रुक जाता है तो सचित कर्मों के विनाश के लिये तपाराधन करना चाहिये (तप का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय आठ मे किया गया है।)

कर्म क्षय के क्षेत्र मे अपने पुरुषार्थ एव पराक्रम द्वारा क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब तेरहवे गुण स्थान (गुणस्थानो का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय नौ मे मिलेगा) मे पहुचती है, उस समय उसके चार घाती कर्म नष्ट हो जाते है। आत्मा के मूल गुणो की घात करने वाले होने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म घाती कर्म कहे जाते हैं। इनमे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है तब उसके बाद तीनो कर्मों का एक साथ क्षय होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा के ज्ञान-गुण पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है। यह आवरण पूर्णतया हटते ही आत्मा अनन्त ज्ञान वाली बन जाती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा का अनन्त दर्शन रूप गुण प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने से आत्मा मे अनन्त चारित्र प्रकट हो जाता है एव अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा मे अनन्त शक्तिया उत्पन्न हो जाती है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य—ये जो आत्मा के चार मूल गुण हैं, वे इन चार घनघाती कर्मों के क्षय हो जाने पर पूर्णत प्रकट हो जाते हैं। तेरहवे गुणस्थान केवल उनके शुभ कर्मों मात्र एक समय के लिये ही बन्धते हैं।

आगामी चरण कर्म क्षय से कर्म मुक्ति का होता है। चौदहवे गुणस्थान मे आत्मा योगो की प्रवृत्ति को भी रोक देती है। उस समय न मन कुछ सोचता है, न वचन कुछ बोलता है तथा न काया मे कोई हलचल होती है। इस प्रकार योग निरोध हो जाने से कर्मों का आगमन सर्वथा रुक जाता है। साथ मे बाकी बचे चार अघाती कर्म-वेदनीय, नाम, गौत्र तथा आयुष्य भी विनष्ट हो जाते है और आत्मा कर्म मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। मुक्ति का अर्थ यही है कि कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना। चार अघाती कर्मों के क्षय हो जाने से सिद्धात्मा मे उसके चार गुण प्रकट होते हैं। वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त या अव्याबाध सुख, नाम कर्म के क्षय से अरूपी स्वरूप, गौत्र कर्म के क्षय से अगुरु लघुत्व तथा आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा को अजरामरता प्राप्त हो जाती है।

ससार मे जन्म मरण का कारण कर्म है। कर्मों को सर्वथा क्षय कर देना ही इस जन्य मरण के चक्र से छूट जाना है अर्थात् कर्म मुक्ति ही मोक्ष है। मुक्त हो जाने पर आत्मा पुन संसार मे नहीं आती—सदा काल के लिये आठ गुणो से सयुक्त बन कर सिद्धावस्था मे ज्योति रूप बन जाती है।

कर्म बध, कर्म क्षय एव कर्म मुक्ति के इस विश्लेषण से मैं समझ गया हू कि कर्म मुक्ति ही मेरा अन्तिम ध्येय है। अत कर्म मुक्ति के लिये कर्म बध को अवरुद्ध करना तथा कर्म क्षय हेतु धर्माराधना करना मेरे पुरुषार्थ का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है। इस ध्येय के प्रति नियोजित होने वाला पुरुषार्थ ही आत्मा का सत्पुरुषार्थ कहलाता है। मेरा प्रथम प्रयास हो कि मैं सत्पुरुषार्थी बनू।

'मैं' में समाहित सर्वहित

मेरी आन्तरिक अभिलाषा बन गई है कि ससार के सभी प्राणी सुखी हो, निरापद बने और इस अभिलाषा की पूर्ति मे मै किसी भी प्राणी के प्राण को दु.ख न दू तथा जो मुझे किसी भी प्रकार से दु ख पहुचावे, उसे मै शान्तिपूर्वक सहन करूं व उसके प्रति रच मात्र भी द्वेष भाव न लाऊं। फिर मैं दूसरे प्राणियो के दु खो को देखकर दयाभाव से ओतप्रोत बन जाऊ तथा उनके दु'खो को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करूं, उन्हें सुखी बनाने के कार्य करूं। सर्वकल्याण की मेरी यह भावना मेरे स्वकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर देगी, क्योंकि सर्वहित मे 'मै' भी समाहित हो जाता हूं।

वस्तुत' मेरी आत्म साधना सर्वहित की साधना बन जाती है। मेरा जीवन अहिंसापूर्ण बनता है, इसका सीधा प्रभाव मेरे सम्पर्क मे आने वाले प्राणियो पर पड़ता है कि वे मेरी ओर से संभावित हिंसा के प्रहारो से बच जाते है। मेरे ही समान जब अधिकाधिक आत्माए इस प्रकार की साधना मे प्रवृत्त होती है तो अनेकानेक प्राणी आशकित दुःखो से रक्षित होकर वे भी अहिसा को अपने जीवन मे स्थान देने लगते है जिसके कारण समूचे सामाजिक वातावरण में अहिसा, निर्भयता एवं पारस्परिक सौहार्द्रता का सचार होता है। मै असत्य के आचरण से विरत होता हू तो मेरे असत्य प्रयोग से दु खी बन सकने वाले प्राणी सुरक्षित हो जाते है। इसी प्रकार मेरा अचौर्य व्रत अनेक प्राणियों के शोषण एव संत्रास को रोक देता है तो मेरा ब्रह्मचर्य व्रत सारे समाज को सादगी की प्रेरणा देता है। संज्ञा पंचेन्द्रिय जीवो की श्वास भी रोक देता है। मै जब अपरिग्रही बनता हूं तो निश्चय मानिये कि मेरे येन केन प्रकारेण परिग्रह अर्जन एव सचय के प्रभाव से मुक्त होकर अनेक प्राणी राग द्वेष की विवर्जनाओं से बच जाते है और अपने भाव-परिणामो को विशुद्ध बनाने का अवसर पाते है। धार्मिकता से युक्त मेरी प्रत्येक क्रिया मेरी आत्मशुद्धि के साथ अन्य प्राणियो को निर्भीक एव सदाशयी बनाती है। उनके उस आचरण परिवर्तन से समग्र समाज मे एक प्रकार का उत्थानकारी धरातल तैयार होता है जिस पर वे प्राणी भी अपने पग बढ़ाने का सत्प्रयास करते है जो सामान्य वातावरण मे अपनी चेतना को जागृत नहीं बना सकते थे।

समाज और व्यक्ति के अभिन्न सम्बन्धो की मार्मिकता को समझते हुए मै जानता हूं कि यहा समाज मे एक व्यक्ति अपने घर-परिवार ग्राम-समाज, राष्ट्र और विश्व मे रहता है जहा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अन्य व्यक्तियो एव प्राणियो के सम्पर्क मे आता है। इस दृष्टि से वह अन्य प्राणियो को अपने आचरण से प्रभावित करता है तो दूसरो के आचरण से यत्किंचित् रूप मे स्वय भी प्रभावित होता है। यह पारस्परिक प्रभाव मन, वाणी और कर्म के माध्यम से पड़ता है। कौन बाहर के प्रभाव से कितना ग्रहण करता है अथवा कि कौन अपने प्रभाव को बाहर कितने विस्तार से छोड़ता है—यह व्यक्तिगत आत्म विकास पर निर्भर करता है। समझिये कि एक अन्य व्यक्ति ने मेरे प्रति दुर्भावना बनाई, फिर कुवचन मुझे कहे और मेरे पर आघात करने की चेष्टा की, उस समय यदि मेरे मन, वाणी और कर्म मे दुर्बलता होगी तो मेरी वृत्तिया भी तुच्छ बन जायगी और उसकी तरह मैं भी हीन प्रवृत्तियो में लग जाऊंगा। इसके विपरीत यदि मेरा मन, मेरा वचन और मेरा कर्म सधा हुआ होगा तो मैं उसके समूचे व्यवहार को इस धैर्य और शान्ति से सह लूगा कि वह स्वय अपने व्यवहार पर लज्जित होकर उसमे शुभ परिवर्तन लाने का सकल्प कर लेगा।

इस रूप मे व्यक्ति-व्यक्ति अपना सत्प्रयास करे तो सारे समाज के सभी व्यक्तियो के आचरण मे धीरे-धीरे ही सही, किन्तु एक शुभ परिवर्तन ला सकते है। इस प्रयास को ही लोक

कल्याण की सज्ञा दी जाती है, वरन् वह है स्व-कल्याण का ही सत्प्रयास। स्व जब प्राभाविक बनता है तो वह दूसरो को भी प्रभावित बनाता है। सर्व हित की रूपरेखा इसी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयासो के आधार पर बनती, फूलती और फलती है। इसी दृष्टि से मेरे हित मे सर्वहित समाहित होता है तो सर्वहित मे स्वहित समाहित रहता है।

सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि

कर्म क्षय की राह पर आगे बढ़ते हुए मैं यही चिन्तन करता हूँ कि सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि का वातावरण प्रसारित होता रहे। सब हर जगह और हर समय सच्चे सुख और शान्त समाधि के शोधक बन जाये। जब मै चाहता हूँ कि सब शोधक बना जाये तो पहले मेरा स्वय का शोधक बनना तो आवश्यक है ही। इसलिए मैंने अपने मन, अपने वचन तथा अपने कर्म की समूची तुच्छता और हीनमन्यता को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारभ कर दिया है। मेरी तुच्छता मिटेगी और हृदय मे उदारता व्याप्त होगी तो मुझे आन्तरिक सुख मिलेगा—मेरी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ समाधि ग्रहण करेगी। सुख और समाधि मुझे मिलेगी तो वह मेरे भीतर ही बन्द थोड़े ही रहेगी—उस की आनन्द लहरे बाहर भी लहरायेगी और अन्य प्राणियो को भी स्पर्श-सुख देगी। मेरी साधना की गूढ़ता के साथ ये आनन्द लहरे आगे से आगे बढ़ती ही जायेगी और फैलती ही जायेगी।

मेरे मन का सुख, मन की समाधि मे परिणत होता जायेगा। मन की समाधि यह होगी कि मैं किसी एक श्रेष्ठ उद्देश्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करूगा और उसी के स्व-समीक्षण मे लम्बे समय तक अपने मन को लगाये रखूगा—वह होगी मेरी चित्त समाधि और मन मे कुछ भी नहीं सोचते हुए मन के योग व्यापार को परिपूर्ण नियत्रण की अवस्था मे रखूगा जो मेरी मध्यम चित समाधि होगी और उत्कृष्ट चित्त समाधि के लिए शुक्ल ध्यान के अग्रिम दो चरणो के अनुरूप साधना का स्वरूप बनाऊगा। इस योगाभ्यास से कई सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, किन्तु मै उनके प्रलोभन मे नहीं पड़ते हुए अपने आत्म-विकास की महायात्रा मे निरन्तर प्रगतिशील बना रहूगा।

सर्वदा और सर्वत्र प्रवर्तित रहने वाली समाधि-अवस्था तक पहुँचने के लिए मै ऐहिक और पारलौकिक फल की इच्छा न रखते हुए तप करूगा, प्राणियो का आरभ समारभ नहीं करूगा तथा धर्माराधना हेतु शुद्ध सयम का पालन करूगा। ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं मे जितने त्रस और स्थावर प्राणी है, अपने हाथ पैर और काया को वश मे करके उन्हे किसी तरह से दु ख नही दूगा तथा दूसरे द्वारा बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण नहीं करूगा। मै श्रुत धर्म और चारित्र धर्म को यथार्थ रूप से कहूगा, वीतराग देवो की आज्ञा मे नि शक बनूगा एव समस्त प्राणियो को अपने समान मानूगा। मै विवेक और समाधि मे रहते हुए अपनी आत्मा को धर्म मे स्थिर करूगा तथा प्राणातिपात आदि पापो से पूर्णतया निवृत्त होऊगा। मैं समस्त ससार को समभाव से देखूगा—न कोई मेरा प्रिय होगा, न अप्रिय। परिषह एव उपसर्ग आने पर अथवा अपनी पूजा एव प्रशंसा के अवसरो पर सयम मे मै अविचल रहूगा। असत्य के त्याग को मैं सम्पूर्ण समाधि और मोक्ष का मार्ग मानकर सत्य की आराधना करूगा। मैं न विषय विकार के लिए जीने की इच्छा रखूगा, न दु ख से घबराकर मरने की, बल्कि शरीर पर भी ममत्व को त्याग कर सासारिक बधनो से मुक्त होकर विचरूगा।

यही नहीं, मैं सर्वविरति साधु अवस्था को दीपाते हुए पडित मरण की अभिलाषा रखूगा। विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि तथा आचार समाधि का आनन्द लेकर मेरी आत्मा मे इतनी

विशुद्धता व्याप्त हो जायेगी कि अपने इस जीवन के अन्त मे मरण को सुधार कर सारे जीवन और आगामी भव को भी वह सुधार लेगी। विनय समाधि से मै जितेन्द्रिय बनूगा। श्रुत समाधि से ज्ञान प्राप्ति के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए, विवेक पूर्वक धर्म मे दृढ़ता प्राप्त करने के लिए तथा स्वय स्थिर होकर दूसरो को धर्म में स्थिर करने के लिए मैं स्वाध्यायी बनूंगा। तप समाधि की दृष्टि से मै न इस लोक के फल के लिए, न परलोक के फल के लिए और न कीर्ति, वाद, प्रशंसा या यश के लिए तप करूगा, बल्कि मात्र निर्जरा के लिए ही तप करूगा। मेरी आचार समाधि का उद्देश्य भी आश्रव निरोध और कर्म क्षय ही होगा। मै मानता हूँ कि मन, वचन और काया से शुद्ध बन कर जो व्यक्ति संयम मे अपनी आत्मा को सुस्थिर बनाता है और चारो प्रकार की समाधियो को प्राप्त कर लेता है, वह अपना तथा सबका विपुल हित करता है एवं अनन्त सुख देने वाले कल्याण रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

यह मै मान गया हूँ कि जिसको सम्यक् समाधि जीवन मे और सम्यक् समाधि मरण मे हो, वह जीवन धन्य हो जाता है। मै भी ऐसे ही धन्य जीवन की आकाक्षा रखता हूँ।

'एगे आया' की दिव्य शोभा

ऐसा सम्यक् समाधिमय जीवन और मरण ही 'एगे आया' (एकात्मा) की दिव्य शोभा का प्रतीक होता है। एकात्मता का अर्थ है सभी आत्माओं की समानता। जो निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायो को प्राप्त होता है, वह आत्मा है एव सभी आत्माओं का ज्ञान, उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण एक है अत· 'एगे आया' का सम्बोधन किया गया है।

मेरा विचार है कि यह सम्बोधन अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बोधन मे न केवल संसार की समस्त आत्माएँ सम्मिलित है, अपि सिद्ध आत्माएँ भी सम्मिलित है। चैतन्य गुण सभी आत्माओं का है। गुण की दृष्टि से सभी बद्ध एवं बुद्ध आत्माओं में एकरूपता है। न्यूनाधिक विकास की दृष्टि से पर्याय भेद होता है किन्तु पर्याय भेद से स्वरूप भेद नहीं होता। इस दृष्टिकोण की महत्ता इस सत्य मे समाहित है कि ससार मे परिभ्रमण करने वाली आत्मा अपने अष्ट कर्मों को क्षय करके परमात्मा बनती है। आत्मा ही परमात्मा बनती है जिसका मूल सन्देश यह है कि परमात्मा अर्थात् मुक्त ईश्वर बनने का सामर्थ्य मेरी अपनी आत्मा और संसारी आत्माओं मे रहा हुआ है। यह सन्देश ही ससारी आत्माओं के लिए पुरुषार्थ का प्रबल प्रेरणा स्रोत है कि ईश्वरत्व इस आत्मा से ऊपर कोई शक्ति नहीं है। इसलिए मेरे मन मे यह उत्साह समा जाता है कि मूल स्वरूप से मैं भी ईश्वर हू और ईश्वर बन सकता हूँ, काश कि ईश्वर बनने का मेरा आत्म-पुरुषार्थ पूर्ण रूप से सफल बन जाय। आत्मा अलग है और ईश्वर अलग है—ऐसा जो मानते है, वे आत्म-पुरुषार्थ का द्वार ही बंद कर देते हैं और आत्म-विकास की भावना को हताशा मे डुबो देते है। यदि यह विचार जम जाय कि मैं सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता तो मै निराश हो जाऊगा कि मैं कोई भी शक्ति अर्जित नहीं कर सकूंगा। अत· आत्मा से परमात्मा बनने की धारणा ही वास्तविक धारणा है जो ससारी आत्माओं को समाधिस्थ होने की प्रेरणा देती है कि यह समाधि ईश्वरत्व की पूर्ण समाधि मे परिवर्तित हो सकती है और जो प्राप्ति हो सकती है, उसके लिए ही सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देने की उमग सदा बनी रहती है। यही पुरुषार्थ को प्रबल बनाये रखने का प्रगतिशील पाथेय है।

प्रबल पुरुषार्थ की भावना ही मुझे और सभी प्राणियो को परस्पर एक समझने तथा एकरूप बनने की निष्ठा जगाती है। यही एकात्मता शिक्षा देती है कि परम धर्म रूप अहिंसा को अपने जीवन की समग्र वृत्तियो एवं प्रवृत्तियो मे गहराई से रमा लो—इतनी गहराई से कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल प्राणी ही उसकी अहिसा के रक्षा क्षेत्र मे न हो बल्कि पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि, वनस्पति आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव भी अहिसात्मक आचरण से सुरक्षित बन जाय। मैं इसीलिये संयम मे सुस्थिर होकर सफल साधु जीवन की आकाक्षा रखता हूँ कि जिस जीवन मे स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो की हिसा न करने न करवाने और न करते हुए को अनुमोदन देने तथा सभी जीवो को अभयदान देने का महाव्रत लिया हुआ होता है। सभी छ काया के जीवो का सरक्षण ही 'एगे आया' का विराट् रूप है— उसकी दिव्य शोभा है।

यह विराट् रूप और दिव्य शोभा मेरे अन्तर्मन में रम कर एक रूप हो जाय तभी मै अपना समस्त जीवन लोक कल्याण मे विसर्जित कर सकता हूँ। यह विसर्जन ही अहिसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण कहलायेगा। यह भी मैं मानता हूँ कि जो अहिसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण बना लेता है, वही सत्य का साक्षात्कार भी कर सकता है। मैं मानता हूँ कि आत्मविकास की इस महायात्रा मे यदि पूर्ण अहिंसामय आचरण परिपुष्ट बन जाता है तो पूर्ण सत्य का प्रकाश भी उस जीवन मे खिल उठता है। सभी सिद्धान्तो को एक शब्द मे यदि गूँथना चाहे तो वह है अहिसा। अहिसा अपनी आत्मा के प्रति कि वह कही भी हिसक न हो और सरक्षक बनी रहे तथा अहिसा ससार की समस्त आत्माओं के प्रति जो अहिसा का रसास्वादन करके निर्भय बने और सत्य शोधक बने।

मैं देखता हूँ कि इसीलिए अहिसा सम्पूर्ण धार्मिकता की सिरमौर है—परम धर्म है। अहिसा का ही विधि रूप है दया, अनुकम्पा और करुणा। यही कारण है कि मेरे सुदेवो (वीतराग देवों) ने और सुगुरुओं (निर्ग्रंथ मुनि) ने दयामय धर्म को ही 'सुधर्म' कहा है। कौन प्रबुद्ध और सहृदय ऐसा व्यक्ति होगा, जो ऐसे सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे अपनी सम्पूर्ण आस्था को प्रतिष्ठित करना नहीं चाहेगा ? ये तीनो तत्त्व जहाँ आस्था के मूल बन जाते है, वहॉ 'एगे आया' की निष्ठा भी सुदृढ़ बन जाती है और व्यक्ति स्व-पर कल्याण को अपना चरम लक्ष्य मानकर तदनुकूल पुरुषार्थमय साधना मे सलग्न हो जाता है।

'एगे आया' की इस दिव्य शोभा को मैं मेरे भीतर अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरुषार्थ करू —यह प्रश्न मेरे हृदय मे उठता है। मेरी इस जिज्ञासा का समाधान आप्त वचनों मे मिल जाता है कि मै कुछ ऐसी साधना करूँ कि वीतराग, अरिहत और तीर्थकर बन सकू। तीर्थकर वे जो लोक-कल्याण के सर्व प्राणीहितकारी कार्य करते हैं तथा सर्वात्माओं के उत्थानकारी उपदेश प्रदान करके चार तीर्थों की स्थापना करते हैं। आत्मा के तरण-स्थल को तीर्थ कहते है और तीर्थों की छाया मे प्रत्येक आत्मा को ऊर्ध्वगामिता प्राप्त होती है। ये तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका — जो व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक तीर्थ होते है। अहिंसा आदि की साधना मे जो अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर देती है। वही आत्मा साधना के उत्कर्ष के बल पर अनतज्ञानादि की अभिव्यक्ति पाती हुई भव्य आत्माओं के लिए तीर्थ रूप तारक बन जाती है। गुणमय चतुर्विध तीर्थों की स्थापना करने से ही ये महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर इसी कारण महानतम माने जाते है कि वे अरिहन्त (करमनाशक) बन कर वीतराग (राग द्वेष नाशक) तो होते ही हैं किन्तु लोक

कल्याण के शिखर पर विराजमान होकर तीर्थकरत्व भी धारण करते हैं। वे सर्वहित मे समाहित हो जाते है। सर्वहित मे समाहित हो जाने वाले महापुरुष ही सर्वोच्च कहे जाते है।

तो मै अपने अन्तःकरण मे आकांक्षा रखता हूँ कि मै भी तीर्थकर बनूं और मेरी यह आकाक्षा पुरुषार्थमय उत्साह से परिपूरित है। आकांक्षा रखने से ही कोई भी आकाक्षा सफल नहीं हो जाती है अपितु उसके योग्य पुरुषार्थ करने की अपेक्षा रहती है। मै आशावान हूँ कि मेरी आकाक्षा सफल हो सकती है और इसी कारण मै परम पुरुषार्थी भी होना चाहता हूँ। मेरे सुदेवो ने मुझे भी सुदेव बन जाने का मार्ग दिखा रखा है और मै उसी पर चल कर अपनी इस आकाक्षा को पूर्ण करना चाहता हूँ। मै निम्नानुसार पुरुषार्थ कर सकू तो मै भी तीर्थंकर बन सकता हूँ :

(१) मै उन अरिहन्त भगवान् के गुणो की नित स्तुति करू और उनकी विनय भक्ति करू, जिन्होंने चार घनघाती कर्मों का नाश कर दिया और जो अनन्त ज्ञान-दर्शनादि से सम्पन्न बन इन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय बन गये।

(२) मैं उन सिद्ध भगवान् का भी गुणग्राम करू और उनकी विनय भक्ति करूं जो सकल कर्मों के नष्ट हो जाने से कृतकृत्य हो गये, परम सुख एव ज्ञान-दर्शन में लीन बन गये तथा लोकाग्र स्थित सिद्ध शिला से ऊपर ज्योति रूप विराजमान हो गये।

(३) मै विनय भक्ति पूर्वक प्रवचन का ज्ञान सीखूँ और उसकी आराधना करूं तथा प्रवचन के ज्ञाता पुरुषो की विनय भक्ति करू, उनका गुणोत्कीर्तन करू तथा उनकी आशातना टालूं। बारह अगो (आगमो) के ज्ञान को प्रवचन कहते है तथा उपचार से प्रवचन ज्ञान के धारक सघ को भी प्रवचन कहते है।

(४) मै धर्मोपदेशक गुरु महाराज की बहुमान भक्ति करू, उनके गुण प्रकाश मे लाऊ एव आहार, वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करू।

(५) मैं स्थविर महाराज के गुणो की स्तुति करूं, उनकी वन्दनादि रूप से भक्ति करूं तथा प्रासुक आहारादि द्वारा उनका सत्कार करू। जाति, श्रुत और दीक्षा पर्याय के भेद से स्थविर (१) वयः स्थविर (आयुवृद्ध) (२) सूत्र स्थविर (ज्ञानवृद्ध) तथा (३) प्रव्रज्या स्थविर (दीक्षावृद्ध) रूप से तीन प्रकार के होते है।

(६) मै बहुश्रुत मुनियो की वन्दना-नमस्कार रूप भक्ति करूं, उनके गुणो की श्लाघा करू, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं तथा उनके अवर्णवाद या उनकी आशातना का परिहार करू। प्रभूत श्रुतज्ञानधारी मुनि को बहुश्रुत कहते है जो सूत्र-बहुश्रुत, अर्थ-बहुश्रुत या उभय बहुश्रुत होते है।

(७) मै तपस्वी साधुओं की विनय भक्ति करू, उनके गुणो की सराहना करू, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करू एव उनके अवर्णवाद व उनकी आशातना का परिहार करू। तपस्वी मुनिराज वे जो अनशन-ऊणोदरी आदि छ· बाह्य तपो तथा प्रायश्चित-विनय आदि छ आभ्यन्तर तपो की कठोर आराधना करते है।

(८) मैं निरन्तर ज्ञान मे अपना उपयोग बनाये रखू।

(९) मैं निरतिचार (बिना अतिचार लगाये) शुद्ध सम्यक्त्व धारण करू।

(१०) मैं ज्ञान आदि का यथायोग्य विनय करू।

(११) मै भावपूर्वक शुद्ध आवश्यक प्रतिक्रमण आदि कर्त्तव्यो का पालन करू।

(१२) मै निरतिचार शील और व्रत अर्थात् मूल गुण एव उत्तर गुणो का पालन करू।

(१३) मै सदा सवेग भावना एव शुभ ध्यान का सेवन करता रहू।

(१४) मै यथाशक्ति बाह्य एव आभ्यतर तपो की आराधना करता रहू।

(१५) मैं सुपात्र को साधुजनोचित प्रासुक अशन आदि का दान दूं।

(१६) मैं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, सहधार्मिक, कुल, गण, सघ की भक्तिभावपूर्वक वैयावृत्त्य करू जो इस प्रकार हो सकती है कि मै आहार लाकर दू, पानी लाकर दू, आसन लाकर दू, उपकरण की प्रतिलेखना करू, पैर पूजू, वस्त्र दू, औषधि दू, मार्ग मे सहायता दू, दुष्ट, चोर आदि से रक्षा करू, उपाश्रय मे प्रवेश करते हुए म्लान या वृद्ध साधु की लकड़ी लू, तथा उनके उच्चार, प्रश्रवण एव श्लेष्म के लिये पात्र दू।

(१७) मै गुरु आदि का कार्य-सम्पादन करू तथा उनके मन को प्रसन्न रखू।

(१८) मैं नवीन ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करता रहू।

(१९) मै श्रुत की भक्ति और बहुमान करू।

(२०) मैं देशना द्वारा प्रवचन की प्रभावना करूं।

ये बीस बोल (बातें) हैं जिनकी मै जितनी गहराई से साधना कर सकू, करू तो मैं आशा रख सकता हूँ कि इस साधना के फलस्वरूप मै भी कभी तीर्थकर पद प्राप्त कर सकूगा। यह तीर्थकर पद 'एगे आया' की दिव्य शोभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। मेरा लक्ष्य तो सर्वकर्म मुक्त सिद्धावस्था पाना है।

चौथा सूत्र और मेरा सकल्प

मै सुज्ञ हूँ इसलिए अपने और सबके कल्याण का सुमार्ग जानता हूँ और मैं सवेदनशील हूँ अत· दयामय हूँ- किसी के दु·ख को देख नहीं सकता तो भला अपनी ही आत्मा के दु खो को क्या मैं देख सकूंगा ? और जब मैं उन्हे देखूगा तो मुझे लगेगा कि मेरे अपने मानस वचन और कर्म की तुच्छता से बढ़कर मेरे लिये और क्या दु ख हो सकता है ? मेरी सुज्ञता और मेरी सवेदनशीलता मुझे अनुप्राणित करती है कि मैं अपनी जड़ग्रस्तता के स्वरूप और उसके कारणो की खोज करू। यह खोज मुझे बताती है कि यह सारी जड़ग्रस्तता मुझे अष्ट कर्मों से बाधती है तो फिर ये बधे हुए अष्ट कर्म मेरे भीतर अज्ञान एवं अविवेक की मौजूदगी से मेरी जड़ग्रस्तता को बढ़ाते ही रहते हैं तथा मेरी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को अधिकाधिक तुच्छ व हीन बनाते रहते है।

यह तुच्छता और हीनमन्यता ही मेरी सबसे बड़ी आन्तरिक दुर्बलता बन जाती है जिसकी वजह से मेरी दृष्टि विकृत बनकर अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को ही नहीं देख पाती है, मेरा ज्ञान मेरे दमित पुरुषार्थ को जगा नहीं पाता है एव मेरा उपयोग अपने ही विकारग्रस्त स्वरूप की गहरी परतो को भेद नहीं पाता है। इसलिये मैं सकल्प लेता हूँ कि मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कर्म की तुच्छता को मूल से मिटा देने का कठिन पुरुषार्थ करूगा और यह पुरुषार्थ होगा शुभ कर्मों के

बंध से लेकर सम्पूर्ण कर्म क्षय तक का और मेरे इस पुरुषार्थ का अवलम्बन होगा वह दयामय सुधर्म जो अन्त करण को करुणा से आप्लावित करता हुआ समस्त विश्व को दयामय बना देने की क्षमता रखता है।

सुमर्यादित रहकर मैं सकल्प लेता हूँ कि मै ऐसे दयामय धर्म की आराधना करूंगा। लोक कल्याण से अपनी महानता का निर्माण करूंगा तथा 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

अध्याय छः

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ५ :

मै समदर्शी हूँ, ज्योतिर्मय हूँ!

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है,

वचन कैसा-कैसा निकलता है और

काया किधर-किधर बहकती है?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अधकार की परतो मे पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख-सुविधाओ की ही प्राप्ति हेतु विषय-कषायो मे उलझकर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य-अप्रिय तथा कर्म कितना विद्रूप-अधर्ममय हो गया है? मै दृढ सकल्प के साथ मन, वचन एव काया के योगो को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूगा तथा भावनाओ के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूँगा।

पांचवां सूत्र

मैं समदर्शी हूँ क्योंकि समदर्शिता मेरी आत्मा का मूल गुण है। मेरी यह समदर्शिता मेरे समभाव से उपजती है और समतामय बन कर पूर्णता प्राप्त करती है। मै जब समग्र विश्व को समभाव से देखता हूँ, तब मेरी समदृष्टि होती है। समभाव और समदृष्टि एकमेक होकर जब मेरे प्रत्येक कर्म मे समाविष्ट हो जाते हैं तब मेरा समूचा जीवन समता से ओतप्रोत बन जाता है। तब मैं न किसी को ऊँचा देखता हूँ, न किसी को नीचा। मैं न किसी का प्रिय करता हूँ, न किसी का अप्रिय। मै तब अपने पराये के भेद से परे हो जाता हूँ। मेरी समदर्शिता मुझे निरपेक्ष आत्म-दृष्टा बना देती है।

मै समदर्शी हूँ क्योंकि मै सुज्ञ हुआ और सवेदनशील बना। मैं सबको अपना मानने लगा और मैंने अपना अपनत्व सबमे घोल दिया। सब मेरे और मै सबका हो गया। स्व तथा पर के प्रति मेरी अभिन्न दृष्टि बन गई। मै समदर्शी हो गया एव स्वरूप को जान गया तथा उस पर श्रद्धावत बन गया।

मैं समदर्शी हूँ इसलिए सवको—समस्त जीवो को समान भाव से देखता हूँ। सबको देखता हूँ तो अपने को भी देखता हूँ अपनी आत्मा को भी देखता हूँ। अपनी आत्मा के मूल गुणो को भी देखता हूँ तो उसके विकारो को भी देखता हूँ। जब मै अपनी ही आत्मा के मूल गुणो को देखता हूँ और अपनी समदर्शिता का रसास्वादन करता हूँ, तब अनुभूति लेता हूँ कि मेरे अन्त करण मे अमृत ही अमृत भरा हुआ है—ऐसा अमृत जो मुझे ही अमर नहीं बना देगा अपितु जहाँ-जहॉ वह झरेगा, वहॉ वहाँ अमरता की अमर बेल को सीचता चलेगा। अमृत झरता है तो अमिट शान्ति का झरना बह निकलता है और उस झरने के शीतल जल का जो भी स्पर्श पा जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

एक समदर्शी महात्मा थे। वे पाद विहार से एक नगर मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक खुली जगह मे कई पुरुष, कई स्त्रिया और कई बालक आश्रयहीन होकर भयकर शीत से ठिठुरते हुए बैठे थे। उनका हृदय अनुकम्पा से भर उठा। वे उनके पास तक चले गये और बोले —क्या आप लोग निराश्रित हैं? हाँ महाराज, इसलिये ही तो यहाँ है—उन्होंने उत्तर दिया। महात्मा को क्या सूझा सो उन्होंने कह दिया—आओ, सभी मेरे साथ चलो। वे आगे हो गये और पीछे भीड़। चलते हुए वे सीधे राजमहल मे पहुँच गये। महात्मा आये है—यह देखकर राजा ने उनका स्वागत किया किन्तु पीछे आम आदमियो की भीड़ को देखकर झुझला उठा। वह धैर्य न रख सका और बोल पड़ा —आप पधारे सो श्रेष्ठ, किन्तु इन नीच लोगो को अपने साथ यहाँ कहाँ ले आये है? यह मेरा राजमहल है, यहाँ मेरी महारानियाँ रहती हैं, मेरे राजकुमार और मेरी राजकुमारियाँ रहती है। इन्हे मेरे यहाँ राजमहल के भीतर तक लाकर आपने शोभनीय कार्य नही किया है। महात्मा शान्त भाव से बोले—तुम्हारा विचार समीचीन नहीं है कि यहाँ सब कुछ तुम्हारा ही है। तुम भी यहाँ रह रहे हो, ये लोग भी रह लेगे। यहाँ बहुत स्थान है —निराश्रित देखकर ही मैं इन्हे यहाँ ले आया हूँ। राजा की

भौंहे तन गई, चेहरा लाल होने लगा और उसके विद्रूप से वचन निकले —महात्मन्, शायद आपने अपना विवेक खो दिया है, तभी तो ऐसी अनर्गल बात कह रहे हैं!

महात्मा का शान्त भाव और गहरा हो गया। वे स्नेह से भी भर उठे, कहने लगे —राजन्, ये लोग भी दु.खी थे और तुम भी दु खी हो। मुझसे किसी का दु ख नहीं देखा जाता—इसीलिए कह रहा हूँ और तुम इसे अनर्गल बताते हो। राजा कुपित हो उठा—मेरे इस वैभव को देखकर भी आप कहने की हिम्मत कर रहे हैं कि मैं दु खी हूँ। हॉ राजा, क्या वैभव है तुम्हारा ? धर्मशाला मे ही तो रह रहे हो न ? महात्मा की यह बात सुनकर तो राजा आपे से बाहर हो गया —आप हद से बाहर जा रहे है जो मेरे राजमहल को धर्मशाला बता रहे है!

महात्मा तो समदर्शी थे, राजा को भी यथार्थ रूप मे सुखी बनाना चाहते थे उसको उसकी ममत्त्व-मूर्छा से दूर हटाकर। बोले—अच्छा, राजन् तुम यहाँ कितने वर्षों से रह रहे हो ? राजा बोला—जन्म हुआ तब से। महात्मा ने पूछा—तुम कितने वर्ष के हो ? राजा ने कहा —पैंतीस वर्ष का। महात्मा पूछते गये —तुम्हारे पिता कब स्वर्ग सिधारे ? दस वर्ष पहले। तुम्हारे दादा कब स्वर्ग सिधारे ? साठ वर्ष पूर्व। तुम्हारे जन्म से पहले यहाँ कौन रहता था ? मेरे पिता रहते थे। उनके पहले कौन रहता था ? मेरे दादा रहते थे। तुम्हारे स्वर्ग सिधार जाने के बाद यहाँ कौन रहेगा ? मेरा राजकुमार रहेगा। तब महात्मा ने बात के मर्म को पकड़ा व कहा —तब तुम कैसे कहते हो कि यह राजमहल तुम्हारा है ? तुम्हारे पिता, पिता के पिता, पिता के पिता और कई लोग रहते आये है और यहॉ तुम्हारे राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार और कई लोग रहते रहेगे— फिर यह राजमहल ही कहाँ रहा ? धर्मशाला नहीं हो गया क्या ? धर्मशाला मे क्या होता है —एक आता है और एक जाता है। आने जाने के क्रम से ही धर्मशाला बनती है और धर्मशाला किसी की अपनी नही होती— फिर यह राजमहल तुम्हारा ही कैसे हैं ? ये लोग भी यहाँ क्यो नहीं रह सकते है ? जैसे इस धर्मशाला में तुम अपने परिवार सहित रहते हो, वैसे ये लोग भी रह लेगे।

राजा सुनता रहा, सुनता रहा। उसे कुछ उत्तर देते नहीं बना। महात्मा की समदर्शिता उसकी दृष्टि मे उतरने लगी। उसके भीतर के कपाट खुल गये। वह भाव विह्वल होकर महात्मा के चरणो पर लोट गया, झरते आसुओं से बोला—महात्मन्, आपने मेरी बद आखे खोल दी है। मै अंधा था और यह सब कुछ जो मेरा नहीं है, मेरा मानकर मूर्छाग्रस्त हो रहा था। अब मुझमे और इन लोगो मे भेद नहीं है। इन्हे यहीं रहने की आज्ञा दे दीजिये महात्मन्, और आप भी यहीं विराजिये ताकि मेरी आखे फिर से बन्द न हो। मै समदर्शिता की प्रकाश किरण देख चुका हूँ।

मैं समदर्शी हूँ महात्मा के समान कि मुझे राजा और रक एक समान दिखाई देते हैं। मै समदर्शी बनता हूँ राजा के समान कि समदर्शिता का अमृत अहर्निश पीता रहूँ। मैं मिट्टी को सोना समझू और सोने को मिट्टी के समान मानू। ममत्त्व से ऊपर उठ कर मै प्रत्येक आत्मा मे अपनी ही आत्मा के दर्शन करू।

मैं समदर्शी हूँ, तभी तो मै ज्योतिर्मय हूँ। मेरी समता मुझे भीतर बाहर से एक अनूठे आलोक से आलोकित कर देती है। मै ज्योतिर्मय हो जाता हूँ या यो कहूँ कि मेरे लिये समग्र विश्व ही ज्योतिर्मय हो जाता है। मुझे कहीं भी अधकार दिखाई नहीं देता-न भीतर, न बाहर। प्रकाश ही प्रकाश फैला है अन्तरगता मे और वहिरगता मे। यह प्रकाश ही मेरा पथ है और पाथेय भी। यह

प्रकाश मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं, मैं ही हूँ। मैं ही ज्योतिर्मय हूँ क्योंकि सम्पूर्ण रूप से ज्योति मे विगलित होकर एक दिन मात्र ज्योतिर्मय हो जाने वाला हूँ।

मै ज्योतिर्मय हूँ—मुझे अपने भीतर जगमगाती हुई ज्योति को प्रकटित करनी ही है और इसलिए समदर्शी भी होना ही है। और समदर्शी होना है तो समभावी बनना है तथा समभावी बनना है तो अपने मन, वचन व शरीर को विषय-कषायो के अशुभ योग व्यापार से बाहर निकालना ही होगा तथा अपने मन, वचन एव कर्म को समता से आप्लावित बना कर एक रूप करना ही होगा।

भौतिक सुखो की कामनाएँ

राजा की तरह मानव को भी महात्मा का ससर्ग-बोध मिलेगा जब मिलेगा। लेकिन अभी तो वह स्वय राजा बना हुआ है और वह सोचता है यह कि भवन मेरा अपना है, कौन इसमे प्रवेश करने का साहस कर सकता है? मैं उसे सबक सिखा दूगा। इसकी सम्पत्ति मेरी अपनी है- मैने अर्जित की है—कोई इसे छू कर देखे। यह परिवार, यह पत्नी, ये पुत्र पुत्री मेरे अपने है —इनके सुख मे ही तो मेरा सुख रहा हुआ है। और मेरा यह सुभग शरीर—इसे मै किसी भी तरह कष्टित नहीं करना चाहता। इसी विचार धारा मे वह आगे विचार करता है कि वह सब मेरे अपनो के लिए सुख-सामग्री चाहिये-सुविधा चाहिये। सामान्य सुविधा नहीं, भव्य सुविधा, ससार मे उपलब्ध अधिक से अधिक ऊँची सुविधा। इन सुविधाओं के बारे मे भी, प्राप्त मेरे लिये नगण्य हो जाती है और प्राप्य का क्षेत्र अति विस्तृत बन जाता है क्योकि मेरी कामनाऍ अपार है। जो चारो ओर दिखाई देता है, मेरा मन करता है कि यह भी हो, वह भी हो और जो कल्पना लोक मे ही घूमती हैं, वे सुविधाएँ भी मुझे मिले। बाह्य ससार मे जितना भौतिक सुख और वैभव है, वह सब मुझे प्राप्त हो जाय। मेरी इच्छाओं का मेरी कामनाओं का अन्तिम छोर मुझे कही भी दिखाई नही देता।

वह सोचता है कि मुझे धन चाहिये—अपार धन चाहिये। मुझे सत्ता चाहिये—अखडित सत्ता चाहिये। लोग मुझे उच्च माने, मेरे वर्चस्व को अपने सिर-माथे स्वीकारे और दिक्-दिगन्त मे मेरी यश कीर्ति की पताका फहरावे। उसे इस ससार के भौतिक सुख कितने चाहिये—इसका उसको खुद को अनुमान नहीं। जो प्राप्त होता जाता है, उसे भूलता रहता है। और प्राप्य के लिये भाग दौड़ करता है। इस भाग दौड़ का कहीं अन्त नहीं है। लाभ बढ़ता है लोभ बढ़ता है और ये लोभ-लाभ बढ़कर मुझे ममत्त्व की मूर्छा मे सुलाते रहते हैं। मैं सज्ञाहीन सा बनकर समझ भी नहीं पाता हूँ कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है?

इतना ही नहीं, भौतिक सुखो की ये कामनाएँ मन मे रात दिन चिन्ता रूपी ज्वालाएँ जलाये रखती है। कहाँ से कितना अधिक प्राप्त कर सकूँ—यही धुन सवार रहती है। भौतिक सुखो के सदर्भ मे मुझे इस ससार मे दो प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। एक तो वह वर्ग है कुछ लोगो का, जिनके पास अतुल वैभव, अबाध सत्ता और विपुल भोग-सामग्री विद्यमान है, फिर भी उन लोगो की तृष्णा थमी नहीं है। वे अपनी सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियो के जोर से अधिक से अधिक अर्जित करते चले जाना चाहते है इस हकीकत का बिना खयाल किये कि उनकी वह सक्रिय तृष्णा कितने लोगो के जीवन को भारी आघात पहुँचा रही है। कुछ लोगो का यह वर्ग भौतिकता मे मदमस्त बना हुआ है। कई लोगो का दूसरा ऐसा वर्ग है जो आर्थिक रूप से अति अभावग्रस्त है—जीवन निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ तक इन लोगो को प्राप्त नहीं है। एक तो वे अपने ही अभाव से दु खी है तो

दूसरे, सम्पन्न वर्ग के विलासी जीवन को देखते हुए सामाजिक विषमता से भी दु:खी हैं। यह अभावग्रस्त वर्ग अपनी अनुभव कटुता एव विचार विश्रखलता मे कई बार अपना सन्तुलन खो बैठता है क्योकि इन लोगो की भौतिक कामनाएँ भी उद्दाम हो जाती है। अपवाद दोनो वर्गों मे मिलेंगे, किन्तु अधिकाशत दोनो ही वर्गों मे अनैतिकता फैलती हुई दिखाई देगी। एक प्रकार से वर्तमान की आर्थिक विषमता भी भौतिक सुखो के लिये अभावग्रस्त या सम्पन्न, दोनो वर्गों की कामनाओं को भयकर रूप से भड़काती है। यदि समाज मे फैली आर्थिक विषमता मिटे और समानता का वातावरण बने तो नैतिकता एव धार्मिकता की कई समस्याएँ भी सुन्दर समाधान पा सकती हैं।

परिग्रह की परिभाषा करते हुए मैंने अनुभव किया था कि एक व्यक्ति बिना परिग्रह रखे हुए भी परिग्रही या परिग्रहवादी हो सकता है तथा दूसरा व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रह रखकर भी अनासक्तता के कारण अपरिग्रही या अपरिग्रहवादी जैसा हो सकता है। परिग्रह का भाव रूप अर्थ-विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जो ममत्त्व के रूप मे माना गया है। ममत्त्व का सम्बन्ध धन रूप परिग्रह से भी अधिक भावना के साथ होता है। परिग्रह नही है, अभावग्रस्त स्थिति है फिर भी अगर हाय-हाय लगी हुई है तो वह ममत्त्व की मार से परम दु खी रहेगा। किन्तु आज दुरावस्था ऐसी है कि सम्पन्नो मे से भी अधिकाश तथा अभावग्रस्तो मे से भी अधिकाश लोग ममत्त्व की मार से दु:खी बन कर येन केन प्रकारेण परिग्रह, अर्थ के उपार्जन की अधी दौड़ मे बेभान भागे जा रहे है। वे यह भी नहीं सोच पाते कि जो अगणित कामनाएँ उन्होंने पाल रखी है या वे पालते हुए चले जा रहे हैं, क्या वे पूरी होने लायक भी हैं अथवा क्या उनका सारा श्रम उनकी पूर्ति कर लेने मे समर्थ है? शान्त चित्त से वे इतना भी सोच ले तब भी कामनाओं के बोझ और तनाव को वे घटा सकते है। इतने—से चिन्तन के बाद तो वे अहिसामय आचरण के लिये भी जागरूकता ग्रहण कर सकते हैं कि वे अपने उपार्जन का अधिक सचय न होने दे बल्कि अधिक का सविभाग करते रहे।

किन्तु मै देखता हूँ कि भौतिक सुखो की कामनाओं के पीछे अधिकाश व्यक्ति सत्ता और सम्पत्ति के उपार्जन मे बुद्धि और विवेक को तिलांजलि देकर मानो पागलो जैसी क्रियाएँ कर रहे हैं। अर्थ उनके माथे चढ़ गया है और वे भूत से अभिभूत बने जैसे भाग रहे है।

विषयान्ध इन्द्रियों का जाल

मै सोचता हूँ कि मानव की अर्थोपार्जन की ऐसी अधी दौड़ आखिर क्यो चल रही है? क्या होगा अधिक से अधिक अर्थ उपार्जित और सचित कर लेने के बाद? अर्थ के मामले को लेकर समझदार मनुष्य भी अपना सन्तुलन क्यो खो देता है?

मै विचार करता हूँ कि अर्थोपार्जन की अँधता का प्रधान कारण है इन्द्रिय सुख। निर्वाह की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तक के अर्थोपार्जन को तो छोड़ दे और उससे नीचे के वर्ग की दुर्दशा को भी एक वार अलग कर दे, किन्तु उन लोगो के लिये सोचे जो निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक और वहुत अधिक अर्जन करते है। क्या उद्देश्य होता है उनके अधिक से अधिक अर्थोपार्जन का? यही कि वे अपनी पाचो इन्द्रियो के विभिन्न विपयो को अधिक से अधिक विलास सामग्री के साथ भोगे। यह विषयान्ध इन्द्रियो का ही जाल होता है कि मनुष्य परिग्रही और परिग्रहवादी वनता है तया ममत्त्व के जटिल वन्धनो से स्वयं ही वध जाता है।

ये इन्द्रिया कैसी और कितनी होती है तथा ये अपने किन-किन विषयो रमणस्थलो मे भ्रमण करती है—इसकी जानकारी मानव को होनी चाहिये, तभी इनके स्वरूप को समझ कर इन्हे उन स्थलो से हटा सके जहा इन्हे रमण नहीं करना चाहिये तथा उन स्थलो पर नियोजित किया जाय जहॉ इन्हे रमण करना चाहिये।

ये इन्द्रियाँ शरीर की अगभूत होती है, जिसमे आत्मा निवास करती है। चूकि आत्मा सर्व वस्तुओं का ज्ञान करने वाली तथा भोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न क्षमता वाली होने से इन्द्र कहलाती है, इसके इन अगो को इन्द्रिय कहते है। ये इन्द्रियॉ आत्मा द्वारा इष्ट, रचित, सेवित और प्रदत्त होती है। अत इन्द्रियाँ शरीर के उन साधनो को कहेगे जो सर्दी, गर्मी, काला, नीला, गरम, ठडा आदि विषयो का ज्ञान करती है, तथा जो अगोपाग व निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती है।

ये इन्द्रियॉ पाच प्रकार की होती हैं।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय—जिसके द्वारा जीव, अजीव तथा मिश्र शब्द का ज्ञान होता है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय—जिसके द्वारा पाच प्रकार के वर्णो का ज्ञान किया जाता है।

(३) घ्राणेन्द्रिय—जिसके द्वारा आत्मा सुगंध और दुर्गध को जानती है।

(४) रसनेन्द्रिय—जिसके द्वारा पाच प्रकार के रसो का ज्ञान किया जाता है।

(५) स्पर्शेन्द्रिय—जिसके द्वारा आठ प्रकार के स्पर्शो का ज्ञान होता है।

इन पाच प्रकार की इन्द्रियो की विशेष प्रकार की बनावट को सस्थान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यतर। इन्द्रियो का बाह्य सस्थान भिन्न भिन्न जीवो के भिन्न भिन्न प्रकार का होता है—सभी के इन्द्रियो का बाहरी आकार एक-सा नही होता हैं किन्तु इन्द्रियो का आभ्यन्तर सस्थान सभी जीवो का एक-सा होता है। इसलिये इन्द्रियो के आभ्यतर सस्थान का रूप इस प्रकार होता है— (१) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का सस्थान कदम्ब के फूल जैसा होता है। (२) चक्षुरिन्द्रिय (आखे) का सस्थान मसूर के दाल जैसा। (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक) का आकार अति मुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा। (४) रसनेन्द्रिय (जीभ) का सस्थान खुरपे जैसा तथा (५) स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) का आकार अनेक प्रकार का होता है।

अनभिज्ञ मनुष्य ही काम—परायण होते है, क्योंकि काम जीवन की समस्त शक्तियो का विनाशक होता है। इन्द्रिय-जन्य उपभोग की कामना करना सत्व रूप काम है तो शब्द, रूप, गध, रस व स्पर्श का भोग करना द्रव्य काम कहलाता है। काम मूलत दो प्रकार का कहा गया है—(अ) असम्प्राप्त अर्थात वैचारिक, जो दस प्रकार से उत्पन्न होता है— (आ) सम्प्राप्त अर्थात् मैथुनिक जो चौहद प्रकार से भोगा जाता है —

इसी प्रकार काम वेग दस प्रकार के परिणामो मे प्रकट होता है— (१) चिन्ता भोग सम्बन्धी सोच विचार मे पड़े रहना (२) दर्शनेच्छा —स्त्री मुख को देखते रहने की कामना करना (३) दीर्घ निश्वास—भोग पूर्ति न होने पर अथवा भोग चिन्ता मे निराशापूर्ण श्वास लेना (४) ज्वर—काम ताप से पीड़ित हो जाना (५) दाह —काम ताप से बुरी तरह जलना (६) भोजन अरुचि—शारीरिक पीड़ा से भोजन मे अरुचि पैदा हो जाना (७) महामूर्छा—अचेतनावस्था के दौरे पड़ना या

अचेतनावस्था बनी रहना (८) उन्मत्तता पागलपन के दौरे उठना (९) प्राणो मे सन्देह बार बार मरणवत् स्थिति का बन जाना तथा (१०) मरण—दयनीय दशा मे मृत्यु हो जाना।

एक कामी पुरुष का इस रूप मे आरभ और अन्त होता है। आरंभ उसे भोगने में बड़ा मधुर महसूस होता है किन्तु ऐसा कटुक अन्त सहते हुए भी उससे सहा नहीं जाता है। अत्यन्त मूर्छा भावो मे उसका मरण परम दु:खदायी हो जाता है। यह समझने की आवश्यकता है कि ऐसे घोर दु:ख देने वाले भीषण परिणाम युक्त इन पाचो इन्द्रियो के विषय और विकार क्या और किस रूप के होते है जो मनुष्य को लुभाकर उसका दु खद अन्त कर देते है।

पाच इन्द्रियो का विषय परिमाण भी इस प्रकार बताया गया है—(१) श्रोत्रेन्द्रिय जघन्य अंगुल के असख्यातवें भाग से उत्कृष्ट बारह योजन से आये हुए शब्दान्तर और वायु आदि से अप्रतिहत शक्ति वाले शब्द पुद्गलो को विषम करती है। यह इन्द्रिय कान मे प्रविष्ठ शब्दो को स्पर्श करती हुई ही जानती है। (२) चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ दुरी पर रहे हुए अव्यवहित रूप को देखती है। यह अप्राप्यकारी है। इसलिये रूप का अस्पर्श करके उसका ज्ञान करती है। (३-५) घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय—ये तीनो इन्द्रिया जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग उत्कृष्ट नव योजन से प्राप्त अव्यवहित विषयो को स्पर्श करती हुई जानती है। इन्द्रियो का यह जो विषय परिमाण है उसे आत्मागुल से जानना चाहिये।

इन पाचो इन्द्रियो के काम-गुण होते है क्रमश शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श। ये पाचों काम अर्थात् अभिलाषा उत्पन्न करने वाले गुण होते है। इन पाचो विषयो को प्रमाद जनित माना गया है। शब्द, रूप आदि पाचो विषयो मे आसक्त प्राणी विषाद आदि को प्राप्त होते हैं अत. इन्हें विषय का नाम दिया गया है। शब्द, रूप आदि विषय भोग के समय मधुर होने से तथा परिणाम मे अति कटुक होने से विष से उपमित किये जाने के कारण भी विषय कहलाते है। इस विषय प्रमाद से व्याकुल चित्त वाला जीव हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, इसलिये इन इन्द्रियो के माध्यम से अकृत्य का सेवन करता हुआ वह चिर काल तक ससार के दु खो मे परिभ्रमण करता रहता है। पाचो प्रकार के विषयो मे आसक्त प्राणियो मे क्रमश हिरण, पतगा, भवरा, मछली तथा हाथी के दृष्टान्त दिये जाते है, जो अपने इन्द्रिय—विषयो मे इतनी गहराई से डूब जाते है कि उन्हे अपने प्राणान्त तक का भान नहीं होता। उसी प्रकार पाचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त जीव भी विषय का उपभोग करते हुए कभी तृप्ति का अनुभव नही करता है। विषय भोग मे प्रवृत्त रहने से विषयेच्छा शान्त न होकर उसी प्रकार बढ़ती जाती है जिस प्रकार अग्नि मे घी डालने से उसकी ज्वालाए बढ़ती जाती है। विषय भोग मे अति आसक्ति वाले जीव के दु ख तो इसी जीवन मे देखने को मिल जाते है और वैसा जीव परलोक मे भी नरक एव तिर्यच योनियो के महादु ख भोगता है। इसलिये विषय भोगो से निवृत्ति लेने तथा विषयान्ध इन्द्रियो के मोह जाल को तोड़ देने को ही कल्याणकारी कहा गया है।

पाचो इन्द्रियो के तेईस विषय तथा दो सौ चालीस विकार माने गये हैं —(अ) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय— (१) जीव शब्द, (२) अजीव शब्द तथा (३) मिश्र शब्द। विकार-कुल बारह—तीनो प्रकार के शब्दो की शुभता और अशुभता से छ तथा छ पर राग और छ पर द्वेष होने से वारह। (ब) चक्षुरिन्द्रिय के विषय (१) काला (२) नीला (३) पीला (४) लाल और (५) सफेद। विकार

कुल साठ —पांचो विषयो के सचित्त, अचित्त तथा मिश्र के भेद से पन्द्रह और पन्द्रह अपनी शुभता व अशुभता से तीस तथा राग और द्वेष से साठ। (स) घ्राणेन्द्रिय के विषय —(१) सुगंध एव (२) दुर्गंध। विकार बारह —दोनो के सचित्त, अचित्त एव मिश्र के भेद से छ तथा इन पर राग और द्वेष से बारह। (द) रसनेन्द्रिय के विषय—(१) तीखा (२) कड़ुआ (३) कषैला (४) खट्टा और (५) मीठा। विकार साठ —पांचो विषयो के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप से पन्द्रह तथा पन्द्रह अपनी शुभता और अशुभता से तीस तथा तीस पर राग और द्वेष से साठ हुए। (य) स्पर्शेन्द्रिय के विषय—(१) कर्कश (२) मृदु (३) लघु (४) गुरु (५) स्निग्ध (६) रूक्ष (७) शीत और (८) ऊष्ण। विकार छियान्वे—आठ विषयो के सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से चौबीस तथा चौबीस अपनी शुभता और अशुभता से अड़तालीस तथा राग और द्वेष से छियान्वे। इस प्रकार सब मिलकर २४० विकार हुए।

मैं उपरोक्त विश्लेषण की कुछ गहराई मे उतरना चाहता हू। पाचो इन्द्रियो के जो अपने अपने विषय है, उन्हे ग्रहण करना उनका स्वभाव है और इसे सामान्य स्थिति ही मानेगे। जैसे कि आख का विषय है रगो को देखना। जो रग उनके सामने आवेगे, वे उनके दृष्टि पथ से गुजरेगे। जहा तक समक्ष आये हुए दृश्य पटलो का आखो के दृष्टि पथ से सामान्य रीति से गुजरने का सवाल है, वहा तक कोई बुराई की बात नही है। बुराई वहा से पैदा होती है जहा से आसक्ति शुरू होती है। कल्पना करे कि आखौं के सामने कोई सुन्दर रूप आया, उसे एक तो आखो ने स्वभावगत सामान्य रीति से देख लिया और वे अप्रभावित-सी रही और दूसरे, आखो ने उस सुन्दर रूप को देखा, देखते रहने की कामना जागी और देखकर व्यामोह-सा होने लगा—आकर्षण पैदा हो गया तो समझे कि वह उन आखो का आसक्ति भाव है। यह आसक्ति मन्द होगी तो आखे उसे देखती हुई कुछ तृप्ति या कुछ अतृप्ति लेकर आगे बढ़ जायगी। यदि वह उग्र होगी तो वह वचन मे उतर सकती है या काया के हाव-भाव मे भी उतर सकती है। वैसी आसक्ति कोमल व्यवहार से अपनी कामना पूर्ति कर सकती है अथवा क्रूर व जघन्य रूप भी धारण कर सकती है। इस आसक्ति के उग्र रूप कई प्रकार के हो सकते है।

तो मैं मानता हू कि इन्द्रियो के विषय इतने मुख्य नही, जितने उनमे आसक्ति के भाव मुख्य होते है। और यह आसक्ति मन का विषय बन जाती है। मन को जब बल मिलता है तो ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो का सेवन करने मे अधी और बावली हो जाती है। यह अधापन और बावलापन अध पतन की कितनी नीची हद तक पहुच सकता है— इसके दृश्य ससार मे चारो ओर नजर मे आते रहते हैं। इन्द्रियो का यह अधापन और बावलापन दो तरीको से फूटता हैं। एक तो आखो के सामने सुन्दर रूप आता है तब फूटता है और दूसरा जब आखो के सामने इतना असुन्दर रूप आ जाय कि बरबस घृणा व ग्लानि जाग उठे, तब भी फूटता है। किन्तु इन दोनो तरीको के फूटने मे विपरीत अन्तर होता है। एक अधापन और बावलापन तो फूटता है राग भाव से तथा दूसरा फूटता है द्वेष भाव से। मनोज्ञ याने मन को भावे ऐसे रूप पर राग जागता है और वह रूप मन को लुभाता है तो अमनोज्ञ याने मन को नहीं भावे ऐसे रूप पर द्वेष भाव से घृणा और ग्लानि जागती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ विपरीत दिशाओं मे होती है किन्तु राग और द्वेष दोनो प्रकार की मन-स्थितियो मे मन, वचन, काया की अशुभ हलचल होती है। यह अशुभता ही ऊपर विकारो के रूप मे वर्णित की गई है।

विषय भोगो का यह अनुभव बाह्य रूप से इन्द्रियाँ करती हैं और उनके माध्यम से मन और आत्मा। भोग भोगने की क्रियाओं का वैचारिक प्रभाव मन और आत्मा पर पड़ता है तथा भोग-जन्य सुख अथवा दु ख का अनुभव भी वे ही लेते है। जैसे कि किसी का एक बैल किसी दूसरे के खेत मे घुस गया और वह फसल चरने व उजाड़ने लगा, इतने मे खेत का मालिक आ गया। इस नाजायज चराई के नतीजे मे बैल भी डडे खा सकता है लेकिन हर्जाने का वजन तो मालिक को ही भुगतना पड़ेगा। अगर किसी का बैल इस तरह उजाड़ करने की कई हरकते करता रहे तो क्या उसका मालिक चेत नहीं जायगा ? जरूर चेतेगा और बैल के नाथ डालकर उसे अपने नियत्रण मे रखेगा। किन्तु इन्द्रियो का मालिक मन और जीव ऐसी जिम्मेदारी को जल्दी नहीं पकड़ते हैं। इन्द्रिया अपने विषयों मे आसक्त बनकर विकारपूर्वक भटकने लगती हैं और सद्गुणो की फसल को उजाड़ने लगती हैं, फिर भी मन जल्दी चेतता नहीं—जीव जल्दी जागता नही, बल्कि आधिक बार ऐसा होता है कि मन और आत्मा भी इन्द्रियो के साथ हो जाते है एव उन्ही के नियत्रण मे उजाड़ व बिगाड़ करने लग जाते हैं। बैलो को काबू मे करने की बजाय अगर मालिक ही बैलो के पीछे - पीछे चलने लगे और उनके करने के मुताबिक खुद भी करता जाय तो उस मालिक की दुर्दशा को कौन मिटा सकता है ?

मै गभीरतापूर्वक इस परिप्रेक्ष्य मे अपनी इन्द्रियो, अपने ही मन और अपनी ही आत्मा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालना चाहता हू। पहली बात तो यह कि मेरा मन और मेरी आत्मा का नियत्रण कौशल पूर्णतया दक्ष होना चाहिये जिसके कारण इन्द्रियॉ उस डोर से बंधी रहे नाथ लगे बैल की तरह। ऐसा तभी हो सकता है जब आत्मा का ज्ञान और विवेक पूर्ण रूप से जागृत हो। दूसरी बात यह हो सकती है कि आत्मा और मन का इन्द्रियो पर नियत्रण अति कुशल न हो किन्तु एक बार उनके भटक जाने पर उन्हे यथाशक्य शीघ्रता से पुन वहा से लाकर आत्मस्थ बना सके। तीसरी बात आत्मा और मन की सुप्तावस्था की होती है कि वे इन्द्रियो के विकारो को रोक पाने मे अक्षम बने रहते है, यहा तक तो फिर भी ठीक है कि सोये हुओं को जगा दिया जाय तो फिर विकृति रुक जायगी। किन्तु जहाँ पर आत्मा और मन भी इन्द्रियो के भटकाव मे भटक जाये और परम आसक्ति भाव से मूर्छित बन जाय, तब वह दुरावस्था चिन्तनीय बन जाती है।

आत्मा की ऐसी विदशा पर ही मै समझता हू कि वीतराग देवो ने चेतावनियॉ दी हैं कि इच्छा और भोग रूप कामनाओं का नाश करना अति कठिन है। काम भोगो की इच्छा रखने वाली आत्मा उनके प्राप्त न होने पर या उनका वियोग होने पर शोक करती है, खिन्न होती है, मर्यादा भग करती है, पीड़ित होती है तथा परिताप करती है। काम भोग शल्य रूप है, विष रूप है और विषधर सर्प के समान है। काम भोगो का सेवन तो दूर रहा, मात्र उनकी अभिलाषा करने से ही आत्मा दुर्गति मे जाती है। काम भोगो मे आसक्ति रखने वाले प्राणी कर्मो का सचय करते हैं तथा अमित कर्मों से बध कर संसार मे परिभ्रमण करते है। विष के समान इन भोगो को खूब भोग लेने पर भी अन्त मे कटुक, अनिष्ट तथा दु·खदायी परिणाम भोगने पड़ते है। विषयाभिलाषी आत्मा विषय सुखो के प्राप्त न होने से न उनके समीप होता है और न विषयाभिलाषा का त्याग करने के कारण वह उनसे दूर ही होता है। शब्द, रूप, गधादि भोग भोगने पर आत्मा कर्म मल से लिप्त होती है किन्तु अभोगी आत्मा लिप्त नही होती है। भोगी अथवा भोग की लालसा वाला ससार के दु खो मे डूबा रहता है परन्तु अभोगी ससार बधन से मुक्त हो जाता है। जैसे कालकूट विष स्वयं पीने वाले को,

उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को और मंत्रादि से वश नही किया हुआ बेताल तांत्रिक को मार डालता है, उसी प्रकार शब्द आदि विषय वाला साधु धर्म भी वेशधारी द्रव्य साधु को दुर्गति मे ले जाता है। जैसे तृण काष्ठों से अग्नि तृप्त नहीं होती, हजारो नदियो के मिल जाने पर भी लवण समुद्र सन्तुष्ट नहीं बनता, उसी प्रकार काम भोगो से भी इस जीव को कभी तृप्ति नहीं हो सकती है। जो आत्मा मनोज्ञ एव अमनोज्ञ शब्द, रूप, गध, रस एव स्पर्श मे राग एवं द्वेष नहीं करती है, वही आत्मा ज्ञान, वेद, आचार, आगम, धर्म और ब्रह्म को जानने वाली होती है।

कषाय विकारो की मलिनता

इन्द्रियॉ जो विषय भोग मे रत बनती है, अपने पीछे विकृत भावनाओं का धुआ छोड़ती जाती है, वहीं कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को कषाय मलिन बनाती है। कष अर्थात् जन्म मरण रूप ससार की प्राप्ति जिन विकारपूर्ण वृत्तियो के कारण हो, वे कषाय वृत्तियॉ कहलाती हैं। ये वृत्तियाँ कषाय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह कषाय सम्यक्त्व, श्रावकत्त्व, साधुत्त्व तथा यथाख्यात चारित्र को नष्ट करने वाली होती है।

यह मेरा अनुभव है कि जब इन्द्रियॉ काम भोगो की प्राप्ति की तरफ उन्मुख बनती हैं तो वे उसकी विकृत छाप विचारो पर अवश्य छोड़ती है और जब वे काम भोगो मे प्रवृत्त होती हैं व लिप्त बनती है तो उस रूप मे विकार विचारो को—वृत्तियो को ढालते है। यदि किसी के पास काम भोग सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है तो उसके मन-मानस पर अहकार छा जायगा। यदि उसकी उस उपलब्ध सामग्री को कोई छीनना चाहेगा तो वह क्रोध से भर उठेगा। उपलब्ध सामग्री को सचित करते रहने की वृत्ति उसे लालची बनायगी तो वह अपने लालच की कपटपूर्ण उपायो से पूर्ति करेगा। आशय यह है कि काम भोगो की लिप्तता के साथ कषायो की ज्वालाए धधकती है जो आत्मा के चारित्र गुण को भस्म करती रहती हैं।

मूल रूप से इस कषाय के चार प्रकार कहे गये हैं जो प्रत्येक प्रकार की कषाय के साथ सम्बन्धित होते है—(१) अनन्तानुबधी— जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व तक की घात कर देता है तथा जीवन पर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति के योग्य कर्मों का बध करता है। (२) अप्रत्याख्यानावरण— जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प त्यागप्रत्याख्यान भी नहीं होता है। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नही होती। यह कषाय एक वर्ष तक बनी रह सकती है और इससे तिर्यच गति के योग्य कर्मों का बध होता है। (३) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। यह कषाय चार मास तक बनी रह सकती है और इसके उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। (४) सज्वलन—जो कषाय परिषह या उपसर्ग के आ जाने पर मुनियो तक को भी थोड़ा-सा जलाती है। यह हल्की सी कषाय सबसे ऊचे यथाख्यात चारित्र मे बाधा पहुचाती है। यह कषाय एक पक्ष तक बनी रह सकती है तथा इससे देवगति के योग्य कर्मों का बध होता है। उपर्युक्त कषायो की स्थिति तथा गति का जो उल्लेख किया गया है, वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्योंकि इसके अपवाद रूप उदाहरण भी पाये जाते है।

प्रज्वलनशील क्रोध

कषाय के चार भेद किये गये हैं—(१) क्रोध —कृत्य-अकृत्य के विवेक को हटाने वाले प्रज्वलन स्वरूप आत्म परिणाम को क्रोध कहते है। क्रोधवश जीव किसी की भी बात को सहन नहीं करता है और बिना विचारे अपने व पराये अनिष्ट के लिये हृदय के भीतर और बाहर जलता रहता है। क्रोधी समभाव को भूल जाता है और आक्रोश मे भर कर दूसरो पर रोष करता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से आत्मगुणो का क्षय, विवेक शून्यता तथा सूक्ष्मनाड़ी तंत्र का नाश होता है। क्रोध से मानसिक, वैचारिक, वैयक्तिक, शारीरिक, नैतिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कई प्रकार की असहिष्णुताए जन्म ले लेती है। यह क्रोधाग्नि पहले स्वय को जलाती है और फिर दूसरे को जलाती हुई स्व-पर दाहक बनती है।

क्रोध इन कारणो से उत्पन्न हो सकता है—(१) दुर्वचन से (२) स्वार्थ या कामपूर्ति मे बाधा पड़ने से (३) अनुचित प्रतीत होने वाले व्यवहार से (४) भ्रम से या (५) विचार अथवा रुचि भेद से। क्रोध से उत्पन्न दोष इस रूप मे हो सकते है —(१) दुस्साहसी बनना (२)चुगली करना (३) वैर बाधना (४) जलन रखना (५) दोष देखना, ढूंढना और आरोपण करना (६) दुष्ट ध्यान मे रत रहना (७) कठोर वचन उच्चरित करना तथा (८) क्रूर व्यवहार करना।

क्रोध के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) आभोग निवर्तित —पुष्ट कारण होने पर यह सोचकर कि ऐसा किये बिना सामने वाले को शिक्षा नहीं मिलेगी—जो क्रोध किया जाता है वह उस का आभोग निवर्तित प्रकार है। यह क्रोध क्रोध के विपाक को जानते हुए किया जाता है। (२) अनाभोग निवर्तित—जब कोई यो ही गुण दोष का विचार किये बिना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका वह क्रोध अनाभोग निवर्तित होता है। (३) उपशान्त— जो क्रोध सत्ता (अस्तित्व) मे तो हो लेकिन उदयावस्था मे न हो, उसे उपशान्त क्रोध कहते है। (४) अनुपशान्त—जो क्रोध उदयावस्था मे आ जाय, वह अनुपशान्त क्रोध कहलाता है।

क्रोध की उत्पत्ति के भी चार प्रकार कहे गये हैं—(१) आत्म प्रतिष्ठित जो अपने आप मे ही क्रोध करता रहे। अपने पर ही क्रोध आवे और अपने को ही भीतर जलाता रहे। (२) पर प्रतिष्ठित—जो क्रोध दूसरे के कारण आवे और दूसरे पर बरसे। (३) उभय प्रतिष्ठित—जिस क्रोध का कारण और ठहराव अपने और दूसरे दोनो के निमित्त से हो। (४) अप्रतिष्ठित – जो क्रोध विना किसी निमित्त के ही भड़क उठे।

कषाय के मूल प्रकारो के समान क्रोध के भी चार प्रकार इस रूप मे बताये गये हैं · (१) अनन्तानुवंधी क्रोध—पर्वत के फट जाने पर जो दरार पड़ जाती है। जैसे उस दरार का मिलना कठिन होता है, वैसे ही इस प्रकार का क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता है। (२) अप्रत्याख्यानवरण क्रोध—सूखे तालाव आदि मे मिट्टी के फट जाने पर दरारे पड़ जाती हैं किन्तु जब वर्षा होती है, तब वह फिर से मिल जाती है। वैसे ही इस प्रकार का क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है। (३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध —वालू मे लकीर खींचने पर कुछ समय मे हवा से वह लकीर वापस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है। (४) सज्वलन क्रोध —पानी मे खीची हुई लकीर जैसे खिचने के साथ ही मिट जाती है, वैसे ही किसी कारण से उदय मे आया हुआ इस प्रकार का क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

मूलत· क्रोध आत्मा के शुभ परिणामो का नाश करता है। वह सर्वप्रथम अपने स्वामी को जलाता है और बाद मे दूसरो को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका विपरीत रूप अविवेक आकर जीव को अकार्य मे प्रवृत्त करता है। क्रोध सदाचार को भी दूर करता है और मनुष्य को दुराचार मे प्रवृत्ति करने को प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिर काल तक आराधित यम, नियम, तप आदि को पल भर मे भस्म कर देती है। दोनो लोक बिगाड़ने वाला पापमय और स्व-पर का अपकार करने वाला यह क्रोध वास्तव मे प्राणियो का महान् शत्रु है।

प्रमुख रूप से क्रोध को शान्त करने का एक ही उपाय है और वह है क्षमा। क्षमाभाव के आविर्भाव से शान्ति प्राप्त होती है और शान्त रह कर ही क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। क्रोध को तात्कालिक रूप से शान्त करने के लिए इन उपायो का उपयोग किया जा सकता है · (१) क्रोध आते ही एकान्त मे चला जावे (२) मौन होकर ध्यान करले (३) क्रोध न करने की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करे तथा प्रायश्चित रूप दंड का सकल्प ले (४) मन व विचार की दिशा बदल कर किसी अन्य कार्य मे प्रवृत्त हो जावे अथवा (५) श्वास-निरोध द्वारा यौगिक क्रिया करे।

विनम्रता विनाशक मान

(२) मान—जाति आदि गुणो मे अहकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश छोटे बड़े के प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता है। मानी व्यक्ति अपने को बड़ा समझने लग जाता है और दूसरो को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्ववश वह दूसरो के गुणो को भी सहन नहीं कर सकता हैं।

जैसे क्रोध के वश मे हो जाने वाला मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता है, वैसे ही मान के वश मे हुआ मनुष्य भी शोक-परायण होता है अर्थात् हर समय चिन्तातुर रहता है। मान या मद आठ प्रकार का कहा गया है · (१) जाति मद (२) कुल मद (३) बल मद (४) रूप मद (५) तप मद (६) विद्या मद (७) लाभ मद और (८) ऐश्वर्य मद। इनमे से किसी भी प्रकार का मद या मान करना नीच गौत्र कर्म के बध का कारण होता है। मान विवेक को नष्ट करता है तथा आत्मा को शील-सदाचार से पतित बना देता है। वह विनय का भी नाश करता है तो विनय के साथ ज्ञान का भी। एक मानी अपने को मान के माध्यम से ऊँचा बनाना चाहता है लेकिन वह इस तथ्य को नहीं समझ पाता है कि उस से उसके सब कार्य नीच होते है।

एक अभिमानी व्यक्ति (१) प्रदर्शन का आग्रही (२) अपमान का प्रतिशोधी (३) अह का पुजारी (४) स्वय का प्रशसक (५) माममोही (६) दूसरो को नीचा दिखाने की भावना वाला (७) अपनी आन्तरिक शक्तियो को नहीं पहिचानने वाला तथा (८) दूसरो से कुछ भी शिक्षा नहीं लेने वाला बन जाता है। इस वजह से वह इस प्रकार से हानि उठाता है (१) उसके सद्गुणों का ह्रास होता है (२) उसकी उन्नति मे अवरोध पैदा होते रहते है (३) उसकी वृत्तियाँ पापो के मूल तक पहुच जाती है (४) उसके आत्म-विकास मे बाधाएँ डाली जाती हैं (५) उसको समाज मे सहयोग नहीं मिलता है (६) उसका मानी स्वभाव कई प्रकार की आसुरी वृत्तियो का जन्मदाता बन जाता है (७) उसकी ज्ञान प्राप्ति मे व्यवधान आते रहते है तथा (८) उसके विनय गुण का नाश होता रहता है।

मान कषाय के भी चार प्रकार इस रूप मे कहे गये हैं (१) अनन्तानुबधी मान —जैसे पत्थर का खंभा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता, वैसे ही जो मान किसी भी उपाय से दूर नहीं

किया जा सके। (२) अप्रत्याख्यानावरण मान —जिस प्रकार हड्डी अनेक उपायो से नमती है, उसी प्रकार जो मान अनेक उपायो तथा अति परिश्रम से दूर किया जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण मान—जैसे काष्ठ (लकड़ी) तेल वगैरा की मालिश आदि से नम जाता है, वैसे जो मान थोड़े से उपायो से नमाया जा सके तथा (४) संज्वलन मान —जैसे बेत बिना मेहनत के सहज ही मे नम जाती है वैसे जो मान सहज ही छूट जाता है।

जैसे क्रोध के चार प्रकार होते है, वैसे ही मान के भी चार प्रकार (१) आभोग निर्वर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त तथा (४) अनुपशान्त होते है। मान के समानार्थक बारह नाम बताये गये है · (१) मान-कषाय (२) मद-हर्ष करना (३) दर्प-घमड मे चूर होना (४) स्तभ-खभे की तरह कठोर बने रहना (५) गर्व-अहकार करना (६) अत्युत्क्रोश-अपने को दूसरो से उत्कृष्ट बताना (७) परपरिवाद-दूसरो की निन्दा करना (८) उत्कर्ष-अभिमान पूर्वक अपनी समृद्धि प्रकट करना और दूसरे की क्रिया से अपनी क्रिया को उत्कृष्ट बताना (९) अपकर्ष-अपने से दूसरो को तुच्छ बताना (१०) उन्नत-विनय को छोड़ देना (११) उन्नाम-वन्दनीय को भी वन्दन नहीं करना (१२) दुर्नाम-बुरी तरह से वन्दन करना।

मायाविनी माया

(३) माया—मन, वचन एव काया की कुटिलता द्वारा परवचना करना याने दूसरो के साथ कपटाई, ठगाई या दगा-धोखा करना। ऐसा आत्मा का परिणाम-विशेष माया कहलाती है। माया अज्ञान और अविद्या की जननी तथा अकीर्ति का कारण होती है। यदि माया के साथ तप, सयम आदि के अनुष्ठानो का सेवन किया जाता है तो वह भी नकली सिक्के की तरह असार होता है। वह स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल भी होता है। माया ऐसा शल्य है जो आत्मा को व्रतधारी नही बनने देता है क्योंकि व्रती का नि शल्य होना अनिवार्य है। माया इस लोक मे तो अपयश देती ही है, परन्तु परलोक मे भी दुर्गति देती है। यदि माया कषाय को नष्ट करनी है तो वह ऋजुता और सरलता के भाव अपनाने से ही नष्ट हो सकती है।

मायावी याने कपटी पुरुष सदा ही दूसरो का दास होता है क्योंकि दगाबाज सबके सामने दुगुना नमता है। माया सबसे बड़ा भय भी होती है जो गोपनीयता मे पैदा होती है, लोभ मे पनपती है, मान मे अपना उठाव दिखाती है और क्रोध मे बाहर प्रकट होती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) कपट (२) मायाचार (३) प्रतारणा व वचना (४) दभ और आडम्बर (५) कुटिलता और जटिलता (६) दुराव तथा छिपाव आदि। इसी प्रकार माया के विविध रूपो को प्रकट करने वाले इसके समानार्थक चौदह नाम अन्यथा भी गिनाये गये है (१) उपधि—किसी को ठगने के लिए प्रवृत्ति करना (२) निवृति—किसी का आदर सत्कार करके फिर उसके साथ माया करना या एक मायाचार छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना (३) वलय —किसी को अपने माया जाल मे फंसाने के लिए मीठे-मीठे वचन बोलना (४) गहन—दूसरो को ठगने के लिये अव्यक्त शब्दो का उच्चारण करना या ऐसे गूढ़ तात्पर्य वाले शब्दो का प्रयोग करना व जाल रचना जो दूसरे की समझ मे ही नहीं आवे (५) णूम —मायापूर्वक नीचता का आश्रय लेना (६) कल्क —हिसाकारी उपायो से दूसरो को ठगना (७) कुरूप —निन्दित रीति से मोह पैदा करके ठगने की प्रवृत्ति करना (८) जिह्वाता—कुटिलतापूर्वक ठगने की प्रवृत्ति करना (९) किल्विष —किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति

करना (१०) आदरणा —(आचरणा) मायाचार से किसी का आदर करना तथा ठगाई के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ करना (११) गूहनता—अपने स्वरूप को छिपाना (१२) वचनता—दूसरो को ठगना (१३) प्रतिकुंचनता —सरल भाव से कहे हुए वचन का खडन करना अथवा उल्टा अर्थ लगाना (१४) सातियोग—उत्तम पदार्थ के साथ तुच्छ पदार्थों की मिलावट करना। इस प्रकार मायावी पुरुष लोगो को रिझाने के लिए कपट करने वाला, महापुरुषो के प्रति स्वभाव से ही कठोरता का व्यवहार करने वाला, बात बात मे नाराज और खुश होने वाला, गृहस्थो की चापलूसी करने वाला, अपनी शक्ति का गोपन करने वाला तथा दूसरो के विद्यमान गुणो को भी ढाकने वाला होता है। वह चोर की तरह सदा सभी कार्यों मे शकाशील बना रहता है तथा कपटाचारी होता है। मूल कषाय की दृष्टि से माया के भी चार भेद कहे गये है — (१) अनन्तानुबधी माया— जैसे बास की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो तथा सरलता रूप मे परिणत नहीं हो सके। (२) अप्रत्याख्यानावरण माया—जैसे मेढ़े का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी कठिनाई से सीधा होता है, उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण माया—जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर हवा आदि से मिट जाती है, उसी प्रकार जो माया सरलतापूर्वक दूर हो सके। (४) सज्वलन माया—छीले हुए बास के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज ही मे मिट जाता है, वैसे ही जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय।

क्रोध और मान की तरह ही माया के भी चार प्रकार (१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त और (४) अनुपशान्त कहे गये हैं।

जीर्ण न होने वाला लोभ

(४) लोभ—द्रव्य आदि विषयक इच्छा, मूर्छा, ममत्त्व-भाव, तृष्णा एव असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते है। लोभ कषाय सभी तरह के पापो का आश्रय होती है। लोभ के पोषण के लिए लोभी माया का सहारा लेता है। सभी जीवो मे जीने की इच्छा प्रबल होती है और सभी मृत्यु से डरते है, लेकिन लोभ इसके विपरीत ऐसे कार्यों मे प्रवृत्ति कराता है जिनमे सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति मे मर जाता है तो लोभ वृत्ति के परिणाम स्वरूप उसे दुर्गति मे भीषण दु ख भोगने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था मे उसका यहाँ का सारा शुभ परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि लोभ से लाभ भी हो गया तो उसके भागी अन्य ही होते हैं। लोभी इतना नीच भी बन जाता है कि उसे स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, क्षीण, दुर्बल, अनाथ आदि तक की हत्या करने मे भी हिचकिचाहट नहीं होती है। यो कह सकते हैं कि नरक गति के कारणरूप जितने दोष बताये गये है, वे सभी दोष लोभ से प्रकट होते है। लोभ को दूर करना है तो उसका एक ही सबल उपाय है और वह है सन्तोष। इच्छाओं का सयमन करके ही लोभ का परिहार किया जा सकता है।

लोभी मनुष्य सदा ही अर्थपरायण होता है। वह तीन मनोवृत्तियो के चक्र मे ही चक्कर काटता रहता है—(१) धन-लाभ की धुन (२) सग्रह और सचय की रट, तथा (३) स्वार्थ परायणता। हकीकत मे धन लोभी के अधिकार मे नही होता, बल्कि वह खुद ही धन के अधिकार मे हो जाता है। वह अपने धन के पागलपन के सामने न सम्बन्धी या मित्र के हित को देखता है

और न अपने स्वय के स्वास्थ्य के प्रति ही ध्यान देता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ के ध्यान मे वह सब कुछ भुला देता है। वह हमेशा रौद्र ध्यान मे पड़ा रहता है और सबसे बैर बढ़ाता रहता है। परस्पर अविश्वास उसका पहला दुर्गुण बन जाता है और अनन्त इच्छाओं के भ्रम जाल मे वह अपने जीवन को जीर्ण वना लेता है किन्तु उसका लोभ जीर्ण नहीं बनता।

लोभ के विभिन्न रूप उसके समानार्थक चौदह नामो से प्रकट होते हैं —(१) लोभ—सचित्त अथवा अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना (२) इच्छा—किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा करना (३) मूर्च्छा—प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर इच्छा बनाये रखना (४) काक्षा—अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना (५) गृद्धि—प्राप्त वस्तुओं पर आसक्ति भाव बनाना (६) तृष्णा—प्राप्त अर्थ आदि का व्यय न हो ऐसे सोच मे पड़े रहना (७) भिध्याविषय भोगो का ध्यान रखना (८) अभिध्याचित्त की चचलता बनाना (९) कामाशा —इष्ट शब्द रूप आदि की प्राप्ति की कामना करना (१०) भोगाशा—इष्ट गध, रस आदि की प्राप्ति की कामना करना (११) जीविताशा—जीते रहने की कामना करना (१२) मरणाशा—विपत्ति के समय मरने की कामना करना (१३) नन्दी—वाछित अर्थ की प्राप्ति पर आनन्द मनाना तथा (१४) राग-विद्यमान सम्पत्ति पर प्रगाढ़ राग भाव रखना।

क्रोध, मान एवं माया के समान लोभ के भी मूल कषाय रूप से चार भेद हैं— (१) अनन्तानुबधी लोभ—जैसे किरमची रग किसी भी उपाय से नही छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो। (२) अप्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे बैलगाड़ी के पहिये का कीटा (खंजन) परिश्रम करने पर अति कष्ट पूर्वक छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है वैसे ही जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो। (४) सज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रग सहज ही छूट जाता है वैसे ही जो लोभ आसानी से स्वय दूर हो जाय। लोभ भी चार प्रकार का अन्य कषायो की तरह ही होता है— (१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त तथा (४) अनुपशान्त।

कषाय से मुक्त होना ही मुक्ति

कषायो की मलिनता का विश्लेषण जान कर मुझे आप्त वचन का स्मरण हो आता है कि एक दृष्टि से मुक्ति वास्तव मे कषायो से मुक्त हो जाने मे ही है। क्रोध आदि कषाय सांसारिकता की जड़ो को सींचते है और ससार के रगो को गाढ़ा बनाते हैं। अपने चारो ओर तथा कई वार स्वय को देखने पर मेरे यह तथ्य अनुभव मे आते है कि कषायो के सेवन से परलोक की दुर्गति को एक तरफ रख दे तब भी इस जीवन मे ही इसके जो दुखपूर्ण परिणाम सामने आते हैं, वे सामान्य विवेक की रौशनी मे भी चौंकाने वाले होते है। क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान से विनयभाव की समाप्ति होती है, माया से मित्रता का नाश होता है और लोभ से प्रीति, विनय तथा मित्रता तीनो नष्ट हो जाते हैं।

चारो प्रकार की कषाय को जीतने के भी चार उपाय बताये गये है . —

(१) मै क्रोध को शान्ति और क्षमा द्वारा निष्फल करके दबा दू और क्षमावृत्ति को अभिवृद्ध वनाते हुए क्रोध को क्षय कर दूं—ऐसा मेरा पुरुषार्थ जागना चाहिये। कारण, मैं जानता हू

कि क्रोध की अधिकता से नरक गति मे जाना पड़ता है। इसलिये मै चौरासी लाख योनियो के सभी जीवो से क्षमा मागता रहू, किसी भी जीव के साथ वैर-भाव नहीं रखू तथा सभी प्राणियो के साथ अपने मैत्री भाव का विस्तार कर लू। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, सहधार्मिक, कुल और गण के प्रति भी मैं क्रोध आदि कषाय पूर्वक जो व्यवहार करू, उसके लिये भी मन, वचन और काया से क्षमा चाहू। मै नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर पूज्य श्रमण समुदाय से अपने सभी अपराधो के लिये विनयपूर्वक क्षमा मागू। धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मै सद्भाव पूर्वक सभी जीवो से अपने क्रोध-कषाय पूर्ण व्यवहार के लिये क्षमा चाहू तथा सद्भाव-पूर्वक सभी जीवो के अपराधो को भी क्षमा कर दूं। क्षमा के साथ ही मेरे हृदय मे अपूर्व शान्ति का सचार होगा, जिसके कारण उग्र से उग्र हेतु पैदा हो जाने पर भी क्रोध का मेरे ऊपर उग्र प्रभाव नहीं होगा।

(२) मैं मान पर मृदुता एव कोमल व विनम्र वृत्ति द्वारा विजय प्राप्त करू। ज्यो ही मान भाव मेरे मन मानस पर आक्रमण करे, मै अधिक से अधिक मृदुता एव विनम्रता ग्रहण कर लू। मैं विनय को धर्म रूप वृक्ष का मूल मानू जिसका सर्वोत्तम रस मोक्ष रूप मे मिलता है। मैं विनय-साधना से ही पूर्णत प्रशस्त श्रुत ज्ञान का लाभ ले सकता हू। मै जानता हू कि विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है और जो विनयरहित है, उसको धर्म और तप कहा से हो सकते हैं? मै गुरु की आज्ञा पालू, उनके समीप रहकर सेवा करू तथा उनके इगितो व आकारो को भलीभाति समझू तभी मैं विनीत शिष्य कहला सकता हू। मै जानता हू कि गुरु का वचन नहीं सुनने वाला, कठोर वचन बोलने वाला और दु शील का आचरण करने वाला शिष्य गुरु को भी क्रोधी बना देता है। इसके विपरीत गुरु की चित्त वृत्ति का अनुसरण करने वाला और अविलम्ब गति से गुरु का कार्य करने वाला विनीत शिष्य तेज स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न करके कोमल बना देता है।

मैं आप्त वचनो को स्मरण करके प्रतिपल विनय भाव से ओतप्रोत रहना चाहता हू ताकि किसी भी रूप मे मान का अविर्भाव न हो सके। क्योंकि अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है तथा विनीत को सम्पति प्राप्त होती है—जो ये दो बाते जान लेता है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान् पुरुष अहकार के दुष्प्रभाव को तथा विनय के महात्म्य को समझकर विनम्र बनता है। लोक मे उसकी कीर्त्ति होती है और वह सदनुष्ठानो का आधार रूप होता है जैसे कि पृथ्वी प्राणियो के लिये आधार रूप होती है। मान का परिहार करके तथा विनय को धारण करके ही मैं तिर्यच गति को टाल सकता हू। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काम विनय और लोकोपचार विनय के रूप मे मै अपने सम्पूर्ण आचरण को विनय-भाव से आलोकित बनालू।

(३) मैं ऋजुता और सरलता की भावनाओं से माया रूप कषाय का मर्दन करू, जिस से कुटिलता मेरे भीतर प्रवेश तक न पा सके। मैं यह समझ कर अपने मायाचार की आलोचना करू कि 'मायावी पुरुष इस ससार मे सर्वत्र निन्दित और अपमानित होता है।' मायावी का परलोक भी गर्हित होता है—देव बने तो तुच्छ जाति का और मनुष्य बने तो वह नीच कुल मे जन्म लेता है। मैं जानता हू कि मायावी यदि अपनी आलोचना नही करता तो वह विराधक बन जाता है। इस कारण आराधक बने रहने के लिये मुझे बार-बार अपनी मायापूर्ण वृत्तियो व प्रवृत्तियो की आलोचना करते रहना चाहिये।

(४) मै लोभ को जीतने के लिये सन्तोषभाव को शस्त्र के रूप मे काम मे लू ताकि लोभ क्षत विक्षत होकर मेरे आत्म-परिणामो मे से चला जावे। जब आवे सन्तोष धन तो फिर सब धन मेरे

लिये धूलि समान हो जायेगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय मे परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मैं सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूगा। शान्ति के साथ समस्त जीवो के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगी तथा सबकी मित्रता एव लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढ़ती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मै मान गया हू कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारो ही धर्म के द्वार है। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म है। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुन मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हू कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो कषाय पाप की वृद्धि करने वाली हैं, अत· आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषो का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह ससार के प्रवाह मे वैसे ही बहता रहता है जैसे जल के प्रवाह मे काष्ठ।

मै इस वीतराग वचन को अपने हृदय मे धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूंगा व इस आग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूगा तथा दानशील, सदाचार और तप रूपी शीतल जल की इन कषायो पर निरन्तर वर्षा करता रहूगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

मै कल्पना करू कि एक रथ दौड़ रहा है जिसमे पाच घोड़े जुते हुए है। सारथी उस रथ को चला रहा है और रथ मे बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब मैं दो प्रकार के दृश्यो की कल्पना करता हू। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई है कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है? क्या सारथी भी जगा हुआ और सतर्क है या नहीं, जो कि पाचो घोड़ो को सन्तुलन से चला रहा है। वह पाचो घोड़ो की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चौकन्ना रहता है और पाचो घोड़ो की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोड़े भी समझदार होते है —अपने सारथी के प्रत्येक सकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति मे रथ किस तरह चलेगा? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा—एक-सा चलेगा जिससे भीतर बैठे हुओं को तनिक भी धक्का नहीं लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बैठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नीद का झौका लग जाय, तव भी सारथी एक हाक लगाकर घोड़ो को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादे। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योंकि रथ का स्वामी, सारथी और घोड़े सभी अपनी सावधानी बनाये रखते है।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, कैसी चाल से चल रहा है और रथ के सामने क्या-क्या खतरे हैं—इन सबसे रथ का स्वामी बेभान हो—मजे से नीद मे खर्राटे भर रहा हो। जब स्वामी बेमान हो तो सारथी अपने मन की करने से कब चूकता है? वह घोड़ो की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलता रहेगा जिस

ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है ? घोड़े ही जो ठहरे —उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय — रास्ते का ध्यान ही छोड़ दे। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुह मोड़ दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गतव्य का ध्यान रखेगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा मे भी मुड़ जाय तो उनको रोकेगा ही कौन ? वे घोड़े मस्त होकर रथ को बीहड़ मे भटका सकते हैं। तो गढ्ढो मे पटक कर उसको क्षत-विक्षत कर सकते है। रथ के नष्ट होने की दशा मे भी स्वामी नहीं जागे—वह बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। अत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य मे अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हू। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमे मेरा 'मैं' बैठा हुआ है—मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पाचो घोड़े हैं मेरी पाचो इन्द्रियाँ। इस, मे कोई सन्देह नहीं कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये है कि क्या मेरा 'मै' अपने रथ को भलीभाति देख रहा है ? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है ? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोड़ो पर भी लगी हुई है ? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या रथ गतव्य स्थान तक पहुचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर ? इन सारी परिस्थितियो की जाच मेरे 'मै' को करनी है क्योंकि रथ का स्वामी वही है और रथ स्वस्थ एव सुन्दर गति से प्रगति करे —यह दायित्व भी उसी का है।

लेकिन जब मै इतना सोचने के लिये बैठता हू तो यह निश्चय मान सकता हू कि मेरे 'मैं' मे अवश्य जागरण की किरणे फैल रही हैं और यह सुव्यवस्था तथा प्रगति के लिये शुभ लक्षण है। मेरा 'मै' जाग रहा है जिसका अर्थ है कि मै जाग रहा हू और रथ मे बैठा हुआ मै जाग रहा हू तो सबसे पहले मेरी दृष्टि मेरे सारथी पर ही गिरनी चाहिये। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात भी यही है। मैं राजा हू, हर कर्मचारी से मै सीधा क्यो भिड़ू ? अपने दीवान को ही ऐसी झाड़ पिलाऊ कि वह तुरन्त कर्त्तव्य परायण हो जाय क्योकि दीवान अपना काम सम्हाल लेगा तो मुझे फिर किसी दूसरे को देखने की जरूरत नहीं रहेगी। दीवान पर नजर रखने से ही मेरा काम भली प्रकार चल जाएगा।

मन को मैं सम्हालू, मन को मै जाचू परखू, मन पर अपना पक्का काबू बनाऊ और मन को मै अपनी मर्जी से चलाऊँ—यह सारा निग्रहकारी काम मुझे ही करना है। यह एकदम सही है कि मन ही मनुष्य के बध और मनुष्य के मोक्ष का कारण है। मन रूपी सारथी को एकाग्र बना लिया तो घोड़ो की क्या हिम्मत कि वे अपनी चाल तो दूर, नजर को भी इधर उधर करे ? मन मजबूत तो आत्मा की सुदृढ़ता को भी कौन डिगा सकेगा ? एक मन को जीत ले तो पाचो इन्द्रिया स्वत ही जीत ली जायगी इस प्रकार पाच इन्द्रिया कषाय और एक मन (आत्मा) दसो को भी जीत लिया जायगा। जब मन एकाग्र हो जाता है— गतव्य की दिशा मे आगे बढ़ने को एकनिष्ठ, तब रथ भी सन्तुलित चलता है तो रथ का स्वामी भी धर्मानुष्ठानो मे सन्तुष्ट रहकर सलग्न हो सकता है। कारण, मन एकनिष्ठ तो वचन एकनिष्ठ और मन वचन एकनिष्ठ तो सकल प्रवृत्तियाँ एकनिष्ठा से ही प्रवर्तित होगी। फिर आत्मा को अपना समग्र पुरुषार्थ नियोजित करने में किसी भी प्रकार का व्यवधान कहाँ से आवेगा ?

आत्म विकास की इस महायात्रा मे जो घातक व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे मूल रूप मे अपनी ही आन्तरिकता से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि बाहर से आने वाली भीषण से भीषण बाधा या

लिये धूलि समान हो जायेगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय मे परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मै सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूंगा। शान्ति के साथ समस्त जीवो के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगी तथा सबकी मित्रता एव लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढ़ती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मै मान गया हू कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारो ही धर्म के द्वार हैं। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म है। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुन· मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हू कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो कषाय पाप की वृद्धि करने वाली है, अत· आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषो का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह मे वैसे ही बहता रहता है जैसे जल के प्रवाह मे काष्ठ।

मै इस वीतराग वचन को अपने हृदय मे धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूगा व इस आग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूगा तथा दानशील, सदाचार और तप रूपी शीतल जल की इन कषायो पर निरन्तर वर्षा करता रहूगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

मै कल्पना करू कि एक रथ दौड़ रहा है जिसमे पाच घोड़े जुते हुए है। सारथी उस रथ को चला रहा है और रथ मे बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब मै दो प्रकार के दृश्यो की कल्पना करता हूं। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई है कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है? क्या सारथी भी जगा हुआ और सतर्क है या नही, जो कि पाचों घोड़ो को सन्तुलन से चला रहा है। वह पांचो घोड़ो की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चौकन्ना रहता है और पाचो घोड़ो की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोड़े भी समझदार होते है —अपने सारथी के प्रत्येक सकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति मे रथ किस तरह चलेगा? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा—एक-सा चलेगा जिससे भीतर बैठे हुओं को तनिक भी धक्का नही लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बैठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नींद का झौका लग जाय, तब भी सारथी एक हाक लगाकर घोड़ो को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादे। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योंकि रथ का स्वामी, सारथी और घोड़े सभी अपनी सावधानी बनाये रखते हैं।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, कैसी चाल से चल रहा है और रथ के सामने क्या-क्या खतरे है—इन सवसे रथ का स्वामी बेभान हो—मजे से नींद मे खर्राटे भर रहा हो। जव स्वामी बेभान हो तो सारथी अपने मन की करने से कव चूकता है? वह घोड़ो की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलता रहेगा जिस

ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है ? घोड़े ही जो ठहरे —उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय — रास्ते का ध्यान ही छोड़ दे। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुह मोड़ दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गतव्य का ध्यान रखेगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा मे भी मुड़ जाय तो उनको रोकेगा ही कौन ? वे घोड़े मस्त होकर रथ को बीहड़ मे भटका सकते हैं। तो गढ्ढो मे पटक कर उसको क्षत-विक्षत कर सकते हैं। रथ के नष्ट होने की दशा मे भी स्वामी नहीं जागे—वह बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। अत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य मे अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हू। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमे मेरा 'मैं' बैठा हुआ है—मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पाचो घोड़े है मेरी पाचो इन्द्रियाँ। इस, मे कोई सन्देह नहीं कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये है कि क्या मेरा 'मैं' अपने रथ को भलीभाति देख रहा है ? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है ? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोड़ो पर भी लगी हुई है ? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या रथ गतव्य स्थान तक पहुंचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर ? इन सारी परिस्थितियो की जाच मेरे 'मै' को करनी है क्योंकि रथ का स्वामी वही है और रथ स्वस्थ एव सुन्दर गति से प्रगति करे —यह दायित्व भी उसी का है।

लेकिन जब मै इतना सोचने के लिये बैठता हू तो यह निश्चय मान सकता हू कि मेरे 'मैं' मे अवश्य जागरण की किरणे फैल रही है और यह सुव्यवस्था तथा प्रगति के लिये शुभ लक्षण है। मेरा 'मै' जाग रहा है जिसका अर्थ है कि मैं जाग रहा हू और रथ मे बैठा हुआ मै जाग रहा हूं तो सबसे पहले मेरी दृष्टि मेरे सारथी पर ही गिरनी चाहिये। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात भी यही है। मैं राजा हू, हर कर्मचारी से मै सीधा क्यो भिडू ? अपने दीवान को ही ऐसी झाड़ पिलाऊ कि वह तुरन्त कर्त्तव्य परायण हो जाय क्योंकि दीवान अपना काम सम्हाल लेगा तो मुझे फिर किसी दूसरे को देखने की जरूरत नही रहेगी। दीवान पर नजर रखने से ही मेरा काम भली प्रकार चल जाएगा।

मन को मै सम्हालू, मन को मैं जाचू परखूं, मन पर अपना पक्का काबू बनाऊ और मन को मैं अपनी मर्जी से चलाऊँ—यह सारा निग्रहकारी काम मुझे ही करना है। यह एकदम सही है कि मन ही मनुष्य के बध और मनुष्य के मोक्ष का कारण है। मन रूपी सारथी को एकाग्र बना लिया तो घोड़ो की क्या हिम्मत कि वे अपनी चाल तो दूर, नजर को भी इधर उधर करे ? मन मजबूत तो आत्मा की सुदृढ़ता को भी कौन डिगा सकेगा ? एक मन को जीत ले तो पाचो इन्द्रिया स्वत ही जीत ली जायगी इस प्रकार पाच इन्द्रिया कषाय और एक मन (आत्मा) दसो को भी जीत लिया जायगा। जब मन एकाग्र हो जाता है— गतव्य की दिशा मे आगे बढ़ने को एकनिष्ठ, तब रथ भी सन्तुलित चलता है तो रथ का स्वामी भी धर्मानुष्ठानो मे सन्तुष्ट रहकर सलग्न हो सकता है। कारण, मन एकनिष्ठ तो वचन एकनिष्ठ और मन वचन एकनिष्ठ तो सकल प्रवृत्तियाँ एकनिष्ठा से ही प्रवर्तित होगी। फिर आत्मा को अपना समग्र पुरुषार्थ नियोजित करने मे किसी भी प्रकार का व्यवधान कहाँ से आवेगा ?

आत्म विकास की इस महायात्रा मे जो घातक व्यवधान उत्पन्न होते है, वे मूल रूप मे अपनी ही आन्तरिकता से उत्पन्न होते है, क्योंकि बाहर से आने वाली भीषण से भीषण बाधा या

लेश्या के पुद्गल आत्मा को लगते हैं, उन पुद्गलो को द्रव्य लेश्या कहते है। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर ही रखे गये है।

योग परिणामो के अन्तर्गत पुद्गलो के वर्णों की अपेक्षा से द्रव्य लेश्या छ· प्रकार की कही गई है

(१) कृष्ण लेश्या—काजल के समान काले वर्ण वाली यह लेश्या मन के उस रूप को दिखाती है जो पाच आश्रवो में प्रवृत्ति करता है, तीन गुप्तियो से अगुप्त रहता है, छ· काया के जीवों की विराधना करता है, तीव्र भावो से आरभ समारभ करता है, निर्दयता के परिणामो के साथ क्रूर और नृशंस बनता है और इन्द्रियो को कतई वश मे न रखते हुए दुष्ट भावो से युक्त बन कर प्रवृत्ति करता है। कृष्ण लेश्या के दर्पण मे मन की जो प्रतिच्छाया आती है, वह कठोर, क्रूर परिणामधारी और अजितेन्द्रिय मन की होती है।

(२) नील लेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रग वाली इस लेश्या के माध्यम से मन का वह रूप प्रतिविम्बित होता है जो ईर्ष्यालु, कदाग्रही, तपस्या नहीं करने वाला, अविद्यायुक्त, मायावी, निर्लज्ज, विषय भोगो मे आसक्त, द्वेषी, मूर्ख, प्रमादी, रसलोलुप, भोगो की प्राप्ति के लिए कामुक, आरम से निवृत्त नहीं होने वाला, क्षुद्र, तुच्छ तथा दुस्साहसिक और वैचारिकता से हीन होता है। मन के ऐसे भाव नील लेश्या मे अभिव्यक्त होते हैं। नील लेश्या वाला जीव सम्यक्ज्ञान एव तपाराधन मे शून्य होता है।

(३) कापोत लेश्या—कबूतर के समान रक्त-कृष्ण वर्ण वाली इस कापोत लेश्या के दर्पण मे मन का वह स्वरूप दिखाई देता है जो वक्र (टेढ़ेपन से) विचारने वाला, वक्र वचन निकालने वाला तथा वक्र ही कार्य करने वाला होता है। ऐसे मन का मालिक अपने दोषो को ढकता है, छलपूर्वक वर्ताव करता है और सर्वत्र दोषो का ही आश्रय लेता है। वह मिथ्या-दृष्टि, अनार्य, चोर, मायावी, मत्सरी तथा मर्मभेदी शब्द कहने वाला और दूसरो की उन्नति नहीं सह सकने वाला होता है।

(४) तेजो लेश्या—तोते की चोच के समान रक्त वर्ण के द्रव्य तेजोलेश्या के पुद्गलो का सम्बन्ध होने पर मन मे ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि वह अभिमान का त्याग करके मन, वचन और शरीर से विनय वृत्ति वाला बन जाता है। वह चपलता रहित, माया रहित, कूतुहल आदि नहीं करने वाला, परम विनम्र भक्ति रखने वाला, इन्द्रियो का दमन करने वाला, स्वाध्याय आदि मे रत रहने वाला, उपधानादि तप करने वाला, धर्म मे सुदृढ़ रहने वाला, पाप से भय खाने वाला, सभी प्राणियो का हित चाहने वाला शुभ भावो से युक्त बन जाता है। तेजोलेश्या वाला जीव मुक्ति का अभिलाषी भी बन जाता है।

(५) पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रग वाली इस लेश्या के दर्पण मे मन का स्वरूपवान् चेहरा सामने आता है। पद्म लेश्याधारी क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय को मन्द बना देता है और शान्त चित्त रख कर अपने को अशुभ प्रवृत्तियो से दूर हटा लेता है। वह अल्प कषाय वाला, शान्त चित्त वाला, अपनी आत्मा का दमन करने वाला, स्वाध्याय तप आदि मे निरत रहने वाला, परिमित वोलने वाला, सौम्य, उपशान्त और जितेन्द्रिय बन जाता है।

(६) शुक्ल लेश्या—शख के समान श्वेत वर्ण के द्रव्य शुक्ल लेश्या के पुद्गलो का संयोग होने पर मन मे ऐसा परिणाम होता है कि वह आर्त्त व रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान व शुक्ल

ध्यान को ध्याता है[१] प्रशान्त चित्ती व आत्म शोधक बनता है, पाच समिति व तीन गुप्ति का आराधक होता है, अल्परागी अथवा वीतरागी, सौम्य, जितेन्द्रिय तथा उत्तम भावो से युक्त होता है।

इन छ लेश्याओं को समझने के लिए दो दृष्टान्तो का भी उल्लेख किया गया है।

पहला दृष्टान्त है। छ पुरुषो ने एक जामुन का पेड़ देखा। पेड़ पके हुए फलो से लदा था। डालियाँ भार से नीचे की ओर झुकी हुई थीं। यह देखकर सबको फल खाने की इच्छा हो गई। सोचने लगे-फल किस प्रकार खाये जाय ? एक ने कहा—पेड़ पर चढ़ने से गिरने का खतरा है इस लिए इसे जड़ से काटकर गिरादे और सुखपूर्वक बैठकर फल खावे। दूसरा बोला—पेड़ को जड़ से काटकर गिराने से क्या लाभ ? केवल बड़ी-बड़ी डालिया ही क्यो न काटी जाय ? तीसरे ने सुझाव दिया —बड़ी-बड़ी डालियाँ न काटकर सिर्फ छोटी छोटी डालियाँ ही काटे। फल तो छोटी डालियो पर ही लगे हुए हैं। चौथे ने कहा— हमे तो फलो से प्रयोजन है, डालियॉ क्यो काटे ? केवल फलो के गुच्छे ही तोड़ ले। पाचवा बोला —गुच्छे भी तोड़ने की क्या जरूरत है ? केवल पके हुए फल ही नीचे गिरादे। छठा बोला—जमीन पर ही इतने फल गिरे हुए है जो हमारे सबके लिये पर्याप्त है। इन्हे ही खाले।

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है। छ डाकू किसी गाँव मे डाका डालने के लिए रवाना हुए। रास्ते मे वे विचार करने लगे। पहला बोला—जितने भी मनुष्य और पशु हमको दिखाई दे, उन सवको हम मार डाले। दूसरे ने कहा— पशुओं ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। हमारा तो मनुष्यो के साथ विरोध है इसलिये उन्ही का वध करना चाहिये। तीसरे ने राय दी—स्त्री हत्या महापाप है, इस कारण क्रूर परिणाम वाले पुरुषो को ही मारना चाहिये। इस पर चौथे ने सुझाया —यह भी ठीक नहीं, शस्त्र रहित पुरुषो पर वार करना व्यर्थ है अत हम सिर्फ सशक्त पुरुषो को ही मारेगे। पाचवा कहने लगा— सशस्त्र पुरुष भी अगर डर के मारे भाग रहे हो तो उन्हे नही मारना चाहिये। जो शस्त्र लेकर हमसे लड़ने आवे, उन्हे ही मारा जाय। अन्त मे छठे ने कहा—हम लोग डाकू हैं। हमे तो धन लूटना है इसलिये जैसे धन मिले वैसे ही उपाय करने चाहिये। एक तो हम लोगो का धन लूटे और दूसरे उन्हे मारे भी—यह उचित नही है। यो ही चोरी पाप और उस पर हत्या का महापाप क्यो करे ?

दोनो दृष्टातो के पुरुषो मे पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इस प्रकार आगे से आगे पुरुषो के परिणाम क्रमश अधिकाधिक शुभ है। इन परिणामो मे उत्तरोत्तर सक्लेश की कमी एव मृदुता की अधिकता है। छहो मे इसी प्रकार लेश्याओं मे भी क्रमश परिणामो की विशुद्धता अधिकाधिक रूप से समझना चाहिये। छहो लेश्याओं मे पहली तीन अधर्म लेश्या है तथा अन्तिम तीन धर्म लेश्या है। अधर्म लेश्या से जीव दुर्गति मे तथा धर्म लेश्या से सुगति मे जाता है। जिस लेश्या को लिये हुए जीव की मृत्यु होती है, तदनुसार ही उसे आगामी जन्म मिलता है।

भाव लेश्या के दो भेद बताये गये है—

(१) विशुद्ध भाव लेश्या —अकलुष द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम विशुद्ध भाव लेश्या है।

---

१ विशेष जिज्ञासु देखे सद्धर्म मण्डल, द्वितीय आवृति, पेज ७२ ।७३

(२) अविशुद्ध भाव लेश्या—कलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर राग द्वेष विषयक आत्मा के अशुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इन्ही के आधार पर छ द्रव्य लेश्याए हैं जिनमे से अन्तिम तीन विशुद्ध तो पहले की तीन अविशुद्ध भाव लेश्या समझी जाती है।

म लश्याओं के दर्पण मे सदा अपने मन को देखता रहू तो उसकी प्रतिक्षण होने वाली गतिविधिया मुझसे छिपी हुई नहीं रह सकेगी और उस जानकारी के अनुसार मै अपने मन पर प्रतिक्षण नियत्रण साध सकूगा। मन को पर्याप्त सीमा तक साध लेने पर मैं अपने मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकूगा।

त्रिविध योग व्यापार

योग याने परिणाम अर्थात् भाव रूप व्यापार याने क्रियाए तीन माध्यमो से सचालित होती है। सबसे पहला और बड़ा माध्यम होता है मेरा मन, जहॉ किसी भी वृत्ति का जन्म होता है। मन ही उस वृत्ति को पालता, पोषता और परिपक्क बनाता है। वही वृत्ति वचन बनकर तब मुह से बाहर प्रकट होती है और तदनन्तर काया से जुड़ कर कार्य रूप मे परिणत होती है। वृत्ति से वाणी, वाणी से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से विभिन्न वचनो और नई-नई वृत्तियो का अभ्युदय —इस प्रकार का त्रिविध योग व्यापार इस जीवन मे चलता ही रहता है। मूल मे मन शुभ होता है तो वृत्ति शुभ ढलती है और वही शुभता वाणी और प्रवृत्ति मे भी बनी रहती है। योग व्यापार की इस शुभाशुभता का दार्शनिक रहस्य मै जानना चाहता हू।

योग क्या है? वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म प्रदेशो के चचल होने को योग कहते है अथवा यो कह दे कि शक्ति विशेष से होने वाले साभिप्राय आत्मा के पराक्रम को योग कहते है। योग एक शक्ति रूप है, जिस का शुभ अथवा अशुभ अभिप्राय के लिये मन, वचन तथा काया के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है। इस रूप मे योग एक शक्ति अथवा पराक्रम का रूपक होता है। यह योग तीन प्रकार का होता है —

(१) मनोयोग—आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलबन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्म प्रदेशो का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते है। ऐसी मनोलब्धि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है।

(२) वचन योग—आन्तरिक वाक् लब्धि उत्पन्न होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्म प्रदेशो का जो व्यापार होता है, वह वचन योग कहलाता है। यह वाक् लब्धि मतिज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से होती है।

(३) काम योग—औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलो के आलम्बन से होने वाले आत्म प्रदेशो के व्यापार को काम योग कहते हैं।

इन्हीं मुख्य भेदो के विस्तार से योग के पन्द्रह भेद किये गये है— (१) सत्य मनोयोग, (२) असत्य मनोयोग (३) मिश्र मनोयोग (४) व्यवहार मनोयोग (५) सत्य भाषा (६) असत्य भाषा (७) मिश्र भाषा (८) व्यवहार भाषा (९) औदारिक (१०) औदारिक मिश्र (११) वैक्रिय (१२) वैक्रिय मिश्र (१३) आहारक (१४) आहारक मिश्र तथा (१५) कार्मण योग। इनमे से स १ से ४ मनोयोग से स ५ से ८ वचन योग से तथा स. ९ से १५ काम योग से सम्बन्धित हैं। मन, वचन,

काया की शुभाशुभता का परिचय इन भेदो से होता है। मनोयोग एक शक्ति है, उसका उपयोग सत्य के लिये हो सकता है, असत्य के लिये हो सकता है, सत्यासत्य (मिश्र) के लिये हो सकता है अथवा व्यावहारिक दृष्टि की सम्पूर्ति के लिये हो सकता है जो विभिन्न रूपिणी हो सकती है। इसी प्रकार वचन योग रूप शक्ति का भी और काम योग रूप शक्ति का भी उपयोग हो सकता है।

मुझे अपने भीतर मे चल रहे तथा तदनुसार बाहर भी प्रकट होने वाले योग व्यापार को देखना, परखना और वास्तु स्वरूप जानना चाहिये ताकि मै उस त्रिविध योग व्यापार को अशुभता से शुभता की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा तुच्छता से उच्चता की ओर ले जा सकू और शुभता, सत्य तथा उच्चता के क्षेत्र मे भी उन्हे अधिक उत्कृष्टता प्रदान कर सकू।

योग व्यापार की परख-प्रक्रिया से ही मुझे ज्ञात हो सकेगा कि अधकार (अज्ञान) की परतो मे पड़ा हुआ मेरा मन कितना मानवताहीन (विषय कषायो के दुष्प्रभाव से), मेरा वचन कितना असत्य और अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप (दोगला) एव अधर्ममय हो गया है? मुझे तब यह भी अनुभव होगा कि मनोयोग, वचन योग तथा कामयोग के रूप मे मिली शक्तियो का मैने कितना घोर दुरुपयोग किया है? जिस तकली से सूत कातकर रचनात्मक कार्य किया जाना चाहिये, उसकी नोक से मैने आखे फोड़ने का कुकृत्य किया है—यह हकीकत मुझे चौकायगी और मुझे विवश करेगी कि अपने क्रियाकलापो पर अब तो कम से कम कड़ी नजर रखू। मेरी विकृति की अनुभूति ही मुझे सत्कृति की ओर मोड़ेगी—यह मेरा विश्वास कहता है। इसी विश्वास के साथ मैं अपने समूचे योग—व्यापार को अधिकाधिक शुभता के क्षेत्र मे ले जाने तथा वही बनाये रखने का अपना पुरुषार्थ गभीर रूप से क्रियाशील बना दूगा।

यो योग के दो भेद भी किये गये है—भाव योग और द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी शरीर और अगोपाग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा और कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्म—नोकर्म ग्रहण करने की जीव की शक्ति विशेष को भाव योग कहते हैं तथा इसी भाव योग के निमित्त से आत्म प्रदेशो के परिस्पन्दन (कपन) को द्रव्य योग कहा गया है।

यह योग व्यापार ही मानव के जीवनाचरण का मूल आधार है। जैसा आचरण चाहिये, उसी रूप मे इस योग व्यापार को मोड़ देना होगा।

मानवीय मूल्यो का ह्रास

इस योग व्यापार के सदर्भ मे मै जब वर्तमान युग पर एक दृष्टि—निपात करता हू तो अनुभव होता है कि आज यह योग—व्यापार सामान्यतया अत्यधिक मलिन एव कलुषित होता जा रहा है। जब इसके कारण ढूढता हू तो एक बात समझ मे आती है कि मूलत मन का योग व्यापार बाह्य वातावरण को पृष्ठभूमि बनाकर ही अधिकाशत चला करता है। इस बाह्य वातावरण मे सामाजिक परिस्थितियो, विविध क्षेत्रो मे भौतिक विकास, विभिन्न प्रकार की सुख सुविधाओं की उपलब्धि आदि सभी तथ्य सम्मिलित मानने चाहिये क्योंकि इन सभी का मनुष्य के मन-मष्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य भी जब तक अन्तर्मुखी नहीं हो पाता है, तब तक मुख्य रूप से बहिर्मुखी वृत्ति वाला ही होता है। अत बाह्य ससर्ग से उसके विचार उपजे, प्रकट होवे और अमल मे आवे —यह स्वाभाविक है। विशेष रूप से आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव मे तो मनुष्य बाहरी जीवन ही प्रधान रूप से जीता है।

दूसरे मै देखता हूं कि व्यक्ति समूह बना कर परिवार गाव या समाज रूप मे रहते है तो उनके पारस्परिक सम्बन्धो के आधारभूत कारणो का भी मनुष्य के समग्र जीवन पर भारी असर पड़ता है। उनका पारस्परिक व्यवहार परम्परागत भी होता है तो स्थापित परम्पराओं मे नई-नई परिस्थितियो के कारण परिवर्तन भी होते रहते है। इस दृष्टि से मै हमारे अपने चारो ओर रहे हुए समाज की ही समीक्षा करू तो आज से पचास वर्ष पहले के तथा आज के सामाजिक वातावरण मे भारी अन्तर दिखाई देगा। इसी अन्तर मे ही हम व्यक्ति के जीवन पर पड़ने वाले परिवर्तित प्रभावो की मीमासा करते हुए उन परिस्थितियो की जानकारी ले सकते है जिन्होंने ऐसा अन्तर पैदा किया और उसी के दर्पण मे हम बदलते रहने वाले योग व्यापार की दिशाओं का भी ज्ञान कर सकते हैं।

आज से पचास वर्ष पहले का समय हमसे कोई बहुत दूर नही रहा है लेकिन दोनो किनारो के सामाजिक वातावरण की तुलना करे तो बहुत दूरी दिखाई देती है। इस दूरी का कारण मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान का विकास है जिसने अपने नये नये आविष्कारो से नई नई सुख सुविधाओं की रचना की है। आखो के सामने सीधा सादा दृश्य हो तो दृष्टि की गति भी सीधी सादी ही रहेगी किन्तु सामने लुभावना रूप आ जाय तो दृष्टि की लोलुपता बढ़ जायगी और यदि सामने अति आकर्षक नाटकीय दृश्य उपस्थित हो जाय तो दृष्टि सब को भूलकर अपने ही सुख के लिये अधीर बन जायगी। वैज्ञानिक विकास ने विचारने और करने की दृष्टि मे इसी रूप से परिवर्तन किया है। पहले समाज मे जो एक खुला जीवन था कि व्यक्ति अपने पड़ोसी, अपने सम्बन्धी अथवा अपने समाज के हालचाल से वाकिफ रहता था—उनके दु ख सुख मे बराबर शरीक होता था, वह खुला जीवन भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने हेतु धन कमाने की अधी दौड़ मे धीरे-धीरे बद होता गया है। आध्यात्मिक शब्दो मे यो कहे कि पहले लोगो के मन, वचन, काम का योग व्यापार जो सामान्यतया अपने साथ सारे समाज के सहयोग रूप मे पारस्परिक प्रेम एव सहानुभूति को आधार बना कर मृदुता, सौजन्यता एव सौहार्द्रता के साथ चला करता था, वही योग व्यापार आज अपने ही स्वार्थ के घेरो मे बन्द होकर अत्यन्त कुटिलता, मलिनता और आक्रामकता के साथ चलता है। हृदय की उदारता के सकुचितता मे बदल जाने के कुफल स्वरूप योग व्यापार मे सामान्य रूप से ऐसा घृणित परिवर्तन आया है।

यही मानवीय मूल्यो मे ह्रास का सबसे बड़ा कारण है। सामाजिक वातावरण मे जितना खुलापन होता है, पारस्परिक सम्बन्धो का दायरा भी उतना ही व्यापक होता है और तदनुसार हृदय की उदारता भी उतनी ही मानवता पूर्ण होती है। व्यक्ति जब समाज मे रहे और मानवीय सद्गुणो को अपने जीवन मे नही अपना सके तो सामाजिक व्यवहार की सुचारूता का निर्माण ही कैसे हो सकता है? जव पारस्परिक सहयोग से हट कर व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के सकुचित दायरे मे वन्द हो जाता है तव सामाजिकता प्रभावहीन होने लगती है बल्कि दुष्प्रभावी हो जाती है क्यो कि सकुचितता से आर्थिक एव अन्य प्रकार की विषमताए बढ़ जाती हैं। किसी भी क्षेत्र मे किसी भी रूप से समतामय वातावरण का घटना और विषमता का वढ़ना निश्चय रूप से मानवीय मूल्यो के ह्रास का ही सकेत होता है।

आज मै देख रहा हू कि राष्ट्र मे व्यक्तियो की स्वार्थ परता अधिक नजर आ रही है, समाज मे कोई व्यवस्थित कार्य प्रणाली कम देखी जाती है। स्वच्छन्दता के साथ अपना जोर आजमाने मे

लगा हुआ है कि वह अपने ही लिये लूट मचा कर कितनी सत्ता और सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है—सचित कर सकता है? सोचिये कि ऐसी मदमाती सम्पन्नता और तरसती अभावग्रस्तता की परिस्थितियो मे व्यक्ति के सामान्य रूप से योग व्यापार की क्या अवस्था हो सकती है? जैसा बाहर दिखाई देगा, सुनाई देगा और महसूस किया जायगा, मन वैसा ही विचार करेगा—वैसी ही प्राप्तियो की कामना करेगा और वैसे ही उपायो से उनके लिये चेष्टारत बनेगा। जैसा मन का योग होगा, उसी रूप मे वचन का और काया का योग ढलेगा। तब समग्र रूप मे जीवन का उसी प्रकार का आचरण सामने आयगा। वही आचरण प्रतिबिम्ब होता है पूरे सामाजिक वातावरण का।

मै मानता हू कि मानवीय मूल्य शाश्वत होते हैं। उनके व्यवहार की विधि परिवर्तित हो सकती है किन्तु उनका मूल स्वरूप एक-सा रहता है। सामाजिक वातावरण ही मानवीय मूल्यो के परख की कसौटी होता है क्योंकि सामाजिक वातावरण व्यक्ति-व्यक्ति के ही सामूहिक व्यवहार का प्रतिरूप होता है। उसी कसौटी पर आज जब मानव मूल्यो को चढ़ाते है तो उनके ह्रास के घनत्त्व का अनुमान लगता है। धन, सत्ता और विलास की उद्दाम लालसाओं ने मानवीय मूल्यो की धज्जियॉ उड़ा दी है क्योकि इन लालसाओं मे व्यामोहित होकर मनुष्य कई बार पशुता एव राक्षसी रूपो के इर्दगिर्द ही चक्कर काटने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपने मनुष्य-तन मे तो रहता है लेकिन मनुष्यता से हीन बन जाता है। उसका कारण है—वह धन, सत्ता और विलास चाहता है अपने ऐन्द्रिक सुखो के लिये—जबकि धन और सत्ता का उपयोग होना चाहिये सामाजिक समानता एव सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिये। वह सामाजिक न्यास के रूप मे प्राप्त धन और सत्ता को झौक देता है अपने विलास और भोग मे। भोगो की मोहग्रस्तता से काषायिक वृत्तियाँ भड़कती हैं और उनसे समूचा योग व्यापार विकृत बन जाता है याने कि समूचा जीवन मलिन हो जाता है। एक मलिन जीवन सारे समाज मे अपनी मलिनता फैलाते हुए विद्रूप गति की रचना करता है। इसी विकारपूर्ण पृष्ठ भूमि मे सामान्य रूप से व्यक्तियो के मन मानवता हीन बनते जाते हैं। मन मे मानवता नहीं तो मानवीय चिन्तन कहा से उभरेगा? मानवीय चिन्तन नही तो मानवीय मूल्यो की ओर रूझान ही कैसे बनेगा? मन मे मानवता नहीं तो वाणी असत्य और अप्रिय बने—इसमे आश्चर्य की बात नही होगी। मानवताहीन मन से सत्य फूट ही नही सकता क्योकि वह क्रूर होता है और उस कारण वचन प्रियकारी भी नहीं हो सकता। उलझे या विकारो मे फसे मन और वचन वाला मनुष्य अकृत्य नही करेगा तो क्या करेगा? उसके काम कपटपूर्ण भी होगे तो अधर्ममय भी। उसकी कथनी और करनी का भेद सामने रहेगा। यह दशा ही मानवीय मूल्यो के ह्रास की दशा है।

मै सोचता हू कि यदि मानवीय मूल्यो की दृष्टि से अध पतन की इस दशा मे सुधार लाना है तो व्यक्ति और समाज के दोनो किनारो से शुभ परिवर्तन के प्रयास प्रारभ करने होगे। व्यक्ति अपने नियमित विचार और आचार मे सुधार लावे—यह भी जरूरी है तो सामूहिक प्रयास के बल पर समूचे सामाजिक वातावरण मे भी आवश्यक सुधार लाये जाय —यह भी उतना ही जरूरी है।

मेरा विचार है कि सामूहिक प्रयास व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की उद्दाम लालसाओं पर शक्ति से रोक लगाने के उद्देश्य से किये जाय। सामाजिक व्यवस्था मे कुछ ऐसा परिवर्तन किया जाय कि स्वार्थपूर्ति के मामले मे चाहकर भी एक व्यक्ति राक्षसी रूप धारण न कर सके। ऐसा प्रतिबध राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का हो सकता है। धन और सत्ता पाने की अधी दौड़ मे

अगर समता मात्र आंखें लगा दी जाय तो विषय-कषाय की विकृति के घटती रहने से धीरे-२ जागृति का वातावरण बन सकती है और मानवीय मूल्यो का महत्त्व पुन॰ बढ़ सकता है।

मै यह तो मानता ही हू कि किसी भी प्रकार के सशोधन, परिमार्जन या परिवर्तन का श्री गणेश व्यक्ति के जीवन से ही किया जा सकता है। अत॰ यदि मानवीय मूल्यो की पुन॰ सुदृढ़ता से स्थापना करनी है तो आज के वातावरण की प्रलुब्धता को घटाकर व्यक्ति को अपने योग व्यापार मे शुभ परिवर्तन लाना ही होगा। किसी भी शुभ कार्य का अकुर पहले मन मे ही फूट सकता है क्योंकि मन का निश्चय ही कार्य की सफलता मे परिणत होता है। इसलिये मनुष्य का मन शुभ योग व्यापार मे कैसे सधे—उसके आध्यात्मिक उपायो पर गहराई से चिन्तन करना आवश्यक है।

सामाजिक से समभाव की साधना

अशुभ योग व्यापार को शुभता मे ढालने का एक मात्र उपाय यही हो सकता है कि मैं पहले अपने मन को साधू—उसमे समभाव का सचार करूं। कहा गया है कि जैसे- जैसे मन, वचन, काया के योग अल्पतर और मन्दतर होते जाते है, वैसे वैसे कर्म बध भी अल्पतर होता जाता है। कषाय के अपगत होने पर योग चक्र का पूर्णत निरोध होने पर आत्मा मे वध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र मे रहे हुए अच्छिद्र जलयान मे जलागमन का अभाव होता है।

मैं समझता हू कि योग चक्र का पूर्णत निरोध मेरे लिये आदर्श है, जिसकी प्राप्ति मैं विभिन्न चरणो मे ही कर सकूंगा। मेरा पहला चरण यह होना चाहिये कि अपने योग व्यापार की वर्तमान अशुभता की मैं कड़ी आलोचना करू और उसे शुभता मे परिवर्तित करने का सकल्प बनाऊ। सबसे पहले मुझे अपने योग चक्र का रूपान्तरण करना होगा, क्यो कि मन, वचन, काया के तीनो योग अविवेकी और अयुक्त पुरुष के लिये दोष के हेतु बनते हैं तो वे ही तीनो योग विवेकी और युक्त पुरुष के लिये गुण के हेतु होते हैं। अत॰ इन योगो को मै गुण के हेतु बनाने के लिये मन की साधना आरभ करूगा, उसे समभावो से परिपूरित बनाने का पुरुषार्थ बताऊगा तथा मन से आरभ करके त्रिविध योग व्यापार का सम्यक् सशोधन करूगा।

समभाविता के इस लक्ष्य का अभ्यास मैं प्रारभ करूगा सामायिक की साधना से। यह सामायिक क्या है? सम का अर्थ है जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियो को आत्मवत्-समझता है, सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। सामायिक मे सर्व सावध-हिसापूर्ण व्यापारों का त्याग करना और निखध अहिसक व्यापारो मे प्रवृत्ति करना होता है ताकि राग द्वेष की मलिन भावनाओं से मुक्त हुआ जा सके। जितना राग द्वेष मिटेगा, उतना ही सम-भाव जगेगा। सम अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है। सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति सामायिक है।

मैं सामायिक के निम्न चार प्रकारो पर चिन्तन करता हू तो समझ मे आता है कि सामायिक का महात्म्य अवर्णनीय है, क्योंकि समभाव के आरभिक अभ्यास के रूप से विकसित होकर यही सामायिक सर्व विरति रूप विराट् स्वरूप ग्रहण कर लेती है—

(१) सम्यक्त्व सामायिक—देव नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला तथा अधिगम अर्थात् तीर्थकर आदि के समीप धर्म श्रवण से होने वाला तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक है।

(२) श्रुत सामायिक—गुरु के समीप मे सूत्र, अर्थ या इन दोनो का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है।

(३) देशविरति सामायिक—श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र देश विरति सामायिक है।

(४) सर्व विरति सामायिक—साधु का पच महाव्रत रूप सर्व चारित्र सर्व विरति सामायिक है।

श्रावक के बारह अणुव्रतो मे से चार शिक्षा व्रत है और उनमे पहला व्रत सामायिक व्रत है। यह सामायिक व्रत दो घड़ी याने एक मुहूर्त याने अड़तालीस मिनिट का होता है। इस काल मे सावध (हिसापूर्ण) व्यापार का त्याग कर आर्त व रौद्र ध्यानो से दूर होकर समभाव मे आत्मा को लगाना होता है। सामायिक मे बत्तीस दोषो की भी वर्जना करनी चाहिये।

सामायिक की यह कालावधि समभाव की साधना तथा योग व्यापार की शुभता का किस प्रकार अभ्यास कराती है—यह इसमे टालने लायक बत्तीस दोषो —मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह —की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है।

मन के जिन सकल्पो से सामायिक दूषित हो जाती है, वे मन के दोष कहलाते है। इन्हे टालने से ही सामायिक की शुद्धता बनती है। ये दोष इस प्रकार है—(१) अविवेक औचित्य—अनौचित्य अथवा समय-असमय का ध्यान नहीं रखना (२) यश कीर्ति—यश, प्रतिष्ठा अथवा आदर पाने की कामना करना (३) लाभार्थ—व्यापार बढ़ने या धन आदि के लाभ की इच्छा रखना (४) गर्व—अपनी सामायिक के सम्बन्ध मे अभिमान करना (५) भयराज्य, पच, लेनदार आदि से बचने के लिये भयपूर्वक सामायिक मे बैठ जाना (६) निदान—सामायिक के बदले भौतिक फल की अभिलाषा करना (७) सशय—सामायिक के आध्यात्मिक फल के बारे मे सन्देह करना (८) रोष—रोग द्वेष आदि के कारण सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेवन करना (९) अविनय —सामायिक के प्रति अविनय का भाव रखना तथा (१०) अबहुमान—सामायिक के प्रति वाछित आदर भाव नहीं रखना। ये दसो दोष मन के योग व्यापार के माध्यम से लगते है। इन दस दोषो से बचने पर ही सामायिक के लिये मन शुद्धि होती है तथा एकाग्रता आती है।

सामायिक मे सामायिक को दूषित करने वाले सावध वचन बोलना वचन के दोष कहलाते है। वे दस हैं—(१) कुवचन-कुत्सित वचन बोलना (२) सहसाकार —विचार हीनता एव अप्रतीति से बोलना (३) शच्छन्द —धर्मविरुद्ध राग द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत गाना (४) सक्षेप-सामायिक के पाठ या वाक्य को छोटा करके बोलना (५) कलह —क्लेश उत्पन्न करने वाले वचन बोलना (६) विकथा —स्त्री कथा आदि चार (स्त्री, देश, राज, भक्त) विकथा करना (७) हास्य-हसना, कौतूहल करना या व्यग अथवा आक्षेप वाले शब्द बोलना (८) अशुद्ध —सामायिक के पाठ जल्दी-जल्दी अशुद्धियो सहित बोलना (९) निरपेक्ष—बिना उपयोग या सावधानी के बोलना तथा (१०) मुणमुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। इन दस दोषो से बचने के बाद ही वचन शुद्धि बनती है।

सामायिक मे निषिद्ध आसन से बैठना काया का दोष है। इसके बारह भेद है —(१) कुआसन—मानपूर्ण या अशुद्ध आसन से बैठना (२) चलासन—बारबार आसन बदलना। (३) चल दृष्टि—बिना प्रयोजन इधर उधर देखना (४) सावध क्रिया—शरीर से हिसापूर्ण क्रिया करना। घर की

रखवाली करना या इशारा करना सावध क्रिया मे सम्मिलित माना गया है, (५) आलम्बन — बिना कारण दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना (६) आकुचन-प्रसारण —हाथ पाव फैलाना व समेटना (७) आलस्य—आलस्य से अगो को मोड़ना (८) मोडण —हाथ पैर की अंगुलियो के कटके निकालना (९) मल दोष —शरीर का मैल उतारना (१०) विमासन —शोकग्रस्त दशा मे बैठना या बिना पूजे खुजलाना अथवा हलन चलन करना। (११) निद्रा—नीद लेना तथा (१२) वैयावृत्य अथवा कम्पन—निष्कारण ही सामायिक मे बैठे हुए दूसरे से अपनी वैयावृत्य कराना अथवा घूमना, हिलना या शरीर को कपाना। ये काया के दोष है जिन्हे टालने से सामायिक मे काम-शुद्धि होती है।

सामायिक व्रत के निश्चय एव व्यवहार रूप इस प्रकार होगे कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन एव चारित्र गुणो का विचार करना तथा आत्म गुणो की अपेक्षा से सर्व जीवो को एक समान समझना तथा उनमे समता भाव की अवधारणा लेना निश्चय सामायिक व्रत है तो मन, वचन और काया को आरभ से हटाना ओर आरभ (हिसा) न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है।

सामायिक मे बैठने पर सामायिक के इन पांच अतिचारो को भी टालना चाहिये —(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट (बुरा) प्रयोग (२) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग (३) काय दुष्प्रणिधान—काया का दुष्ट प्रयोग (४) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति या उपयोग न रखना एव (५) अनवास्थित सामायिककरण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग के तो बाकी दो प्रमाद की बहुलता के है।

सामायिक के समता रस मे भीज कर मै कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं मानूगा, किसी वस्तु के लाभ पर हर्ष या हानि पर विषाद नहीं करूगा तथा अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के प्रति निर्भय बना रहूगा। मै प्रयासरत रहूगा कि मेरा समभाव और साम्य विवेक किसी भी कारण से विचलित न हो तथा उससे बनने वाला समतामय आचरण अक्षुण्ण बने। मै सभी प्रकार की आसक्तियो तथा असमानताओं का त्याग करू तथा सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखू। मेरी अड़तालीस मिनिट की सामायिक अभ्यास मे परिपुष्ट बनती हुई मुझे मेरे चौबीसो घटो मे समभावी बनावे, कठिन व्रत धारण की सक्षमता उत्त्पन्न करे, त्रिविध योग व्यापार को शुभतरता मे ढाले, सहिष्णुता का सद्‌गुण प्रदान करे और अन्ततोगत्वा समदर्शी बनाकर समता-रस मे आकठ डुबो दे —यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है और मै इस अभिलाषा की पूर्ति हेतु कठिन पुरुषार्थ करते रहना चाहता हू।

शुभ, शुद्ध और भव्य भावनाएं

अशुभ योग व्यापार को शुभता मे परिवर्तित करने के लिये सर्वप्रथम मुझे अपने मन की गति का रूपान्तरण करना होगा जिसके लिये मन को साधना पड़ेगा। शुभ, शुद्ध एव भव्य भावनाओं मे रमण करते रहने का अभ्यास बनाना मन सिद्धि मे विशिष्ट रूप से सहायक होता है। शुभ भावनाए भाने से मन शुद्धि भी होती है तो मन सिद्धि भी। भावनारत मन विशुद्धता एव विवेक के साथ लक्ष्य सिद्धि के लिये भी अनुकूल सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। मन सध कर वचन और कर्म को भी साध लेता है। फलस्वरूप त्रिविध योग व्यापार अशुभता से हटकर शुभता मे रूपान्तरित होता है और अधिकाधिक आत्माभिमुखी वनता है। इस दृष्टि से भावनाओं का अमित महत्त्व माना जाना चाहिये।

मैं 'भावना' को परिभापित करू तो वह परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि सवेग, वैराग्य एव भाव शुद्धि के लिये आत्म स्वरूप और जड़ चेतन पदार्थों के सयोग-वियोग के प्रति उसके

सम्बन्धो पर गहराई मे उतर कर चिन्तन करना। भावना भाते हुए यह ध्यान रखना कि इस रूप मे किये जा रहे चिन्तन मे आत्म स्वरूप एव जड़ सम्बन्धो की यथार्थ स्थिति का गूढ़ अनुसधान हो तथा धार्मिक अनुष्ठान की योग्य भूमिका का निर्माण हो। भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा भी है जिसका अर्थ होता है—आत्मावलोकन। अपने आत्म स्वरूप पर अर्थात् अपने मन, वचन, काया के योग व्यापार पर बराबर दृष्टि रखना कि वह सदा शुभता की ओर वढ़े—यही भावना का प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

मै इस उक्ति का ध्यान करता हू कि 'जिसकी जैसी भावना, वैसी ही उसकी सिद्धि' तो मै समझ जाता हू कि भावना आत्म-विकास का वह आधार है जो यदि शुद्ध बन गया तो सम्पूर्ण विशुद्धता की प्राप्ति फिर कठिन नहीं रह जायगी। पाचो मुख्य व्रतो (महाव्रतों) की स्थिरता के लिये भी प्रत्येक की पाच पाच भावनाओं का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है —

(१) अहिसा महा व्रत—पाच भावनाए— (अ) इर्या समिति—स्व व पर को क्लेश न हो वैसी यतनापूर्वक गति करना। (ब) मनोगुप्ति—मन को अशुभ ध्यान से हटाना तथा शुभ ध्यान मे लगाना। (स) एषणा समिति—किसी वस्तु की गवैषणा ग्रहण और उपभोग तीनो मे उपयोग रखकर दोष नहीं लगाना। (द) आदान निक्षेपणा समिति-वस्तु को उठाने और रखने मे अवलोकन, प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना। (य) आलोकित पानभोजन, खाने की वस्तु बराबर देखभाल कर लेना और उपयोग पूर्वक खाना।

(२) सत्य महा व्रत—पाच भावनाए— (अ) अनुवीचि भाषण-विचारपूर्वक बोलना। (ब) क्रोध प्रत्याख्यान क्रोध का त्याग करना। (स) लोभ प्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना। (द) निर्भयता —सत्य मार्ग पर चलते हुए किसी से नही डरना। (य) हास्य प्रत्याख्यान—हसी दिल्लगी का त्याग करना।

(३) अस्तेय महा व्रत—पांच भावनाए— (अ) अनुवीचि अवग्रह याचन—विचारपूर्वक आवश्यकता निश्चित करना और उतनी ही वस्तु की याचना करना। (ब) अभीक्ष्णावग्रह याचन-आवश्यकतानुसार वस्तु को बार-बार मांगना। (स) अवग्रहावधारण—याचना के पहले परिमाण का निश्चय कर लेना। (द) साधर्मिक अवग्रह याचन—पहले साधर्मिक से स्थान का उपयोग माग लेना। (य) अनुज्ञापित पानभोजन—विधिपूर्वक अन्न पान आदि लाकर गुरु को दिखाना तथा उनकी आज्ञा होने पर उपयोग मे लेना।

(४) ब्रह्मचर्य महा व्रत—पाच भावनाए—(अ) स्त्री पशुपडकसेवित शयनासनवर्जन—विजातीय लिग वाले व्यक्ति द्वारा काम मे लिये शय्या और आसन का त्याग करना। (ब) स्त्री कथावर्जन-रागपूर्वक कामवर्धक बाते नही करना। (स) मनोहर इन्द्रियालोक वर्जन—विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अगो को नही देखना। (द) स्मरणवर्जन—पहले भोगे हुए काम भोगो को स्मरण नहीं करना। (य) प्रणति रस भोजन वर्जन-कामोद्दीपक रसीले या गरिष्ठ भोजन तथा पेय का त्याग करना।

(५) अपरिग्रह महा व्रत—पाच भावनाए —(अ) मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श समभाव —अच्छा या बुरा लगने के कारण राग या द्वेष पैदा करने वाले स्पर्श पर समभाव रखना। (ब-य) इसी प्रकार रस, गध, रूप तथा शब्द के मनोज्ञामनोज्ञ अनुभव पर समभाव रखना।

वीतराग देवो ने त्याग को सर्वोच्च स्थान दिया है, इसीलिये पच महाव्रतधारी साधुओं का स्थान सवसे ऊचा है। उपरोक्त भावनाए मुख्यत साधु जीवन को लक्ष्य करके कही गई है। ये भावनाए प्रधान रूप से नियमो की सस्मृति रूप ही है। अपने-अपने त्याग के अनुरूप दूसरी भी वहुत सी भावनाएँ है जिनसे भाव शुद्धि तथा व्रतपालन मे सहायता मिलती है। पाप रूप अशुभता से निवृत्ति के लिये इन नियमो की भावना भाई जा सकती है—(१) हिसा आदि पापो मे ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट देखना। (२) हिसा आदि दोषो मे दु ख ही दु ख है —इस प्रकार बार-वार चित्त मे भावना भाना। (३) प्राणी मात्र मे मैत्री अधिक गुणी को देखकर प्रमुदित होना दु खी को देखकर करुणा लाना तथा कदाग्रही या अविनीत को देखकर मध्यस्थ भाव रखना। (४) सवेग और वैराग्य के लिये ससार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना।

महाव्रतो की स्थिरता के लिये त्याग का बारम्बार स्मरण चिन्तन भी आवश्यक है तो उस के दोषों का सम्यक् ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है क्योकि दोषो के बारे मे पूरी जानकारी हो जाने से त्याग की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती है। इसलिये अहिसा आदि पाचो व्रतो के दोषो को बार-वार देखते रहना चाहिये। यह दोष दर्शन दो प्रकार का होता है—ऐहिक एव पारलौकिक। हिसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने आदि का दुष्परिणाम इस जीवन मे कैसे उठाना पड़ेगा—यह होगा ऐहिक दोष दर्शन तथा हिसा, झूठ आदि से नरक आदि गतियो मे जाना पड़ेगा—यह देखना पारलौकिक दोष दर्शन है। इन दोनो सस्कारो को आत्मा मे दृढ़ बनाना भावना है। यह शुभ भावना है।

इसके विपरीत पाच अशुभ भावनाए भी बताई गई है जिनका त्याग करना चाहिये। वे इस प्रकार है।

(१) कन्दर्प भावना—पाच प्रकार —(अ) कन्दर्प अट्टहास, हसी मजाक करना, कठोर या वक्र वचन कहना, काम कथा, उपदेश या प्रशसा करना। (ब) कौत्कुच्य —भाड की सी वचन और काया से कुचेष्टाए करना। (स) दु शीलता—दुष्ट स्वभाव बनाना, आवेश मे बोलना, मदमस्त बैल की तरह चलना, जल्दवाजी करना आदि। (द) हास्योत्पादन— विचित्र वेश व भाषा से दूसरो को हसाना और खुद हसना। (य) पर-विस्मयोत्पादन विविध प्रकारो से दूसरो को विस्मित करना।

(२) किल्विपी भावना—पाच प्रकार (अ-य) श्रुत ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, सघ और साधु का अवर्णवाद बोलना, उनमे अविद्यमान दोष वतलाना आदि। मायावी होना भी इसी प्रकार मे सम्मिलित है।

(३) आभियोगी भावना—पाच प्रकार —(अ) कौतुक—मत्र, तत्र, धूप, आदि देना। (व) भूतिकर्म—शरीर, पात्र, आदि की रक्षा के लिये मिट्टी, सूत आदि से उन्हे लपेटना। (स) प्रश्न—लाभ-अलाभ के प्रश्न पूछना या अंगूठी, दर्पण, पानी आदि मे स्वय को देखना। (द) प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न मे आराधी हुई देवी की कही बातो को दूसरो को कहना। (य) निमित्त—अतीत, वर्तमान एव अनागत का ज्ञान विशेष रखना।

(४) आसुरी भावना—पाच भेद —(अ) सदाविग्रहशीलता—हमेशा लड़ाई-झगड़े करते रहना। (व) ससक्त तप—आसक्त साधु का तप करना। (स) निमित्त कथन—तीन काल की नैमेत्तिक वाते वताना। (द) निष्कृपता—स्थावर जीवो को अजीव मानना, उनके प्रति दयाभाव की उपेक्षा करना तथा किसी के कहने पर अनुताप भी नही करना। (य) निरनुकम्पता —दु खी के प्रति क्रूरता जन्य कठोरता धारण करना।

(५) सम्मोही भावना—पांच प्रकार (अ) उन्मार्ग देशना —आज्ञा के विपरीत मार्ग का उपदेश देना। (ब) मार्ग दूषण—सन्मार्ग व सत्साधुओं मे मन कल्पित दोष बताना। (स) मार्ग विप्रतिपत्ति—दूषण लगाकर उन्मार्ग को अगीकार करना। (द) मोह-गहन ज्ञानादि विषयो मे ना समझी से मोह करना तथा अन्ययतियो के आडम्बर से ललचाना। (य) मोह जनन—किसी भी उपाय से अन्य मत मे दूसरो का मोह पैदा कराना। इस प्रकार ये कुल पच्चीस भावनाए चारित्र मे विघ्न रूप है। इन के निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

सद्गुण ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये निम्न चार प्रकार की भावनाओं का चिन्तवन करना अति आवश्यक माना गया है—

(१) मैत्री भावना— मैं प्रत्येक प्राणी को अपने समान और अपना ही समझू ताकि मैं सभी प्राणियो के प्रति अहिसक एव सत्यवादी बन सकू। मै जब सभी प्राणियो को अपने आत्मीय जन मानूगा तब किसी को दु खी करने की वृत्ति ही मेरे मन मे नही उपजेगी बल्कि किसी भी दु खी प्राणी को देखकर मैत्री भावना से भर कर उसके कष्ट दूर करने का यत्न करूगा। यह मैत्री भावना मुझे स्वस्थ और प्रसन्न रखेगी तो दूसरो को भी सुख और शान्ति प्रदान करेगी।

मै दूसरो के साथ यह स्मरण करके अपने मैत्री भाव को पुष्ट बनाऊगा कि ये सभी किसी न किसी जन्म मे मेरे माता, पिता, पुत्र भाई, स्त्री, बहिन, आदि रह चुके होंगे अथवा कभी आगामी जन्मो मे इस प्रकार के सम्बन्ध बन सकते है। सब प्राणियो के अपने प्रति व्यक्त अथवा अव्यक्त उपकार को समझना तथा उपकारी मान कर मैत्री भाव को बढ़ाना मै अपना कर्त्तव्य मानूगा। यही भावना मुझे विश्व-बधुत्व की विशालता के दर्शन करायगी।

(२) प्रमोद भावना—मै अपने से अधिक गुण सम्पन्न महापुरुषो के दर्शन करके तथा उनके प्रति लोगो द्वारा प्रकट किये जाने वाले मान, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा के भावो को जान करके अतीव प्रमुदित होऊगा। सामान्य लोग ऐसे अवसर पर ईर्ष्या या जलन का अनुभव करते हैं किन्तु मैं जानता हू कि ईर्ष्या या जलन करने वाला सच्चा अहिसक नहीं बन सकता है। ईर्ष्या बहुत बड़ा दुर्गुण है जो मनुष्य को पतित बनाता है। अत मै उन सभी पुरुषो का सम्मान करूगा—गुण गाऊगा जो विद्या, तप, यश आदि गुणसम्पन्नता से विभूषित होगे। मैं सोचता हू, मै चाहता हू कि मेरी गुणसम्पन्नता से सभी हर्षित हो और मेरी उन्नति से सभी प्रसन्न बने तो पहले मुझे ही अपनी ऐसी वृत्ति बनानी होगी। मैं ईर्ष्या नही करूगा तो मै भी ईर्ष्या का पात्र नहीं बनूगा। अपने मे और दूसरो मे मै प्रमोद भावना का अधिकतम विस्तार करना चाहूगा।

(३) करुणा भावना—यदि शारीरिक अथवा मानसिक दु खो से दु खित प्राणियो को देखकर मेरा मन दया, अनुकम्पा और करुणा से द्रवित नहीं हो जाता है तो मुझे यह समझना पड़ेगा कि अभी मेरे अहिसक बनने मे काफी कमी है। मै तो इस भावना को सुदृढ़ बनाऊगा कि मैं दीन, अपग, रोगी और निर्बल लोगो की सेवा करू, विधवा और अनाथ बालको को सहायता दू, अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण अकाल के समय असहाय लोगो के खाने पीने का प्रबध करू, बेघर लोगो को शरण दू, महामारी के समय लोगो को औषधिया पहुचाऊ, स्वजन वियुक्त लोगो को उनके स्वजनो से मिलाऊ, भयभीत प्राणियो के भय को दूर करू, वृद्ध व रोगी पशुओं की सार-सभाल करू और यह मानू कि मेरे मनोबल, धन तथा शरीर बल की सार्थकता ही करुणा एव करुणा प्रभावित शुभ कार्यों

को सम्पूर्ण करने मे समाई हुई है। यह भी विचार करूगा कि आज की मेरी उपलब्धिया पहले की करुणा के फलस्वरूप ही है तो फिर उसी करुणा को मै अपने जीवन मे साकार स्वरूप क्यो न प्रदान करू? मेरी मान्यता है कि धर्म का सम्पूर्ण सार एक दया मे सन्निहित है, तभी तो दयामय धर्म को ही सच्चा धर्म माना गया है, अत दु:खी प्राणियो के कष्ट हरण रूप दया को मै अपने जीवन मे सर्वोच्च स्थान देता हू।

(४) माध्यस्थ भावना—इस ससार मे मेरे अनुकूल सम्बन्ध और पदार्थ होते हैं तो प्रतिकूल भी। यदि इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को मैं अपने विचारो मे स्थान दू तो निश्चय ही राग और द्वेष की भावनाए उभरेगी अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष, जबकि मेरा सारा प्रयत्न ही भावनाओं के माध्यम से राग द्वेष को घटाना है। इस कारण मै माध्यस्थ भावना का अभ्यास करूगा कि अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के प्रति समान भाव बन जाय। मनोज्ञ पदार्थ मिले तब भी वही वात और अमनोज्ञ मिले तब भी वही —सुख-दु ख, सयोग-वियोग मे एक सरीखी महकासागिरी-यही मेरी माध्यस्थ भावना होगी। मै भले बुरे का जब अपने ऊपर कोई असर नहीं मानूगा तो मेरे मन मे न तो विचार आन्दोलित होगे और न वचन तथा काया प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति मे जुटेगे। इससे मेरी आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलेगी।

भावना अनुचिन्तन शुभ भावनाओं के कई प्रारूप हो सकते है जो भाव शुद्धि और मन सिद्धि के कारण भूत बन सके किन्तु मान्य बारह भावनाओं मे जो भाव-प्रेरक अर्थ गॉभीर्य समाहित है, वह अपने ढग का अनूठा है तथा शाश्वत सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाला है। वे भावनाए हैं —(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना (३) ससार भावना (४) एकत्व भावना (५) अन्यत्त्व भावना (६) अशुचि भावना (७) आश्रव भावना (८) सवर भावना (९) निर्जरा भावना (१०) लोक भावना (११) बोधि दुर्लभ भावना तथा (१२) धर्म भावना। (इनका विस्तार आगे दिया जा रहा है।)

क्या यहॉ सब अस्थिर नही?

मै इस ससार में चारो ओर देखता हू तो यहाँ जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब कुछ अस्थिर, परिवर्तनशील और नश्वर दिखाई देता है। दृश्यमान कोई वस्तु शाश्वत नही दिखाई पड़ती है। जो पदार्थ जिस रूप मे प्रात काल मे दिखाई देते है, वे ही संध्याकाल मे अपना रूप वदल लेते हैं। कइयो का तो अस्तित्त्व ही न पहिचाने जा सकने वाले दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाता है याने कि वे पदार्थ नष्ट हो गये है—ऐसा लगता है। कुछ ही समय पहले जहॉ मगल गान होता हुआ सुनाई पड़ रहा था, वहॉ करुण क्रन्दन सुनाई देता है। जिस व्यक्ति को मै पदासीन होते हुए देखता हूँ, उसी की चिता का धुआ कुछ समय वाद दिखाई देने लगता है। इस प्रकार सासारिक घटनाओं की क्षणभगुरता मेरे सामने स्पष्ट हो जाती है। इन सवको देखते हुए भी यदि मै अपने जीवन को अमर मान कर इन दृश्यो में अपने आपको व्यामोहित वनाता रहता हू तो वह मेरी वुद्धिहीनता तथा विवेकहीनता ही होती है।

मै कई मनुष्यो को देखता हू कि वे ससार के मोह ममत्त्व मे इस प्रकार डूवे रहते हैं, जैसे उन्हे मरना ही नही है और सदा यहॉ की उपलव्धियों को भोगते ही रहना है। वे यह भूल जाते हैं कि आज यह शरीर जो युवावस्था के आनन्द उठा रहा है, कल जराग्रस्त एव रोग ग्रस्त होकर मरण

को प्राप्त होगा। यह शरीर तो वैसे भी रोगो का घर है, फिर इसको जो स्थिर मानकर आत्मार्थी सावधानी ग्रहण नही करते है, वे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं करते है। यहाँ जवानी के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है, ऐश्वर्य के सभी साधन नाशवान है तथा जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई है।

मेरे अनुभव मे आता है कि महात्मा लोग ऐसी अज्ञानी आत्माओं के प्रति दयाद्र होते है और उन्हे चेतावनी देते है कि जीवन जीर्ण हो जायगा, किन्तु आशाए और तृष्णाए कभी जीर्ण नहीं होगी अत कम से कम आयु घटने के साथ तो आत्मोत्थान के उपायो पर चिन्तन करो। प्रतिदिन मोह को प्रबल बनाते हो और आत्म कल्याण तथा लोकोपकार मे प्रवृत्त होने का विचार नहीं बनाते हो—यह सचीन नहीं है। देखो, इस ससार मे सब कुछ अस्थिर है—नाशवान है, तुम्हारे प्राप्त पदार्थ भी, तुम्हारा स्वय का शरीर और जीवन भी। स्त्री, परिवार और सभी स्वजन क्षणस्थायी है। स्वामित्व स्वप्न तुल्य है। यहॉ सयोग भी वियोग के लिये ही होता है। इसलिये चेतो और इस ससार मे मात्र शाश्वत और अनश्वर आत्मा की सेवा के लिये सजग एव सक्रिय बनो।

मै वीतरागदेवो और सुगुरुओं के उपदेशो को आत्मसात् करता हू और ससार की अनित्यता तथा अस्थिरता का विचार करते हुए सभी पदार्थों से पीछे हट जाता हू, उनमे अपनी आसक्ति को घटाते हुए समाप्त कर देना चाहता हू तथा उनके लिये क्षोभ एव शोक करने के सभी मानसिक कारणो को भी मिटा देने के लिये तैयार हो जाता हू। मुरझाई हुई फूलो की माला को छोड़ देने मे भला शोक क्यो होना चाहिये ?

मेरी शरणहीनता

मैं अपनी रक्षा के लिये अपने शरीर को समर्थ और बलवान बनाता हू, माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री से विपत्ति के समय सहायता की आशा रखता हू तथा अपने धन वैभव से सुरक्षा के साधन जुटाता हू, किन्तु समय आने पर क्या कोई भी मेरी सुरक्षा कर सकता है —मुझे अभय शरण दे सकता है ? जब मै नाना प्रकार के रोगो से ग्रस्त बन जाता हू तब क्या कोई मेरे रोग लेकर मुझे स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है ?

मगध देश के महाराजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि से उनके दीक्षित हो जाने का कारण जानना चाहा तो उन्होने कहा कि मैने दीक्षा लेली क्योकि मेरा कोई नाथ और शरणदाता नहीं रहा। तब गर्वोन्नत होकर श्रेणिक ने कहा—मै आपका नाथ बनूगा, मै आपको शरण दूगा क्योंकि मै एक विशाल राज्य और उसकी अखूट सम्पत्ति का स्वामी हू। अनाथी मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया—राजन्, तुम मुझे क्या शरण दोगे ? तुम स्वय शरणहीन और अनाथ हो। मुनि ने अपनी परम दारुण वेदना की कहानी कही तब राजा समझा कि इस ससार मे कोई किसी का नाथ और शरण दाता नहीं बन सकता क्योंकि सभी अनाथ और शरणहीन है। राजा तो क्या, चक्रवर्ती और तीर्थकर जैसी परम समर्थ आत्माएँ भी काल के पजे से नही छूट सकती है। इस ससार मे कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है।

तब मै सोचता हू अपनी शरण-हीनता पर भी। मै गर्व करता था अपनी भौतिक शक्तियो पर—अपने भुजबल पर, अपने स्वजन बल पर, अपनी सत्ता और अपनी सम्पत्ति के बल पर। किन्तु अब सोचता हू कि किसी मे भी मुझे शरण देने का सामर्थ्य नही है। ये रोग, व्याधि, जरा और मृत्यु

जब मुझे घेर लेगी तब कोई भी आगे बढ़कर मुझे उनसे छुटकारा नही दिला सकेगा। मैं अपनी सब बाहरी शक्तियो को नाथ समझकर तो अनाथ हो जाऊगा।

तो मै क्या करूं? किसकी शरण मे जाऊ जो मेरे दु खो का हरण करे? क्या मेरे लिये कोई शरण नही है? है, किन्तु बाहर कोई नहीं। मेरा 'मै' ही मेरी शरण है, मेरा सुधर्म ही मेरी शरण है। मैं अपने धर्म में रमण करू तो मै भी अनाथी मुनि के समान सनाथ हो सकता हू। मेरी शरणहीनता मेरी भावनाओं मे है और मेरी ही शुभता मे परिवर्तित भावनाए मुझे निर्भय शरण प्रदान कर सकती है। जब मैं अनुभव करता हू और अशरण भावना से भावित बनता हू तो मेरी धर्म मे— अपने आत्मोस्थान मे और लोकोपकार मे अभिरुचि सुदृढ़ एव अभिवृद्ध बन जाती है।

संसार के रंगमंच पर

इस ससार के रगमच पर मैं और अन्य संसारी प्राणी अभिनेता की तरह अपना-अपना अभिनय दिखा रहे है। अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर विविध जन्मो मे विविध शरीर धारण कर रहे है और सांसारिकता से पूर्ण अपनी लीलाए बता रहे है। एक जन्म मे जो किसी की माता बनती है, वही दूसरे जन्म मे उसकी स्त्री बन जाती है। इसी प्रकार पिता पुत्र और पुत्र पिता तथा स्वामी दास और दास स्वामी बन जाते है। ससार की विचित्रता इतनी ही नही है। एक जन्म मे जो राजा होता है, रक बनते देखा जाता है और रक व्यक्ति राज्य पद को पा लेता है। भाति-भाति के विचित्र परिवर्तन यहॉ देखे जा सकते हैं।

अन्य प्राणियो के समान मैं भी इस ससार मे अनादिकाल से जन्म मरण के चक्र मे घूम रहा हूं और भयावह दु खो को सह रहा हू। मै अपने अनन्त जन्मो मे ससार के सभी क्षेत्रो मे रहा हू, सभी गतियो मे घूमा हू तथा सभी जातियो व कुलो मे जन्मा हू। इस प्रकार कभी न कभी प्रत्येक प्राणी से मेरा सम्बन्ध जुड़ा है जिससे सभी प्राणी मेरे आत्मीय बने है। कर्मवश परिभ्रमण करते हुए मैने लोकाकाश के एक एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया परन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक योनियो के भीषण दु ख मैने सहे, तिर्यच योनियो के क्षुधा, प्यास, रोग, वध, बन्धन, ताड़न, भारारोपण आदि के कष्ट मैंने भुगते, देवयोनि के शोक, भय, ईर्ष्या आदि से भी मै पीड़ित हुआ तथा इस मानव जीवन के नानाविध ताप—सन्ताप तो मेरे सामने है। फिर भी इन दु खो का अन्त कहॉं है? क्या कहीं भी अमिट सुख का अनुभव होता है? क्या किसी भी अवसर पर आत्मशान्ति मिली है?

यह सत्य है कि मुझे इस ससार मे न तो दु खो का अन्त दिखाई देता है और न ही अमिट सुख तथा आत्मशान्ति का अवसर। ससार मे ऐसा एक भी मनुष्य या प्राणी नही दिखाई देता है जो सर्व प्रकार के सुखो को भोग रहा हो। कहीं युद्ध है तो कहीं महामारी, कहीं दुष्काल है तो कहीं द्वन्द्व-सघर्ष। किसी को धनाभाव है तो किसी को रोगग्रस्तता, कोई भयाकुल है तो कोई वियोग कष्ट से कष्टित। सभी जगह अशान्ति है, सभी कोई सन्ताप सत्रस्त है। क्या मैं भी अशान्त और सन्ताप सत्रस्त ही रहूगा? नहीं, मै इस ससार मे नहीं, अपनी ही आत्मा मे शान्ति और सुख की खोज करूगा तथा अपनी शुभ भावनाओं के आधार पर उन्हे प्राप्त करके रहूगा।

एकत्त्व की अवधारणा

मै सासारिक परिस्थितियो की गहराई मे उतरता हूं तो देखता हू कि मेरी आत्मा अकेली उत्पन्न हुई है और अकेली ही इस जीवन का त्याग करेगी। कर्मों का बध भी मेरी आत्मा अकेली ही करती है तथा उदय मे आने पर उन कर्मों का फल-भोग भी वह अकेली ही करती है। मेरे स्वजन, मित्र आदि कोई भी मेरे कर्म फल से उत्पन्न मेरे दु खो को स्वय नही ले सकते है। सच पूछे तो इस ससार मे वस्तुत स्वजन कोई भी नही है। मृत्यु के समय स्त्री विलाप करती हुई काल प्रवाह मे पति को भूल जाती है तो ममता की मूर्ति माता भी अपने बेटे के शव को घर के दरवाजे से बाहर कर देती है। सम्बन्धी और मित्र भी श्मशान पहुच कर अपने आत्मीय के शरीर को चिता पर रखकर अग्नि दे देते है। कहिए कोई जाता है मृत व्यक्ति के साथ मे ? फिर कैसे कहेगे उन्हे स्वजन ?

मैं देखता हूँ कि मनुष्य इन्हीं स्वजनो के लिये अपने जीवन मे भाति भाति के पाप कार्यो को करता हुआ थकता नहीं है। उन्हीं के सुख और आनन्द के लिये दूसरो पर अन्याय और अत्याचार करते हुए वह सकोच नहीं करता। घोर पाप कर्मो का बध करके वह सम्पत्ति अर्जित करता है जिसे उसके प्रियजन अपना अधिकार मान कर भोगते है लेकिन जब उन्हीं कर्मो का दु खपूर्ण फल उदय मे आता है तब उन प्रियजनो मे से कोई भी फल भोग मे साथ नही देता। जन्म और मृत्यु के समय आत्मा की एकता को प्रत्यक्ष करते हुए भी वह पर-पदार्थो को अपना समझता है—यह देखकर ज्ञानी महात्मा भान दिलाते है कि इन्द्रिय-सुखो मे ममत्त्व रखना, उनका संयोग होने पर हर्षित होना और वियोग होने पर दु ख करना मोह की विडम्बना मात्र है।

एकत्त्व भावना के सदर्भ मे मेरा चिन्तन चलता है कि यह जीव अकेला ही अप्सराओं के मुख रूपी कमल के लिये भ्रमर रूप स्वर्ग का देवता बनता है। अकेला ही तलवारो से छेदा जाकर नरक मे अपना खून बहाता है। विषय कषायो से लिप्त होकर वह अकेला ही पाप कर्मों का बध करता है। और उतना ही यह भी सत्य है कि अपना दृढ़ सकल्प बना लेने के बाद वह अकेला ही कर्मों के सभी आवरणो को दूर करके आत्म विकास की महायात्रा को सफल भी बनाता है। अत परस्त्री को पत्नी समझना जिस रूप मे भयावह है, उससे भी अधिक भयावह है परपदार्थों मे ममत्त्व रखना, क्योकि इसी से राग और द्वेष की मलिनता बढ़ती है जो ससार की जड़ है। यह समझ कर मै पर पदार्थों मे अपना ममत्त्व घटाऊगा, राग-द्वेष को मिटाऊगा तथा एकत्त्व भावना को भाऊगा।

शरीर और आत्मा की भिन्नता

मै कौन हू ? मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी मेरे कौन होते हैं ? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ ? यह विलास और वैभव सामग्री मुझे कहा से मिली ? इन प्रश्नो के मूल मे मैं जाता हू तो मुझे ज्ञान होता है कि ये सब आत्मा से सम्बन्धित नही है—मात्र इस शरीर से सम्बन्धित है, कारण, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। शरीर नाशवान होता है और आत्मा अनश्वर। शरीर पुद्‌गलो का समूह है तो आत्मा ज्ञानपुज। शरीर मूर्त है, इन्द्रियो का विषय है और अशाश्वत है लेकिन आत्मा मूल मे अमूर्त, इन्द्रियातीत तथा शाश्वत होती है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म वश बना हुआ है। इसलिये इस शरीर को ही आत्मा मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है —यह अन्यत्त्व भावना है। शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। 'मै' जो हू वह आत्मा हू, शरीर नही। अत मै शरीर के कृश होने पर शोक न करू क्योंकि शरीर के कृश होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का कुछ

नहीं बिगड़ता है। आत्मा तो नित्य, समदर्शी तथा ज्योतिर्मय होती है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, ह्रास या वृद्धि आत्मा के गुण नही है —ये तो कर्म के परिणाम होते है। इसी प्रकार माता पिता, स्त्री पुत्र इस आत्मा के नही है और आत्मा भी इनकी नहीं है। यह जीवन तो उस वृक्ष के समान है जहा पर सध्या के समय अलग-अलग स्थानो से कई पछी पखेरू आकर मिलते है और रात्रि वास तक ठहरते है। स्वजनो का सयोग भी इसी रूप मे अल्प समय के लिये होता है। प्रत्येक जन्म मे इस आत्मा के साथ अन्य कई आत्माओं का सयोग तथा सम्बन्ध होता है किन्तु उन सबसे यह आत्मा अलग भी हो जाती है।

सयोग के साथ वियोग है—यह विचार करके मुझे अपने स्वजन-सम्बन्धियो के मोह ममत्त्व से दूर हटना चाहिये। मुझे सोचना चाहिये कि जिनके लिये मै प्रत्यन करता हू, जिनसे मैं डरता हू, जिनसे मै प्रसन्न रहता हू, जिनका मुझे शोक होता है, जिन्हे मै हृदय से चाहता हू, जिन्हे पाकर मैं परम प्रसन्न हो जाता हू और जिनमे मै अपनी गाढ़ी आसक्ति बनाकर अपने विशुद्ध स्वभाव को अपरूप बना लेता हू— वे सब पराये है, मेरा अपना कोई भी नही। पर-पदार्थों मे ममत्व भाव धारण करके मेरी विपरीत वृत्ति बन गई है। मै आत्मा के उत्थान मार्ग को पतन का मार्ग तथा पतन के मार्ग को उत्थान का मार्ग समझने लग गया हू। इस कारण मै अपने यथार्थ कर्त्तव्य को भूल गया हू तथा उसके सम्यक् निर्धारण के उपयोग से भी शून्य बना हुआ हूँ। मै विचार करता हू कि मुझे अपने उन्मार्ग को समझ कर वास्तविक आत्म विकास की ओर अग्रसर बनना चाहिये।

चारों ओर गदगी ही गंदगी है

इस ससार मे मै जिधर भी देखता हू, उधर गदगी ही गदगी दिखाई देती है। औरो को तो छोडू —मेरा खुद का शरीर भी कितना गदा और अशुचिपूर्ण है ? यह शरीर मास, रुधिर, अस्थि जैसे घृणित पदार्थों के सयोग से बना है। माता के गर्भ मे भी अशुचिपूर्ण पदार्थों के आहार के द्वारा ही इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, स्वादिष्ट और रसपूर्ण पदार्थों का भोजन भी इस शरीर के भीतर पहुच कर घोर अशुचि के रूप मे परिणत हो जाता है। नमक की खान मे जो भी वस्तु गिरती है, वह नमक बन जाती है। इस शरीर मे कितनी ही सरस वस्तुए पहुचावे तब भी वे शरीर के अशुचि धर्म के अनुसार गन्दगी का ढेर बन जाती है। ऑख, कान, नाक आदि सभी नव मल द्वारो से सदा मैल बहता रहता है। इस शरीर को स्वच्छ, सुगन्धित तथा सुन्दर बनाने के लाखो उपाय किये जाते है, फिर भी वह अपने अशुचिपूर्ण स्वभाव को छोड़ता नहीं है। निर्मल से निर्मल साधनो को भी वह मलिन बना देता है।

मै शान्त और स्थिर बुद्धि से विचार करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि मेरे शरीर का प्रत्येक अवयव और स्वय सारा शरीर घृणाजनक पदार्थों से भरा पड़ा है। वह एक नही, अनेक रोगो का घर है। मेरा आज का सुन्दर और स्वस्थ शरीर कल कुरूप और जर्जरित हो जाता है। क्या यह परिवर्तन मेरे लिये सचेतक नहीं है ? मुझे सोचना चाहिये कि मेरा यह शरीर चमड़ी से ढका हुआ है, वरना सड़ी हुई लाश-सी दुर्गध भरा हुआ कर्कश हड्डियो का ठट्ठर मात्र है। ऐसा गदगी से भरा हुआ शरीर मेरे लिये प्रीतियोग्य कैसे हो सकता है ? शरीर को गदगी ही गदगी का समूह समझते हुए मुझे शरीर पर से अपना मोह घटाना चाहिये। शरीर को सुन्दर, निर्मल तथा वलवान वनाने की भ्रान्ति के पीछे आत्म-विकास की उपेक्षा करना मेरे लिये समुचित नही है तथा न ही यह समुचित है कि मै अपने इस सदामलिन शरीर के सुख के लिये अपनी भव्य आत्मीय शक्तियो का अपव्यय करता रहू।

अशुचि भावना के क्षणो मे मुझे अनुभूति होती है कि सुधर्म ही सत्य है, पवित्र है तथा मेरी आत्मा को भी पवित्रतम बनने की प्रेरणा दे सकता है। अत मुझे शरीर-भाव से दूर हटकर आत्म-भाव की ओर उन्मुख तथा उसी भाव मे तल्लीन बनना चाहिये।

शुभाशुभ योग व्यापार

मैं जानता हू कि आश्रव के माध्यम से ही मन, वचन, काया के शुभाशुभ योग व्यापार द्वारा शुभाशुभ कर्म ग्रहण किये जाते है। जैसे किसी भी तालाब मे उसके चारो ओर से आने वाले नदी नालो से पानी आता है, वैसे ही आश्रव द्वारा आत्मा मे कर्मों का आगमन होता है, जिससे वह व्याकुल और मलिन हो जाती है। पाच अव्रत, पाच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया रूप आश्रव बयालीस प्रकार का होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह की लिप्तता से जीव यही इसी जीवन मे अनेक प्रकार के वध, बन्धन, ताड़न आदि दु ख पाते है। एक एक इन्द्रिय के विषय मे आसक्त होकर ही हिरण, पतगा, भवरा, मछली, हाथी आदि प्राणी प्राणान्त तक का कष्ट भोगते देखे जाते है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो से दूषित प्राणी न स्वय सुख से जीते है और न दूसरो को ही सुख से जीने देते है। अशुभ योग व्यापार एव क्रिया कलाप मे पड़े हुए प्राणियो की भी ऐसी ही दुर्दशा होती है। मुझे यह सब देखकर अपने लिये शिक्षा लेनी है कि मै अशुभ कर्म बध के कारण भूत ऐन्द्रिक सुखो की असारता को समझू, धीरे-धीरे ही सही कषायो से अपने को विलग करू और इन सबके आधार रूप मन आदि के योग व्यापार को शुभता मे परिवर्तित करू जिससे मेरा त्रिविध योग व्यापार परिमार्जित, सशोधित और विशुद्ध बन जाय। मै जानता हू कि शुभ योग व्यापार से जिन पुण्य कर्मों का बध होगा, वे भी मुझे सोने की जजीर की तरह ससार मे रोकने वाले ही होगे, फिर भी उनके द्वारा प्राप्त होने वाली अनुकूलताओं की सहायता से मै अपने आत्म-विकास को आसान बना सकता हू। यह सही है कि अन्ततोगत्वा पुण्य कर्मों को भी क्षय करके ही मै सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकूगा।

फिर भी आश्रव भावना के द्वारा मुझे यही चिन्तन करना है कि कर्मों की जजीर चाहे लोहे की हो या सोने की—आत्मा को ससार मे ही बाध कर रखती है और मेरी स्वतत्रता का अपहरण करती है और यह सोचकर अव्रत आदि के कुपरिणाम-मुझे समझ लेने चाहिये। मै भावना पूर्वक निश्चय करू कि व्रतो को ग्रहण करूगा, इन्द्रियो और कषायो का दमन करूगा तथा अशुभ योग व्यापार का निरोध करता हुआ क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करूगा।

कर्म-निरोधक क्रियाए

मैने अनुभव किया है कि यदि नाव के पेंदे मे छेद हो तो उससे पानी भीतर भरेगा और पूरा भर कर नाव को अथाह जल मे डुबो देगा। इसी प्रकार आत्मा रूपी नाव मे आश्रव रूपी छिद्र से कर्म रूपी पानी बरावर घुसता ही जायगा तो वह आत्मा को डुबोने वाला बनता ही है। इसकी सुरक्षा का उपाय सवर है कि नाव के छिद्रो का निरोध कर दो ताकि बाहर से आने वाला पानी रूक जायगा। अत सवर उन क्रियाओं को कहते है जिन से कर्मों का आना और आत्मा से सम्बद्ध होना रूक जाता है और आत्म विकास की महायात्रा के निर्विघ्न सम्पूर्ण होने की सम्भावना पुष्ट हो जाती है।

मै कर्म निरोधक क्रियाओं को अपनाने की भावना भाऊं-यह सवर भावना है। सवर के दो भेद है—द्रव्य सवर और भाव सवर। आश्रव से जो कर्म ग्रहण होता है, उसका अंश और सर्व रूप से छेदन करना द्रव्य सवर होता है तो भव हेतुक क्रिया का त्याग करना भाव सवर है। समिति, गुप्ति, मुनिधर्म, ध्यान, भावना, परिषह-सहन चारित्र आदि सभी आते हुए कर्मो को रोकते है—इस कारण द्रव्य सवर के रूप होते है। संसार सम्बन्धी क्रिया का ही त्याग कर देना भाव सवर है।

मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की दिशा मे सवर का अत्यधिक महत्त्व होता है। मुझे वास्तविक सुख की खोज है और मै चाहता हू कि उसकी प्राप्ति के लिये अपना परम पुरुषार्थ लगाऊ तो उसके लिये ससार की नैमेत्तिक क्रियाओं से विरत होना अनिवार्य है। मै समझता हू कि यदि ससार के प्रति मेरे हृदय मे उदासीनता का भाव जग जाय, त्याग-भाव के प्रति सच्ची प्रीति उत्तपन्न हो तथा आत्म विकास की तीव्र लगन लग जाय तो कर्म निरोधक क्रियाओं के द्वारा आश्रव को जीत लेना आसान हो जायगा। सवर भावना के नियमित चिन्तन से मेरी आत्मा की संवर क्रियाओं मे रूचि बढ़ेगी तथा सवर क्रियाओं का आचरण करते हुए मै मुक्ति पथ पर अग्रसर बन जाऊगा।

कर्मो का मूलोच्छेदन

मुझे अपने सुगुरूओं से सद् ज्ञान मिला है कि संवर भावना द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं की तरफ मै उन्मुख होऊगा तो मुझे निर्जरा भावना के माध्यम से यह भी चिन्तन करना होगा कि जो कर्म मेरी आत्मा के साथ लगे हुए है, उनका सर्व-प्रकारेण मूलोच्छेदन (नाश) कैसे किया जाय ? ससार के परिभ्रमण के कारणभूत कर्मों को उनके बीजो सहित क्षय करने की भावना ही निर्जरा भावना है। यह दो प्रकार की है—सकाम और अकाम। कर्मों का सम्पूर्णत क्षय हो—इस विचार से तपाराधन द्वारा उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है और फल देकर कर्मों का स्वभावत अलग हो जाना अकाम निर्जरा है। कर्मों का विपाक अपने स्वभाव तथा आत्मा के उपाय —दोनो प्रकार से होता है। जैसे एक आम डाल पर अपने आप पक जाता है और दूसरे आम को घास आदि से ढककर प्रयलपूर्वक भी पकाया जाता है। आत्मा के उपाय से जो निर्जरा की जाती है, वह बारह प्रकार के वाह्य एव आभ्यतर तपो की आराधना से सभव होती है। आगामी अधापो मे तप का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

मै जानता हू कि जिस प्रकार अग्नि सोने के मैल को जलाकर उसे विशुद्ध वना देती है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि आत्मा की कर्म—मलिनता को नष्ट करके उसके शुद्ध-स्वरूप को प्रकट कर देती है। पाप रूपी पहाड़ को चूर्ण करने के लिये तप वज्र रूप है, पाप रूपी सघन घन श्रेणी को विखेर देने के लिये यह आधी स्वरूप है। तप का आचरण महापापियो के पाप पुज को भी भस्मीभूत कर देता है। तपा चरण का अपार महत्त्व है। इससे वाह्य और आभ्यतर शत्रु जीते जा सकते हैं, इसके प्रभाव से लब्धियो और सिद्धियो की प्राप्ति होती है तो यह तपाचरण आत्म स्वरूप प्रकटाने मे सहायक होता है।

मै निर्जरा के गुणो पर गहराई से विचार करूगा, अपनी आत्मा को निर्जरा के लिये प्रभावित वनाऊगा एव कर्मों की निर्जरा के लिये पराक्रम का प्रयोग करूगा।

स्वचालित यह लोक।

मै जब लोक के सस्थान का विचार करता हू तब वह मेरी लोक भावना होती है। इस भावना का चिन्तन करने से तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि होती है तथा मन बाह्य विषयो से हट कर आत्मनिष्ठ एव स्थिर बनता है। मानसिक स्थिरता का अभ्यास बन जाय तो आध्यात्मिक सुखो की उपलब्धि कठिन नही रहती है।

लोक का स्वरूप विस्तार से बताया गया है कि यह छ द्रव्यो—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय से युक्त है। यह लोक किसी का भी बनाया हुआ नही है, न ही इसका कोई रक्षक अथवा सहारक है। यह लोक अनादि और आश्वत है तथा जीव और अजीव से व्याप्त है। पर्याय की अपेक्षा इसमे वृद्धि और विनाश देखे जाते है। लोक का प्रमाण चौदह राजू है। इसके बीचोबीच मेरू पर्वत है। लोक के तीन विभाग है—ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोक। मध्यलोक मे प्राय तिर्यंच और मनुष्य रहते है, अधोलोक मे प्राय नारकीय जीव रहते है तथा ऊर्ध्वलोक मे प्राय देवता रहते है। लोक के अग्रभाग मे सिद्धात्मा रहते है। लोक का विस्तार मूल मे सात राजू है, फिर घटते-घटते मध्य मे एक राजू है और फिर बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक मे पाच राजू का विस्तार है और ऊपर जाकर क्रमश घटते-घटते एक राजू का विस्तार रह गया है। लोक का धन सात राजू है। जामा पहिन कर और पैर फैलाकर कोई पुरुष खड़ा हो, दोनो हाथ कमर पर रखे हो, उस आकार से लोक की उपमा दी गई है। लोक मे पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है घनोदधि घनवायु पर एव घरवायु तनुवायु पर स्थित है। यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक के चारो ओर अनन्त आकाश है। लोक मे नीचे से ज्यो-ज्यो ऊपर आते है, त्यो त्यो सुख बढ़ता जाता है। ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक दु ख है। ऊर्ध्वलोक मे सर्वार्थसिद्ध के ऊपर सिद्ध शिला है। आत्मा का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है, परन्तु कर्म भार से भारी होने के कारण वह नीचे जाती है। इस स्वरूप को समझ कर कर्मों से छुटकारा पाने के लिये आत्मा को धर्माचरण मे प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है

उस समय मेरा चित्त बहुत ही दु खी होता है जब मै अनेक मनुष्यो को मनुष्य जैसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी मिथ्यात्त्व और माया मे फसते हुए और ससार के अथाह कूप मे गहरे उतर कर इधर उधर भटकते हुए देखता हू। सोचता हू कि इनको बोधिरत्न की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? मै यह आत्मालोचना भी करता हू कि मेरा अपना बोधिरत्न कितना सुन्दर, कितना स्वरूपवान् और कितना निर्मल है ? सूक्ष्म जीवाणुओं के अत्यन्त दु ख भरे जीवन से निकल कर आत्मा त्रस मे, पचेन्द्रिय मे, पर्याप्तावस्था और सज्ञित्व मे तथा सबसे ऊपर मनुष्य जन्म मे आकर भी आत्म ज्ञान (बोधि) से वचित रह जाय तो यह एक शोचनीय विडम्बना ही कही जायगी। बोधि प्राप्त करने का मनुष्य जन्म ही एक उपयुक्त अवसर है और यही कारण है कि देवता भी इस जीवन को पाने के लिये लालायित रहते है। इस कारण मानव जन्म मे आर्य देश, उत्तम कुल, पूर्ण पाचो इन्द्रिया आदि दस प्रकार की उपलब्धियाँ पाकर बोधि प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये।

मै अपने ही अन्तरावलोकन से जानता हू कि बोधि—ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है। बोधि ज्ञान को कहू और सम्यक्त्व को भी कहू तथा रत्न त्रय भी कहू तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता

है। बोधि का अर्थ है ज्ञान का आन्तरिक प्रकाश और धर्म साधनो की प्राप्ति। धर्म के कोई साधन कितने सत्य स्वरूप हैं—उसकी जाच परख बोधि से ही की जा सकती है। इसीलिये बोधि को रत्न कहा गया है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है उसी प्रकार बोधि की विशेषता ज्ञान है जिसकी प्राप्ति अति दुर्लभ मानी गई है। कहा गया है कि उत्तम श्रवण भी मिल जाना सभव है किन्तु सत्य पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्योकि ससार मे मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत दिखाई देते है।

अत मै बोधि दुर्लभ भावना भाता हू कि अनेक जन्मो के बाद महान् पुण्य के योग से मिले इस मनुष्य जन्म मे जब तक शरीर निरोग है, वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ है, तब तक मुझे धर्म प्राप्ति का पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये। यह अवसर अमूल्य है जो आसानी से फिर मिलने वाला नहीं है। इस लिये प्रमाद को छोड़ कर मुझे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर बन जाना चाहिये, वरना यही कहा जायगा कि दूल्हा विवाह का मुहूर्त आने पर सो गया और विवाह से वचित रह गया।

धर्म की परमहितकारी भावना

जिस धर्म के प्रभाव से स्थावर और जगम वस्तुओं वाले ये तीनो लोक विजयवन्त हैं और जो इहलोक व परलोक मे प्राणियो का हित करने वाला तथा सभी कार्यों मे सिद्धि देने वाला है, उस दयामय धर्म को मै नित प्रति भाऊ और ध्याऊ, क्योकि उस धर्म के तेजस्वी सामर्थ्य से अनर्थ जनित पीड़ाए भी निष्फल हो जाती है। ऐसी है धर्म की परम हितकारी भावना।

मै चिन्तन करता हू कि धर्म है क्या ? आप्त वचन समाधान देते है कि अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मगल है। जिसका धर्म चित्त मे लगा हुआ है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि दस भेद रूप धर्म है। जीवो की रक्षा करना धर्म है और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, रूप रत्न त्रय धर्म है। दान, शील तप और भाव रूप भी धर्म है। यह धर्म सत्य है क्योकि वीतराग देवो ने कहा है और प्राणियो के लिये परम हितकारी है। राग और द्वेष से रहित, स्वार्थ और मोह से दूर, पूर्ण ज्ञानी व लोक त्रय का हित चाहने वाले वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट धर्म के अन्यथा होने का कोई कारण नहीं है। धर्म चार पुरुपार्थ मे प्रधान है तथा सवका मूल कारण है। इस धर्म की महिमा अपार है—चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष—इसके सेवक है। धर्म अपने भक्त को क्या नहीं देता ? समुद्र पृथ्वी को नही बहाता, मेघ सारी पृथ्वी को जलमय नहीं करते, पर्वत पृथ्वी को धारण करना नही छोड़ते, सूर्य और चन्द्र अपने नियम से विचलित नहीं होते —ये सभी मर्यादाए धर्म से ही बनी हुई है।

इस प्रकार मै धर्म भावना से अभिभूत होकर अनुभव करता हू कि धर्म वान्धव रहित का वन्धु है, मित्र हीन का मित्र है, रोगी के लिये औषधि है, धनाभाव से दु खी लोगो के लिये धन है, अनाथो का नाथ है और अशरण का शरण है। धर्म भावना के प्रभाव से मेरी आत्मा धर्म से च्युत नहीं होगी तथा निरन्तर धर्मानुष्ठान मे तत्पर रहेगी।

भाव शुद्धि, आत्मशुद्धि, समदर्शिता

विषयो से मलिन तथा कषायो से विकृत वने अशुभ भावो के रूपान्तरण के पुरुपार्थ को मैं आधारगत रचनात्मक कार्य मानता हू, क्योकि भाव-शुद्धि के विना आगे का कोई भी प्रगतिशील

चरण नहीं उठाया जा सकता है। कोई भी भाव मन मे उपजता है —वह कैसा भाव है—इसकी परख भी मन को ही करनी पड़ती है तथा मन को ही निश्चय करना पड़ता है कि उस भाव का प्रकटीकरण अथवा कार्यान्वयन किया जाय या नहीं। इस दृष्टि से मन निर्णायक का कार्य करता है। अब जो आत्मा जागरूक बन कर अपने विकास का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहती है, उसे सबसे पहले अपने मन को इस रूप मे साधना पड़ता है कि वह सदासद का सम्यक् निर्णय कर सके।

जब मेरा 'मै' भी सजग हो गया है और अपने विकास की महायात्रा को सफल बनाना चाहता है तो उसे पहले मन की गति मे दिशा परवर्तन लाना होगा। मैने यह निश्चय किया है कि मै अब मन के कहे मुताबिक नहीं चलूगा, बल्कि मन को अपने आदेश पर चलाऊगा और उसका यह अर्थ होगा कि मै प्रतिपल मन के योग व्यापार को अपने नियत्रण मे रखूगा और मन को अशुभता मे भटकने नही दूगा। इस प्रकार अपनी आत्मशुद्धि और भाव शुद्धि को अन्योन्याश्रित बना दूगा, ताकि मन एकनिष्ठ और एकाग्र बन जाय। विभिन्न प्रकार की शुभ भावनाओं के धरातल पर जब मन का नियमित चिन्तन चलेगा तो आत्मा और मन एकरूप बनने लगेगे ताकि शुद्धता सुरक्षित हो जायगी।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि आत्म शुद्धि तथा भाव शुद्धि एक रूप होकर मेरी आत्मा मे एक नई जागृति का सचार करेगी। शुद्धि और शुभता का मनोयोग निश्चित रूप से वचन योग एव काम योग को शुद्ध और शुभ बना देगा। तब मन, वचन, काया की शुद्धता ही जीवन की शुद्धता के रूप मे ढल जायगी। मेरे जीवन की शुद्धता प्रतिफलित होगी समभाव एव समदृष्टि के विस्तार मे। सभी आत्माए मेरी आत्मा के समान है—यह समभाव मुझे अहिसक आचरण प्रदान करेगा तो उससे निर्मित होने वाली समदृष्टि मुझे सत्य की दिशा मे अग्रगामी बनायगी। सब प्राणियो के लिये समान भाव रखना तथा व्यवहार की दृष्टि से सबको एक समान देखना —यह आत्म विकास का उच्चतर सोपान होता है।

यही समदर्शिता का सोपान होता है। उस अवस्था मे न राग रहता है और न द्वेष। न कोई प्रिय होता है, न कोई अप्रिय। सूक्ष्म प्राणी से लेकर मनुष्य और ससार की सभी आत्माए उसकी आत्मीय हो जाती है। सबके सरक्षण का वह अभिलाषी होता है। यो कहे कि उस महान् आत्मा की करुणा का विस्तार सम्पूर्ण लोक तक फैल जाता है।

समदर्शिता से ज्योतिर्मयता

समदर्शिता आत्मा का मूल गुण है। ज्यो-ज्यो आत्मा अपने कर्मों के आवरणो को दूर करती हुई अपने मूल स्वरूप को प्रकट करती जाती है, त्यो-त्यो उसके भीतर छिपी हुई ज्ञान और दर्शन की ज्योति भी जगमगाने लगती है। समदर्शिता की परिपुष्टता के साथ यह ज्योतिर्मयता भी अधिकाधिक सुप्रकाशित होती हुई चली जाती है।

समदर्शी ज्योतिर्मय महापुरुषो का आदर्श ही मुझे अनुप्राणित करता है यह समझने के लिये कि मैं भी समदर्शी हू ज्योतिर्मय हू और यह पुरुषार्थ बताने के लिये कि मै भी अपनी आत्मा मे आवृत्त अपनी समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणो को अपने प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट कर सकता हू। मै समझ चुका हू कि विषय-कषाय की वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ जब मन्दतर बनती जायगी तो उसके साथ-साथ ससार मे भटकाने वाले मूल दोष-राग और द्वेष भी घटते जायेगे। द्वेष के त्याग से भी राग का त्याग कठिनतर होता है अत मै भावना भाता हू कि मैं द्वेष भी छोड़ू और अन्ततोगत्वा

राग को भी त्याग दू। जिस दिन मै वीतराग भाव का वरण करूगा, वह दिन मेरा धन्य होगा ऐसा मेरा मनोरथ चलता है। वीतराग भाव की अवाप्ति के साथ ही आत्मा की समदर्शिता एव ज्योतिर्मयता अपनी पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। यह अरिहत पद का स्वरूप होता है और आत्मा जब सिद्ध पद को प्राप्त होती है तब तो मात्र ज्योति मे ज्योति स्वरूप रूपान्तरित हो जाती है। यही आत्म विकास की महायात्रा का गतव्य है।

पांचवां सूत्र और मेरा सकल्प

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि मै मूल रूप से समदर्शी हू, ज्योतिर्मय हू और यह आस्था ही मेरा सम्बल है कि मै अपने सत्पुरुषार्थ की निरन्तर सक्रियता से कभी न कभी इस या आगामी जन्मों मे अपने समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणो को प्राप्त कर सकूगा।

अत· मैं सकल्प करता हूं कि अपने गतव्य तक पहुचने के लिये आत्मीय गुणो के प्रकटीकरण स्वरूप विभिन्न चरणो को सयम पूर्वक स्वीकार करता हुआ सर्व प्रथम विषय कपायो से विश्रान्ति लेते हुए योग व्यापार की वृद्धिशील शुभता का वरण करूगा। भाव शुद्धि के क्रमिक अभ्यास के साथ ही गुणो के उच्चतर स्थानो पर मै आरूढ़ होता जाऊगा, समभाव एव समदृष्टि की पुष्टता से समता रस का आस्वादन करूगा तथा एक दिन समदर्शी एव ज्योतिर्मय बनूगा। मेरे इस समुन्नत आत्म स्वरूप का मूलाधार मन, वचन, कर्म का शुभत्व होगा— इस दृष्टि से मेरा संकल्प होगा कि मै भावनाभिभूत होकर शुभ योगधारी वनूगा।

अध्याय सात

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ६ :

मै पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मै क्या कर रहा हूँ

और मुझे क्या करना चाहिये?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप मे सिद्धात्माओ जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ गया है? अपने आन्तरिक स्वरूप एव जागतिक वातावरण का द्रष्टा बनकर मै आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊँगा, शुभ परिवर्तन का पराक्रम प्रकट करूँगा एव अहिंसा, सयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमे समभाव जगाऊँगा।

सूत्र छटा

मै पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हू। मेरी आत्मा अपने मूल गुण की दृष्टि से अनन्त पराक्रम एव अनन्त पुरुषार्थ को धारण करती है, भले ही उसकी यह धारणा-शक्ति वर्तमान मे आच्छादित बनी हुई है। मै उसे प्रकट कर सकता हू और इसी पराक्रम एव पुरुषार्थ के माध्यम से मै अपनी आत्मा को इस मूल गुण से सुशोभित बना सकता हू।

मै पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू। मेरा पराक्रम अटूट है और पुरुषार्थ अथक। मै मेरे पराक्रम को अटूट इसलिये कहता हू कि वह वज्र के समान है। जैसे वज्र कभी टूटता नही और अपुरुषार्थ पर गिरे, उसे तोड़े बिना रहता नही, वैसे ही मेरा पराक्रम स्वय कभी खडित नहीं होता और अपुरुषार्थ के प्रति वह प्रायोजित हो जाता है, उसे अखंडित रखता नहीं। (यह एक देशीय उपमा है।)

मै पराक्रमी हू क्योंकि मै पुरुषार्थी हू। मेरा पौरुष अपनी गति और प्रगति की कोई सीमाए नहीं जानता। वह समतल भूमि पर ही चलने मे समर्थ नही है, अपितु आकाश की अनन्त ऊचाइयो पर और सागर की अतल गहराइयो मे भी उसी वेग से बढ़ता चला जाता है। वह कभी हार नही मानता। मेरा पुरुषार्थ अपराजेय है।

मै पुरुषार्थी हू—पुरुषार्थ ही मेरा धर्म है, प्रमाद मेरा धर्म नही —स्वभाव नहीं, विभाव है। कषाय आत्मा से प्रमाद आता है तो मेरी ज्ञान आत्मा उसे पुरुषार्थ मे नियोजित करने का आह्वान करती है और सम्यक् ज्ञान आत्मा दर्शन आत्मा चरित्र आत्मा आदि से जुड़ कर वह आत्मा विकास की महायात्रा मे गतिशील बनता है और मानव जीवन को अपने गतव्य के निकट पहुचाता है।

मैं पुरुष हू इसी कारण पुरुषार्थी हू। यहाँ पुरुष शब्द लिगवाचक नहीं, गुणवाचक है। जो भी पौरुष को धारण करता है, वह पुरुष होता है। लिग के वाच्यार्थ से सोचे तो कोई पुरुष होकर भी पुरुष नहीं होता, जबकि कोई पुरुष न होकर भी पुरुष बन सकता है। पुरुष का मूल गुण उसका पौरुष होता है। मैं पौरुष का धनी हू, इसीलिये पुरुष हू और पुरुष हू तो पुरुषार्थ मेरा धर्म है।

पौरुष एक गुण होता है, एक शक्ति होती है। उस शक्ति का प्रयोग और उपयोग कहा और किस प्रयोजन हेतु किया जाय—यह सम्यक् ज्ञान, सुदृढ़ आस्था एव सद्विवेक पर निर्भर है। जब आकाश मे सूर्य चमक रहा हो तो उस जाज्वल्यमान प्रकाश मे अपना छोटा-सा टिमटिमाता दिया लेकर चलने मे कोई बुद्धिमानी नही। उस समय सूर्य के प्रकाश का उपयोग ही श्रेयस्कर होगा। वीतराग देवो ने पथ प्रशस्त कर रखा है कि आत्मा को अपना पुरुषार्थ किस दिशा मे लगाना चाहिये ? मुझे उसी प्रशस्त पथ को अपनाना है तथा अपने पुरुषार्थ को उसी पथ पर गति करने मे लगाना है। इस कारण मेरे पुरुषार्थ के सामने शका या सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसे जागना

है और इस पथ पर चल पड़ना है। इसीलिये मै कहता हू कि मै पुरुषार्थी हू —दिशाहीन पुरुषार्थी नही, सुदिशा मे सम्यक् रीति से अग्रगामी बनने वाला पुरुषार्थी—अपने साध्य को साध लेने वाला पुरुषार्थी।

मै पुरुपार्थी बनता हू तभी तो पराक्रमी होता हू—पुरुषार्थ का उत्कृष्ट स्वरूप ही तो पराक्रम मे परिवर्तित होता है। पुरुषार्थ प्रारभिक रूप होता है तो पराक्रम उसी का विकसित रूप। तब मेरा पराक्रम वज्र स्वरूपी बन जाता है। वह किसी भी शक्ति के तोड़े नही टूटता और अति सिष्ट पराक्रम से कर्म तोड़े जाने पर अखडित नही बचते। मेरी आत्मा का और सभी भव्य आत्माओं मे ऐसा ही अनन्त पराक्रम और अनन्त पुरुषार्थ होता है।

आत्मा का ऐसा पराक्रम और पुरुषार्थ सदा आत्मा के ही हित मे प्रयुक्त होता है —चाहे वह मेरी स्वय की आत्मा हो अथवा अन्य किसी की भी आत्मा। आत्म-हित ही प्रत्येक आत्मा का श्रेष्ठ पराक्रम और सत्पुरुषार्थ होता है, अत स्व-पर कल्याण ही पराक्रम और पुरुषार्थ की सुदिशा होती है। मैं पुरुषार्थी हू, इस कारण हर समय चिन्तन करता रहता हू और जाचता-परखता रहता हू कि मेरा पुरुषार्थ सुदिशा मे प्रगति कर रहा है अथवा नही। मेरी यह जागरुकता मेरे पुरुषार्थ की जागरुकता बन जाती है।

मुझे एक रूपक याद आ रहा है। एक फक्कड़ बाबा थे। उनके दो भक्त थे। एक दिन उन्होंने अपने भक्तो से पूछा—क्या तुम्हारी मेरे मे पूरी आस्था है? दोनो ने हृदय से कहा—हमारी आप मे पूर्ण आस्था है। आपके कथन को हम सत्य वचन मानते है। बाबा तब बोले—अच्छा, तो दोनो मेरे साथ चलो। वाबा के साथ दोनो चल पड़े। चलते-चलते वाबा एक बीहड़ जगल मे पहुच गये। फिर वे एक पहाड़ पर चढ़ने लगे। दोनो भक्त भी उनके साथ चढ़ने लगे। वावा का वाक्य उनके लिये प्रमाण था।

पहाड़ की चोटी पर चढ़कर वावा ठहर गये। उन्होंने दोनो को पहाड़ की दूसरी तरफ का दृश्य दिखाया। पहाड़ के नीचे ही वड़े-वड़े गड्ढे और चौड़ी खाइया थी। गड्ढो और खाइयो के आगे लोगो का वहुत वड़ा झुंड अस्त-व्यस्त अवस्था मे दु ख-भाव से घूम रहा था। जमीन के ऊवड़-खाबड़पन मे उन्हे कही निवास-योग्य स्थान नजर नही आ रहा था। चारो ओर भाति-भाति की असुविधाए मुह वाये खड़ी थी। वे बोले—यह दृश्य देख रहे हो न? दोनो ने हाँ, मे उत्तर दिया तब वावा ने ही पूछा—इसे देखकर तुम क्या सोचते हो? दोनो ही लोगो के हृदय उस झुड की व्यथा से द्रवित हो उठे थे, अत कहने लगे —इन लोगो का दु ख दूर किया ही जाना चाहिये। वाबा प्रसन्न हो उठे, कहने लगे—लेकिन जानते हो, यह दु ख दूर कैसे होगा? दोनो वाबा का आदेश सुनने के लिये मौन खड़े रहे।

वावा तव अपनी पौरुषभरी आवाज मे वोले—जिस पहाड़ की चोटी पर हम खड़े है, इस पूरे पहाड़ को खोद देना होगा और पास के गढ्ढो व खाइयो को उससे पाट देना होगा ताकि सारी भूमि समतल वन जाय और इन लोगो के लिये निवास-योग्य हो जाय। तव दोनो भक्तो का उत्तर एक नही रहा। पहला वोला—महाराज, पहाड़ को खोद डालना आसान काम नही है किन्तु मेरा पुरुपार्थ भी आसान काम करना नहीं चाहता। आसान काम तो किसी का भी पुरुषार्थ कर डालेगा, फिर मेरे पुरुपार्थ की क्या विशेपता? मैं आपके आदेश का पालन करने के लिये तत्पर हू और

विश्वासपूर्वक निवेदन करना चाहता हूं कि चाहे जैसी बाधाए मेरे बीच मे आवे, मैं समूचे पहाड़ को खोद दूगा, गड्ढो और खाइयो को पाट दूंगा और इन लोगो की निवास व्यवस्था मे सहायता करूगा। मेरी सफलता मेरे अथक पुरुषार्थ से मिलेगी और मेरा पुरुषार्थ मेरे भीतर के बढ़ते हुए आनन्द के साथ आगे बढ़ता रहेगा। बाबा का चेहरा खिल उठा।

तब बाबा ने दूसरे भक्त के चेहरे पर अपनी दृष्टि जमाई। वह कुछ नहीं बोला। बाबा ने ही पूछा—तुम चुप खड़े हो, क्या तुम्हे मेरे कथन मे विश्वास नही है? वह बाबा के चरणो मे गिर पड़ा और रूधे कठ से बोला—मुझे आपके कथन मे अटल विश्वास है, किन्तु । यह 'किन्तु' क्या है? —बाबा कड़के। वह कहने लगा—इतना बड़ा पहाड़ भला मैं कैसे खोद सकूगा? मेरे लिये यह असभव है। बाबा की ओजस्वी वाणी फूटी—तुम पुरुष होकर भी पुरुषार्थी नही हो। 'असभव' शब्द पुरुषार्थी के शब्द कोष मे होता ही नही है। पुरुषार्थी के लिये कोई भी दूरी अलघ्य नही होती, कोई भी ऊचाई या गहराई अभेद्य नही होती तथा कोई भी कार्य असभव नही होता। हो सकता है कि कोई कार्य वह शरीर के माध्यम से न कर सके किन्तु उसकी भावना मे असभवता कहीं भी नहीं होती। क्या तुमने अपने साथी का उत्तर नहीं सुना? कठिनाई से उसके मुह से शब्द निकले—सुना है महाराज और मै आज ही समझ पाया हू कि हम दोनो की आन्तरिकता मे कितना बड़ा अन्तर रह गया है? मै अब तक दोनो मे समान विकास का ही अनुभव कर रहा था। मै लज्जित हू देव कि आज तो मै इस पहाड़ को खोद डालने का विश्वास आपको नही दिला सकूगा। मै अपने सोये हुए पौरुष को जगाऊगा और एक दिन आपके विश्वास को साकार बनाने का कठिन प्रयत्न करूगा। बाबा का चेहरा खिला नही, लेकिन मुरझाया भी नहीं। वे इतना ही बोले—वत्स, यह तुम्हारी पुरुषार्थहीनता तुम्हारे प्रमाद के कारण है। प्रमाद को मिटाये बिना पुरुषार्थ नही जागता। पुरुषार्थ को जगाने के लिये निरन्तर यह सोचते रहना पड़ता है कि मै क्या कर रहा हू और मुझे क्या करना चाहिये? और जब पुरुषार्थ जाग जाता है तो वह न कही भी थकता है और न कभी हारता है। वह असभव को संभव बना देता है।

मै सोचता हू कि मै फक्कड़ बाबा का कौनसा भक्त हू? पहला या दूसरा? अथवा कोई भी नही? क्या आज मै अपने पुरुषार्थ को सजग और सक्रिय बनाये हुए हू? या अभी भी मुझे अपने पुरुषार्थ को जागृत करना शेष है? अथवा क्या अभी तक मै अपना भावनापूर्ण निश्चय ही नही कर पाया हू कि मुझे अपने अथक पुरुषार्थ को जगाना है और प्रमाद की गहरी नीद मे सोया हुआ हू? मुझे अपनी दशा और विदशा पर तीखी नजर डालनी है। मै अगर बाबा के किसी भी भक्त के समान नहीं होऊ तो मेरे लिये अतीव लज्जापूर्ण अवस्था है, जिसे बदलने के लिये मुझे तत्काल सन्नद्ध हो जाना चाहिये। फिर तुरन्त बाबा का पहला भक्त न भी बन सकू तो दूसरा भक्त तो हो ही जाऊ—स्व-पर कल्याण हेतु अपने पुरुषार्थ को जगाने का सकल्प तो ले ही डालू।

चिन्तन, सशोधन एव परिवर्तन की इस प्रकार की प्रक्रिया मे मै निरन्तर सोचता रहूं कि मै पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू—अटूट पराक्रम एव अथक पुरुषार्थ का धनी।

ज्ञेय, हेय एवं उपादेय

मै पुरुषार्थी हू तो मै अपने पुरुषार्थ के क्षेत्रो का सम्यक् ज्ञान करूगा और यह जानूगा कि किन-किन तत्त्वो एवं विषयो को मै समझू, उन मे से किन-किन तत्त्वो एव विषयो का मैं त्याग करू।

तथा किन-किन तत्त्वो एव विषयो को मैं ग्रहण करू। यहाँ विषय का अर्थ है तत्त्वो का स्वरूप तथा यथार्थ वस्तु स्थिति। तत्त्वो एव विषयो या यह स्वरूप ही ज्ञेय, हेय एव उपादेय रूप मे तीन प्रकार का कहा गया है। वीतराग देवो की आज्ञा है कि इस ससार मे वर्तने वाले तत्त्वो को जानो और जाने गये तत्त्वो मे से त्यागने लायक तत्त्वो को त्यागो तथा ग्रहण करने लायक तत्त्वो को ग्रहण करो। ज्ञेय, हेय एव उपादेय का सम्यक् ज्ञान ही मुझे आत्मोद्धारक तत्त्वो को ग्रहण करने की प्रेरणा देगा।

यो तो ससार के सभी तत्त्व एव वस्तु-विषय ज्ञेय है—जानने लायक है, फिर भी उनका इस रूप मे वर्गीकरण किया गया है ·

(१) कर्म—चेतन तत्त्व को जड़ तत्त्व से सम्बद्ध बनाये रखने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को कर्म कहते है और वस्तुत इन्हे मनुष्य के कार्य रूप मे ही देखे कि जिनके आधार पर कर्मों का बंधन होता है। जैसा कार्य, वैसे कर्म और जैसे कर्म वैसा फल। इस चक्र को जो समझ लेता है, वह अपने कार्यों के स्वरूप को भी समझने लग जाता है। प्रत्येक कार्य को करते समय मनुष्य की यह सावधानी वन जाती है कि उसका कार्य कैसा है —वह शुभ है या अशुभ ? दूसरो को सुख देने वाला है या दु ख देने वाला ? और उस के आधार पर वह समझ लेता है कि कौनसा कार्य उसे करना चाहिये और कौनसा कार्य उसे नही करना चाहिये ? उसके सामने कारण स्पष्ट हो जाता है कि जैसा कार्य वह करेगा, वैसे ही कर्म उसकी आत्मा के साथ वध जायेगे और ये कर्म बिना अपना तदनुसार फल भुगताए छूटेगे नही।

(२) भाग्य—मनुष्य के सामने जो फल-भोग आता है, उसे ही भाग्य का नाम दिया गया है। भाग्य मनुष्य पर कोई भी अन्य शक्ति थोपती नही अथवा कोई भी शक्ति प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर उसके भाग्य का निर्माण करती नही। यह मनुष्य के स्वय के ही पहले किये हुए कार्य होते है जो कर्म रूप मे बध कर उसे अच्छा या बुरा फल-भोग देते हैं। उस रूप मे अपने भाग्य अथवा नियति का स्वय आत्मा ही रचयिता होती है। आत्मा के साथ ही उसके कार्यों के परिणाम स्वरूप कर्मों का वधन होता है, जो आत्मा के साथ ही जुड़ा रहता है जिसके कारण पिछले जन्म का फल भोग इस जीवन मे या आगे के जन्मो मे उदय मे आता रहता है। यही भाग्य-चक्र होता है जो भव भवान्तर तक चलता रहता है। शरीर अथवा अन्य साधन-सुविधाओं की प्राप्ति इसी भाग्य चक्र के अनुसार होती रहती है। मूल तत्त्व इस रूप मे ज्ञेय है कि मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता होता है और यदि वह चाहे कि उसे सौभाग्य प्राप्त हो तो शुभ कार्यों मे उसे सदा प्रवृति करनी चाहिये तथा वह अशुभ कार्यों मे प्रवृत्त होता रहेगा तो उसे दुर्भाग्य भुगतना ही पड़ेगा। भाग्य के इस स्वरूप को समझ लेने पर अपने कार्यों के सम्वन्ध मे मनुष्य का विवेक अवश्यमेव जागृत होगा।

(३) मन—यद्यपि मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य आत्मा से ही करता है, पर उसमे महत्त्वपूर्ण सहायक मन होता है मन द्वारा जिस प्रकार का विचार किया जाता है, उसी का रूपान्तरण उसके कार्यों मे झलकता है। इस रूप मे मनुष्य का वन्धन और उसका मोक्ष उसके स्वय से ही उत्पन्न होता है। आवश्यकता है व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्यक् ज्ञान से अनुरजित वनाकर मन के सहारे आत्माभिमुखी गति करे।

(४) भापा—मनुष्य के कार्यों का विचार आत्मा द्वारा मूल मन मे पैदा होता है तो उनका उच्चार भापा के माध्यम से वाहर फूटता है। विचार का प्रहार दूसरे के अनुभव मे उतने वेग से नहीं

आता, जितना भाषा का प्रहार आता है। कहा जाता है कि कटु वचन तलवार की तेज धार से भी अधिक मारक होता है। तलवार से पड़ा हुआ घाव तो फिर भी समय गुजरने पर भर जाता है, मगर वचन का घाव बड़ी मुश्किल से ही भरता है। अत भाषा का विवेक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(५) मृत्यु—जीवन मे सतत जागृति के लिये मृत्यु का स्वरूप जान लेना परमावश्यक है। इस संसार मे अपनी विकारपूर्ण कामनाओं को पूरी कर लेने की धुन मे मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम छोर तक भी इस बेपरवाही से भागदौड़ करता है जैसे उसको इस ससार से कभी विदा ही नहीं होना है—मरना ही नही है वह सरंजाम सौ बरस के करता है जबकि एक पल का भी पता नहीं होता कि वह किस पल यहाँ इस जीवन से उठ जायगा। मृत्यु को सदा ध्यान में रखते हुए मनुष्य विषय-कषायो से दूर हटे तथा सयम साधना मे प्रवृत्त रहे—यह है मृत्यु के स्वरूप ज्ञान का एक पहलू। दूसरा पहलू यह होगा कि वह मृत्यु के ही सदर्भ से आत्मा की अमरता का ज्ञान करे। मृत्यु एक जीवन और उस जीवन मे प्राप्त शरीर का अन्त करती है, आत्मा के अस्तित्व का नही। जीर्ण वस्त्र त्याग कर जैसे नया वस्त्र धारण किया जाता है, वैसे ही यह आत्मा एक जीर्ण शरीर को छोड़कर आयुष्य समाप्ति के बाद नया शरीर धारण कर लेती है। मृत्यु के इन दोनो पहलुओं का ज्ञान मनुष्य को सतत आत्म-जागृति तथा अपने अस्तित्व की निरन्तरता का बोध देता है।

(६) परिवार—मनुष्य गर्भावस्था मे और अपने जन्म के साथ अपनी माता से लेकर अपने परिवार जनो के ही प्रथम सम्पर्क मे आता है। यही कारण है कि अति विस्तृत मानव समाज मे परिवार ही एक आधारभूत घटक माना गया है, सासारिक परिस्थितियो के थपेड़ो मे पड़ने के बाद मनुष्य तथा उसके परिवार जनो का पारस्परिक व्यवहार भी शुभता और अशुभता के रगो मे से होकर गुजरता है। इसमे जितना सद् विवेक सब मे होता है, उतने ही परिवार मे शुभ रग खिलते हैं और पारिवारिक आत्मीयता से जुड़े हुए होने पर भी परिवार के सदस्य यदि स्वार्थ और कलह मे डूब जाते है तो अशुभता के बदरग भी साफ नजर मे आ जाते है। यह परिवार का एक स्वरूप है किन्तु हमारी विकसित सस्कृति इसका दूसरा स्वरूप भी बताती है कि सारी वसुधा ही हमारा परिवार है अर्थात् सम्पूर्ण ससार के समस्त जीवो का परिवार ही हमारा परिवार है। यह आत्मा अनादिकाल से इस ससार मे भव भ्रमण कर रही है और इस ससार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है जो इस आत्मा के जीवन सम्पर्क मे न आया हो अथवा ऐसा कोई जीव भी नहीं होगा जिस के साथ किसी न किसी जन्म मे इस आत्मा का सम्बन्ध न रहा हो अत जन्म जन्मो का परिवार यह समूचा ससार है। वर्तमान परिवार तो मात्र इसी जन्म का परिवार है। अत विशाल परिवार के प्रति मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये।

(७) मित्र-शत्रु—सामान्य परिभाषा के अनुसार जो सहायता करे वह मित्र और जो विरोध करे वह शत्रु कहलाता है। यह स्थूल परिभाषा है जबकि शत्रु-मित्र की सूक्ष्मता मनुष्य के अन्तर्मन की भावनाओं से सम्बद्ध रहती है। मैत्री की मूलाधार भावना होती है—सदाशयता और शत्रुत्व की स्वार्थ मूलक विद्वेषात्मक भावना। इस दृष्टि से शत्रु या मित्र दूसरा व्यक्ति नही होता बल्कि अमुक प्रकार की भावना से जुड़ने के कारण शत्रुत्व या मित्रत्व उसमे आता है। अत सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो व्यक्ति नही, अच्छी भावनाएं ही असल मे मित्र और बुरी भावनाए ही शत्रु होती है। अत बुरी

काल की आत्म जागृति विपुल रूप से सुफल दायक होती है। सारपूर्ण जीवन के अन्त मे बाल (अज्ञान) मरण हो तो वह अर्जित सार भी कई वार असार बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि असारपूर्ण जीवन के अन्त मे भी मरण बाल मरण न होकर पडित मरण हो जाय तो असार जीवन भी सारपूर्ण वन सकता है। यह आपेक्षिक दृष्टि कोण है अत बाल मरण की दुरावस्था से वचा जाना चाहिये।

(११) पर स्त्री गमन—परनारी को पैनी छूरी कहा है जो अग अग को छेद डालती है। इस दुर्गुण से मनुष्य स्वय के चरित्र को विगाड़ता है तो समाज के चरित्र को भी कलकित बनाता है। दूसरे, वह इस भव और पर भव दोनो को विगाड़ता है, इस कारण उसे इस दुर्गुण से दूर ही रहना चाहिये।

(१२) राग द्वेष—ससार के इन बीजो की उर्वरा शक्ति को कुचल डालने पर ही सासारिकता समाप्ति की जा सकती है। द्वेष को कुचलना अपेक्षाकृत आसान कहा गया है जवकि राग को कुचल डालना बहुत कठिन। इसी कारण द्वेष के बाद राग को भी समाप्त कर देने वाली महान् आत्माओं को वीतराग कहा जाता है। राग के सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर ससार भ्रमण समाप्त हो जाता है तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

इन हेय तत्त्वो को जानकर छोड़ देना चाहिये तथा उन तत्त्वो को ग्रहण कर लेना चाहिये जिन्हे उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य वताया गया है। ये उपादेय तत्त्व निम्नानुसार कहे गये है —

(१) धर्म—आत्मा का मूल स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है। अहिसा, सयम और तप मय जो धर्म होता है, वही सर्वोत्कृष्ट मगल कहलाता है। धर्म एक होता है अनेक नहीं। जो अनेक होते है, वे मत होते है और विवाद के मूल होते है। अपने धर्म को आत्मा तभी पहिचान पाती है जब वह अधर्ममय विषय कपाय का सेवन करना घटा दे और रोक दे। धर्म ही सबसे महान् शरण और त्राण होता है तथा धार्मिक क्रियाओं को करते हुए अन्तर्हृदय का आनन्द फूटता हुआ चला जाता है। सच पूछे तो इस दुर्लभ मानव तन का मूल अनुष्ठान ही धर्माचरण माना गया है। धर्म के चार द्वारो—क्षमा, सरलता, नम्रता व सन्तोष मे जो अपनी आत्मा को प्रविष्ठ कराता रहता है वह जीवन मे चाहे कितनी ही कठिनाइयॉ क्यो नहीं आवे, सदा सत्य और नीति पर अडिग रहता है। धर्मज्ञ का मन, वचन और कर्म सदा सरल होता है और वह धर्म पर सुदृढ़ रहकर वीर वन जाता है।

(२) अहिसा—'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली अहिसा को परम धर्म कहा गया है क्योंकि अहिसा के आचरण से व्यक्ति का जीवन सशुद्ध वनता है तो सामाजिक जीवन मे पारस्परिक सहानुभूति एव सहयोग की धारा प्रवाहित होती है। अहिसा का निषेध रूप भी वहुत सूक्ष्म होता है तो उसका विधि रूप भी। प्रमत्त योग से प्राणी के दस प्राणो मे से किसी भी प्राण को कष्टित करना हिसा है तथा उस हिसा से वचना अहिसा का निषेध रूप होता है। कोरे वध से ही हिसा का आचरण नहीं होता, वल्कि प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, आदि को कष्टित करना भी हिसा रूप ही होता है अतः अहिसा का निषेध रूप भी वड़ा व्यापक होता है और उससे भी अधिक व्यापक होता है उस का विधि रूप —जिसे रक्षा, दया, अनुकम्पा आदि नाम दिये गये हैं। संसार के समस्त जीवो के प्रति रक्षा एव अनुकम्पा का भाव रखना तथा उस रूप मे अहिसा का आचरण करना—यह समता का उत्कृष्ट स्वरूप होता है।

(३) सत्य—सत्य जीवन का साध्य है या यो कहे स्वय ईश्वर है। सम्यक् विचार-समन्वय की प्रक्रिया से गुजर कर ही सत्याश को पहिचाना जा सकता है तथा सबके विचारो के प्रति आदर भाव रखकर व सबकी सुनकर सत्याशो को एकत्रित करके पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते है। सत्य मन, वाणी और कार्य मे समा जाना चाहिये। तथा उसे हितकारी और प्रियकारी होना चाहिये। असत्याचरण मनुष्य को अप्रतिष्ठित भी बनाता है तो अविश्वसनीय भी। असत्य के साथ जब कपटाचार जुड़ जाता है तो वह अत्यन्त घातक रूप ले लेता है। बोले गये शब्द तीर के समान होते है जो कभी वापस लौटकर नही आते अत उन्हे तौल-तौल कर बोलना चाहिये ताकि वे सत्य भी हो एव प्रियकारी और मधुर भी। जिसकी कथनी और करनी मे जब सत्य समा जाता है तो वह सत्य के साक्षात्कार के निकट पहुचने लगता है। सत्याचरण व्यक्ति को निर्भय, निर्लोभी, निर्विवाद एव निर्मल बना देता है।

(४) अस्तेय—जो वस्तु प्राप्त नही है या नही दी गई है —ऐसी वस्तु को हस्तगत करना चौर्य कर्म है। चोरी मे ठगाई और सीनाजोरी शामिल हो जाती है। जो लाभ श्रम के बल पर होता है, उसे जब पूजी के बल पर हड़प लिया जाता है तो वह लाभाश भी चोरी ही कहा जायगा। अत व्यक्ति की अर्जनशैली ही नही बल्कि समाज की आर्थिक नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमे शोषण या चोरी की गुजाइश नहीं हो। अस्तेय का एक अर्थ यही निकलता है सविभाग—अपने अर्जन को यथायोग्य यथा स्थान समान रूप से सबमे बाटो। इसका व्यापक अर्थ यह होगा कि समाज की अर्थ नीति को ही इस तरह ढाले कि सत्ता और सम्पति का एक या कुछ हाथो मे सचय न हो सके तथा सविभाग का सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था मे स्वय ही साकार रूप ग्रहण कर ले।

(५) अपरिग्रह—अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना मे अपरिग्रह व्रत की आराधना भी हो जाती है। मनुष्य स्वय व्रत ले कि वह सत्ता और सम्पत्ति का सचय नहीं करेगा तथा परिग्रह प्राप्ति के लिये मूर्छित नहीं बनेगा। वह परिग्रह को अपनी आवश्यकता के अनुसार ही रखेगा तथा उपभोग—परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा भी ग्रहण करेगा। अपरिग्रह व्रत के प्रति निष्ठा पहले भाव रूप मे जागनी चाहिये ताकि मूर्छा के अभाव मे उसका द्रव्य रूप स्वत ही सध जायगा। अपरिग्रही निर्ग्रंथ हो जाता है।

(६) सम्यक् दर्शन—दर्शन का अर्थ होता है देखना अत सम्यक् रीति से देखने का नाम सम्यक् दर्शन है। दर्शन आस्था का आधार होता है अत सम्यक् आस्था के साथ जो ज्ञानार्जन किया जाता है, वही सम्यक् ज्ञान का रूप लेता है। सम्यक् दर्शन से समभाव उमड़ता है, समदृष्टि बनती है तथा अन्ततोगत्वा जीवन के सम्पूर्ण आचरण मे समता का समावेश हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता की पृष्ठभूमि पर ही ज्ञान की ज्योति जलती है तथा वही दर्शन परिपूर्ण बन कर क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप धारण करता है सम्यक् दर्शन के बिना आत्मा का पराक्रम शुद्ध नही बन सकता है। इसी कारण सम्यक् दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान कहा गया है जिस पर चढ़ कर आत्मा आगे के सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चरित्र के सोपानो पर आरूढ़ होती है।

(७) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् आस्था युक्त ज्ञान सदा आचरण की प्रेरणा देता है। इसीलिये ज्ञान और क्रिया के सफल सयोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। सम्यक् आस्था के साथ सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति सरल बनती है। ज्ञानी आत्मा—यथा स्थान स्व-पर कल्याण को ही अपना परम उद्देश्य

मानती है तथा सभी प्रकार की ऊची नीची परिस्थितियो मे समभाव रखने को उच्च आदर्श। ज्ञान से ही वस्तु का सत्य स्वरूप जाना जाता है तथा यथा दृष्टि से देखने का अभ्यास बनता है। सबके सव भावो को जानना ज्ञान का श्रेष्ठ कार्य कहा गया है क्योकि उस से अहिसामय आचरण ढलता है और चारित्र सहित ज्ञान जब परमोत्कृष्ट हो जाता है तो वह केवल ज्ञान होकर सम्पूर्ण लोकालोक को हस्तामलकवत् देखता है। ज्ञानी सदा सुखी रहता है और अज्ञानी सदा दु खी। अत स्वाध्याय मे निरत रहकर सदा ज्ञानार्जन हेतु सचेष्ट रहना चाहिये।

(८) सम्यक् चरित्र—आस्था भी हो और ज्ञान भी, लेकिन यदि ये दोनो गुण आचरण मे नहीं उतरे तो वे पूर्ण फल प्रदायी नही होती है। आचरण ऐसी कसौटी होती है जिस पर किसी की आस्था अथवा ज्ञान-गभीरता का मूल्याकन किया जा सकता है। मोक्ष भी ज्ञान और क्रिया दोनो के सयोगी पुरुषार्थ से ही हो सकता है।

(९) श्रद्धा—धर्म सुन ले, समझ ले किन्तु उस पर यदि श्रद्धा —विश्वास न करे तो उस आत्मा का कभी भी उद्धार सभव नही है क्योकि सशयात्मा, विनष्ट हो जाती है। जो अपनी श्रद्धा को सम्यक् वना लेता है, वह अपने मार्ग पर कही रुकता नही है क्योकि उसके मार्ग पर हमेशा उसके श्रद्धा पुरुष का प्रकाश छाया हुआ रहता है। ज्ञान दुर्लभ, तब श्रद्धा कठिन और उससे भी कठिन होता है पुरुषार्थ —किन्तु यदि ये तीनो मिल जाय तो आत्म विकास मे विलम्व नहीं लगता।

(१०) आत्मा—आत्मा अपने मूल गुणो के अनुसार सर्वशक्तिमान् होती है किन्तु उसकी यह शक्ति कर्म पुदगलो से आच्छादित होकर धूमिल बनी हुई रहती है अत कर्मों के सवर तथा निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा जब कर्मावरण समाप्त कर दिये जाते है तब यही बद्ध आत्मा बुद्ध और सिद्ध बन जाती है। ससार रूपी महासागर मे यह आत्मा गोते खा रही है लेकिन यदि यह अपने शरीर को नौका वनाकर स्वय कुशल नाविक हो जाय तो खेवापार हो सकता है। आत्मा स्वय की स्वय ही ज्ञाता और दृष्टा होती है तथा स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता होकर अपने स्वरूप के प्रति जागृत हो जाय तो उसके समान उसका अन्य कोई मित्र नहीं होता और जब तक वह विषय-कषायो के दल-दल मे फसी रहती है तब तक वह अपनी ही शत्रु बनी रहती है। अत आत्मा जब स्वयं को ही जीतती है तब वह अपने आपको कर्म मुक्त कर लेती है।

(११) मोक्ष—आत्मा का उसके मूल स्वरूप मे पूर्णत कर्मावरणो से अनावृत्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है। आत्मा पौदगलिक जड़ के साथ सयुक्त होने के कारण ही ससार मे ससरण करती है और जब आसक्ति मूलक इस संयोग को सर्वथा समाप्त कर दिया जाता है तब उस आत्मा का मोक्ष हो जाता है। तव आत्मा सम्पूर्णत स्व स्वरूप मे स्थित होकर केवल ज्ञान स्वरूप हो जाती है। रत्न त्रय की साधना या ज्ञान क्रिया की आराधना ही आत्मा को मोक्षगामी वनाती है। और यह साधना व आराधना समता भाव की सम्पूर्ण अवाप्ति से ही सफल वनती है। जन्म-मरण के वधन से मुक्त होकर आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य मे रमण करती है। सिद्धात्मा ज्योति मे ज्योति स्वरूप एकीभूत होकर सदा काल के लिये आनन्दमय वनी रहती है। मोक्ष पद ही आत्म-विकास की इस महायात्रा का चरम गतव्य होता है।

(१२) तप—तप का अर्थ होता है तपना और तपने से मैल क्षय होता है व निर्मलता आती है। यह आत्मा ससार के विपय-कपायो मे रमती हुई कर्मों का मैल अपने स्वरूप पर लेपती

जाती है जिससे वह मलयुक्त बनी रहती है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण को अग्नि मे तपाने से वह शुद्ध बनता है, उसी प्रकार आत्मा जब अपने आपको कठिन तपश्चरण की आग मे तपाती है तब उसका कर्म रूपी मैल नष्ट होता जाता है तथा उसका निर्मल स्वरूप प्रकाशित होता जाता है। तप कर्मों की निर्जरा करता है और आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है। तप की आराधना देह-मोह को नष्ट करती है और आत्मानन्द को प्रकट करती है। आत्मा के विकास मे तपाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१३) सयम—तप करना यदि आग मे तपना हैं तो सयम का अर्थ आत्म-मल का प्रक्षालन करना है। प्रक्षालन शान्त प्रक्रिया होती है तो तप एक कठिन प्रक्रिया। सयम का अर्थ है इच्छाओं का सशोधन ज्यो-ज्यो इच्छाओं के शसोधन का अभ्यास सयम के माध्यम से बढ़ता जाता है, त्यो-त्यो विषय-कषायो का आवेग, राग द्वेष की तीव्रता तथा प्रमाद की उन्मत्तता घटती जाती है और जीवन के सभी क्रिया कलाप आत्माभिमुखी होने लगते है। एक बार समता के साथ दृढ़तापूर्वक जब यह आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेती है तो उसका पुरुषार्थ सयम के मार्ग पर सजग एव सक्रिय बन जाता है। इसीलिये कहा है कि सयम पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान होता है, क्योंकि पल पल पर भटक जाने वाले मन तथा इन्द्रियो को सयमित करना होता है। सयम की साधना आत्मा की निर्मलता एव तेजस्विता को प्रखर बनाती है।

(१४) अभयव्रत्ति—जो मनुष्य अपने साथियो तथा अन्य प्राणियों के मन मे अपनी शक्तियो के दुष्प्रयोग से भय उपजाता है, वह भयभीत भी रहता है, इस कारण भय को बहुत बड़ा दुर्गुण माना गया है। भय के भाव को जीतना ही अभय व्रत है। इसका लक्षण है कि सबको अभय बनाओ अपने समभाव, अपनी समदृष्टि तथा अपने समतामय आचरण से और स्वय भी अभय बन जाओ। अपने हृदय का समस्त स्नेह जो ससार के समस्त जीवो पर उडेल देता है और उन्हे सुखी बनाने के सच्चे पुरुषार्थ मे जुट जाता है, वह अभय और निर्भय बन जाता है। जो आत्म बल को अभिवृद्ध बना लेता है, उसकी अभयता स्थायी और सुदृढ़ बन जाती है। आत्म बल के सिवाय अन्य सभी प्रकार के बल तुच्छ और भय प्रदायक होते है। आत्म बली ही अभय हो सकता है तो वही सभी को अभय दान भी दे सकता है।

(१५) विनय—विनय, रूप तप और सद्‌गुण को धर्म का मूल कहा गया है। विनय गुण को अपनाये बिना धार्मिकता का आविर्भाव ही सभव नही बनता है। विनय मूल मे होना चाहिये, तभी सभी आत्म-गुणो का विकास हो सकता है। अपने अभिमान को छोड़ने पर ही विनय प्रकट होता है। एक ओर अभिमान क्रोध आदि अन्य कषायो को उत्तेजित बनाता है तो दूसरी ओर अपने मद पोषण के लिये अपार सत्ता और सम्पति का सचय करने मे ऊधा बन जाता है। वहीं विनय गुण उस के आत्मिक अध पतन की दिशा को ही बदल देता है और धर्म रूपी वृक्ष को हरा भरा बना देता है। विनय धर्म है, तप है और सम्पूर्ण आत्म-विकास का मूल है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय आदि सात प्रकार के विनय से आत्म स्वरूप मे धृति, मृदुता और कान्ति का सचार हो जाता है।

(१६) वैराग्य—ससार मे राग भाव का होना ही आत्मा की कलुषितता का मुख्य कारण है। द्वेष तो राग की ही प्रतिक्रिया का रूप होता है। अत राग से विरत होने की भावना का नाम ही वैराग्य है और यही वैराग्य जब अपनी सम्पूर्ण उत्कृष्टता के रूप मे प्रतिफलित होता है तब

वीतरागता की प्राप्ति संभव बन जाती है। जब आत्म-चिन्तन के क्षणो मे सांसारिकता की दुरावस्था का भान होता है, सासारिक सम्बन्धो एव कामनाओं की तुच्छता अनुभव मे आती है तथा विषय-कषाय जन्य कष्टो का सामना करना पड़ता है, तब वैराग्य की भावना उद्भूत होती है। वैराग्य की धारा मे सांसारिकता की हेयता स्पष्ट हो जाती है। तब विरागी आत्मा ससार त्याग करके संयम के पुरुषार्थ मे सयोजित हो जाती है। एकत्व आदि भावनाए वैराग्य को प्रबल और प्रखर बनाती रहती है तथा आत्मा को आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित बनाये रखती है। आत्मा को धर्म की चिर शरण मे ले जाने वाला वैराग्य होता है।

(१७) पुण्य—पुण्य यद्यपि कर्म बधन है, फिर भी अपनी शुभता के कारण आत्म-विकास मे एक सहयोगी की भूमिका निभाता है तथा ससारी आत्माओं को शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति करने की सफल प्रेरणा देता रहता है। पुण्य को उस जहाज की उपमा दी गई है जिसमे सारी सुविधाओं के साथ बैठकर सरलतापूर्वक समुद्र पार किया जाता है। यह दूसरी बात है कि उप पार पहुचने पर जहाज को भी छोड़ देना पड़ता है। ससार रूपी महासमुद्र को सरलता से पार कराने मे पुण्य कर्म ऐसे ही जहाज का रूप बन कर आत्मा को उत्थान के चरम बिदु तक पहुचाता है। पुण्य कर्म के उदय मे आने पर जिस प्रचुर मात्रा मे सुख सुविधाए प्राप्त होती है, उनके बीच मे बैठकर आत्मा अगर मूर्छित हो जाय तो वह पाप पक मे डूब जाती है किन्तु उन्ही सुविधाओं को यदि वह अपने उत्थान मार्ग के अनुकूल बना लेती है तो वह अपने गतव्य तक भी पहुच सकती है।

(१८) सत्सग—एक कहावत है कि काले के पास गोरा बैठ जाय तो वह उसका वर्ण तो नही ले सकेगा मगर उसके 'लक्खण' जरूर ले लेगा। इसका अर्थ है कि सगति का जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। जैसी सगति मे मनुष्य रहता है, वैसे ही गुण वह अपना लेता है। इस दृष्टि से प्रकृति के इस तथ्य को ही ले लीजिये कि स्वाति नक्षत्र मे आकाश से बरसी बूद सीप के मुह मे पहुच कर अनमोल मोती बन जाती है तो वही बूद सर्प के मुह मे गिर कर मारक विष का रूप ले लेती है। फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? इसीलिये सत्सग की महिमा गाई गई है। दुर्जनो का ससर्ग मनुष्य के मन को दुर्गुणो से भर देता है तो सत्पुरुषो के सम्पर्क मे रहकर मनुष्य अपने मन का सताप ही नही मिटाता बल्कि अपने आपको सद्धर्ममय व सद्गुण-सम्पन्न भी बना लेता है। स्वल्प सत्सग भी मनुष्य का उसी रूप मे कल्याण करता है जिस रूप मे स्वल्प लवण सम्पूर्ण भोजन को सुस्वादु वना देता है। सत्सग सद्धर्थ का प्रेरक होता है।

(१६) क्षमा—क्षमा को वीरो का भूषण बताया है, कायरो का नही। जो स्वय आत्मशक्ति से सम्पन्न होता है, वहीं दूसरो को क्षमादान दे सकता है। क्रोध और प्रतिशोध की अग्नि का शमन करके क्षमा रूपी शीतल जल का जो सर्वदा और सर्वत्र सिचन करता है, वह स्वय ही महात्मा नही वनता वल्कि जिन्हे क्षमादान देता है, उन्हे भी अपने साथ स्व-पर कल्याण के मार्ग पर अग्रगामी वना देता है। क्षमापना से आत्मा को अत्यन्त आह्लाद का अनुभव होता है और क्षमावान अन्य किसी के अपकार को नही, उपकार को ही स्मृति मे रखता है। क्षमा का ही दूसरा नाम सहनशीलता है और सभी तरह के संकटो को जीत लेना एक क्षमावान के ही सामर्थ्य मे होता है, मनुष्य का आभूपण सद्गुण है, सद्गुणो का आभूपण ज्ञान तो ज्ञान का आभूपण क्षमा धर्म है। एक क्षमावान सर्व जीवो से अपने अपराधो की निश्छल भाव से क्षमा चाहता है और वैसे ही उदार भाव से सभी को क्षमा

करता है, क्योंकि वह समस्त प्राण, भूत सत्व और जीवो को अपने मित्र समझता है, किसी के भी प्रति तनिक भी वैरभाव नहीं रखता है।

(२०) अप्रमत्तता—आत्म-विकास के विस्तृत मार्ग को एक वाक्यांश मे इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि एक समय (काल का सूक्ष्मतम घटक) के लिये भी प्रमाद मत करो। इससे प्रमाद का अति आत्मघातक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। विषय-कषाय के उग्र आवेश मे रमण करते हुए आत्मा जिस मूर्छा एव उन्मत्तता को प्राप्त होती है, वह दुरवस्था उसके प्रमाद की होती है। प्रमाद के वशीभूत होकर वह हिसा भी करती है और असत्य, चौर्य, कुशील व परिग्रह का सेवन भी करती है। इस प्रकार प्रमाद उसके पतन का महाद्वार बन जाता है। इसी दृष्टि से अप्रमत्तता को आत्म जागृति का रूपक कहा गया है। उन्माद हटे, तभी तो बुद्धि प्रकट हो सकती है और बुद्धि सुबुद्धि बनकर स्व-पर कल्याण के साध्य को साध सकती है। मद्य, निद्रा, विकथा, विषय और कषाय रूप प्रमाद जहा सुषुप्ति का कारण भूत होता है वहाँ अप्रमत्तता आत्मा को सदा जागृत रखती है और विकास के मार्ग पर सुरक्षा प्रदान करती है।

(२१) समभाव—समभाव को समत्व योग कहिये जिसके सद्भाव मे मनुष्य सम्पत्ति और विपत्ति मे, मित्रता और शत्रुता मे तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ मे समान भाव रखता है तथा उसी प्रकार सभी छोटे बड़े या ऊचे नीचे प्राणियो के प्रति भी अपने सकल व्यवहार मे वह समानता बरतता है। समभाव की यह साधना आत्मदमन, जितेन्द्रिय तथा आचरण समता के कठिन अभ्यास से ही सफल बनती है। एक समभावी ही सुव्रती हो सकता है और सुव्रत से समता की उत्कृष्ट श्रेणियो मे पहुचा जा सकता है। समभाव का अड़तालीस मिनिट की सामायिक के रूप मे प्रारंभ हुआ प्रशिक्षण सम्पूर्ण जीवन की सामायिक-साधुता मे परिणत हो सकता है। समभाव ही भीतर बाहर की सारी गाठे खोल कर साधक को निर्ग्रंथ बना देता है। समत्व योगी की अभेद दृष्टि हो जाती है।

इस प्रकार ज्ञेय हेय एव उपादेय तत्त्वो का ज्ञान इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है कि सबको जानो बुरो को छोड़ो और अच्छो को अपना लो। किन्तु इसके साथ ही आत्मा मे यह चेतना जागनी भी जरूरी है कि उसका अपना मूल स्वभाव क्या है, वह आवृत्त होकर विभाव कैसा ढल गया है तथा विभाव मिटाकर स्वभाव को प्रकट करने के सहयोगी तत्त्व कौन कौन से हो सकते है ?

आत्म-स्वभाव-विभाव चर्चा

मैं पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू और समझिये कि मैंने ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्वो का ज्ञान भी कर लिया है। किन्तु उपादेय तत्त्वो का सहयोग मेरी जागृत आत्मा ही ले सकती है। अत मुझे आत्म स्वरूप का दर्शन करना होगा और यह अनुभव करना होगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वभाव क्या है और वर्तमान मे वह कितने स्व-भाव मे और कितने विपरीत भाव (विभाव) मे रमण कर रही है ? फिर मुझे अपना पुरुषार्थ जगाना होगा कि मै अपनी आत्मा को उपादेय तत्त्वो के ज्ञानाचरण के द्वारा विभाव से निकालू और स्व-भाव मे अधिकाधिक प्रतिष्ठित करू।

अत सर्वप्रथम मैं समझू कि आत्मा का मूल स्वभाव क्या होता है और उसके विभाव का कैसा रूपक वनता है ? आत्म-स्वभाव-विभाव की चर्चा से मैं आत्मा के वास्तविक विकास के मार्ग का सम्यक् प्रकारेण निर्धारण कर सकूगा।

मेरा अनुभव यह है कि स्वभाव चाहे जितना दब जाय, छिप जाय अथवा विस्मृत हो जाय—वह कभी भी सही अपनी झलक दिखाना नही छोड़ता है। मैंने महसूस किया है कि जब मै कोई ऐसा विचार मन मे लाता हू, ऐसा वचन बोलता हू अथवा ऐसा कार्य करना शुरू करता हू जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा नहीं चाहती—उसके विरुद्ध वह अपनी पहली आवाज जरूर उठाती है। यह दूसरी बात है कि मै उस आवाज को अनसुनी कर दू और अवाछित विचार, वचन या कार्य मे प्रवृत्ति करता रहू। यह पहली भीतरी आवाज आत्मा की आवाज होती है। इसी प्रकार ऐसे किसी विचार, वचन या कार्य मे मेरी प्रवृत्ति होती है जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा को अच्छा लगता है तो भीतर से एक अनूठे आनन्द की धारा फूटती है जिसका अनुभव ससार मे महसूसे जाने सुख के अनुभव से अलग और अनूठा ही होता है। इस रूप मे 'ना' या 'हॉ' की संकेतक आत्मा की आवाज का अनुभव मुझे ही नही, सभी को अवश्य होता होगा। बुरी आदत यही वन जाती है कि अधिकतर लोग आत्मा की आवाज को कुचलते हुए उन्मार्ग पर आगे बढ़ते चले जाते है।

आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा—यह समझने-समझाने की अपेक्षा भी स्वानुभूति का विषय अधिक है। समझने-समझाने मे तर्क-कुतर्क उठाये जा सकते है और केवल प्रमाणित करने की ही दृष्टि से अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा भी प्रमाणित किया जा सकता है किन्तु जव कोई एकाग्र जागरण के साथ भीतर झाकता और भीतर की आवाज को सुनता है तो सत्य उसके समक्ष प्रकाशित हुए विना नही रहता। यो अच्छे-वुरे की जो लौकिक परिभाषाए अथवा सवेदनाए है, वे भी स्वानुभूति का धरातल बन सकती है। मै सोचता हू कि मैने जव कभी किसी पीड़ा से कराहते हुए व्यक्ति को देखा होगा तो मेरे हृदय मे करुणा और सहयोग का जो आवेग उठा होगा, उससे मुझे अवश्य ही अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ है। इसके विपरीत जव कभी मैंने अत्यन्त गुप्त रूप से भी किसी को कष्टित करने का कोई प्रपच रचा होगा तो मेरी आत्मा ने पहले क्षण मे मुझे धिक्कारा ही होगा। उस समय मेरे जागृत भाव रहे होगे तो मैने अपना हाथ उस प्रपच से पीछे खीच लिया होगा अन्यथा उस आवाज को दवा कर मै अपने उस कुकृत्य की दिशा मे आगे बढ़ गया होऊगा। ऐसी मनोदशा से सभी प्राणी गुजरते है किन्तु अन्तर यही रहता है कि जागृत उस आवाज को सुनते है, उसका अनुसरण करते है तथा आत्मा को वलशाली वनाते रहते है, अन्यथा मोहग्रस्त उस आवाज को क्या कुचलता है कि अपने गुण सम्पन्न जीवन को ही कुचलता रहता है और अपने आत्मस्वरूप को अधिकाधिक कलकित वनाता रहता है।

स्वानुभूति से मै जान लेता हू कि आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जो 'अच्छा' अच्छा लगता है वह उस का स्वभाव होता है और जो 'अच्छा' भी उसे वुरा लगने लग जाता है अथवा जो 'बुरा' भी उसे अच्छा लगने लग जाता है, वह उसका विभाव हो जाता है। स्वभाव को जहा तक आत्मा स्मृति मे रखती है और उसमे स्थित रहने का प्रयास करती है, वहा तक उसकी जागृत अवस्था ही समझी जानी चाहिये। इस जागृत अवस्था की न्यूनाधिक कई श्रेणियाँ हो सकती है। जव मेरी आत्मा भीतर से अपनी आवाज उठाती है और वह सामर्थ्यवान होती है तो अपने मन और अपनी इन्द्रियो को वैसा अनिच्छित कार्य करने से रोक देती है। यदि उसका इस प्रकार से रोकना सफल होता रहता है तो वह स्थायी रूप से अशुभ कार्यों से दूर रह जाती है। किन्तु यदि उसकी नियत्रण शक्ति ढीली होती है तो वह अपने मन व इन्द्रियो को रोक नहीं पाती है। ऐसी आत्मा अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियो के पीछे घिसटती हुई चलने लगती है। उसकी

ऐसी अनियत्रित अवस्था ही उसकी सुप्राप्ति बन जाती है। तब उसका भटकना अपने विभाव मे होता है। वह विभाव उसे कर्म बधनो मे बांधता रहता है और उसे भारी बनाता रहता है। फिर वह उस कर्म भार के कारण नीचे से नीचे गिरती रहती है और विभाव की सघन स्थिति मे फस जाती है।

मै अनुभव करता हू कि आत्मा मूल रूप मे हलकी होती है और जब तक वह हलुकर्मी रहती है तब अपने स्वभाव के ऊपर तैरती रहती है। किन्तु कर्मों के भार से जब वह भारी बनने लगती है तो फिर वह डूबने लगती है। विभाव की अतल गहराई मे वहा कहा तक नीचे डूबती चली जाती है, वह उसकी प्रमाद अवस्था की सघनता पर निर्भर करता है। यह नियम भी नहीं है कि जब वह तैरती है तो तैरती ही रहती है अथवा डूबना शुरू करती है तो डूबती ही चली जाती है क्योंकि आत्मा का यह तैरना और डूबना उसकी भाव-सरणियो पर आधारित होता है। तैरते रहने की दशा मे जब भावनाए विकृत होती है तो वह डूबने लगती है। डूबते-डूबते भी जिस रूप मे उसकी भावनाओं मे सशोधन होने लगता है तो उस परिमाण मे वह फिर ऊपर उठने लगती है। यह तैरना और डूबना इस प्रकार निरन्तर चलता रहता है जो गतियो मे परिलक्षित होता है। जैसे कि यह आत्मा के ऊपर उठ आने का प्रमाण है कि मुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। यदि मै इस उपलब्धि का सदुपयोग करू और अपनी भावनाओं को शुभता के रूप मे परिवर्तित करता हुआ चलू तो मैं अपनी आत्मा को और ऊपर उठाता हुआ चल सकता हू—यहा तक कि वह सतह तक पहुच जाय और पूर्ण हलुकर्मी बन जाय। इसके विपरीत मै आत्माभिमुखी न रहकर ससार के काम भोगो मे लिप्त होता रहू तो तैरने के प्राप्त स्तर को छोड़कर नीचे डूबता चला जाऊगा और यह भी मेरी करणी पर निर्भर करेगा कि मैं कितना नीचे पहुच जाऊ। इस जन्म के बाद उस दृष्टि से मैं आगामी जन्म मे पशु योनि प्राप्त करलू या नरक मे ही पहुच जाऊ। इसी प्रकार तिर्यच या नरक गति मे रहे हुए जीव भी अपनी भावनाओं का यत्किचित परिष्कार करते हुए ऊपर की गतियो मे आ सकते है। जब तक ऊपर उठने और नीचे जाने का आत्मा का यह क्रम बना रहता है तब तक उसका ससार मे भव भ्रमण भी बना रहता है—स्वभाव और विभाव मे आवागमन चलता रहता है। कभी स्वभाव मे अधिक स्थिति हो जाती है तो कभी विभाव मे भटकाव बढ़ जाता है। जब विभाव के घेरे से पूरी तरह निकल कर आत्मा स्वभाव मे स्थित हो जाती है तभी उसकी विभाव से मुक्ति होती है।

अपने स्वभाव तथा विभाव मे इधर उधर आने जाने की आत्मा की प्रक्रिया को एक दृष्टान्त से समझे। एक लकड़ी के टुकड़े का स्वभाव पानी की सतह पर तैरना होता है। उसे आप पानी मे डाले तो वह पानी की सतह पर तैरने लगेगी। अब उसी लकड़ी के टुकड़े को हल्के टिन की डिबिया मे बद करके पानी मे डाले तो वह कुछ कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे मे बद करके पानी मे डाले तो वह कुछ-कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे मे बन्द करके पानी मे डाले तो वह डूब कर पुन तले तक चला जायगा। इसी तरह उसे तले से उस डिब्बे से निकाल कर खुला छोड़ दे तो वह ठेठ ऊपर उठ आयगा। कहने का आशय यह है कि उस हल्के लकड़ी के टुकड़े के साथ जितना वजन बधा होगा उसी परिमाण मे वह पानी की गहराई मे नीचे उतरेगा या ऊपर उठेगा। अब उस लकड़ी के टुकड़े का पानी की सतह पर तैरना स्वभाव है और उसके साथ डिबिया या डिब्बे का बधन उसका विपरीत स्वभाव या विभाव होता है। वह टुकड़ा स्वभाव के कारण तैरता है और विभाव के कारण डूबता है। आत्मा की तुलना इसी लकड़ी के टुकड़े से कीजिये। मूल स्वभाव से आत्मा ससार सागर

की सतह पर पहुचती है किन्तु विभाव मे पड़ कर जितना कर्म-भार अपने साथ बाधती है, उसी परिमाण मे वह डूबती हुई चली जाती है। जल की गहराई मे भी उसका ऊपर उठना या नीचे उतरना इसी कर्म भार की न्यूनाधिकता के अनुसार चलता रहता है।

स्व-भाव ही धर्म होता है

किसी भी पदार्थ को उसका स्वभाव ही धारण करता है या यो कहे कि अपने अमुक स्वभाव के कारण ही अमुक पदार्थ उस रूप मे जाना जाता है। जल का स्वभाव शीतल होता है इसी कारण उसे जल कहते है। अग्नि का स्वभाव जलाने का होता है तो उसे अग्नि कहते हैं। यह सामान्य समझ सबमे होती है। सव समझते है कि कही कुछ जल रहा हो तो उस पर पानी डाल दो ताकि शीतलता ऊष्णता को दबा देगी। शीतलता और ऊष्णता को जल और अग्नि का धर्म भी कह दिया जाता है।

जो यह सत्य वीतराग देवो ने उद्‌घाटित किया और घोषणा की कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। जल का धर्म शीतलता है और अग्नि का धर्म ऊष्णता है, इसी दृष्टि से आत्मा का धर्म क्या होगा—यह उपरोक्त विश्लेषण से सोचना होगा। एक शब्द मे इसका उत्तर वतावे तो आत्मा का धर्म ज्ञाता दृष्टादि भावो के साथ ऊर्ध्वगामिता होगा—ऊपर उठने की अन्तिम ऊचाई तक ऊपर उठ जाना और फिर सदा सर्वदा के लिये उस उच्चतम विन्दु पर स्थित हो जाना। आत्मा का यह ऊर्ध्वगामिता का स्वभाव ही उसका धर्म कहलायगा।

धर्म के सम्वन्ध मे जो सामान्य समझ है—वह कहा तक सही है? सामान्य रूप से धर्म समझा या कहा जाता है विभिन्न सिद्धान्तो को अथवा विभिन्न महापुरुषो के उपदेशो को। इसी रूप मे धर्म की धारणा ली जाती है कि अमुक महापुरुष ने जो उपदेश दिये, वे उसके नाम से एक धर्म के रूप मे प्रचलित हो गये। इस धारणा के आधार पर ही वैष्णव, इस्लाम या ईसाई आदि 'धर्म' कहलाते है। समय-प्रवाह मे इन्हीं धर्मों के दायरो मे अलग-अलग गुरुओं के उन्हीं उपदेशो के वारे मे जव अलग-अलग अर्थ विन्यास हुए तो वे इसी धर्म मे अलग-अलग मतो के नाम से जाने जाने लगे। यो कई धर्म और एक धर्म मे कई मत आज जाने जाते हैं। वस्तुत यह सामान्य समझ इस रूप मे सही नही है। इस समझ के सही नही होने का ही सवूत है कि विभिन्न धर्मानुयायियो मे पारस्परिक विवाद खड़े होते है और आज ऐसे विवादो ने जटिल सघर्षो तथा दगो तक का हिसक रूप ले लिया है। धर्म के नाम पर भी यदि लड़ना है तो फिर एक रहने की शिक्षा कौन देगा? इसलिये धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की आज महती आवश्यकता है।

फिर धर्म क्या है? वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और तदनुसार आत्मा का धर्म समभाव पूर्वक ज्ञाता दृष्टा आदि भावो के साथ ऊर्ध्वगामिता है। मनुष्य का धर्म आत्मा के धर्म मे समाहित हो जाता है क्योंकि मनुष्य तन मे भी उसकी आत्मा का निवास होता है। अत मनुष्य का धर्म भी हुआ कि वह अपने स्वभाव की उच्चता पर स्थित हो। उच्चस्थ स्थिति ही उसका धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक स्थिति या अवस्था का नाम है, जहा इस विभावग्रस्त आत्मा को पहुचना है।

अत स्पष्ट तौर पर समझे कि धर्म उस विशुद्धावस्था का नाम है जहा पर आत्मा पूर्ण रूप से अपने स्वभाव मे स्थित हो जाती है। धर्म प्राप्ति के योग्य उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करना आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस रूप मे यही उसका स्वभाव है एव यही उसका धर्म

है। वर्तमान मे आत्मा चूकि उसके स्वभाव मे पूर्णतया रमण नही करती है या यो कहे कि वह जितनी विभाव मे प्रगाढ़ रूप से विस्मृत बनी हुई है उतनी ही वह अपने स्वभाव से दूर है और उसी रूप मे अपने धर्म से भी दूर है। अपने स्वाभाविक गुणो को वह जितने अशो मे ग्रहण करती जायगी, उतने ही अशो मे वह अपने धर्म के निकट पहुचती जायगी। किन्तु उसने धर्म को प्राप्त कर लिया है —यह तभी कहा जायगा जब वह अपने विभाव को पूर्णतया समाप्त कर लेगी तथा सम्पूर्णतया अपने स्वभाव मे प्रतिष्ठित हो जायेगी। यही उसकी सिद्धावस्था होगी।

इस दृष्टि से अपने धर्म को प्राप्त कर लेना—यह आत्मा का लक्ष्य है—साध्य है। धर्म ऐसी अवस्था है जिसमे आत्मा को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होना है। ससारी आत्माओं को इस रूप मे अपने धर्म को प्राप्त करना है क्योंकि वे अपने धर्म या स्वभाव से अभी तक दूर है। इस प्रकार धर्म साध्य है, साधन नहीं। आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने के लिये जिन साधनो को समझ कर अपनाने की आवश्यकता होती है, वे हैं महापुरुषो के उपदेश। इन उपदेशो के आधार पर आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर सकती है कि वह अपने धर्म के निकट पहुचती चली जावे और एक दिन उसे प्राप्त कर ले।

विभाव मुक्ति अथवा स्वभाव प्राप्ति इस प्रकार आत्मा का धर्म हुआ जो कि उसका साध्य है। इसी प्रकार जो विविध उपदेश है, वे इस साध्य को प्राप्त कराने मे आत्मा के लिये साधन रूप बन सकते है। पहली बात यह है कि आत्मा के सामने अपना साध्य स्पष्ट हो जाना चाहिए। फिर वह अपने विवेक से अपने साध्य के अनुकूल साधनो का चयन करे जिन्हे सामान्यतया विभिन्न धर्मों के रूप मे जाना जाता है, वे स्वय धर्म नही है उन्हे धर्मनीतियो का नाम दिया जा सकता है जो आत्मा को धर्म तक पहुचाने का दावा करती है। इन धर्मनीतियो की परीक्षा इसी कसौटी पर की जा सकती है कि वे किस रूप मे आत्मा को उसके साध्य की ओर प्रगतिशील बनाने की क्षमता रखती है। एक ईश्वरत्व तक पहुचने के ये भिन्न-भिन्न मार्गों के रूप मे जानी जा सकती है यदि उनमे आत्म-धर्म प्राप्ति रूप साध्य की स्पष्टता विद्यमान हो।

धर्म और नीति समीक्षा

मन के स्वामी मनुष्य की प्रमुख शक्ति है विचार शक्ति। वह अपनी सस्कारिता, परम्परा या परिस्थितियो के अनुसार विचार करता है और निर्णय लेता है। उन विचारो और निर्णयो की वास्तविकता उसकी ज्ञान परिपक्वता पर आधारित होती है। यथार्थ का उसे जितना अधिक बोध होता है उतनी ही उसकी वैचारिकता और निर्णयशक्ति वास्तविक बनती है।सम्यक् ज्ञान और चरित्र के पुष्ट सयोग से विचारो का सम्यक्त्व अभिवृद्ध बनता है। अत धर्म नीतियो की परख करते समय यह मानदड सामने रखना होगा कि उनके उपदेशको ने अपने जीवन की किस रूप मे उच्चता प्राप्त की अथवा उनके जो दिये हुए उपदेश हमारे सामने हैं, वे आत्मोच्चता की किस स्थिति को प्रतिभासित करते है ? एक छोटी सी वस्तु भी जब क्रय की जाती है तो क्रेता उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार परीक्षा करता है और वह वस्तु उसकी परीक्षा मे खरी उतरती है तभी उसका वह क्रय करता है। तो आत्मोत्थान जैसे महान् साध्य के लिये उपयुक्त साधनो का चयन तो एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है क्योकि चयन मे भ्रम या भूल रह जाय तो आत्म विकास की गति ही विगति बन जाती है तथा प्रगति का स्थान पतन ले लेता है। साधनो की परीक्षा बुद्धि—यह आत्मा की अपनी विशिष्टता

होनी चाहिये। इसी विशिष्टता को आधार बना कर आत्मा सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्मनीति का चयन कर सकती है।

प्रधानत धर्म रूप साध्य अपनी दृष्टि मे स्पष्ट हो तो तदनुकूल साधनो का याने कि नीतियो का चयन अधिक कठिन नहीं रहता है। कई प्रकार की नीतियो मे धर्म नीति भी एक प्रकार होती है किन्तु वह विशिष्ट प्रकार रूप होती है। अन्य नीतियो की बात बाद मे करे, पहले धर्मनीतियो के झडो के नीचे पलने वाले मत-मतान्तरो की थोड़ी-सी चर्चा करले।

मैं यह मानकर ही चलता हू कि प्रत्येक विवेकपूर्ण विचार मे कुछ न कुछ सत्याश होता है और इस दृष्टि से प्रत्येक मत मे कहीं न कहीं कुछ न कुछ सत्याश होने की कल्पना करता हू,अत ऐसे प्रत्येक विचार का समादर करता हू, और उसमे यदि कोई सत्याश है तो उसे खोजने की चेष्टा करता हू। किन्तु यह भी हो सकता है कि कई मत मात्र हठ, दुराग्रह या अपने मत को थोपने की कुचेष्टा से भी प्रचलित किये जाते है, ताकि ऐसे मत को थोपने वाले का सच्चा झूठा वर्चस्व बना रहे। ऐसे मतो की हठवादिता से ही पारस्परिक विवाद बढ़ते है। कई वार प्रारभ मे कोई विचार सदाशयी होता है किन्तु उसकी पकड़ बाद मे अधेपन से करादी जाती है जिससे भी कलहपूर्ण विवाद बढ़ते है। विशेष रूप से मत मतान्तर एकान्तवादिता के दुराग्रह के कारण भी पनपते है जो किसी दूसरे विचार को सहन करना ही नहीं चाहते, जिससे विद्वेष के आधार पर ही उनका पोषण होता है। इन सभी मतमतान्तरो के प्रति मेरा विचार है कि अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये ताकि विचार सामजस्य का वातावरण बन सके और विचार-मथन से विचार-सार प्राप्त किया जा सके।

विचार सामजस्य का जहा तक प्रश्न है, मेरा मानना है कि विभिन्न प्रकार की तथाकथित धर्म-नीतियो मे भी अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रयोग आवश्यक है। जव आत्मा का साध्य स्पष्ट न हो तो साधनो मे विभिन्नता भी दोषपूर्ण ही कही जायगा। साध्य का एक ही सशक्त साधन होना चाहिए। नाम भेद भी वहा पर अनुपयुक्त होता है। सद्गुणो अथवा सत्सिद्धान्तो के स्वरूप मे सामान्यत' कोई अन्तर नहीं होता है, जो अन्तर होता है वह आराधना या उपासना की पद्धतियो मे होता है। इस विभिन्नता मे भी सद्विचार की सहायता से सामजस्य स्थापित किया जा सकता है।

और यही विचार सामजस्य धर्मनीतियो के अलावा अन्य प्रकार की सामाजिक नीतियो मे भी स्थापित किया जा सकता है। सामाजिक नीतियो मे राजनीति, अर्थनीति या ऐसी ही सामूहिक प्रभाव वाली नीतियो की गणना की जा सकती है। वस्तुत. इन नीतियो का उद्देश्य भी सामाजिकता को श्रेष्ठ वना कर प्रत्येक मनुष्य के भौतिक एव तदनुरूप आध्यात्मिक विकास का मार्ग खोजना ही होता है। इस क्षेत्र मे भी व्यक्ति (शासनस्थ या अन्य प्रकार से वर्चस्व रखने वाला) की हठवादिता, स्वार्थ-परता अथवा दुराग्रह की ही वाधाए आती है जिन्हे विचार सामजस्य के प्रयोग से दूर करने की अपेक्षा रहती है। राजनीति मे भी शासन की कई पद्धतियॉ प्रचलित है और इसी प्रकार अर्थनीति मे भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं जो मनुष्य को स्वशासित वनाने का दावा करती हैं। इनमे सर्वाधिक विकसित लोकतत्रीय पद्धति है जो राजनीति और अर्थनीति को समानता के सिद्धान्त पर चलाना चाहती है। प्रत्येक नागरिक को अपना शासन चलाने और अर्थनीति को समाजवादी ढग से ढालने मे यह लोकतत्रीय पद्धति विश्वास रखती है। कई वार व्यक्ति अपनी विकास की प्रक्रिया मे वस्तु

विचार विभिन्नता लिये हुए रहते है और एक बिन्दु तक पहुच जाने पर नई पद्धति का विकास करते हैं। अत मूल प्रश्न निष्ठा का है। निष्ठा सही लक्ष्य की तरफ है तो विचार भेद भी विकास का श्रेष्ठ फल देते है। और यदि निष्ठा दूषित रही तो वह उस विचार भेद को मन भेद तक ले जाकर अच्छे विचार को भी विवाद का विषय बना देती है। अत' अच्छे व्यक्तियो की प्रभाव-वृद्धि सामाजिक स्वास्थ्य के लिये सदैव लाभप्रद होती है।

मेरी मान्यता है कि अच्छे व्यक्तियो का निर्माण मुख्यत श्रेष्ठ धर्मनीति के माध्यम से ही किया जा सकेगा क्योंकि धर्म नीति सबसे पहले व्यक्ति के सदज्ञान एव सदाचरण पर ही बल देती है। व्यक्ति को सुधारने के लिये चाहे व्यक्तिगत प्रयोग किये जाय अथवा सामाजिक प्रयोग—सर्वप्रथम उसकी स्वय की जागरूकता आवश्यक होती है और पहले बिदु पर उसकी जागरूकता उभारने के लिये उसके निजी विचार एव आचार पर ही ध्यान देना पड़ेगा और यह कार्य पारिवारिक सस्कारिता के साथ धर्मनीति ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है।

मानव निर्माण की भूमिका

व्यक्ति चूकि एकाकीवास नही करता, वह अपने साथियो के समूह के बीच मे रहता है या यो कहे कि समाज मे रहता है अत वह सामाजिक शक्तियो से भी पूर्णत प्रभावित होता है। और आज तो विविध वैज्ञानिक आविष्कारो एव अनुसधानो ने सामाजिकता का दायरा अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। जहाँ पहले व्यक्ति का एक छोटे से निकटस्थ समूह से ही विशेष सम्पर्क रहता था, वहा आज वह करीब-करीब परोक्ष रूप से सारे ज्ञात ससार से सम्पर्करत होता है। वास्तव मे उसकी जानकारी का दायरा इतना ही फैल गया है और जब विस्तृत सम्पर्क का क्षेत्र है तो यो मानिये कि उस पर उतनी ही विस्तृत सामाजिकता का भी असर पड़ता है। एक दूसरे समूह की सभ्यता और सस्कृति समूचे वातावरण पर भी अपना प्रभाव छोड़ती है। इस दृष्टि से आज मानव मे मानवता का विकास एक रूप मे जटिल बना है तो दूसरे रूप मे सरल भी हुआ है। जटिल इस रूप मे कि विविधताओं का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है जिसमे विचार सामजस्य स्थापित कर एकरूप मानवता का विकास दुरूह बन गया है। और सरल इस रूप मे कि अब व्यक्तिगत प्रयासो के साथ सामाजिक प्रयास इतने सशक्त बन गये है जिनका प्रभावशाली प्रयोग किया जाय तो उद्देश्य प्राप्ति अधिक समीप आ सकती है।

मानव मे मानवता का निर्माण सभी को अभीष्ट है—धर्मोपदेशक भी यही कहता है तथा राजनेता अर्थवेता अथवा समाज सुधारक भी। निजी स्वार्थों मे पड़ जाने से कथनी करनी का भेद अवश्य पैदा हो जाता है लेकिन उद्देश्य के प्रति एकरूपता है। मनुष्य जगेगा—मनुष्यता अपनायगा—तभी उसका विकास सभव है और साथ-साथ मे समाज एव समाज के विभिन्न सस्थानो का विकास भी सभव होता है। इस कथन मे आपेक्षिक अनुसधान आवश्यक है कि पहले व्यक्ति का विकास होगा, तभी समाज का विकास हो सकेगा, क्योंकि व्यक्ति और व्यक्ति से ही तो समाज की रचना होती है। किन्तु एक दृष्टि यह है कि व्यक्ति की अपनी शक्ति के अलावा भी सुव्यवस्था की दृष्टि से व्यक्ति द्वारा ही प्रदत्त शक्ति से एक सामाजिक शक्ति का अलग से विकास होता है और कई अर्थों मे यह सामाजिक शक्ति भी व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण करती है। पारिवारिक शक्ति इसी सामाजिक शक्ति का प्रारभिक रूप होता है जो मोहल्ला, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि के स्तरो पर विकसित होती हुई एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप ले लेती है।

मेरे कहने का आशय यह है कि मानव निर्माण के महत् कार्य मे इस सामूहिक शक्ति का भी लाभ लिया जाना चाहिये और धर्म नीति एव एन्य नीतियो के प्रयोग से ऐसा वातावरण रचा जाना चाहिये जो मानवता को उत्प्रेरित करे। धर्म नीति का प्रयोग जहां अधिकांशत व्यक्तिपरक होता है, वहा विभिन्न सामाजिक शक्तियो का प्रयोग समूह-परक। यह समूह अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार विशाल, विशालतर या विशालतम हो सकता है। अत दोनो प्रकार की नीतियो का प्रयोग साथ-साथ किया जा सकता है। धर्मनीति व्यक्ति को सद्ज्ञानाचरण की प्रेरणा से शक्तिशाली वनायगी तो सामाजिक नीतियो के द्वारा समाज के वातावरण को इस रूप मे अनुकूल बनाया जा सकेगा कि सदाशयी व्यक्तियो को मानवता-निर्माण के कार्य मे सरलता हो सके और स्वय वे भी निरवाध रूप से आगे वढ़ सके।

इस उभय पक्षी प्रयोग की महत्ता को इस प्रकार समझे कि एक व्यक्ति को चलना है। उसके सामने जहा चलना है उस भूमि की दो प्रकार की दशा हो सकती है। एक तो यह हो कि कोई मार्ग वना हुआ नहीं है—भूमि कटीली, पथरीली और ऊवड़-खावड़, जहा पथिक को ही अपना मार्ग खोजना है और उस वीहड़ भूमि पर आगे से आगे चलना है। उस चलने मे पैरो से कितना खून वहेगा, अग अग मे किस तरह दर्द होगा और कितना पसीना बहाकर वह आगे बढ़ सकेगा—इसका उसे कोई अनुमान नहीं। इस तथ्य का भी वह अनुमान नहीं लगा सकेगा कि वह ऐसे भयावह धरातल पर कितनी दूरी तक आगे बढ़ सकेगा। दूसरी यह दशा हो सकती है कि भूमि चाहे जैसी है लेकिन उस पर पक्की सड़क वनी हुई है, सकेत चिह्न लगे हुए है कि यह सड़क कहा तक जायगी। और मार्ग मे किसी प्रकार का भय भी नहीं है। अव कल्पना करे कि धरातल की दृष्टि से पथिक की यात्रा पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? समझ ले कि पथिक सुदृढ़ शारीरिक शक्ति एव अटूट इच्छा शक्ति का धनी है, फिर भी हो सकता है कि पहली दशा वाले धरातल पर चलते-चलते कही न कहीं विकट स्थिति मे उसका साहस छूट जाय या शरीर ही टूट जाय। यह भी मान ले कि वह उन सारी परिस्थितियो को जीतता हुआ ही आगे बढ़ जायगा लेकिन क्या सभी सामान्य पथिक ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियो का सहज रूप से सामना कर सकेगे ? इक्की टुक्की मीनारे इस वातावरण मे खड़ी हो सकती है लेकिन अधिकाश भाग तो गड्ढो वाला ही रह जायगा।

अव दूसरी दशा वाले धरातल की कल्पना करे। सड़क है, सकेत है और भय नहीं है तो सामान्य शक्ति वाले पथिक भी निश्चित होकर उस पर चल सकते हैं और निश्चित स्थान पर वेखटके पहुच सकते है। तो सुगम धरातल के निर्माण का कार्य सामाजिक नीतिया करती है। धर्मनीति व्यक्ति मे शक्ति का सचार करती है तो विविध सामाजिक नीतियॉ उसकी प्रगति के लिये श्रेष्ठ धरातल का निर्माण करती है।

इस रूप मे सामाजिक नीतियो के प्रयोग को समझे। राजनीति मे मानव को प्रमुखता देने वाली लोकतत्रीय पद्धति का विकास हुआ है तो प्रत्येक नागरिक को मताधिकार मिला है। यह मताधिकार मागरिक की चेतना को जगाता है कि वह शासन चलाने मे स्वय भागीदार है और उसके लिये अपनी मनमर्जी के प्रतिनिधि का चुनाव कर सकता है। यह चेतना स्वय उसे अपने महत्त्व का भान कराती है। इससे उसे अधिकार वोध भी होता है तो अपने कर्तव्यो का वोध भी। इसी प्रकार अर्थ नीति मे समाजवाद का विकास प्रत्येक नागरिक को अर्जन के समान अवसर प्रदान करना

चाहता है तो अधिक अर्जन पर प्रतिबध लगाकर सामाजिक सम्पति का सविभाग अथवा समूह के लाभार्थ नियोजन करने की प्रणाली बनाता है। समाज-सुधार के कार्यक्रम भी कुरीतियो को समाप्त कर सबकी समानता को प्रोत्साहित करने वाली परम्पराओं को ढालना चाहते है। मूल मे सभी नागरिको के बीच समानता का वातावरण बनाने का सभी सामाजिक नीतियो का प्रयास कहा जाता है।

और समानता या समता का वातावरण ही वह प्रधान केन्द्र है जहां से मानवता का झरना फूटता है। इस समानता के लिये व्यक्ति के छोर से धर्मनीति कार्य करे और समूह के छोर से सामजिक नीतियो का प्रयोग किया जाय तो समता के प्रसार तथा मानवता के निर्माण कार्य से सारपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

एक बात यह भी कि चाहे धर्मनीति का क्षेत्र हो या समाज नीतियो का क्षेत्र —वहा पर दोनो प्रकार की वृत्तियो वाले व्यक्ति मिलेगे। सद् एव असद् दोनो प्रकार की वृत्तियो के व्यक्ति, बल्कि असद् वृत्ति के व्यक्तियो का बाहुल्य ही होगा। अत सर्वत्र सत्कार्य को उभारने और आगे बढ़ाने का बीड़ा तो सद् वृत्ति वाले प्रबुद्ध एव सज्जन व्यक्तियो को ही उठाना पड़ेगा जो आत्म-भोग देकर भी स्व-पर कल्याण के योग्य वातावरण का सृजन करते हैं। सभी क्षेत्रो मे सामान्य रूप से सत्प्रचार द्वारा ऐसा जनमत बनाया जाना चाहिये जो प्रबुद्ध व्यक्तियो को उनके सत्कार्य मे सक्रिय या मौन सहयोग दे सके। मानव के मन मे मानवता जागृत हो एव स्थिर रूप ग्रहण करे—यह लक्ष्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट होना चाहिये।

आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ

आत्म स्वभाव एव विभाव तथा धर्म एवं नीति सम्बन्धी विस्तृत विवरण को दृष्टिगत रखते हुए मै सोचता हू कि मुझे सबसे पहले अपने पुरुषार्थ को अपने ही आन्तरिक रूपान्तरण के लिये लगाना चाहिये। क्या होगा यह आन्तरिक रूपान्तरण ? अपने भीतर के रूप को बदलना। जब किसी रूप को बदलना है तो यह जानना जरूरी है कि अभी वह रूप कैसा है और उसे बदल कर कैसा बनाना है ? यह रूप है आन्तरिक रूप मन-मानस की भीतरी विचारणा का रूप अर्थात् सामान्य रूप से सोच-विचार का रूप। जब सोच-विचार के रूप को भली प्रकार जानना चाहूगा तो उसे बाहर के अपने क्रिया कलापो से जानना आसान रहेगा।

इस दृष्टि से मुझे सोचना है कि मै क्या कर रहा हू और मुझे क्या करना चाहिये ? इस सोच मे दो बिन्दु है। एक तो है आन्तरिकता का वर्तमान रूप तथा दूसरा है रूपान्तरण क्या होना चाहिये ?

आन्तरिकता के वर्तमान रूप के लिये मुझे मेरे क्रिया कलापो का तथा क्रियाकलापो से अपनी वृत्तियो का लेखा जोखा लेना होगा, किन्तु इस लेखे जोखे के लिये, उसका आकड़ा तैयार करने के लिये तथा रूपान्तरण का आधार सुनिश्चित करने के लिये मुझे योग्य मानदड की आवश्यकता होगी। किस क्रिया-कलाप को नामे की तरफ लिखू, किसको जमा की तरफ और क्यो ? आकड़े मे भी क्या लाभ दिखाऊ और क्या हानि ? रूपान्तरण का भी वस्तु विषय चाहिये कि वर्तमान को बदलू तो भविष्य की क्या रूपरेखा हो ?

मैंने ऊपर इसी मानदंड की ही विस्तृत चर्चा की है और यह मानदड है आत्मा के स्वभाव तथा विभाव का। आत्मा मे जहॉ तक निज स्वरूप की चेतना रहती है और जीवन की वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियॉ जहा तक उस चेतना के अनुकूल चलती है, वे क्रियाकलाप आत्मा के स्वभावगत होगे। किन्तु जहॉ आत्मिक चेतना की जागृति अत्यल्प है तथा उसका अनुशासन भी ढीला है, वहा मन तथा इन्द्रियो की अनियत्रित गति उस आत्मा के विभाव स्वरूप को प्रकट करती है। वस्तुत मेरा कौनसा कार्य मेरी आत्मा के स्वभाव मे सम्मिलित किया जायगा तथा मेरा कौनसा कार्य उसके विभाव मे गिना जायगा-इसका निर्णय किसी बाहरी आलोचना या चर्चा की अपेक्षा स्वानुभूति के क्षणो मे ठोस होगा। जितनी भीतर वाहर की मानसगत बारीकियाँ अपने काम काज के बारे में मै जानता हूं, दूसरा अपूर्ण व्यक्ति नहीं जान सकता तथा कोई कारणो से किसी भी अपने काम काज का पूरा स्वरूप मै दूसरो को न समझा सकू, लेकिन मै स्वय तो अपने काम काज पर एक समूची नजर डालकर उसके समग्र गुण दोषो का सही आकलन कर ही सकता हू। अत रूपान्तरण की निष्ठा के साथ मै स्वानुभूति के क्षणो मे अपनी आत्मा के स्वभाव एव विभाव की तुला पर अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को चढ़ाऊगा और स्वभावगत सद् तथा विभावगत असद् की तुलना करूगा। इस तुलना से प्रकट हो सकेगा कि मेरी तुला का कौनसा पलड़ा ज्यादा भारी है—सद् का याने आत्म स्वभाव का अथवा असद् का याने आत्म विभाव का? आकड़ा भी सदासद के जमाखर्च के मुताविक ही वनेगा तथा रूपान्तरण का पुरुषार्थ भी इसी तथ्य पर चलाया जा सकेगा कि मेरी आत्मा मे उसका अपना स्वभाव प्रवल है अथवा उसका विभाव? और स्वभाव को प्रवल वनाना तथा विभाव को घटाते हुए समाप्त करना—यही मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का लक्ष्य होगा।

अव मै अपने उस पुरुषार्थ पर विचार करू जो मेरे आन्तरिक रूपान्तरण को सफल वनादे और मेरा आत्मिक-स्वभाव प्रभावपूर्ण रीति से सुप्रकट हो जाय।

यह मै समझ चुका हू कि मेरा आत्म स्वरूप भी मूल रूप मे सिद्धात्माओं के स्वरूप जैसा ही पूर्ण सत्यमय एव निर्मल है, परन्तु यह स्वरूप वर्तमान मे मेरी अपनी आत्मा की विभावगत स्थिति एवं असद् वृत्ति-प्रवृत्तियो से ढका हुआ है। इसलिये मुझे देखना और परखना यह है कि मेरी आत्मा ने अपने मूल स्वभाव को कितने अशो मे आच्छादित कर रखा है तथा कितने अशो मे विभाव को छोड़कर स्वभाव को अपनाने की तैयारी है? मेरा मानना है कि जहाँ मैं अपने आन्तरिक रूपान्तरण का निश्चय करता हू तथा उसके लिये अपना पुरुषार्थ प्रायोजित करना चाहता हू, मेरे मे आत्माभिमुखी होने की जागृति अवश्य जग गई है। अव मै इस जागृति को वढ़ाता रहू तथा प्रतिक्षण अपनी समस्त वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को जाचता-परखता रहू —अपनी ही आत्मा के स्वभाव और विभाव की कसौटी पर तथा ज्यो ही किसी भी वृत्ति और उसके द्वारा उपजी प्रवृत्ति को विभाव की ओर मुड़ते हुए महसूस करू, त्यो ही उसका निरोध कर डालू। मै दृढ़ निश्चय कर लू कि आत्म-स्वभाव के विरुद्ध मै मन और इन्द्रियो की एक नहीं चलने दूगा और स्वभाव विरोधी वृत्ति या प्रवृत्ति को उपजने के विन्दु पर ही निग्रहित कर दूगा। मै धार लू कि मेरे जीवन मे केवल वही विचार, वचन या कर्म सम्पन्न हो सकेगा, जिसकी अनुमति मेरी आत्मिक आन्तरिकता या सरल शब्द मे आत्मा की आवाज देगी। मैं कही भी आत्मा की आवाज को तनिक भी नहीं कुचलूगा, वल्कि अपने मन और इन्द्रियो को ऐसे आज्ञाकारी सेवक वना लूगा कि आत्म शक्ति और आत्मानुशासन नितप्रति अभिवृद्ध ही वनता जायगा। मेरे इसी निश्चय पर आन्तरिक रूपान्तरण का सूत्रपात हो

सकेगा और यही निश्चय मेरे अपने पुरुषार्थ को सदा व सर्वत्र सजग बनाये रखेगा कि विभावगत कोई भी वृत्ति या प्रवृत्ति मेरे निश्चय को कमजोर बनाने या उलटने का दुस्साहस न करे। मेरा पुरुषार्थ मेरी आत्मा को सजग रखेगा तो मेरे मन और इन्द्रियो को भी आत्मिक सजगता के क्षेत्र मे सक्रिय, कि वे भौतिक सुखो की ओर प्रलुब्ध न हो तथा विषय-कषाय जन्य प्रमाद को एकत्रित करके विभाव गत दशा को अधिक प्रगाढ़ न बनावे। दूसरे सोपान पर मेरा पुरुषार्थ मेरी समस्त आत्मिक एव शारीरिक शक्तियो को विभाव के क्षेत्र से हटाकर उन्हे स्वभाव के क्षेत्र मे स्थापित करेगा कि वे पहले से भी अधिक वेग के साथ स्वभाव के क्षेत्र मे क्रियाशील बने।

मेरा पुरुषार्थ इस रूप मे मेरी समूची आन्तरिकता को असद् से सद्, असत्य से सत्य तथा अधकार से ज्योति की दिशा मे आगे बढ़ायगा और वही मेरी आन्तरिकता का सच्चा रूपान्तरण होगा। तब भी मेरा पुरुषार्थ थमेगा नही, उससे भी अधिक प्रबलता के साथ वह आत्मिक स्वभावगत स्थितियो को सपुष्ट बनाता रहेगा कि विभावगत दशा क्षीणतर बनती जाय। मेरा यही पुरूषार्थ सयम और तप की कठोर आराधना द्वारा समस्त कर्मों का मूलोच्छेद करने के समय पराक्रम का रूप ग्रहण कर लेगा —ऐसा पराक्रम जो आत्मा के विभाव को समूचे रूप से विनष्ट करके पूर्णतया उसे अपने मूल स्वभाव मे सदा काल के लिये प्रतिष्ठित कर देता है। क्योकि आत्मा की विभावमुक्ति ही स्वभाव स्थिति होती है तथा उसकी सम्पूर्ण स्वभाव स्थिति ही उसकी धर्म प्राप्ति कही जायगी। यह धर्म प्राप्ति ही आत्मा का साध्य है, कारण अपने मूल स्वभाव मे स्थिति ही उसकी मुक्ति है।

मेरे याने एक व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण का पूरे जागतिक एव सामाजिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य मे कितना महत्त्व कूता जायगा—उसका मूल्याकन भी आवश्यक है।

जागतिक वातावरण पर प्रभाव

समझिये कि मैने अपना आन्तरिक रूपान्तरण कर लिया है याने कि मै अपने विचार तथा आचार मे पूरी तरह से सतर्क हो गया हूं। मै अपनी ओर से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को कष्ट नहीं पहुचाने का प्रयास करता हू, बल्कि कष्टित प्राणो को देखकर अनुकम्पित होता हू और उसे सुख पहुचाने का यत्न करता हू। मैं उत्सुक भी रहता हू कि जितना अधिक मै कर सकू, मैं अपनी समस्त आत्मिक शक्तियो को स्व-पर कल्याण मे नियोजित रखू। तो मेरी ऐसी अवस्था का क्या मूल्याकन है ?

एक बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इस रूप मे मेरा अपना जीवन स्तर समुन्नत हो रहा है तथा मेरी अपनी व्यक्तिगत निष्ठा और नीति तो अहिसक स्वरूप ग्रहण कर रही है।

लेकिन प्रश्न है कि मेरा यह व्यक्तिगत विकास क्या मेरे ही लिये है अथवा उसका कोई मेरे से इतर लाभ भी है ? मैं यह प्रश्न इस विचार से उठा रहा हू कि जब केवल आत्मकल्याण की बात की जाती है तो क्या वह केवल स्वार्थ की ही बात कही जायगी ? यह बात सही नहीं है। मैं इस ससार मे हू तो मै भी इस ससार की गणना मे सम्मिलित हू और यदि मैने अपने जीवन मे विकास साधा है तो ससार के उतने भाग का कल्याण हुआ है—इसमे कोई सन्देह नहीं है। किन्तु इस आत्म-कल्याण का महत्त्व उससे भी कई गुना अधिक है।

मै अकेला नहीं रहता, कई प्राणियो के वीच मे रहता हू तो मेरा आत्म विकास उन सभी को प्रभावित करेगा जो कम से कम किसी भी रूप मे मेरे सम्पर्क मे आते है। मेरे जीवन की सयमितता एव सन्तुलितता से एक ओर तो उनकी जीवन समस्याए सरल रूप से समाधान पायगी जो मेरे कारण उलझ जाती थी याने कि यदि मैं सदाशयी नही होता तो वे मेरे द्वारा कष्टित होकर जिन समस्याओं मे गिरते, वे तो मिट गई। दूसरे, मै उनके कष्टो मे सहयोगी बना तो अन्यथा भी उत्पन्न उनकी समस्याओं के समाधान मे मेरी सहायता उनको मिल गई। इस प्रकार मेरा अपना आत्म कल्याण वाह्य प्रभाव की दृष्टि से मुख्यत लोकोपकारी हुआ। अत मेरा आन्तरिक रूपान्तरण भीतर से जितना मुझे सुख पहुचाने वाला बनता है, उससे भी अधिक मैं उस सुख को बाहर बाटने के प्रयास मे तत्पर वनता हूं। यही आन्तरिक त्याग की प्रेरणा होती है।

एक फूल खिलकर सुवासित वनता है, एक आम्र वृक्ष सुमधुर फलो से लद जाता है या एक झरना अपने शीतल जल के साथ वहता है तो फूल, आम्रवृक्ष और झरने की ये उपलब्धियाँ क्या उनका अपना स्वार्थ होती है? क्या फूल स्वय सुवास ग्रहण करता है, क्या आम्रवृक्ष स्वयं अपना फल चखता है या क्या झरना स्वय अपने शीतल जल का स्वाद लेता है? सभी अनुभव करते हैं कि इन तीनो की उपलब्धियो का आनन्द तो दूसरे ही उठाते है। आनन्द उठाने के अलावा कोई उनको क्षति भी पहुचाते है तो वे सव सह लेते है। इसी रूप मे आत्म कल्याण का साधक भी यथार्थ दृष्टि से दूसरो को भी सुख पहुचाता है। उसकी साधना जितने अशो मे समुन्नत बनती है, उतने ही अशो मे उसका त्याग भाव भी प्रखर बनता जाता है और वह तव पर-कल्याण या जगत् कल्याण के लिये सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने के लिये सन्नद्ध हो जाता है।

अत मेरे अपने आत्म कल्याण का अर्थ है एक ऐसी ज्योति का जलाना, जिसके प्रकाश मे सभी अपना सन्मार्ग खोज लेने मे आतुर हो उठते हैं। इसे अधिक से अधिक सीधा जगत् कल्याण न भी माने तव भी परोक्ष रूप से वह जगत् कल्याण ही होता है। यही परोक्ष जगत् कल्याण आत्म विसर्जन के महान् त्याग के साथ तव प्रत्यक्ष जगत् कल्याण हो जाता है। अत आध्यात्मिक स्व कल्याण मे सदा ही पर—कल्याण सन्निहित होता है।

अव मैं यह प्रश्न उठाना चाहता हू कि इतने विशाल जागतिक वातावरण पर मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का कितना प्रभाव हो सकता है? हमारा इतिहास ऐसे अगणित उदाहरणो से भरा पड़ा है, जव एक व्यक्तित्व की तेजस्विता ने सम्पूर्ण समाज को आन्दोलित कर दिया और उसे विकास की दिशा मे आगे वढ़ने की सफल प्रेरणा दे दी। यही नहीं, एक व्यक्ति का आदर्श जीवन ऐसा ज्योतिर्स्तंभ वन गया कि वह युगो-युगो तक अपने आदर्श की प्रेरणा देता रहा है और आत्माभिमुखी व्यक्तियों मे जीवन भरता रहा है। क्या वीतराग देवो की आत्म कल्याणक वाणी आज भी हमारे हृदयो मे नहीं गूजती है और हमे एक सद्गृहस्थ, सत्सायक और सयमाराधक वनने की उत्प्रेरणा नहीं देती है? ताजा मिसाल महात्मा गाधी की ले कि क्या एक ही व्यक्ति ने पूरे भारत मे स्वतत्रता प्राप्ति की वलिदान-भरी लगन नहीं जगादी? इससे क्या स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक व्यक्ति का आन्तरिक रूपान्तरण एक देश तो क्या, सारे ससार को वदल सकता है। और यह परिवर्तन की धारा उसके अपने ही समय की सीमा मे नहीं वध जाती, अपितु उसके भौतिक जीवनान्त के पश्चात् भी युग युगो तक प्रवाहित होती रहती है तथा व्यापक रूप से वेसे महापुरुष का पुण्य स्मरण किया

जाता रहता है। जागतिक वातावरण पर एक व्यक्ति के रूपान्तरण का कितना व्यापक और विस्तृत प्रभाव हो सकता है—इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। आत्म शक्ति के विकास की प्राभाविकता असीम होती है।

शुभ परिवर्तन का पराक्रम

मेरा आन्तरिक रूपान्तरण अर्थात् आत्म-शुद्धि का मेरा पुरुषार्थ फलित होता है शुभ परिवर्तन के पराक्रम के रूप मे। मेरा यह पराक्रम जितनी उच्चता, गूढ़ता और दृढ़ता ग्रहण करता जाता है, उतना ही शुभ परिवर्तन का क्षेत्र भी विस्तृत और व्यापक होता चला जाता है। आत्म-पराक्रम से स्फुरित होने वाली शुभ परिवर्तन की प्रक्रिया देश और काल की सीमाओं से भी परे होती है। ऐसी असीम होती है इस पराक्रम की ओजस्विता।

शुभ परिवर्तन की क्या परिभाषा? एक शिशु जब जन्म लेता है तो निश्छल और निष्पाप-हृदय होता है। तब उसकी प्रत्येक लीला सबको सुहाती है। कभी सोचा है कि ऐसा क्यो होता है? यह शुभता का प्रभाव होता है। बच्चा किसी का बुरा नही सोचता, बुरा नही बोलता और बुरा नही करता, इसलिये हमे सुहाता है। लेकिन चिन्तन करने लायक बात यह है कि यदि हम विवेकपूर्वक जीवन यापन करने लगे किसी का बुरा नही सोचे, बुरा नहीं बोले और बुरा नहीं करे, बल्कि हम सभी का भला सोचे, भला बोले और भला करे तो सोचिये कि हमारी लोकप्रियता कैसी होगी? क्या सुदूर क्षेत्र भी हमारी लोकप्रियता से प्रभावित नहीं हो जायेगे? यह किसका प्रभाव होगा? हमारी शुभता का ही न? मन की शुभता वचन की शुभता और कार्य की शुभता की कसौटी यही है कि क्या वह अपने से अन्य को सुख पहुँचाती है? उसके दु ख का हरण करती है? लोग मेरी इस शुभता का आकलन उसके बाह्य प्रभाव से ही करेगे। वैसे भी आन्तरिकता और बाह्यता को एकदम अलग करके नही देख सकते है। मेरी आन्तरिकता बाह्य-प्रभावी होती है तो वह बाह्य प्रभाव दूसरो की आन्तरिकता को प्रभावित बनाता है और इसी क्रम मे शुभता का विस्तार होता है तो इसी क्रम मे अशुभता भी फैलती है। जहाँ अशुभता स्वयं के पतन के साथ बाहर भी विषय और कषाय की आग लगाकर दूसरो को जलाती है, वहाँ शुभता का प्रवाह भीतर-बाहर एक-सी शीतलता फैलाकर सबकी नैतिक उन्नति का पथ प्रशस्त करती है।

शुभता के स्वरूप की अनुभूति लेकर मै सोचता हूँ कि मेरा पराक्रम परिवर्तन का चक्र कैसे और किधर से घुमावे?

मै देखता हूँ कि वर्तमान जागतिक वातावरण मे अशुभता ही बलवती बनी हुई है। शुभता के साधनो का भी अशुभता फैलाने मे दुरुपयोग किया जा रहा है। विज्ञान विशेष ज्ञान को कहते है तथा भौतिक क्षेत्र मे ही आज विज्ञान ने जो प्रगति की है और जो साधन व उपकरण उपलब्ध कराये हैं यदि उनका उपयोग जनहित मे किया जाय तो निश्चय ही सार्वजनिक जीवन की कई विषम समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है तथा सबको समान भाई-चारे की राह पर आगे बढ़ाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान कर क्या रहा है या यो पूछे कि सत्ता और सम्पत्ति के पीछे बावला बना मनुष्य उस विज्ञान का किस कदर दुरुपयोग कर रहा है तथा उसे किस रूप मे विश्व-विनाश का साधन बना रहा है? क्या आवश्यकता है अणुबमो, प्रक्षेपास्त्रो आदि सहारक शस्त्रास्त्रो की? यह प्रभाव की होड़ ही क्यो लगती है? क्यो सम्प्रदायो, सगठनो या राष्ट्रो के नाम पर

मतभेद और मनभेद की खाइयाँ खोदी जाती है? ऐसी खाइयाँ कि साधारण जन आमने-सामने भी न हो सके। अधिकार-लिप्सा के पीछे महाविनाश की तैयारियाँ क्या मन, वचन एव कर्म की घोर अशुभता का ही दुष्परिणाम नही है?

मोटे कहलाने वालो की मोटी अशुभता की कालिमामय बाढ़ मे छोटा कहलाने वाला भी कहाँ वचता है? छोटा अपनी छोटी अशुभता को लेकर ही छोटी लिप्साओं को पूरी करना चाहता है। मोटी हिसा और छोटी हिंसा मे बाहर का फर्क भले हो, लेकिन मन के भावो मे घुटती रहने वाली हिसा के गाढ़ेपन मे एक-सी मारक शक्ति दिखाई देगी। चाहे समाज के क्षेत्र मे हो या राजनीति अथवा अर्थनीति के क्षेत्र मे, किसी भी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति निर्बलो को कुचलकर अपने ही स्वार्थ पूरे करना चाहता है। और तो और धार्मिक क्रिया-कलापो के वातावरण मे भी कई बार कीर्ति लालसा अथवा वर्चस्व लिप्सा सर्व प्रकार की अशुभता को भड़का देती है। सभी ओर फैलती और वढ़ती हुई विविध विषमताओं से अशुभता की यह बाढ़ वेगवती बनती जा रही है। सामान्य जन सामान्य रूप से भेड़ चाल मे चलते है और वातावरण का अनुकरण करते हुए अनजाने भी इस प्रकार की अशुभता से अपने को रगते रहते हैं। इस प्रकार मन से उठ कर वचन मे निकलती हुई यह अशुभता चहु ओर लोगो के कार्यों मे प्रकट हो रही है तथा निरन्तर वातावरण को अधिक अशुभ, अधिक आक्रामक और अधिक आतककारी वना रही है।

जहाँ मैने परिवर्तन का प्रश्न उठाया है, वह परिवर्तन लाना है अशुत्रता की इस बाढ़ में। इस परिवर्तन को मै शुभ परिवर्तन इस दृष्टि से कहता हूँ कि जितना आज इस संसार मे और जन-जीवन मे अशुभता का विष घुल रहा है, वह मेरे और सबके पराक्रम से शुभता का अमृत बन जाय।

वर्तमान परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे यह वात ऐसी लगती है जैसी कि कोई उफनते हुए समुद्र की गरजती हुई लहरो और तूफान की अधड़भरी आधियो मे छोटी-सी नाव लेकर समुद्र-विजय की वात कहे। एक अकेला व्यक्ति, छोटी नाव और छोटी-सी पतवार-जिनके सामने समुद्र का यह विकराल रूप क्या होगा यदि कोई ऐसा साहस कर बैठे? क्या वह अपनी छोटी नाव-पतवार के साथ मृत्यु को ही प्राप्त होगा अथवा विजय की दुन्दुभी वजा देगा? यह आन्तरिक रूपान्तरण की उच्चता का प्रश्न है। महासमुद्र तो क्या—सम्पूर्ण ससार का एक आत्मवली साहस के साथ सफल सामना ही नहीं करता, वल्कि वह अकेला ही सारे ससार मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। ऐसा हुआ है, होता है और होता रहेगा। आन्तरिकता की ओजस्विता के समक्ष सम्पूर्ण अशुभता ने सदा ही हार मानी है और समग्र शुभता ने उसके माथे पर विजय का सेहरा वाधा है। आत्मशुद्धि के पुरुपार्थ को सफल वनाकर व्यक्तित्व का ऐसा तेजस्वी पराक्रम सिद्ध किया जा सकता है कि वह लरजते-गरजते महासमुद्र को वाध दे, अलघ्य पर्वतो के शिखरो को झुका दे और समस्त ससार मे शुभ परिवर्तन का शख गुंजा दे।

धर्म प्राप्ति के पथ पर

यह एक तथ्य है कि किसी भी क्षेत्र मे विकृत मूल्यो को हटाने तया स्वस्थ मूल्यो को संस्थापित करने का सत्कार्य कुछ प्रवुद्ध व्यक्तित्व ही प्रारभ करते है क्योंकि प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह का डका वजाना वड़ी हिम्मत का काम होता है।

यह भी एक तथ्यात्मक प्रक्रिया है कि जब कभी प्रबुद्ध व्यक्तित्वो के हाथो स्वस्थ मूल्यात्मक पद्धति स्थापित कर दी जाती है तब वह प्रारम्भिक जनोत्साह के कारण शुद्ध स्वरूप के साथ चलती है किन्तु काल प्रवाह मे उस शुद्ध पद्धति के सचालन मे धीरे-धीरे अशुद्धता प्रवेश करती जाती है और धीरे-धीरे ही उसमे अशुद्धता का अश अधिक हो जाता है तथा शुद्धता कम रह जाती है। व्याख्यात्मक दृष्टि से उस शुद्ध पद्धति को वाद कह दिया गया है तो उसके अशुद्ध बन जाने पर उसका नाम प्रतिवाद दे दिया गया। यह प्रतिवाद मूर्छात्मक अवस्था का प्रतीक हो जाता है। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध असन्तोष और विक्षोभ जागता है, तब कुछ प्रबुद्ध-चेता व्यक्ति उस प्रतिवादात्मक स्थिति के विरुद्ध विद्रोह का झडा खड़ा करते हैं। उनका सदेश होता है कि स्वस्थ मानवीय मूल्यो की पुन स्थापना की जाय। यह विद्रोह बलिदानात्मक होता है और ऐसी क्रान्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उन का बलिदान कितना सघन होता है। अधिकाशत ऐसे विद्रोह के प्रारभ कर्त्ताओं को आभास होता है कि उनका बलिदान व्यर्थ जा रहा है क्योंकि उनके सम्पूर्ण प्रयलो के बाद भी उन्हे समाज मे परिवर्तन आता हुआ नही दिखाई देता है। किन्तु वास्तव मे ऐसा होता नही है। जैसे तपते हुए रेगिस्तान मे वर्षा की पहली बूदे भाप की तरह तुरन्त उड़ जाती है, किन्तु वे बूदे बाद की बूदो की सफलता का मार्ग साफ कर जाती है। पहली बूदे रेगिस्तानी रेत का ताप हरण करके भले अपना अस्तित्व तक मिटा देती है, लेकिन जब बाद की बूदे बरसती है तो तापरहित रेत जल्दी ही गीली हो जाती है। यही अवस्था सामाजिक क्रान्ति की भी होती है। पहले पहल प्रबुद्धचेता व्यक्तित्वो का विद्रोह अप्रभावी जैसा दिखाई देता है और उन्हे आभास होता है कि वे अपने कार्य मे विफल हो गये हैं। किन्तु वास्तव मे उन्ही का बुनियादी काम होता है। उनके काम से भीतर ही भीतर बदलाव फैलता है और जब बाद मे विद्रोह का स्वर गहरा हो जाता है तब वह बदलाव बाहर प्रकट होने लगता है। अत मानवीय मूल्यो की स्थापना के कार्य मे लगने वाले प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वो को पूरे बलिदान के साथ कार्यरत होना चाहिये और निराशा का भाव कभी भी नहीं लाना चाहिये। सामाजिक क्रान्तियो की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही जटिल होती हैं। प्रतिवाद के विरुद्ध विद्रोह तब बल पकड़ कर सारे विकारो को नष्ट कर देता है और पद्धति की अशुद्धता को धो डालता है। पुन निखरा वह शुद्ध रूप समन्वयवाद कहलाता है जो वाद का रूप ही हो जाता है। शुद्धि और अशुद्धि तथा अशुद्धि से पुन· शुद्धि का यह क्रम बराबर चलता ही रहता है। इस क्रम के अनुसार शुभ परिवर्तन के लिये सदा ही प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वो को आगे आकर अपना नेतृत्व प्रदान करना होता है।

मै मानता हूँ कि इस दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सामाजिक क्षेत्र-सदा ही प्रबुद्ध व्यक्तित्वो के नेतृत्व की आवश्यकता होती है। और प्रबुद्ध व्यक्ति सदा काल रहते है क्योंकि धर्म नीति कभी भी प्रभाव शून्य नहीं होती है। सदा कुछ व्यक्ति तो सर्वत्र ऐसे मिलेगे ही, जो अपने आन्तरिक रूपान्तरण के लिये पुरुषार्थ रत रहते है। ऐसे ही व्यक्ति समय-समय पर अपने पराक्रम को प्रकट करते हैं और समाज मे वाछित शुभ परिवर्तन का शखनाद करते है।

अत मेरी मान्यता मे आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ सर्वाधिक एव मूलत महत्त्वपूर्ण है। यही आधार बनता है समग्र समाज की मूल क्रान्ति का। आन्तरकि रूपान्तरण का स्वरूप मेरे समक्ष स्पष्ट है कि मै विविध विभावो मे भटकती हुई अपनी आत्मा को मूल स्वभाव मे प्रतिष्ठित करू तथा उसकी इस प्रतिष्ठा को स्थिरता प्रदान करू।

मेरे इस उद्देश्य की पूर्ति धर्मनीति पर चल कर ही श्रेष्ठ रीति से हो सकती है। मेरी आत्मा अपने मूल स्वभाव को ग्रहण करती हुई एक दिन उसके अपने धर्म को आत्मसात् कर ले इसके लिये मुझे धर्माराधना की भावनापूर्ण प्रक्रिया अपनानी होगी। धर्म प्राप्ति के पथ पर आगे से आगे बढ़ते रहने का ही नाम धर्माराधना है। धर्माराधना अर्थात् धर्म की आराधना करना कि वह धर्म-आत्मस्वभाव प्राप्त हो।

इस दिशा मे मै आप्त वचनो का पावन स्मरण करता हूँ जिनमे कहा गया है कि धर्म ही आत्मा के लिये उत्कृष्ट मगल है—वह धर्म जो अहिसा, सयम तथा तप की आराधना से प्राप्त होता है और जिसके मन मे सदा ऐसे धर्म की आराधना बसती है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। अहिसा, सयम एव तप रूपी धर्माराधना की सफलता के लिये वीतराग देवो की आज्ञा है—हे समतादर्शी की आज्ञा को पालन करने की इच्छा रखने वाली बुद्धिशालिनी आत्मा, तू अनासक्त हो जा, अनुपम आत्मिक रूप को देख समझ कर अपने कर्म शरीर को दूर हटा। अपने आप को नियत्रित कर तथा अपने आपके ही मूल स्वरूप में घुलमिल जा। जैसे अग्नि जीर्ण लकड़ियो को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपने मूल स्वभाव मे लीन आत्मा अनासक्त बन कर राग-द्वेष को नष्ट कर देती है। जो सयमित नैत्रो के होते हुए भी इन्द्रियो के प्रवाह मे आसक्त हो जाता है, वह अज्ञानी होता है। फलस्वरूप उसके कर्मबधन बिना टूटे हुए रहते है और उसके विभाव सयोग बिना नष्ट हुए। ऐन्द्रिक विषयो मे रमण करने के विभाव के वशीभूत होकर आत्मा इन्द्रियासक्ति के अंधकार के प्रति अनजान होती है, तब उसके लिये समतादर्शी वीतराग देवो के उपदेश तथा उनकी आज्ञा का भी कोई लाभ नही होता है। किन्तु जो आत्मा प्रमादजन्य विषमता मे नहीं गिरती है, वह समता की साधना मे प्रगति करती है। अत हे आत्मा, तू इस देह सगम को देख। यह देह किसी का पहले छूटता है और किसी का बाद मे, लेकिन छूटता अवश्य है क्योकि उसका स्वभाव नश्वर है और तेरा स्वभाव अनश्वर, ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। मेरे द्वारा यह सुना गया है और मेरे द्वारा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया गया है कि बध रूप अशान्ति तथा मोक्ष रूप शान्ति दोनो के कारण तेरे अपने ही मन मे रहे हुए है। अत समता धर्म की मानसिकता के साथ अपने कर्मों से युद्ध कर—बाहरी व्यक्तियो से युद्ध करने मे कोई लाभ नही—तू विषमता से युद्ध करने मे अपने को योग्य बना—जो निश्चय ही दुर्लभ है।

ऐसे है अनन्त प्रेरणा देने वाले आप्त वचन, जो आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने हेतु ललकारते है। ऐसे वचनो को हृदयस्थ करना, वीतराग देवो की आज्ञा मे चलना तथा आत्म धर्म को प्राप्त करना मै अपना पावन कर्त्तव्य मानता हू। आत्म शुद्धि एव विभाव मुक्ति के ये तीन सोपान है—अहिसा, सयम और तप। पहले अहिसा के सोपान पर आरूढ़ होने के लिये मुझे हिसा से विरत होना पड़ेगा—स्थूल और तदनन्तर सूक्ष्म हिसा से। मैंने ज्ञान पाया है कि कुछ लोग प्रयोजन से हिसा करते है और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिसा करते हैं। मुझे हिसा के इन सभी द्वारो को बद कर देना होगा क्योंकि हिसा के कटु फल को भोगे बिना छुटकारा नही होता है। प्राणवध रूप हिसा चड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है—और महाभयकर है। मै जानता हू कि जो भी कर्म बधन एव कर्म मुक्ति के विषय मे गहरी शोध करने वाला होता है, वह अहिसा का पालन करने वाला मेघावी क्षुद्ध बुद्धि वाला होता है। अपने स्वभाव मे रमण करने वाली

आत्मा कर्म बधन और कर्म मुक्ति के विकल्पो से परे हो जाती है। वह अपनी कुशल बुद्धि से जिस काम को भी करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको ही करे तथा जिस काम को वह बिल्कुल नहीं करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको बिल्कुल नही करे। अपने जीवन की समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समूचे रूप से अहिसा का आचरण करने के उपरान्त आत्मा को ऐसी जागरूक एव कुशल बुद्धि की प्राप्ति होती है।

अहिसा के आचरण के लिये यह आधारगत चिन्तन होना चाहिये कि सभी जीवो को अपनी आयु प्रिय है, वे सुख चाहते है और दु ख से द्वेष करते है। उन्हे वध अप्रिय लगता है तथा जीवन प्रिय लगता है, अतएव किसी भी प्राणी की हिसा नही करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हे दु ख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार ससार के सभी जीवो को भी दु ख अप्रिय लगता है। ऐसा जानकर अपनी आत्मा की उपमा से तुम्हे सभी प्राणियो पर आदर और उपयोग के साथ दया करनी चाहिये। यह जीव हिसा की ग्रथ (गाठ) और अष्ट कर्मों का बध है। यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। अत मै अहिसा के निषेध रूप से दूर रहकर उसके रक्षा और दया रूप विधि रूप का पूर्णत पालन करूगा, जिससे मेरा आचार-विचार अहिसामय हो जायगा।

सयम अहिसामय आचरण की पृष्ठ भूमि पर ही सुदृढ़ बनता है— ऐसी मेरी मान्यता है। सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार से निवृत्त होना सयम है। पाच आश्रव से निवृत्ति, पाच इन्द्रियो का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दड से विरति सयम की साधना द्वारा ही सभव बनती है। संयम के सत्रह भेद कहे गये हैं—

(१) पृथ्वीकाय सयम—तीन करण तीन योग (मन, वचन काया से न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना) से पृथ्वी काय के जीवो की विराधना न करना।

(२) अपकाय सयम—अपकाय (पानी) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(३) तेजस्काय संयम—तेजस्काय (अग्नि) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(४) वायुकाय सयम—वायुकाय (हवा) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(५) वनस्पतिकाय सयम—वनस्पति काय (पेड़-पौधे आदि) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(६) द्वीन्द्रिय सयम—दो इन्द्रियो वाले जीवो की हिंसा नही करना।

(७) त्रीन्द्रिय सयम—तीन इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नहीं करना।

(८) चतुरिन्द्रिय सयम—चार इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नही करना।

(९) पचेन्द्रिय सयम—पाच इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नही करना।

(१०) अजीव सयम—अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं को ग्रहण करने से असयम होता है, उन्हे ग्रहण न करना अजीव सयम है। जैसे सोना, चादी आदि धातुओं अथवा शस्त्रो को पास मे नही रखना। पुस्तक, पत्र तथा सयम के दूसरे उपकरणो की प्रतिलेखना करते हुए यतनापूर्वक बिना ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रखना असयम नही है। इसी तरह गृहीत वस्त्रादि का निरर्थक दुरुपयोग न करना अजीव सयम है।

(११) प्रेक्षा सयम—बीज, हरी घास, जीव-जन्तु आदि से रहित स्थान मे अच्छी तरह देखभाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाए करना प्रेक्षा सयम है।

(१२) उत्प्रेक्षा संयम—मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों मे या प्रसगो मे राग-द्वेष न करते हुए उपेक्षा भाव (माध्यस्थ्य भाव) रखना। अथवा—वस्तु को भली-भाति बार-बार देखना।

(१३) प्रमार्जना सयम—स्थान तथा वस्त्र-पात्र आदि को पूज कर काम मे लाना प्रमार्जना सयम है।

(१४) परिष्ठापना संयम—आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवो से रहित स्थान मे यतनापूर्वक शास्त्र मे बताई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना सयम है।

(१५) मन सयम—मन मे ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि विकारी भाव न रखकर उसे धर्मध्यान मे लगाना मन. संयम है।

(१६) वचन सयम—हिसाकारी कठोर वचन को छोड़कर शुभ वचन मे प्रवृत्ति करना वचन संयम है।

(१७) काय सयम—गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यों मे उपयोग पूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना काय सयम है।

ये ही सयम के सत्रह भेद अन्य प्रकार से भी बताये गये है—

(१-५) हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पांच आश्रवो से विरति।

(६-१०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-इन पाच इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हे वश मे रखना।

(११-१४) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायो का त्याग करना।

(१५-१७) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दडो से विरति।

यो सक्षेप मे सयम के चार रूप कहे गये हैं—(१) मन का सयम (२) वचन का संयम (३) शरीर का सयम तथा (४) उपधि सामग्री का संयम। अति सक्षिप्त व्याख्या यह है कि कर्म-बधन कराने वाले कार्यों को छोड़ देना सयम है। मार्गणा स्थान मे अवान्तर भेद से सयम के सात भेद बताये गये हैं—(१) सामायिक संयम (२) छेदोपस्थापनीय संयम (३) परिहारविशुद्धि सयम, (४) सूक्ष्म सम्प्रदाय सयम (५) यथाख्यात सयम (६) देश विरति तथा (७) अविरति।

पाप या दोषो के सेवन से सयम की विराधना होती है। इसे प्रतिसेवना कहते है, जो दस प्रकार की कही गई है—

(१) दर्प प्रतिसेवना—अहकार या अभियान से होने वाली सयम की विराधना।

(२) प्रमाद-प्रतिसेवना—मद्य पान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—इन पाच प्रमादो के सेवन से होने वाली सयम की विराधना।

(३) अनाभोग प्रतिसेवना—अज्ञान से होने वाली सयम की विराधना।

(४) आतुर प्रतिसेवना—भूख, प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल हो जाने पर की जाने वाली सयम की विराधना।

(५) आपत्प्रतिसेवना—किसी आपत्ति के आने पर सयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है—(अ) द्रव्यापत्-प्रासुक आदि निर्दोष आहार वगैरा न मिलना, (ब) क्षेत्रापत्—अटवी आदि भयानक जंगल मे रहना पड़े, (स) कालापत्—दुर्भिक्ष आदि पड़ जाय और (द) भावापत्—बीमारी आदि से शरीर का अस्वस्थ हो जाना।

(६) सकीर्ण प्रतिसेवना—स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तगी के कारण सयम का उल्लघन करना अथवा ग्रहण योग्य आहार मे किसी दोष की शका हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(७) सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे-बूझे और प्रतिलेखना किये किसी काम को करना।

(८) भय प्रति सेवना—किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त होकर सयम की विराधना करना।

(९) प्रद्वेष प्रतिसेवना—किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से सयम की विराधना करना। यहाँ प्रद्वेष शब्द मे चारो कषाय सम्मिलित है।

(१०) विमर्श प्रतिसेवना—शिष्य की परीक्षा आदि के लिये की गई सयम की विराधना।

सयम के साधक को सदैव इस रूप से जागृत रहना चाहिए कि विराधना या प्रतिसेवना का अवसर नहीं आवे।

मेरी इस मान्यता मे अटल आस्था है कि अहिसामय आचरण से पुष्ट बनी सयम साधना के द्वारा कर्म बध के कारणो को मन्दतम बनाया जा सकता है। कर्मों का इससे आगमन अवरुद्ध हो जाता है। वैसी अवस्था मे बद्ध कर्मों के क्षय की ही समस्या सामने रह जाती है, जिसका सफल उपाय है —तप।

तपश्चरण से कर्मों की निर्जरा होती है और तप महान् पुरुषार्थ और पराक्रम कहा गया है। अहिसा, सयम और तप के तीन सोपानो को सफलतापूर्वक लाघ लेने के बाद आत्मा की विभाव मुक्ति या स्वभाव प्राप्ति अथवा धर्म प्राप्ति हो जाती है (तप के स्वरूप और भेदो का विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय मे उपलब्ध है)। यह त्रिविध धर्माराधना साध्य तक पहुँचाने वाली होती है।

स्वाभाविक गुणों का विकास

सफल धर्म नीति वही कही जायगी, जिस का अनुसरण करते हुए आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास हो। इन स्वाभाविक गुणो मे उन सभी मानवीय गुणो का समावेश हो जाता है जो एक मानव मे मानवता के स्वरूप को दर्शाने वाले होते हैं। स्वाभाविक गुणो को प्रोत्साहित करने वाली धर्माराधना को निश्रेयस-कल्याण प्राप्ति की साधिका कहा गया है जो दो प्रकार से आराधी जाती है —

(१) श्रुत धर्म—अग और उपाग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुत कहते है। श्रुत मे ही वाचना, प्रच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकार भी समाहित माने गये हैं। श्रुत के भी दो भेद है—(अ) सूत्र श्रुत—अग और उपाग रूप शास्त्रो के शब्द रूप मूल पाठ को सूत्र श्रुत कहते हैं, व (ब) अर्थ श्रुत—शास्त्र-पाठो के अर्थ को अर्थ श्रुत कहते हैं।

(२) चारित्र धर्म—कर्मों को नाश करने की चेष्टा को चारित्र धर्म कहते है। मूल गुणो व उत्तर गुणो के समूह का नाम भी चारित्र धर्म ही है। एक शब्द मे इसे क्रिया रूप धर्म कहते है। इसके भी दो भेद है (अ) अगार चारित्र—अगारी-श्रावक के देश विरति धर्म को कहते हैं, व (ब) अनगार चारित्र—अनगार-साधु के सर्वविरति धर्म को कहते है। सर्वविरति रूप धर्म मे तीन करण तीन योग से त्याग होता है।

एक अपेक्षा से धर्म के तीन भेद भी किये गये है—(१) श्रुत (२) चारित्र और (३) अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय आदि को अस्तिकाय कहते है।)।

एक अन्य अपेक्षा से धर्माराधना के चार प्रकार भी बताये गये हैं जो एक प्रकार से आत्मा के स्वाभाविक गुण ही है—

(१) दान—स्व और पर के उपकार के लिये अर्थात् आवश्यकता वाले जीव को जो उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाता है, उसको दान कहते है। दान कई प्रकार के होते है—धन-दान, वस्तुदान के अलावा अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि। श्रेष्ठ दान देने मे मुक्त हस्तता रखना दान धर्म का पालन कहा जाता है। दान के दस प्रकार—(अ) अनुकम्पादान किसी दु खी, दीन, अनाथ प्राणी पर दया करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। (आ) सग्रह दान—सग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिये किसी को कुछ देना सग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता है, इसलिये मोक्ष का कारण नही होता। (३) भयदान—राजा, मत्री, पदाधिकारी आदि के भय से अथवा राक्षस, पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान कहलाता है। (ई) कारुण्य दान—पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक आदि के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान कहलाता है। (उ) लज्ञा दान—लज्ञा के कारण दिया जाने वाला दान लज्ञा दान है। जनसमूह के बीच मे बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मागने लगता है, उस समय मागने वाले की बात रखने के लिये कुछ दे देने को लज्ञादान कहते है। (ऊ) गौरव दान—यश कीर्ति या प्रशसा प्राप्त करने के लिये गर्वपूर्वक दान देना। नट, नृत्यकार, पहलवान, सम्बन्धी या मित्र को यश प्राप्ति के लिये जो दान दिया जाता है, वह गौरव दान कहा जाता है। (ए) अधर्मदान—जो दान अधर्म की पुष्टि करने वाला होता है या जो अधर्म का कारण होता है। हिसा, झूठ, चोरी, परदारगमन और आरभ-समारभ रूप परिग्रह मे आसक्त लोगो को जो कुछ दिया जाता है, वह अधर्मदान है। (ऐ) धर्मदान—धर्म कार्यो मे दिया गया अथवा धर्म का कारणभूत दान धर्मदान कहलाता है। जिनके लिये तृण, मणि और मोती एक समान है, ऐसे वीतराग-वाणी पर स्थिर सुपात्रो का जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान होता है। ऐसा दान कभी व्यर्थ नही होता। इसके बरावर कोई दूसरा दान नहीं है। यह दान अनन्त सुख का कारण होता है। (ओ) करिष्यति दान —भविष्य मे प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है, वह करिष्यति-दान है। (औ) कृत दान—पहले किये हुए उपकार के बदले मे जो कुछ दिया जाता है, वह कृत दान है। इसे प्रत्युपकार दान भी कहते हैं। इन दस प्रकारो मे शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के दान आ गये हैं। शुभ दान की दृष्टि से उसके चार प्रकार हैं (अ) ज्ञानदान—ज्ञान पढ़ाना, पढ़ने और पढ़ाने वालो की सहायता करना आदि ज्ञानदान है। (व) अभयदान—दु खो से भयभीत जीवो को भय रहित करना अभयदान है।

(स) धर्मोपकरण दान—छ काया के आरभ से निवृत्त पचमहाव्रतधारी साधु को आहार, पानी वस्त्र, पात्र आदि धर्म सहायक उपकरण देना धर्मोपकरण दान है। (द) अनुकम्पादान-अनुकम्पा के पात्र दीन, अनाथ रोगी, सकटग्रस्त को अनुकम्पा भाव से दान देना अनुकम्पा दान है। वस्तुत बदला पाने की आशा के बिना नि स्वार्थ बुद्धि एव करुणा भावना से जो दान दिया जाता है, वही सच्चा दान होता है। ऐसे दाता भी दुर्लभ होते है तो नि स्पृहभाव से शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन यापन करने वाले भी विरले ही होते है। नि स्वार्थ भाव से दान देने वाले और नि स्पृह भाव से दान लेने वाले दोनो ही दान-गुण के श्रेष्ठ प्रतीक माने गये है।

(२) शील (ब्रह्मचर्य)—मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शील धर्म है। शील सर्व विरति एव देश विरति रूप दो प्रकार का होता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वदार सन्तोष और परस्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य एकदेश शील है। मन वचन और काया को सासारिक वासनाओं से हटाकर आत्म चिन्तन मे लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अट्ठारह भेद है—देव सम्बन्धी भोगो का मन, वचन और काया से स्वय सेवन न करना, दूसरो से न कराना तथा उसका अनुमोदन नहीं करना—इस प्रकार नौ भेद तथा इसी प्रकार मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी भोगो के भी नौ भेद सो कुल अट्ठारह हुए। इन भोगो का सेवन करना अट्ठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य हो गया। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतो की आराधना सहज हो जाती है। शील, तप, विनय, सयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति— ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते है। ब्रह्मचारी इस लोक और परलोक मे यश, कीर्ति और लोक विश्वास प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी को स्त्रियो को न रागपूर्वक देखना चाहिये न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियो का चिन्तन एव कीर्तन भी उन्हे नही करना चाहिये। सदा ब्रह्मचर्य व्रत मे रमण करने वालो के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने मे सहायक है एव उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

(३) तप —जो आठ प्रकार के कर्मो एव शरीर की सात धातुओं को जलाता है, वह तप है। तप बाह्य एव आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। बाह्य के छ और आभ्यन्तर के छ इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं। तप का अर्थ है इच्छाओं को रोकना तथा कष्टों को सहन करना। जिस तालाब मे नया पानी आना बन्द है, उसका पानी बाहर निकालने से तथा धूप से जैसे धीरे-धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर सयमी साधुओं के भव-भवान्तरो के सचित कर्म तपश्चरण के प्रभाव से नष्ट हो जाते है। पराक्रम रूपी धनुष मे तप रूपी बाण चढ़ाकर मुनि कर्म रूपी कवच का भेदन कर देता है और सग्राम से निवृत्त होकर इस ससार से मुक्त हो जाता है। तप ऐसा करना चाहिये कि विचारो की पवित्रता बनी रहे, इन्द्रियो की शक्ति हीन न हो और साधु के दैनिक कर्त्तव्यो मे शिथिलता न आने पावे। जो तपस्वी है, दुबला पतला है, इन्द्रियो का निग्रह करने वाला है, शरीर का रक्त और मास जिसने सुखा दिया है, जो शुद्ध व्रत वाला है तथा जिसने कषाय को शान्त कर आत्मशान्ति प्राप्त की है वही सिद्ध पद का अधिकारी है। तपश्चरण भीतर बाहर के सारे विकार को जला देता है। वह काया को ही कृश नही करता बल्कि माया को भी मार देता है। मन का मूर्छा भाव मिटे —यह तप का प्रधान उद्देश्य माना गया है अत तपस्या का आचरण आन्तरिक विवेक के साथ होना चाहिये। जो आत्मशक्ति को तप मे लगाता है, उसकी शक्ति पूर्णत सार्थक बनती है। तप के माध्यम से ही उस शक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। यदि तपश्चरण

अनशन आदि बाहरी क्रियाओं तक ही सीमित रह जाता है तो वह उतना हितावह नही बनता क्योंकि तप की तेजस्विता से विषय-कषायों से सम्बन्धित मन, वचन एवं काया का अशुभ योग व्यापार जलना ही चाहिये। तप की आराधना से ही आत्मा के अनेक स्वाभाविक गुण प्रकट होते है तथा प्रभावपूर्ण बनते हैं। (४) भाव (भावना)—मुमुक्षु आत्मा अशुभ भावो को दूर करके अपने आप को शुभ भावो मे तल्लीन बनाने के लिये जो ससार की अनित्यता आदि का विचार करती है, वही भावना है। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ है। मैत्री, प्रमोद, करुणा एव मध्यस्था मे भी चार भावनाएँ है। व्रतो को निर्मलता से पालन करने के लिये व्रतो की पृथक-पृथक् भावनाएँ भी बतलाई गई है। मन को एकाग्र करके उसे इन शुभ भावनाओं मे लगा देना ही भावनाधर्म है। आत्मा के स्वभावगत प्रत्येक गुण को द्विरूपी माना गया है—एक भाव रूप तथा दूसरा द्रव्य रूप। द्रव्य रूप वह जो उसका स्वरूप और प्रयोग बाहर दिखाई देता है, जबकि गुण का भाव रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि द्रव्य रूप स्वय भाव रूप से उपजता है। गुण की आत्मा उसका भाव रूप तो उसका शरीर द्रव्य रूप होता है। चिन्तन, मनन एव अनुशीलन से अमुक गुण का मर्म जो हृदय मे जागता है उसी के प्रभाव से वाणी और कर्म मे वह गुण उतरता है तथा आचरण मे स्थायित्व पाता है।

इस प्रकार धर्माराधना की प्रक्रिया मे ज्यो-ज्यो आत्मा का कलुष और विकार समाप्त होता है, त्यो-त्यो उसके स्वभावगत गुण प्रकट होकर खिल उठते है। जीवन मे इससे एक ओर निर्मलता प्रतिभासित होती है तो दूसरी ओर स्वाभाविक गुणो का ओजपूर्ण विकास भीतर बाहर के क्षेत्रो मे प्रभावी बनता है।

धर्मनीति का व्यापक स्वरूप

मै इसे सही नहीं मानता कि धर्म नीति का प्रयोग क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित है। उस का व्यापक क्षेत्र भी है तो व्यापक स्वरूप भी। सामान्य रूप से धर्मनीति का अर्थ नीति और कर्त्तव्य से लिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति की नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा पर धर्माराधना बल देती है, उसी प्रकार ग्राम से लेकर नगर, राष्ट्र और सघ तक की नैतिकता एव कर्त्तव्यनिष्ठा पर धार्मिकता अपना अभिमत प्रकट करती है। अपने शुद्ध स्वरूप मे धार्मिकता और नैतिकता व्यक्तिगत एवं समूहगत दोनो प्रकार की जीवन पद्धतियो को सम्यक् रीति से सचालित करने मे समर्थ मानी गई है।

कर्त्तव्य बोध की दृष्टि से धर्म के दस स्वरूप इस प्रकार वर्णित किये गये है

(१) ग्राम धर्म—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, अत जब उसका सम्पर्क अपने मूल परिवार के घटक के बाहर आरभ होता है तब उसका परिचय कुछ विस्तृत समस्याओं तथा उनके प्रति अपने कर्त्तव्यो से होता है। हरेक गॉव की अपनी परम्पराएँ होती है —अपने रीति-रिवाज होते हैं—उनकी सुव्यवस्था कैसे की जाय तथा प्रचलित व्यवस्था मे क्या-क्या सुधार किये जाय —इस पर प्रत्येक ग्रामवासी को विचार करना होता है तथा अपनी सम्मति देनी होती है ताकि सब सम्मतियो का समन्वय होकर ग्राम की उन्नति के लिये सुन्दर योजना का निर्माण हो सके। मुख्यत समूह की दृष्टि से समाज के सबसे छोटे घटक परिवार के ऊपर ग्राम का क्रम आता है। जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार से सरक्षण प्राप्त करता है और उसकी उन्नति के लिये त्याग भी करता है, उसी प्रकार उसे ग्राम धर्म यह सिखाता है कि समस्त ग्राम को वह एक बड़े परिवार के

रूप मे देखे तथा ग्राम हित के लिये प्राथमिकता से ध्यान दे। ग्राम और ग्रामवासियो के पारस्परिक हितो की व्यवस्था इस रूप मे हो कि एक ओर ग्राम सभी निवासियो को आगे बढ़ने के लिये सामूहिक सरक्षण प्रदान कर सके तो दूसरी ओर ग्रामवासी भी अपने स्वार्थों को ग्रामहित से ऊपर न उठने दे। इस सुव्यवस्था की छाया मे धार्मिकता और नैतिकता समुन्नत बने—यह ग्राम धर्म का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

(२) नगर धर्म—नगर की निवास पद्धति को नगर धर्म कहते है जो प्रत्येक नगर के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हो सकती है। वैसे नगर भी ग्राम के ही समान परिवार से ऊपर का घटक होता है अत ग्रामधर्म एव नगर धर्म का स्वरूप तथा कर्त्तव्य प्राय समान ही होते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि ग्राम की सीमा से नगर की सीमा विस्तृत होती है तथा आबादी भी बहुसख्यक, जिसके कारण ग्राम की समस्याओं से नगर की समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और जटिल समस्याओं के समाधान के लिये नगरनिवासियो की कर्त्तव्य निष्ठा भी अधिक गहरी होनी चाहिये। नगर की परम्परागत गुणधर्मिता को सरक्षण मिले तथा प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन विकास के मुक्त अवसर—यह नगर धर्म की सफलता का परिचायक होता है।

(३) राष्ट्र धर्म—भौगोलिक दृष्टि से किसी देश की सीमाएँ निर्धारित होती हैं, किन्तु उसमे रहने वाले नागरिको के मन मे जो एकता एव सयुक्तता का भाव होता है, वह उस देश की राष्ट्रीयता कहलाती है। राष्ट्रधर्म इसी भाव को विकसित करने वाला होता है ताकि उस देश मे रहने वाले नागरिक भाषा, रीति-रिवाज या मान्यताओं की विविधता के उपरान्त भी राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट रह सके। यो राष्ट्रीयता भी आक्रामक नहीं होनी चाहिये तथा उसका रुख अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व की दिशा मे गतिशील रहना चाहिये। ऐसा राष्ट्रधर्म ही किसी भी राष्ट्र मे वहाँ की व्यवस्या को नैतिक एव धर्माधारित बनाये रखता है तथा वहाँ के नागरिको मे सहज वातावरण के प्रभाव से स्वाभाविक गुणो को उदात्त बनाता है।

(४) पाखण्ड धर्म—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। इसमे लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के व्रतो के पालन का समावेश हो जाता है। पाखण्ड का एक अर्थ यह भी होता है जो पाप का खण्डन करता है वह पाखण्ड है, व्रत पाप से रक्षा करता है वृतराधन से पाप खण्डित निर्जरित होता है। ऐसे व्रत को जो स्वीकार करता है उसे व्रती या पाखण्डी कहा जाता है। व्यवहार मे पाखण्ड को दम्भ अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु यहां उसे ग्रहण नही किया गया है।

(५) कुल धर्म—समाज का ही यह एक अन्य प्रकार का घटक होता है, जिसका फैलाव ग्राम-नगर से लेकर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र तक हो सकता है। गृहस्थो के कुलो का आचार कुलाचार कहलाता है तो साधुओं के गच्छो का आचार समाचारी कहलाती है। इन दोनो की गणना कुल धर्म मे होती है। किसी कुल से सम्बन्ध रखने के नाते एक व्यक्ति का कर्त्तव्य अपने कुल की सुव्यवस्था एव उन्नति के साथ भी सम्बन्धित होता है। अलग-अलग स्तरो पर एक ही व्यक्ति को अपने अलग-अलग धर्मों-कर्त्तव्यो का निर्वाह करना होता है। कुल भी समाज के अन्तर्गत एक प्रकार का समूह ही होता है जिसकी सस्कृति मे एक प्रकार की समानता होती है किन्तु समय-प्रवाह मे कुलो का स्वरूप भी बदलता रहता है।

(६) गणधर्म—कुलो का समूह गण कहलाता था और उस गण के आचार को गण धर्म का नाम दिया गया। यह प्राचीन युग का पारम्परिक शब्द है तथा इसी नाम से गणराज्य की नींव

पड़ी थी जो आज के युग मे भी अपना ली गई है। गण का प्रभुत्त्व उस समय की विशेषता थी क्योंकि तव तक राजतंत्र कर्त्तव्यहीन तथा अत्याचारी बन चुका था और जनता उससे विक्षुब्ध हो चुकी थी। उसी परिप्रेक्ष्य मे व्यक्ति शासन के विरुद्ध गणो का प्रभाव प्रतिष्ठित हुआ तथा गणराज्य के माध्यम से लोकशासन का स्वरूप विकसित हुआ। यो भी समाज ऐसे समूह का नाम होता है जिसमे भाति-भाति के समूह सक्रिय होते हैं। ये समूह कभी क्षेत्रीय तो कभी भाषायी, जातीय या सस्कृति पर आधारित होते है। किन्तु जब तक ये समूह अपनी सीमाओं मे रहकर स्वाभाविक गुणो के विकास मे यत्नशील रहते हैं तब तक ये हानिप्रद नहीं बनते।

(७) सघ धर्म—विचार एव आचार की एकता के आधार पर जो नागरिक एकता-साध कर अपनी एक व्यवस्था वना लेते है, उसे सघ कहा जाता है तथा सघ की आचार पद्धति का नाम सघ धर्म है। उदाहरण के लिये जैन सघ को लिया जा सकता है जिसका नाम चतुर्विध सघ दिया गया है क्योंकि इस सघ मे चार प्रकार के सदस्यो ने एक व्यवस्था का रूप दे रखा है। ये सदस्य है—साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका। संघ की दृष्टि से भी सघ सदस्यो को अपने गुणात्मक कर्त्तव्यो का निर्वाह करना होता है।

(८) श्रुत धर्म—शास्त्रीय आज्ञा पद्धति को सामने रखकर व्यक्ति को आत्माभिमुखी बना कर ऊपर उठाने वाला यह धर्म उसे आध्यात्मिकता की अमित ऊँचाई तक ले जाने मे सक्षम है। आत्म विकास की महायात्रा का प्रारम्भ इसी धर्माराधना की सहायता से सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

(९) चारित्र धर्म—यह श्रुत का आचरणात्मक पक्ष है। सचित कर्मों को इस धर्माराधना से रिक्त कर दिया जाता है। जिससे आत्मा निर्मल स्वरूपी बन जाती है।

(१०) अस्तिकाय धर्म—अस्ति अर्थात् प्रदेशो की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय पाच द्रव्य अस्तिकाय है। ये पाच द्रव्य है —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय। इनके अपने-अपने स्वभाव को आस्तिकाय धर्म कहते है। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्‌गल को गति मे सहायता देना है।

इस रूप मे ये दस धर्म धर्मनीति के व्यापक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं जिनके क्षेत्र मे पूरा मानव समाज समाहित हो जाता है। मानव समाज का व्यवहार सम्पूर्ण जीवो को प्रभावित करता है अत विभिन्न स्तरो पर यदि मनुष्य अपने धर्म-कर्त्तव्य का निर्वाह निष्ठापूर्वक करने लगे तो एक समतापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सकता है। इस वातावरण की पुष्टि के साथ ही मानवता का नया स्वरूप भी प्रस्फुटित हो सकेगा।

मानवता की सरचना

मेरी दृष्टि मे मूल प्रश्न यही है कि इस दुर्लभ मनुष्य तन मे मनुष्यता का भी निवास हो। क्योंकि मानवताहीन मानव का कोई मूल्य नहीं रह जाता है न स्वय उसके जीवन के लिये तथा न सामाजिक जीवन के लिये। एक मानव का जीवन मानवीय गुणो से रहित हो —यह एक वात लेकिन दूसरी वात उससे भी अधिक भयावह एवं घातक हो जाती है कि वह पशु वन जाय या उससे भी निकृष्ट राक्षस वन जाय। मनुष्य जीवन की ऐसी दुरावस्था मे ही समाज का स्वरूप भी

विकृत हो जाता है तथा वह मूल्य विहीन बन कर सामूहिक यत्रणा का कारण भूत हो जाता है। एक बाध मे अणु जितना छेद भी जल्दी ही दरार का रूप ले लेता है और बाध को फोड़ देता है। मानवीय आचरण का भी यही हिसाब रहता है। बुराई बहुत जल्दी फैलती है और ज्यो-ज्यो एक से दूसरे मनुष्य के जीवन मे पशुता व राक्षसी वृत्ति का विस्तार होता है, वह विस्तार पसरता ही जाता है। अत मनुष्य के आचरण पर ऐसा नियत्रण आवश्यक है कि पहले तो वह अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर आक्रामक न बने और बाद मे उसे मानवीय सद्गुणो तथा मूल्यो के साचे मे ढाला जाय कि न सिर्फ वह मानवता से विभूषित बने बल्कि देवत्त्व की दिव्यता का वरण करने के लिये भी अग्रगामी हो।

इस रूप मे मानवता की सरचना एक व्यक्तिगत ही नही, सामाजिक आवश्यकता भी है और इसी रूप मे यह स्वय सम्बन्धित मानव के साथ सम्पूर्ण समाज का दायित्व भी होगा। एक मानव अपने समुचित स्थान से तभी फिसलता है और अपने स्वाभाविक गुणो को भूलता व छोड़ता है जब उसके सामने अपने ही स्वार्थों को पूरा कर लेने का प्रलोभन होता है अथवा अपने प्राप्त स्वार्थों के कुचले जाने का भय। यों मनुष्य को सादगी से अपना जीवन-यापन करना बुरा नहीं लगता यदि वैसा समानता भरा अवसर सभी मनुष्यो के सामने हो, लेकिन जब सामाजिक परिस्थितियो मे विषमता हो—कुछ लोग अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन जीते हो और अत्याचार करके अथाह सत्ता और अखूट सम्पत्ति सचित करते हो तथा बहुत लोग मूल निर्वाह आवश्यकताओं से भी वचित रहकर कष्टपूर्ण जीवन बिताते हो तथा ऊपर वालो के अत्याचारो को निरीह बन कर सह लेने को विवश हो। ऐसी विषमता मे दोनो ओर पशुता भी पनपती है तो राक्षसी वृत्ति भी राहू बनकर सबको ग्रसित करती है। अत मानव के दुष्ट प्रयासो पर कड़ा सामाजिक नियत्रण एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। सामूहिक अनुशासन ही उद्दड मानव की उद्दाम इच्छाओं पर कड़ा प्रतिबध लगा सकता है।

मानवता की सरचना के भगीरथ प्रयास मे इन सभी परिस्थितियो का एक स्वस्थ आकलन होना चाहिये और सभी मोर्चों पर मानवता-विरोधी क्रिया-कलापो पर कड़ी रोक लगनी चाहिये। जैसे कर्म मुक्ति के लिये पहले आने वाले कर्मों पर रोक लगनी चाहिये, वैसे ही मानव समाज मे पहले अमानवीय क्रिया-कलापो पर रोक लगनी चाहिये। सवर के बाद जैसे निर्जरा का क्रम लिया गया है, उसी रूप मे फिर अस्तित्व मे रहे हुए मानवताहीन मूल्यो से संघर्ष किया जाय और मानव की सशोधित वृत्तियो व प्रवृत्तियो तथा कठोर सामाजिक अनुशासन के साथ नये मानव का उदय किया जाय। तब मानव मूल्यो की धीरे-धीरे स्थिर प्रतिष्ठा हो जायगी। इसी प्रकार मानवता की सरचना सभव हो सकेगी।

मानवता की संरचना रूप शुभ परिवर्तन का पराक्रम मुझे भी दिखाना होगा और मेरे साथ सभी प्रबुद्ध चेताओं को भी दिखाना होगा। यह कार्य एक सयुक्त दायित्व का रूप ग्रहण कर लेगा जिसका अपने जीवन के प्रति भी निर्वाह करना होगा तथा दूसरो के जीवन-परिवर्तन के प्रति भी निर्वाह करना होगा। इस दृष्टि से समाज मे रहने वाले मानवो के स्वभाव या विभावगत भिन्न-भिन्न प्रकारो को समझ लेने की जरूरत है कि किस प्रकार के मानव का जीवन परिवर्तित करने के लिये किस प्रकार के प्रायोगिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी ?

आप्त पुरुषो ने विभिन्न उपमाओं से मनुष्यो के वर्गीकरण इस रूप मे किये है कि फूल की तरह मनुष्य चार प्रकार के होते है—

(१) सुन्दर किन्तु गंधहीन। मनुष्य के सदर्भ मे सुन्दरता भौतिक सम्पत्ति को मानी है तथा आध्यात्मिक (नैतिक) उन्नति की उपमा सुगन्ध से दी है। तो पहले वर्ग के मनुष्य ऐसे होते है जो भौतिकता से सम्पन्न किन्तु उसी मे लीन होते है। वे आध्यात्मिक या नैतिक चेतना से शून्य-से ही बने रहते हैं।

(२) गधयुक्त किन्तु सौन्दर्यहीन। दूसरे वर्ग के मनुष्य आध्यात्मिकता मे चिन्तनशील तथा नैतिकता के आचरण वाले होते हैं किन्तु भौतिक सम्पत्ति से रहित होते है किन्तु उसके लिये वे खेद मग्न नहीं होते, आध्यात्मिक आल्हाद से उल्लासित बने रहते हैं।

(३) सुन्दर भी, सुगधित भी। तीसरे वर्ग के मनुष्यो के पास भौतिक सम्पन्नता होती है तो उनकी ज्ञान चेतना आध्यात्मिकता से भी सम्पन्न होती है। वे महान् ऋद्धि-सिद्धि के अधिपति होते हुए भी उसमे आसक्त नहीं वनते है। उनके लिये उनकी सम्पत्ति ही लोष्ठवत् होती है।

(४) न सुन्दर, न गधयुक्त। चौथे वर्ग के मनुष्य भौतिक सम्पत्ति से भी हीन होते है तो आध्यात्मिक चेतना से भी शून्य। दोनो क्षेत्रो का दारिद्र्य उन्हे घेरे रहता है।

मनुष्य की विभिन्न वृत्तियो के विषय मे भी ज्ञानप्रद वर्गीकरण बताये गये है। उनमे से कुछ इस प्रकार है

(१) घड़ों से मनुष्य की तुलना की गई है। घड़ा मनुष्य के हृदय को माना गया है तो ढक्कन उस की वाणी को। विचार और वाणी की एकरूपता या विभेदता की दृष्टि से यह उपमा है। (अ) मधु का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार और वाणी दोनो श्रेष्ठ। (व) मधु का घड़ा और विष का ढक्कन याने विचार श्रेष्ठ किन्तु वाणी कटुताभरी। (स) विष का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार कलुषित और निकृष्ट, किन्तु उनका वाणी मे मायाचार से भरा मीठा प्रकटीकरण। तथा (द) विष का घड़ा और विष का ढक्कन याने विचार और वाणी एक-सी निकृष्ट।

(२) कुछ व्यक्ति सेवा आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य करते है किन्तु उसका अभिमान नहीं करते। कुछ अभिमान करते है, किन्तु कार्य नही करते। कुछ कार्य भी करते हैं और अभिमान भी करते हैं। कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान करते है।

(३) कुछ साधक सिह वृत्ति से साधना पथ पर आते है और सिंह वृत्ति से ही रहते है। कुछ सिह वृत्ति से आते है किन्तु बाद मे शृगाल वृत्ति अपना लेते है। कुछ शृगाल वृत्ति से आते है और वाद मे सिह वृत्ति अपना लेते है। कुछ शृगाल वृत्ति लिये आते हैं और शृंगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं।

(४) कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो सिर्फ अपना ही भला चाहते है, दूसरो का नहीं। कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरो का भला करते है। कुछ अपना भला भी करते है और दूसरो का भी। कुछ न अपना भला करते है, न दूसरो का।

(५) कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प करते है और समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य भी करते है। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प लेते है किन्तु गोष्पद (गाय के खुर

जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते है। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते है। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र सकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते है।

(६) फल की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते है अर्थात् कुछ मनुष्य कम उम्र मे भी साधारण समझदार हो जाते हैं। (ब) कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं, याने कि लघु वय मे भी बड़ी उम्र वालो की तरह पूरे समझदार हो जाते हैं। (स) कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं अर्थात् बड़ी उम्र मे भी कम समझदारी रहती है। तथा (द) कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं याने बड़ी उम्र मे पूरी समझदारी आ जाती है।

(७) कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते है, दूसरो का नही। कुछ दूसरो का दोष देखते हैं, अपना नहीं। कुछ अपना दोष भी देखते है दूसरो का भी। कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरो का।

(८) कुछ व्यक्तियो की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नही होता। कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नही। कुछ की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी। कुछ का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

(९) मेघ की तरह दानी मनुष्य भी चार प्रकार के होते है। (अ) कुछ बोलते हैं, देते नहीं। (ब) कुछ देते है, किन्तु कभी बोलते नहीं। (स) कुछ बोलते भी है और देते भी हैं। तथा (द) कुछ न बोलते है, न देते है।

सख्या मे न्यूनाधिकता होती है, किन्तु मनुष्यो मे इस प्रकार के वर्ग प्रत्येक समय मे मिलते हैं। इन वर्गों के परिप्रेक्ष्य मे किसी भी समय की शुभता, अशुभता अथवा शुभाशुभता का निर्णय निकाला जा सकता है तथा ऐसे भिन्न-भिन्न उपाय भी निकाले जा सकते है जिनका प्रयोग भिन्न-भिन्न वर्गों के साथ सफलतापूर्वक किया जा सके तथा सभी वर्गों मे सशोधन की एक-सी धारा प्रवाहित की जा सके।

मेरा मानना है कि उपरोक्त चार वर्गों मे एक वर्ग इस प्रकृति का होता है, जो समाजहित को अपने स्वार्थों से ऊपर रखकर आवश्यकतानुसार त्याग के लिये भी तत्पर हो सकता है तो अपनी प्रबुद्धता एव जागरूकता के आधार पर सामाजिक क्रान्ति का बीड़ा भी उठा सकता है। पहली जरूरत ऐसे ही वर्ग के मनुष्यो को सगठित करने की माई जानी चाहिये जो स्वय आदर्शजीवी हो तथा आदर्श के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देने के अभिलाषी भी। ऐसे वर्ग का संगठन अवश्य ही समाज को नवसर्जन की दिशा देकर मानव मे मानवता की सरचना का पुण्य कार्य सम्पन्न कर सकता है।

सर्वत्र समभाव का जागरण

मानवता की सरचना एव मानव-मूल्यो की सस्थापना के साथ ही मेरा विचार है कि सामाजिक क्षेत्र मे सहयोगात्मक वातावरण का प्रसार होगा तथा सविभाग की भावना भी जन्म लेगी। इससे अर्जन एव जीवन निर्वाह की पद्धति मे भी शुभ परिवर्तन आयगा कि सत्ता या सम्पत्ति के

व्यक्तिगत स्वामित्त्व की लालसा घट जायगी और निर्वाह के स्तर मे समानता का प्रवेश होगा। यह परिवर्तन बाहरी सामाजिक नीतियो के प्रभाव से भी आयगा तो भीतरी वृत्तियो का भी परिणाम होगा, बल्कि बाहर से भीतर और भीतर से बाहर दोनो ओर से परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहेगी।

मेरा अनुमान है कि इस प्रक्रिया के बाद जब परिवर्तित वातावरण स्थिरता ग्रहण कर लेगा तो सामूहिक रूप से सारे समाज मे एक नया ही भावनात्मक बदलाव दिखाई देगा और यह बदलाव होगा समभाव के पक्ष मे। समान अवसर एव समान स्तर की परिस्थिति मे सबके बीच समभाव का जागरण भी अवश्यभावी बन जायगा। यह समभाव जिस वेग से सर्वत्र फैलता जायगा, उसी वेग से मानवीय मूल्यो की प्रखरता भी प्रदीप्त होती जायगी।

मै उस समाज की कल्पना करता हूँ जिसका मूलाधार समता पर टिका हुआ हो। व्यक्ति समभाव से आप्लावित होकर समदृष्टि बने तथा अपने समग्र आचरण को समता के पक्के सांचे मे ढाल दे। सामाजिक शक्तियो की भी कार्य-दिशा यह हो कि वे उत्थानोन्मुख व्यक्ति को सुन्दर धरातल प्रदान करे और जब उसके चरण लड़खड़ाने लगे, उसको सदाशयता के सम्बल से पुन गतिशील भी बना दे। इसी रूप मे सर्वत्र समभाव का जागरण एक साकार रूप ले सकता है।

समभाव के गूढ़ार्थ को हृदयगम करते हुए मै पुरुषार्थ करना चाहूंगा कि मै सब प्राणियो के प्रति अपने समान विचार रखू, अपने समान देखू तथा अपने को प्रिय या अप्रिय लगे उसी प्रकार दूसरो को प्रिय लगने वाला व्यवहार उनके साथ करू एव अप्रिय लगने वाला व्यवहार न करू। मै अपने लिये प्रिय अथवा अप्रिय, सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दु ख दोनो प्रकार की स्थितियो मे भेद नही करू तथा समान भाव रखू। किसी को भयभीत नही करू तथा किसी से भय भी नही खाऊ। किसी वस्तु के लाभ पर न तो मै गर्व करू और न किसी हानि पर खेदग्रस्त बनू। किसी भी सकट के सामने मे विचलित नही होऊ और अपने समतामय आचरण को नही त्यागू। समभाव की दृष्टि से मै अपने अन्तर्हृदय को निरन्तर जाचता परखता रहू और उस सम्बन्ध में किसी भी दोष को प्रविष्ट नहीं होने दू। अपने ज्ञान, तप एव आचरण की अभिवृद्धि के साथ मै समभाव को परिपुष्ट करता रहू। सुख-दु ख के अनुभवो मे समभाव रखते हुए मै राग द्वेष की कलुषितता से भी दूर रहू और अपने मध्यस्थ भाव द्वारा दूसरो को भी समभाव की तरफ आकृष्ट करू। अभिलाषाओं के आवेग मे अथवा जीवन-मरण की कामना मे फस कर मै कभी भी अपने मन, वचन तथा कर्म की साम्यता को आघात नही पहुँचाऊ। मै विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊ तथा अपने उदाहरण के आदर्श से उनमे भी समभाव जगाऊ।

मै मानता हूँ कि समभाव के इस जागरण के लिये त्याग भाव के विकास की अपेक्षा रहती है। त्याग स्व-कल्याण के लिये और त्याग पर-कल्याण के लिये। वास्तविक त्याग किसे कहते है ? वस्तुत वही त्यागी कहलाता है जो मनोहर और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हे पीठ दिखा देता है याने कि छोड़ देता है। जो पराधीनता के कारण विषयो का उपभोग नही कर पाते, उन्हे त्यागी नही कहा जा सकता। मूल बात यह कि यथार्थ रूप मे त्याग के साथ त्याग की स्वतन्त्र एव उच्च भावना भी होनी चाहिये। भावहीन त्याग महत्त्वपूर्ण नही होता। त्याग-भाव के दृढ़ बनने पर सेवा और साधना की वृत्ति पनपेगी जिसका मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा के सत्कार्य मे सदुपयोग किया जा सकता है। एक साधक को सुख-सुविधा की भावना से निरपेक्ष रहकर उपशान्त

एव दभरहित होकर कार्य करना चाहिये। उसका अपनी कामनाओं और इच्छाओं पर भी निरोध होना चाहिये क्योकि स्वय ही दल-दल मे फसा रहेगा तो स्व-पर कल्याण कैसे साधेगा ?

साधना को लक्ष्य बनाकर मेरा चिन्तन भी चलता है कि मै समभाव को केन्द्र मे रखकर सयमपूर्ण साधना मे निमग्न बनू और मानवता की सरचना मे अपना योगदान दू। मेरी साधना प्रभावशाली बन जाय, तब भी मै पूजा प्रतिष्ठा के फेर मे न पड़ू, यश की भूख भी नही रखू तथा मान-सम्मान के पीछे दौड़ता न फिरू। अपनी साधना मे जागृत रहकर प्रतिदिन रात्रि के प्रारभ और अन्त मे सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता रहू कि मैंने क्या सत्कर्म किया है तथा करणीय कर्म क्या नहीं किया है ? और वह कौनसा कार्य बाकी है जिसे मैं कर सकने मे सक्षम होने पर भी नहीं कर रहा हूँ।

मै इस प्रकार अपने पुरुषार्थ का प्रतिदिन लेखा-जोखा लेता रहू तो मेरा विश्वास है कि मै विपथगामी नही बन सकूगा। इस लेखे-जोखे से मेरा पुरुषार्थ सक्रिय भी रहेगा तो सन्मार्ग नियोजित भी।

पुरुषार्थ का परम प्रयोग

सर्वोच्च प्रयोजन हित प्रायोजित मेरा पुरुषार्थ ज्यो-ज्यो उत्कृष्ट स्वरूप लेता जायगा, उसका प्रयोग भी परम बनने लगेगा। यह पुरुषार्थ का परम प्रयोग होगा, जो चार प्रकार से ऊर्ध्वगामी बनेगा—

(१) धर्म—जिससे सर्व प्रकारेण अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, उसे धर्म कहा जाता है। धर्म पुरुषार्थ ही अन्य सभी प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति का कारण होता है। धर्म से पुण्य कर्म का बध तथा कर्मों की निर्जरा होती है। धर्माराधना से ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन मे सर्वहितकारी प्रगति के दर्शन होते है। धार्मिक भावनाओं तथा क्रियाओं से पुण्य कर्म का बध होता है तो पुण्य कर्म के फलस्वरूप अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। और जब धर्म के आधार पर प्राप्त अर्थ और काम का भोग भी धर्माराधना के साथ किया जाता है तो वह अर्थ और काम भी आत्मा को ससार के दल-दल मे फसाने वाला नही बनता, क्योंकि धर्म के प्रभाव से आत्मा का अर्थ व काम के भोग मे आसक्ति भाव नहीं रहता। आसक्ति नही रहती तो मोह-ममत्त्व भी प्रगाढ़ रूप नहीं लेता और सामान्य मोह-ममत्त्व को आत्मा अपनी सयम साधना से जर्जरित बना लेती है तथा मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने लग जाती है। इसका कारण यह होता है कि आत्मा सयम के साथ कठोर तप का आचरण भी करती है जिससे कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इस दृष्टि से मूल पुरुषार्थ धर्म का पुरुषार्थ होता है। अत आत्मा-रूप पुरुष को अपने पौरुष का भान होना चाहिये तथा उसे अपना पुरुषार्थ धर्माराधना मे लगाना चाहिये।

(२) अर्थ—जिससे सभी प्रकार के लौकिक प्रयोजनो की सिद्धि हो, वह अर्थ है। धर्म जिन के मन-मानस मे रम जाता है, वैसे सद्‌गृहस्थ सदा अर्थ का उपार्जन न्याय और नीतिपूर्वक करते है। अर्थोपार्जन वे अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रमाण मे ही करते है तथा उसका सचय भी नही करते। यदि किसी कारण से अतिरिक्त उपार्जन हो भी जाता है तो वे उसका तुरन्त सविभाग कर लेते हैं। वे स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, जुआ, चोरी आदि निन्दनीय उपायो का कतई आश्रय नहीं लेते है तथा अपनी जाति व कुल की मर्यादा एव व्यापक जन समुदाय के हित को दृष्टि

मे रखते हुए नीतिपूर्वक अर्थ का अर्जन करते है। इस रूप मे अर्जित अर्थ (धन) उनकी लालसाओं और कामनाओं को भड़काता नही है तथा सन्तोष की भावनाओं को स्थिर रूप से बनाये रखता है जिससे वे इस लोक मे भी स्व-पर कल्याण साधते है तथा परलोक मे भी सद्गति को प्राप्त करते है। न्याय और नीति से कमाया हुआ धन दो प्रकार से अर्जन करने वाले को लाभ पहुँचाता है। पहला तो यह कि उसकी उस प्रकार के धन मे कोई आसक्ति नहीं होती जिसके कारण वह उसको अपने भोग विलास मे खर्च करके पाप कर्म का बध नही करता। दूसरे, धर्म भाव के साथ अर्जित किए हुए धन का व्यय भी वह सदा सत्कार्यों मे ही करना चाहता है जिसके परिणाम स्वरूप धर्म भाव की ही अभिवृद्धि होती है। जो गृहस्थ अन्याय और अनीति से अर्थोपार्जन करते है, वे धनलिप्सु बनकर क्रूरकर्मी भी बन जाते हैं। उनका धन अपने ही स्वार्थ पोषण मे लगता है जिससे जीवन मे विकृति बढ़ती है। कई बार तो धन-मोह इतना अधा बन जाता है कि वह कृपण भाव से उसका अपने या अपनो के लिये भी व्यय नहीं कर पाता है। अत धर्म-पुरुषार्थ को पहले सफल बनाया जाना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ-पुरुषार्थ भी सफलता प्राप्त करता है। वैसी अवस्था मे यह अर्थ पुरुषार्थ स्व-पर कल्याण का कारण भूत बन जाता है तथा सामाजिक वातावरण मे भी न्याय और नीति की अभिवृद्धि करके सभी प्राणियो मे सदाशय एव सौहार्द्र का सचार करता है।

(३) काम—मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति के द्वारा इन्द्रियो का तृप्त होना काम है। सासारिक वातावरण मे गहराई से देखा जाय तो अर्थ और काम के क्षेत्र मे जितना अनर्थ होता है उतना कहीं और नहीं, क्योकि अमर्यादित एव स्वच्छन्द अर्थोपार्जन तथा कामाचार की वृत्ति-प्रवृत्ति के साथ ही विविध प्रकार के अन्याय एव अत्याचार जन्म लेते है तथा हिसक रूप ग्रहण करके मानवीय मूल्यो के विघातक बन जाते है। यो देखे तो अर्थ एव काम सासारिकता की मूल आवश्यकताएँ भी है और जिनका सब प्राणियो के लिये त्याग सभव नही है। ये शरीर की मुख्य सज्ञाएँ होती है। आवश्यक है तो यह कि अर्थ और काम के क्षेत्रो मे ऐसी सुव्यवस्था की रचना की जाय कि व्यक्तिगत प्रलुब्धता बढ़ने न पावे और इन क्षेत्रो मे आत्म-सयम का अटल अस्तित्व बन जाय। आज ससार की विषम समस्याओं का तलस्पर्शी ज्ञान लिया जाय तो प्रमुख रूप से रोटी और सेक्स की समस्याएँ ही अधिकाशत दिखाई देगी। इन समस्याओं को सदा ही अनुभव किया जाता रहा है तथा सम्यक् समाधान भी निकाले जाते रहे हैं। अर्थ और काम स्वच्छन्द व अमर्यादित रूप न ले सके—इसी दृष्टि से अर्थ और काम रूप पुरुषार्थों को विकासकारी बनाने के उद्देश्य से ही धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले रखा गया है। धर्म पुरुषार्थ के सफल होने का अभिप्राय यह लिया गया है कि मनुष्य की सकल वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे धार्मिकता एव नैतिकता का सद्भाव फैल जायगा और तब अर्थ एव काम के क्षेत्र मे जो भी प्रवृत्तियाँ की जायगी, वे धर्म रग मे रगी हुई होने के कारण पुरुषार्थ नाम से भी जानी जायगी और वे अर्थ व काम के सत्प्रयोजन से पुरुषार्थ की सफलता के रूप मे भी सिद्ध हो जायगी। धर्म सहित अर्थ और धर्म सहित काम आत्मा को अधोगामी कभी नही बनायगा।

(४) मोक्ष—रागद्वेष द्वारा उपार्जित कर्मबधन से आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये सवर और निर्जरा मे उद्यम करना मोक्ष पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का परम प्रयोग मोक्ष प्राप्त करना है। इन चारो पुरुषार्थों मे भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया है। जो मोक्ष की परम उपादेयता स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रबलता के कारण उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते अथवा कर नहीं सकते, वे धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थों मे अविरुद्ध रीति से उद्यम करते है, वे मध्यम पुरुष

कहलाते है क्योकि उच्च पुरुष वे होते है जो धर्म, अर्थ एव काम के पुरुषार्थों को सफल बनाते हुए मोक्ष के परम पुरुषार्थ को सफल बनाने के लिये भी कठोर साधना करते हैं। किन्तु जो मोक्ष और धर्म रूप पुरुषार्थों की उपेक्षा करके केवल अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ मे ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते है, वे अधम पुरुष कहलाते है। वे लोग बीज को ही खा जाने वाले किसान-परिवार के समान होते है जो भविष्य मे धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दु ख भोगते है।

पुरुषार्थ का अन्तदर्शन करते हुए मेरी मान्यता बनती है कि अर्थ और काम यदि सर्वदा और सर्वत्र धर्म और मोक्ष के बीच मे रहे तो वे कभी भी इस ससार मे अनर्थकारी नही बन सकते है। आज जो दुष्कृत्यो भरा वातावरण दिखाई दे रहा है, वह इस कारण है कि धर्म पुरुषार्थ के साथ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं किया जाता तथा मोक्ष पुरुषार्थ को विसार दिया जाता है। केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ को महत्त्व दे देने से ही ये सारी वर्तमान परिस्थितियॉ विषम एव विश्रृखल बनी हुई है। यह मूल मे भूल हो रही है। धर्म पहले, फिर अर्थ और काम तथा उनका भी परम प्रयोजन मोक्ष सदा ध्यान मे रहे तो वैसे अर्थ एव काम पुरुषार्थ से भी सासारिकता के क्षेत्र मे सुव्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। अत मेरा निश्चय है कि मै सबसे पहले धर्म पुरुषार्थ मे अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाऊ।

मै सदा अपने पुरुषार्थ के परम प्रयोग हेतु यत्न करता रहूँ एव मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का मनोरथ चिन्तता रहू। मै जानता हूँ कि मैं पुरुषार्थी हूँ, पराक्रमी हूँ। मेरा पुरुषार्थ कर्म क्षेत्र मे आगे से आगे ही बढ़ना जानता है, पीछे हटना नही। मै यह भी जानता हूँ कि जो अपने पुरुषार्थ का परम प्रयोग करके उसको सफल बना लेता है, वही शूर पुरूष कहलाता है। मै भी शूर पुरुष बनना चाहता हूँ ताकि मेरे पुरुषार्थ का भी अपूर्व शौर्य प्रकाशित हो सके।

आप्त वचनो के अनुसार शूर पुरुष चार प्रकार के होते है —

(१) क्षमाशूर—जो अपने प्रबलतम विरोधी को भी पूरी हार्दिकता से क्षमा कर देते है। ऐसे क्षमाशूर अरिहन्त होते है जिनकी अनन्त क्षमा की इस धारा युग युगो तक प्रवाहित होती रहकर आत्माभिमुखी पुरुषो को प्रबुद्ध बनाती है।

(२) तपशूर—तपशूर अनगार मुनिराज होते है जो अपने कठिन तप द्वारा अल्पतम समय मे सचित कर्मों का अन्त कर देते है। वे अपने भाव शत्रु रूप कर्मो के लिये अपने आप को दृढ़ प्रहारी सिद्ध करते है।

(३) दानशूर—जो निरन्तर दान देने मे ऐसी भव्य उदारता दिखाते है कि उनकी दान देने की प्रवृत्ति अन्तहीन दिखाई देती है। उनके हृदय के त्याग भाव का उत्कृष्ट रूप उनकी दानशूरता मे प्रकट होता रहता है।

(४) युद्ध शूर—युद्ध शूर वे कहलाते हैं जो किसी भी प्रकार के धर्म युद्ध मे अपूर्व शूरता का प्रदर्शन करते हुए विजयी बनते हैं। वे अपने विकारो तथा ससार के विकारो के साथ समान रूप से युद्ध करते है।

मै भी भावना भाता हूँ कि मैं क्षमा शूर, तप शूर, दान शूर और युद्ध शूर बनूगा तथा अपने पुरुषार्थ के परम उत्कृष्ट स्वरूप को प्रकट करूगा। मेरा यह पुरुषार्थ प्रयोग मेरे आत्म विकास

के लिये भी होगा तथा अन्य प्राणियो के कल्याण के लिये भी क्योंकि सर्वहित से स्वहित सदा सम्बद्ध रहता है। समभाव सर्वहित का सफल सयोजक होता है अत मेरा पुरुषार्थ सभी क्षेत्रो मे सुखकारी सुव्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से समभाव से परिपूर्ण रहेगा। मै अपनी आत्मा को विभाव क्षेत्र मे से निकालने के अपने पुरुषार्थ के साथ यह प्रयत्न भी करता रहूगा कि अन्य आत्माएँ भी अपने विभाव क्षेत्र के विकारो को समझे तथा वहाँ से बाहर निकले। आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास मेरे भीतर और बाहर ससार मे सर्वत्र हो—यह मेरा केन्द्रस्थ लक्ष्य होगा।

छठा सूत्र और मेरा संकल्प

मै पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ, क्योंकि मेरी आत्मा पौरुषवती है, इसलिये मैं अपने सोये हुए पुरुषार्थ को जगाऊगा और उसे धर्माराधना मे इतनी प्रबलता के साथ प्रायोजित करूगा कि मेरा वह पराक्रम और पुरुपार्थ मोक्षगामी बनकर अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्रभावान बनादे। मै सकल्प लेता हूँ कि मै सदा अपने करणीय का चिन्तन करता रहूगा—ज्ञेय को जानता रहूगा तथा हेय को छोड़ते हुए उपादेय को ग्रहण करता रहूगा। यह भी नित्यप्रति सोचता रहूगा कि मै क्या कर रहा हूँ और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा अबाध चिन्तन चलता रहेगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी सिद्धो जैसा ही है लेकिन अभी वह अपने ही विभावो के घेरे मे फसी हुई है जिस कारण उसका यह स्वभाव-धर्म कर्मो से आवृत्त बना हुआ है। इस आवृत्त को भेदना ही मेरे पुरुषार्थ का प्रधान लक्ष्य है। मूल स्वभाव की सस्मृति के साथ जब मेरी आत्मा अपने आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बना लेगी तो उसके स्वाभाविक गुणो का भी समुचित रीति से विकास होने लगेगा। तब वह अपने पुरुषार्थ-प्रयोग के प्रति अधिक निष्ठा एव सक्रियता को धारण कर सकेगी। उसका ससार के वातावरण पर भी सम्यक् प्रभाव पड़ेगा तथा बाहरी परिस्थितियो मे भी मानवीय मूल्यो की नई क्रान्ति जन्म लेगी। अत मै सकल्प बद्ध होता हूँ कि मै अपने आत्म-स्वरूप तथा जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर आत्म शुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊगा तथा शुभ परिवर्तन के समग्र रूप से प्रसार का पराक्रम प्रकट करूगा। मेरा पुरुषार्थ अहिसा, सयम एव तप रूप धर्म से आरभ होकर मोक्ष तक अविचल गति से आगे बढ़ता ही रहेगा और सर्वत्र समभाव को जगाता ही रहेगा।

अध्याय आठ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ७ :

मै मौलिक रूप से परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। मुझे सोचना है कि मै अपने बधना को कैसे तोड़ सकता हूँ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है?

अपनी अपार शक्ति के समीक्षण ध्यान मे मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मै अपने कर्मों के सारे बधन कठिन तप की आराधना से कैसे तोड़ सकता हूँ और मुक्ति के मार्ग पर कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ?

मै अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा उस मौलिक परम प्रतापी एव सर्वशक्तिमान स्वरूप को अनावृत्त करूँगा।

सूत्र सात

मै परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान् हूँ। मेरा परम प्रताप और शक्ति केन्द्र वस्तुत' परमात्मा के समान ही है क्योकि यह सिद्धान्त सर्वसत्य है कि आत्मा ही परम पद प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप चरण कर लेती है। परमात्मा कोई पृथक् शक्ति-केन्द्र नहीं होता, वह आत्मा का ही परम विकसित स्वरूप होता है।

मै परम प्रतापी हूँ। मेरा ताप और प्रताप अनन्त है क्योंकि वह तप से उद्भूत होता है और तप की परमोत्कृष्टता से अपार तेजस्विता ग्रहण करता है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण अग्नि मे तप कर शुद्ध ही नहीं बनता, अपितु अति मूल्यवान कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी तप रूपी अग्नि मे तप कर शुद्ध और निर्मल ही नहीं बनती, अपितु परम प्रतापी भी बन जाती है।

मै परम प्रतापी होता हूँ तो सर्व शक्तिमान् भी बन जाता हूँ, क्योकि उस परम प्रताप से अनन्त शक्तियो एव ऊर्जाओं का स्रोत प्रस्फुटित होता है। सर्व शक्तियो का प्रकाश उसके स्वरूप को परम प्रकाशित बना देता है। इतना ही नही, एक सत्य और भी प्रकट होता है। वह यह कि आत्मा स्वय ही सर्वशक्तिमान और प्रकाशपुज नही बनती, बल्कि शक्तियो का केन्द्र तथा प्रकाश का प्रसार स्रोत भी बन जाती है।

मैं सर्व शक्तिमान् हूँ, सर्व शक्तियो का केन्द्र हूँ और प्रकाश का प्रसारक भी हूँ। जैसे एक पॉवर हाऊस होता है, जो स्वय प्रकाशित होने के साथ साथ प्रकाश को सर्वत्र प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा स्वय प्रकाशित होकर उस प्रकाश शक्ति को विकरित-प्रशरित भी करने लग जाती है। वह प्रकाश पाती है और सबमे प्रकाश भरती है —स्वय सर्वशक्तिमान् बनती है तथा सर्वत्र शक्तियो का सचार करती है। जो कोई अन्य आत्मा परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् आत्मा के साथ लौ लगाती है, वह भी प्रकाशित बनती है—शक्तिशाली होती है।

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान् हूँ। यह परम प्रताप और शक्ति-सम्पन्नता मुझे मेरी शुभता के चरम विकास से मिलती है। विषय-कषाय के विकार जब तप रूपी अग्नि मे जल जाते है और उसके ताप से आत्मस्वरूप निखर उठता है तव यह परम प्रताप प्रकट होता है —एकदम निर्मल, शान्त और सबको सुख देने वाला। यह परम प्रताप ही सर्व शक्तियो का केन्द्र स्थल हो जाता है, जहॉ से सम्पूर्ण जीवो का हित तथा विश्व का कल्याण प्रस्फुटित होता है। आत्मा परमात्मा बन जाती है।

मैं वही आत्मा हूँ—भव्य आत्मा, जो परमात्मा बन सकती है। परम प्रतापी और सर्व शक्तिमान् होने का मूल गुण मेरी आत्मा मे भी निवास करता है और मेरे पुरुषार्थ से आज आवृत्त यह मूल गुण एक दिन सम्पूर्णत अनावृत हो सकता है। आवश्यक है कि मै वैसा पुरुपार्थ करू, कठिन तप से आत्म स्वरूप के साथ बधे आठो कर्मों को व शरीर के सात धातुओं को गला दू तथा अपने जीवन को स्व-पर कल्याण मे विसर्जित कर दू।

मै परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् बनना चाहता हूँ—आत्मा की शुभ शक्तियो का धनी, किन्तु वैसा परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् नही, जैसा कि एक राजा ने अपनी भौतिक शक्तियो के गर्व से उन्मत्त होकर अपने को परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् मान लिया था। कथा है कि एक राजा था—योद्धा और शूरवीर। उसने अपने प्राप्त राज्य को ही सुदृढ़ नही बनाया, बल्कि विश्व-विजयी बनने का सकल्प लिया। सौभाग्यशाली था सो आस-पास के राज्यो को जीतता हुआ आगे से आगे बढ़ता गया तथा अनेक राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत कराता गया। उसकी विजय का डका चारो ओर बजने लगा—वह महाराजाधिराज हो गया। उसने अपने आपको परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् घोषित कर दिया। उस समय एक भी राजा ऐसा नही बचा था जो उसकी इस घोषणा को चुनौती देता। उसकी सर्वशक्ति एक प्रकार से स्थापित हो गई। वह अभिमान मे फूला नही समाता था।

एक महात्मा को लगा कि इस राजा के विजयाभिमान को तोड़ना चाहिये। वे महात्मा वैक्रिय लब्धि के धारक थे तथा छोटे-बड़े रूप बना सकते थे। एक दिन वे उस राजा के दरबार मे पहुँच गये। राजा ने उनका स्वागत किया, किन्तु गर्वभरी मुस्कान के साथ। महात्मा को वह व्यवहार अखर गया, फिर भी कुछ बोले नहीं। वे यह सब कुछ जानकर ही तो आये थे और एक वैद्य की तरह राजा के मान रोग की चिकित्सा करना चाहते थे। अनजान से बनकर कहने लगे —राजन्, मैने सुना है कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो ? राजा ने जोर का ठहाका लगाया और कहा—अरे महात्मा, तुमने सिर्फ सुना ही है, अब देखकर भी अनुमान नही लगा पा रहे हो क्या ? महात्मा राजा की आखो मे आखे डालकर देखते ही रहे। उनकी इस हरकत से राजा असमञ्जस मे पड़ गया, बोला —इस तरह क्या देख रहे हो, महात्मा ? महात्मा बोले —तुमने ही तो कहा है राजा की ओर देखो और मै देख रहा हूँ।

राजा धीरज नहीं रख सका, पूछने लगा—अब तो देख लिया न महात्मा और मिल गया न आपके प्रश्न का उत्तर आपको ? महात्मा ने 'हॉ' मे सिर हिलाया, लेकिन फिर 'ना' मे भी सिर हिलाया। अब तो राजा चौका कि महात्मा आखिर कहना क्या चाहता है ? पूछ बैठा—आप का यह सिर हिलाना मुझे समझ मे नही आया। तब गम्भीर वाणी मे महात्मा बोले—राजन्, मैंने सुना था कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो किन्तु आज देखने पर विपरीत अनुभव हो रहा है। राजा गरजा—आप कहना क्या चाहते है ? महात्मा कहने लगे—यही कि न तुम परम प्रतापी हो और न सर्व शक्तिमान्! अपने आपको ऐसा समझने का तुम्हे मात्र दभ है। क्रोध से फुफकार उठा राजा —मेरे सामने इस तरह बोल लेना आसान नही—इसे सिद्ध करो वरना यह झूठी जीभ काट कर फैक दी जायेगी। अब महात्मा की हँसने की बारी थी, जोर से अट्टहास करके हॅस पड़े और बोले—राजा, तुम सर्वशक्तिमान् हो, मुझे कुछ देने की शक्ति भी रखते हो ? राजा ने ओछेपन से कहा—मैं तो तुम्हे महात्मा समझा था, मात्र भिक्षुक ही निकले। जो कुछ मागोगे मिलेगा किन्तु जीभ जरूर कटेगी। महात्मा फिर हस पड़े, बोले—मुझे मात्र तीन पग भूमि चाहिये। राजा भी हस पड़ा, कहने लगा—बस, मागने मे भी कृपणता, मै तीन पग भूमि क्या तीन सौ गाव दे सकता हूँ। राजा का इतना था कि महात्मा ने विराट् रूप धारण किया और एक पग राजा के सम्पूर्ण राज्य के एक किनारे पर तो दूसरा पग राज्य के दूसरे किनारे पर रख कर पूछा—राजा, अब बताओ, तीसरा पग कहॉ रखू ? राजा तो भौचक्क खड़ा रहा—न बोलते बनता था और न हसते। लज्जा से उसका सिर झुक गया।

भावाभिभूत होकर राजा महात्मा के चरणो मे झुक आया, पश्चाताप भरे स्वर मे कहने लगा—महात्मन्, आपने मेरा गर्व खर्व कर दिया है, मेरा उन्माद उतर गया है और परम प्रतापी व सर्व शक्तिमान् होने का मेरा भ्रम भी मिट गया है। महात्मा पुन. अपने रूप मे आ गये और स्नेह भरी मुस्कान के साथ बोले—राजन्, तुम्हे शिक्षा देने के लिए ही मैने यह सब किया, तुम बुरा न मानना। सदा यह ध्यान मे रखना कि इस ससार की सभी बाहरी शक्तियाँ किसी को प्राप्त हो जाय तब भी वह सर्व शक्तिमान् नही बनता। यथार्थ मे सर्वशक्तिमान् बनना आत्म-शक्तियो का ही रहस्य होता है। जिसका बाहरी वैभव नही, आन्तरिक वैभव समुन्नत हो जाता है और जो दया का सागर बन जाता है, वही अपनी पूर्ण विकसित आत्मा के साथ परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् होता है। यह परम अवस्था बाहर की विजय से नही, भीतर की विजय से प्राप्त होती है।

आत्म शक्ति को उद्‌बोधन

मुझे जब अपनी आत्मशक्ति के ही इस विराट् रूप का परिचय होता है तो मैं एक अनूठे ही आन्तरिक आनन्द से भर उठता हूँ। मैं वास्तव मे इतना शक्ति सम्पन्न हूँ और परमात्मपद का वरण कर सकता हूँ, तब इतना निराश और हताश क्यो हूँ। आशा तभी टूटती है, जब किसी कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता टूट जाती है। सक्षम होकर भी मैं निराश हो गया —यह मेरा निरा अज्ञान ही है। मैं अपने ही अज्ञान के इस पर्दे को फाड़ देना चाहता हूँ और अपनी सोई हुई आत्मा को झकझोर कर जगा देना चाहता हूँ। यह मै कौन ? मैं ही मेरी आत्मा हूँ—दोनो मे द्वैत नही है। आत्मा ही आत्मा को जगाती है और आत्मा ही आत्मा को उद्‌बोधन करती है। मै जागता हूँ, उसका अर्थ ही यह होता है कि मेरी आत्मा जागती है और उस जागृति के फलस्वरूप मै ही अपनी आत्मशक्ति को उद्‌बोधन करता हूँ।

इस दृश्य की भी कल्पना की जा सकती है। समझिये कि एक छात्र गहरी नींद मे सोया हुआ है। उसने प्रात चार बजे उठने के लिए घड़ी मे अलार्म दे रखा है। चार बजते ही घड़ी का अलार्म जोरो से बज उठता है—काफी देर तक बजता रहता है। छात्र की नींद खुल तो जाती है, मगर आलस्यवश उठ नहीं पाता। उस समय मन ही मन अपने को फटकारता भी है कि तुरन्त उठकर वह पढ़ने क्यो नही बैठता तो दूसरी तरफ मीठी मीठी नींद से छुटकारा ले लेने की मर्जी नही होती। काफी देर तक भीतर ही भीतर कशमकश चलती रहती है। उठकर पढ़ने बैठने का मन मजबूत होता है तो आलस्य को झटक कर वह बिस्तर से उठ खड़ा होता है और मन का आलस्य मजबूत सावित होता है तो वह फिर से गहरी नींद सो जाता है। उस छात्र के मन की ऐसी कशमकश को हम रोज-ब-रोज महसूस करते है। यही स्वय को स्वय जगाने की कशमकश होती है। मै इसी रूप मे अपने जागृत पक्ष को सुदृढ़ वनाकर अपनी ही आत्मा को उद्‌वोधन करना चाहता हूँ।

यह उद्‌वोधन मै करता हूँ अपने मन और अपनी इन्द्रियो का निग्रह करके। मन और इन्द्रियाँ मीठी मीठी नीद सोना चाहती है—मैं उन्हे सोने नही देता। मै अपने आपको भी दुर्बलता के क्षणो मे सावचेत करता हूँ और उठकर पढ़ने के लिए वैठ जाना चाहता हूँ। आत्मा की पढ़ाई बड़ी कठिन होती है तो बड़ी सरल भी। कठिन तो इस कारण कि मै मन तथा इन्द्रियो का निग्रह कराने वाले तप मे अपने सम्पूर्ण पुरूषार्थ को लगा नही पाता हूँ जिससे मन और इन्द्रियाँ वारवार छिटक कर मेरे नियत्रण से वाहर चली जाती है, तव उनको वश मे करना कठिन हो जाता है। और सरल

इसलिये कि यदि कठोर तप से मै आत्म-जेता बन जाता हूँ तो मै स्व-नियत्रित शक्ति का धनी बन जाता हूँ। भाव-सरणियो मे समुन्नति लाते हुए आत्म जेता बन जाना बड़ा सरल हो जाता है—जन्म जन्मान्तरो का भगीरथ कार्य कुछ ही क्षणो मे सम्पन्न बन सकता है। प्रश्न यही है कि आत्मा को उद्बोधन कितनी उच्च और उत्कृष्ट भावना के साथ किया जाता है ?

कपिल ब्राह्मण का रूपक मुझे याद आता है। अपने दारिद्रय से परम कष्टित होकर वह भूल से मध्यरात्रि मे ही घर से निकल पड़ा कि राजा को प्रथम आशीर्वाद देकर वह एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त करले। प्रहरियो ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और सुवह राजा के सामने प्रस्तुत किया। कपिल ने सच्ची-सच्ची बात बता दी। राजा खुश हो गया और वोला—जो चाहो सो मुझसे माग लो। यकायक कपिल को कुछ नही सूझा सो सोचने का समय माग कर पास के उद्यान मे जाकर बैठ गया। तब कपिल सोचने लगा कि राजा से क्या मागू ? एक से एक हजार स्वर्ण मुद्रा तक बढ़ा, फिर भी सोचा कि निर्वाह मे यह राशि भी एक दिन समाप्त हो जायेगी और फिर वही दारिद्रय भोगना पड़ेगा। तो फिर उसका पूरा राज्य ही क्यो न माग लू ?

इस विन्दु पर पहुचते ही उसकी आत्मा को एक झटका लगा और विचार-धारा एकदम परिवर्तित हो गई। कपिल सोचने लगा—मुझ सा अधम और कौन होगा, जो अपने ही सहायक को दर-दर का भिखारी वना देने की बात सोच बैठा ? धिक्कार है मुझे और उसकी वह धिक्कार इतनी गहरी होती गई, भाव-सरणि उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम बन गई तथा आत्म शक्तियाँ सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर परम जागृत हो गई कि कपिल ब्राह्मण चन्द क्षणो मे ही कपिल केवली (कैवल्यज्ञान प्राप्त) बन गया—जन्म जन्मान्तरो का विकास पलो मे सध गया। यह अपेक्षिक कथन है आत्मोद्बोधन कभी-कभी इतनी मार्मिक और इतनी तत्क्षण सफलता भी प्राप्त कर लेता है। अत मै आत्मा को उद्वोधित करते समय अपनी भाव-गूढ़ता पर अधिक ध्यान देना चाहता हूँ। आन्तरिकता जितनी निष्पाप और निश्छल बन जाती है, आत्मा का उद्बोधन भी उतना ही प्रभावशाली हो जाता है। ऐसा भव्य उद्वोधन भी महान् तप रूप हो जाता है कि भावोद्वेग ही सम्पूर्ण कर्म सचय को विनष्ट कर देता है। भाव-श्रेणी की अत्युच्चता आत्मा को निष्कलुष बनाकर अल्पावधि मे ही परम प्रतापी एव सर्वशक्तिमान के पद पर प्रतिष्ठित कर देती है।

मै अपनी आत्मा को उद्वोधन करता हूँ—मै मुझको ही जगाता हूँ और चिन्तनशील बनाता हूँ कि मैं अपनी आत्मा के याने अपने वधनो को कैसे तोड़ सकता हूँ तथा कैसे अपने मुक्ति के मार्ग को खोज सकता हूँ ? मै अपने वर्तमान आत्म-स्वरूप का दृष्टा बनकर जब उसे निहारता हूँ तो अपने को—अपनी आत्मा को धिक्कारता हूँ कि कैसा मेरा मूल स्वरूप है परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् होने का और वर्तमान मे वह कितना प्रताप शून्य एव अशक्त वना हुआ है ? मै अपने आपको वारवार धिक्कारता हूँ अपने विद्रूप पर और सकल्पित होता हूँ कि मैं अपनी आत्मा को उद्वोधन करूगा, अपनी अपार शक्ति को समीक्षण ध्यान मे लूगा तथा आत्म-साक्षात्कार द्वारा साध्य की ओर त्वरित प्रगति के चरण वढ़ा चलूगा।

प्रताप और शक्ति की दिशा

मै अपने आत्मस्वरूप के प्रताप तथा उसकी शक्ति की सही दिशा को पहले समझलू —यह अति आवश्यक है। मैं सक्रिय वनू और मेरी क्रियाशीलता की दिशा ही अगर गलत हो तो मेरी

क्रियाशीलता ही गलत हो जायेगी। अत मुझे सासारिक प्रताप-प्रभाव एव भौतिक शक्तियो तथा आत्मिक प्रताप एव शक्तियो के अन्तर को भलीभाति आकना होगा। इस अन्तर-अकन मे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सासारिकता मे प्रवृत्ति नही, बल्कि उससे निवृत्ति लेने पर ही आत्मिक प्रभाव का उद्भव होता है तथा आन्तरिक शक्तियाँ प्रकट होती है। सासारिकता से निवृत्ति एव आध्यात्मिकता मे प्रवृत्ति— इस दृष्टि से यह मेरा प्रथम चरण होना चाहिये।

सासारिकता से निवृत्ति का मुझे यह स्पष्ट अर्थ मानना चाहिये कि मेरा पुरुषार्थ ससार के सुख पाने या उनके माध्यम से कीर्ति अर्जन करने की दिशा मे नही लगे। मेरा पुरुषार्थ स्व-पर कल्याण की दिशा मे लगे जो आत्म चिन्तन, आत्म नियत्रण, आत्म विकास तथा आत्मविसर्जन की श्रेणियो मे समुन्नत होता हुआ सफलता को प्राप्त करता है।

इस तरह मै अपने पुरुषार्थ-नियोजन की सही दिशा का निर्धारण कर लेता हूँ और इस निर्धारण का मूल ही आत्म चिन्तन मे समाहित होता है। आत्म चिन्तन ही मुझे आत्म-नियत्रण की दिशा मे ले जाता है। आत्म-नियत्रण से ही मै जान पाता हूँ कि जब मै अपने मन और अपनी इन्द्रियो को गाढ़ी सासारिकता से खीच कर अपने नियंत्रण मे कर लेता हूँ, तब मुझे ऐसे आनन्द का अनुभव होता है जिसका रसास्वादन मै पहले नहीं कर पाया था। यह मेरा आत्मनियत्रण क्रमिक अभ्यास के द्वारा पक्का आत्मानुशासन बन जाता है। इस आत्मानुशासन को सुव्यवस्थित एव सुस्थिर कर लेने के बाद मुझे अनुभूति होती है कि मेरे आत्मस्वरूप मे विकास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। आत्म विकास की प्रक्रिया मे मै जो कुछ सोचता हूँ, जो कुछ बोलता हूँ और जो कुछ करता हूँ—वह मेरे लिये अति आनन्ददायक बन जाता है। दृष्य रूप मे तब मै देखता हूँ कि वास्तविकता मे मुझे ससार के विषय भोगो मे अभिरुचि नहीं रही है और न ही सत्ता व सम्पत्ति की उपलब्धि मे आनन्द की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जितना मै सत्कार्यों मे प्रवृत्ति करता हूँ तथा जितना मैं उस क्षेत्र मे अधिकाधिक त्याग करता हूँ, मेरी आन्तरिकता खिल उठती है। मुझे ससार के समस्त प्राणी अपने महसूस होते है और भावना प्रबल बनती है कि मै उन सबको जो कुछ मेरे पास है—दू, उनसे लेने की इच्छा भी नही रखू। और दू भी वह जो मेरे लिये अमूल्य है। उन पर अपने हृदय का समस्त स्नेह उडेलू, अपनी करुणा बरसाऊँ और उन के सुख मे ही अपना सुख मानू। इस भावना श्रेणी मे मुझे अपने भीतर अधिक निर्मलता, अधिक त्यागवृत्ति और अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। तब यही समझ मे आता है कि मै अधिक विनम्र हुआ हूँ, अधिक सहृदय और अधिक सक्रिय। तभी मेरी आत्मा की तेजस्विता एव शक्ति सम्पन्नता प्रखर बनती है। यही परम प्रतापी एव सर्व शक्तिमान् बनने की सही दिशा भी लगती है।

तब मै समझ जाता हूँ कि तप से ताप उत्पन्न होता है और ताप से प्रताप तथा प्रताप शक्तियो का केन्द्र बन जाता है। तप की करणीयता और आचरणीयता तब मुझे सर्वोच्च दिखाई देती है। मै समझ जाता हूँ कि तप ही आत्मा को परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् बनाने का मूल कारणभूत करणीय आचरण हो सकता है। क्योंकि तप के ही विशुद्ध आचरण से आत्म विकास परिपुष्ट बनकर आत्म-विसर्जन का परमोत्कृष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

आत्म चिन्तन की रस धारा मे प्रवाहित होते हुए तब मै निश्चय कर लेता हूँ कि मुझे तप का ही आचरण अगीकार कर लेना चाहिये और वह आचरण निरन्तर कठोर एव प्रखर बनता रहे।

मै जानता हूँ कि मै तप मे तपूगा तो मेरी आत्मा तपेगी और मल रहित होकर निर्मलता का वरण करती जायेगी कर्म वधनो को तोड़ती हुई हलुकर्मी बनती जायेगी। मै तप से तपूगा तो मेरा शरीर तपेगा जो कृश होता जाकर भी दिव्य ओज को अपने भीतर समाता जायेगा। मै तप से तपूगा तो मेरे मन तथा मेरी इन्द्रियो की समस्त सक्रियता स्व-पर कल्याण मे नियोजित हो जायेगी। तप मेरी आत्मा मे परमात्मा बन जाने का सामर्थ्य जगा देगा। और इस रूप मे यह तप ही अपनी प्रखरता की उच्चतम साधना मे मुझे सच्ची अनुभूति दे सकेगा कि मै परम प्रतापी हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ।

तप और उसकी ऊर्जा शक्ति

तप क्या होता है? उसकी ऊर्जा शक्ति कैसी होती है? यह सब मै जानता हूँ वीतराग देवो की वाणी से जिसे सुगुरु मुझे समझाते हैं। कहा गया है कि तप रूप अग्नि है। जीवात्मा अग्नि का कुण्ड है। मन, वचन और काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये घी डालने की कुड़छी के समान और यह शरीर कडो के समान है। कर्म रूप लकड़ी है और सयम रूप साधना शान्ति-पाठ रूप है। इस प्रकार मै ऋषियो द्वारा प्रशसित चारित्र रूप भाव होम करता हूँ। यह होम ही तप है और उसकी ऊर्जा शक्ति है आत्म शक्ति।

यो तप की व्याख्या बहुत ही व्यापक होती है। आत्म विकास एव त्याग के उच्चस्थ स्तरो पर मन, वाणी एव कर्म की त्रिधारा ही तपो पूत हो जाती है क्योकि आत्मा और शरीर दोनो ही तप से तपकर तेज से निखर उठते है। तप का मूल माने तो वह है इच्छाओं का निरोध। आकाश के समान ये अनन्त इच्छाएँ इस ससार मे आत्मा को चैन से नही रहने देती। इच्छाओं का वेग बड़ा प्रवल होता है। इस वेग को रोक लेना और इच्छाओं का निरोध कर देना अतुल्य तप माना गया है। यही कारण है कि कपिल ब्राह्मण ने इच्छाओं के वेग मे भटकते हुए जब भावनापूर्वक उस वेग को ही नहीं रोका वल्कि इच्छाओं का ही रूपान्तरण कर दिया तो उसके उस महान् तप के कारण कुछ ही पलो मे वह कपिल केवली हो गया। उसने और कोई तप नहीं किया, केवल इच्छाओं का निरोध किया तथा वह इतनी सघन रीति से कि कुछ ही पलो के उच्चतम तप ने उसे मुक्तिगामी वना दिया।

इच्छाओं का निरोध सशोधन एक क्लिष्ट और विशिष्ट तप है। मूल मे आत्म-विवेक जितने अशो मे जागृत रहता है, उतने ही अशो मे तप के किसी प्रकार का अनुष्ठान कर्म क्षय का कारण भूत बनता है। कर्मों के नित्य प्रति होने वाले आगमन को रोक लेने के बाद पूर्वसचित कर्मों का क्षय तपाराधन से ही सभव होता है अत यह कहा जा सकता है कि तप से तपे विना आत्मा को मोक्ष नही मिल सकता है। तपस्वी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को उसी तरह अपनी आत्मा से झाड़कर अलग कर देता है जिस तरह कोई पक्षी अपने पखो को फड़फड़ाकर उनकी धूल को झटक देता है। तप से तपा हुआ साधक अपने तप के तीर से कर्मों के कवच को भेद डालता है।

मैं जानता हूँ कि तप के ताप से जो निर्लिप्त ऊर्जा शक्ति मिलती है, वही आत्मा और देह की पृथकता को स्पष्ट करती है और प्रेरणा देती है कि इस देह को तपाराधन से कृश करते चलो ताकि सासारिकता का मूल नष्ट होता जाय। देह दमन के तप से ही आत्म-दमन का तप सफल होता है और निर्जरा की शक्ति पैनी वनती है। किसी भी प्रकार का तप करने से पहले विवेक का सधा हुआ रहना जरूरी है। इसी कारण मैं तपाराधन के पूर्व अपने शारीरिक एव मानसिक वल को आक लेता हूँ, काल-विकाल को भी परख लेता हूँ, अपने आरोग्य को भी सम्हाल लेता हूँ तथा

स्थान-सुविधा की भी परीक्षा कर लेता हूँ यह भी मै जानता हूँ कि प्रतिष्ठा या पूजा की ऐहिक कामना के साथ तप का शुद्ध आराधन नही होता है और जो साधु बन कर कठिन तपश्चरण करता है लेकिन ऐहिक कामनाओं से ग्रस्त रहता है तो उसका वह कठिन तपश्चरण भी निष्फल जाता है। वस्तुत धर्म मेरा जलाशय है ब्रह्मचर्य आदि तप शान्ति तीर्थ है, आत्मा की शुभ लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म स्नान कर मै कर्म मल से मुक्त हो जाता हूँ। तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है, किन्तु जाति (अन्य बाह्य कारण) की तो कोई विशेषता नजर मे नही आती। तप की ही विशेषता होती है कि साधक अन्ततोगत्वा अव्याबाध सुख की अवाप्ति कर लेता है।

मै अनुभव कर चुका हूँ कि तप मे ही वर्तमान शक्ति लगाने से विविध आत्मिक शक्तियो की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति इस रूप मे लगानी होती है कि मै अपने क्रोध का दमन करू, मान को मर्दित बनाऊँ, गाया को कृश कर दू तथा लोभ-लाभ की लालसा छोड़ दू। इच्छा निरोध से विषय एव शक्ति प्रयोग से कषाय का अन्त कर दू तो मेरा तप सफलता की सीढियॉ चढ़ने लगेगा। देह सुखाने के साथ मेरा मोह-ममत्त्व भी सूखेगा तो विविध प्रकार की ग्रन्थियाँ भी सुलझ जायेगी। मोह-विजय तप-शस्त्र से ही सभव है। अनशन आदि तपो के आचरण से मन मगलमय बनता है तो इन्द्रियो की शक्ति भी सयम की आराधना में लगती है। तप की यह विशेषता प्रकट हो, तभी तप को सार्थक मानना चाहिये कि इन्द्रियो तथा देह की क्षीणता के साथ आत्म-वल क्षीण न हो। आत्म वल तपाराधन से निरन्तर बढ़ता रहे—वही तप वास्तविक तप होगा।

मेरी सुनिश्चित धारणा है कि यथार्थ रीति से तप का आचरण मात्र कर्म क्षय के लिए होना चाहिये, अन्य किसी भी प्रयोजन से नहीं। और किसी भी लौकिक प्रयोजन से किये जाने वाले तप को तो वास्तव मे तप कहना ही समुचित नही होगा। स्वर्ग, यश अथवा भोग की प्राप्ति के प्रयोजन से किया जाने वाला कठिन तप भी कभी मुक्ति का कारण नही बनता। अविवेक-मिथ्याज्ञान को साथ रख कर किया जाने वाला तप बालतप कहलाता है और बाल-तप से आत्म शुद्धि नही होती। अत तप के गूढ़ मर्म का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वह मर्म है कि तप करते रहने से आत्म बल बढ़ता रहे, विचार शुद्धि होती रहे तथा सत्कर्म-नियोजन सुदृढ़ बनता रहे। यदि तपस्या करने से आत्मशक्ति ही क्षीण लगे, दुर्ध्यान नियत्रित न हो सके तथा धर्म क्रिया मे प्रवृत्ति करना सुखकर प्रतीत न हो तो वैसी तपस्या से क्या लाभ ?

मै तप के स्वरूप एव उससे प्राप्त ऊर्जा की सार्थकता इस परिणाम मे मानता हूँ कि मेरा तप विषय एव कषायमय मेरी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो को उपशामित करे, पूर्व सचित कर्मों का विनाश करे तथा मेरे हृदय मे अपूर्व शान्ति का सचार करे। तप की अग्नि जितनी तेजस्वी हो, आन्तरिक शान्ति उतनी ही शीतल वनती जाय। मै मानता हूँ कि एक तपस्वी साधक को धृतिमान, सहनशील तथा क्षमाशील होना चाहिये।

देह-शुद्धि से आत्म शुद्धि तक

तपश्चरण से जहाँ देह के सातो धातुओं को तपाते है और उन्हे कृश बनाते है, वहाँ आत्मा के आठो कर्मो को भी नष्ट करते है। देह तपाराधन से जितनी क्षीण होती जाती है, इच्छाऍ उतनी ही क्षीण हो जाती है तथा तृष्णा भी जीर्ण हो जाती है। सच तो यह है कि तपाराधन का मूल उद्देश्य ही तृष्णा को जीर्ण करना है, क्यो कि सामान्यतया मनुष्य का जीवन जीर्ण हो जाता है लेकिन

उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। अत तपाराधन का देह पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यह कि सासारिक काम भोगो, विषय-कषायो तथा इच्छाओं को पूरी करने व भोगने का सबल सामर्थ्य ही इस देह मे नहीं बचता और आत्मा पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह अप्रतिम होता है। आत्मानुशासन ऐसा कठोर हो जाता है कि मन, इन्द्रियाँ और देह उससे रच मात्र भी बाहर नहीं निकल सकती है और तपस्वी आत्मा सदा धर्म और शुक्ल ध्यान मे निमग्न रहती है। इस प्रकार देह शुद्धि से आत्मशुद्धि तक की प्रक्रिया तपश्चरण से सफल बनती है।

यहॉ मै एक तथ्य पर और विचार कर लेना चाहता हूँ और वह तथ्य है आत्मा एव देह का पृथकत्व। अधिकाश लोगो की सामान्य समझ यही होती है कि आत्मा और देह मे कोई भेद नहीं है। जीवन है जब तक ये है और जीवन के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह भी माना जाता है कि आत्मा कुछ नही होती, यह देह पच भूत से बनती है तथा मृत्यु के उपरान्त वे ही पच भूत पच भूतो मे मिल जाते है। इस प्रकार आत्मा की अनश्वरता एव निरन्तरता तथा देह की नश्वरता के विन्दु सामान्य समझ मे स्पष्ट नहीं होते हैं। यो तो चेतन व जड़ का सयोग ही सासारिकता का मूल कारण है तथा दोनो के सर्वथा सम्वन्ध विच्छेद का नाम ही मोक्ष। किन्तु जीवनों की क्रमिकता एव निरन्तरता आत्मा एव देह की पृथकता पर टिकी हुई है। आत्मा अलग और देह अलग है। एक जीवन की समाप्ति पर वह देह नष्ट हो जाती है किन्तु आत्मा नया जीवन धारण करके नई देह अपना लेती है। यह सव उसके कर्म चक्र के अनुसार घटित होता है।

मै समझता हूँ कि आत्मा और देह के अलगाव की बात सामान्य समझ मे ठीक तरह से वैठ जाय, उसके लिये परदेशी राजा और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परदेशी राजा आत्मा और देह की पृथकता को नहीं मानता था और इस विश्वास के कारण वह घोर हिसामय पाप कार्यो मे लगा रहता था। एक वार महान् साधक केशीश्रमण बाहर के उद्यान मे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पधारे। राजा का सारथी चित्त अपने राजा को धर्म पथ पर मोड़ने को उत्सुक था अत नये घोड़ो की चाल दिखाने के बहाने वह परदेशी को उद्यान मे केशीश्रमण के पास ले चला गया। प्रवचन पर्षदा को देख कर राजा परदेशी की जिज्ञासा जगी और उसने केशीश्रमण से अपने प्रश्न किये तथा केशीश्रमण ने उनके उत्तर दिये, वे इस प्रकार के आशय के थे

(१) राजा—आत्मा और देह पृथक्-पृथक् है—मुझे यह मान्यता असत्य लगती है। प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा महाराजा भी दिन रात पाप कर्म मे लिप्त रहते थे, लेकिन मुझे वे बहुत ही प्यार करते थे। आप के अनुसार वे नरक मे होगे तो क्या वे मुझे आकर सावधान नहीं बनाते कि पाप मत करो, नरक मे भीषण यातनाएँ भोगनी पड़ती है। वे नही आये है इसलिए मेरी मान्यता सत्य है।

केशीश्रमण—अगर तुम अपनी पटरानी सूरिकान्ता के साथ किसी अन्य विलासी पुरुष को सासारिक भोग भोगते देख लो तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

राजा—मैं विना एक क्षण की भी देरी किये एक ही बार मे उसके प्राण ले लूगा।

केशी—अगर वह पुरुष कहे कि थोड़ी देर ठहर जाओ—मै अपने सम्वन्धियो को वता कर वापस आता हूँ कि दुराचार का फल ऐसा होता है। तो क्या तुम थोड़ी देर के लिये उसे छोड़ दोगे ?

राजा—ऐसे अपराधी को दण्डित करने मे मै तनिक भी देर नहीं रूकूगा।

केशी—जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने मे देरी नहीं करोगे—उसकी दीनता भरी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान नही दोगे, उसी तरह नरक के परमाधार्मिक देव नारकीय जीवो को निरन्तर यातनाएँ देते रहते है —क्षण भर भी नहीं छोड़ते। अत तुम्हारे दादा महाराजा आना चाहते हुए भी तुम्हे सावधानी दिलाने के लिये आ नहीं सकते है।

(२) राजा—मैं अब दूसरा प्रमाण देता हूँ। मेरी दादी श्रमणोपासिका और धर्माराधिका थी, दिन रात धार्मिक क्रियाओं मे लगी रहती थी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। आपके अनुसार वह स्वर्ग मे गई होगी और अगर आत्मा व देह पृथक हैं तो वही मुझे स्वर्ग से सावधान करने के लिए आ जाती कि पाप कार्य मत करो, नहीं करने से स्वर्ग के ऐसे सुख मिलते है। किन्तु वह भी नहीं आई। अत आत्मा और देह अलग-अलग नही है।

केशी —जब तुम नहा धोकर पवित्र वस्त्र पहिन कर किसी पवित्र स्थान मे जा रहे हो और तब कोई टट्टी मे बैठा पुरुष तुम्हे बुलावे तथा कुछ देर अपने साथ बातचीत करने का कहे तो क्या तुम जाओगे ?

राजा—उससे बात करने मै अपवित्र स्थान मे नहीं जाऊगा।

केशी—इसी तरह तुम्हारी दादी भी यहाँ आकर तुम्हे समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य लोक की दुर्गंध आदि के कारणो से यहॉ आने मे असमर्थ है।

(३) राजा—एक और उदाहरण सुनिये। एक बार एक चोर को मेरे सामने पेश किया गया। मैने उसे जिदा ही लोहे की कुभी मे डलवा दिया। मजबूत ढक्कन और पिघले सीसे से कुभी को पक्की बद कर दी। मेरे सिपाही भी उस का पहरा दे रहे थे लेकिन कुछ दिनो बाद कुभी खुलवाई गई तो चोर मरा हुआ पाया गया। आत्मा के उससे बाहर निकलने की तनिक भी कही गुजाइश नही थी अत आत्मा और देह एक ही है।

केशी—यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो—उसके दरवाजे वगैरा पक्के बद हो तथा चारो ओर से लिपी हुई हो। हवा तक के घुसने का कोई छेद नही हो। उस कोठरी मे कोई जोर-जोर से भेरी बजाएँ तो उसका शब्द बाहर निकलेगा। या नही ?

राजा—अवश्य निकलेगा।

केशी—उसी तरह आत्मा भी कुभी के बाहर निकल सकती है क्योकि वह तो शब्द तथा वायु से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

(४) राजा—आत्मा और देह को अभिन्न सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण देता हूँ। एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुभी मे डलवा कर उसे पक्की बद कर दी तथा सिपाहियो का पहरा भी लगा दिया। लेकिन कुछ दिन बाद उसे खुलवाई गई तो वह कीड़ो से भरी हुई थी। ये कीड़े बाहर से कैसे घुस गये ? वे तो उसी देह के अश थे। वे जीव बाहर से नहीं आये ?

केशी—तुमने आग मे तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा —आग उसके प्रत्येक अश मे प्रवेश कर जाती है। गोले मे कहीं छेद नही होता फिर वह आग भीतर कैसे घुस जाती है ? उसी तरह आत्मा अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

(५) राजा—धनुर्विद्या जानने वाला तरुण पुरुष एक साथ पाच बाण फैंक सकता है, लेकिन उसकी ऐसी होशियारी उसके बचपन मे नहीं होती। शरीर वृद्धि के साथ ही होशियारी आती है जिससे साफ है कि आत्मा और देह एक होते है।

केशी —वह तरुण पुरुष नया धनुष और नई डोरी लेकर ही पाच बाण एक साथ फैंक सकता है—पुराने धनुष व पुरानी डोरी से नही। यह उपकरण का प्रभाव है। वैसे ही बचपन मे धनुष की शिक्षा रूप उपकरण का अभाव होने से एक बालक वैसा नहीं कर सकता है। यह उपकरण के अभाव का प्रभाव है।

राजा—एक तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते के बड़े भार को उठा सकता है, लेकिन वही बूढ़ा हो जाने पर भार उठाना तो दूर—खुद भी लकड़ी के सहारे चलने लगता है। यदि आत्मा और देह पृथक होते तो वह बुढ़ापे मे भी भार उठाने मे समर्थ रहता।

केशी —इतने वड़े भार (कावड़) को तरुण पुरुष ही उठा सकता है लेकिन उसके पास भी वास फटा व कपड़ा गला हुआ हो तो क्या वह उस कावड़ को उठा सकेगा ? उसी प्रकार शारीरिक साधन की दुर्वलता से वृद्ध पुरुष वह भार नहीं उठा पाता है। इसमे आत्मा व देह के एक होने का कोई प्रश्न नहीं है।

(६) राजा—मैने एक चोर को जिदा हालत मे तोला और मारने के बाद फिर तोला, लेकिन वजन मे कोई फर्क नही आया। अगर आत्मा नाम की कोई वस्तु होती और वह निकलती तो उसके वजन की तो कमी होनी चाहिये थी।

केशी.—चमड़े की मशक मे हवा भर कर तोलो और फिर हवा निकाल कर तोलो—क्या वजन मे फर्क पड़ेगा ?

राजा—नही।

केशी.—आत्मा तो हवा से भी सूक्ष्म होती है क्योकि हवा गुरु-लघु है लेकिन आत्मा अगुरु-लघु है। अत यह प्रमाण भी व्यर्थ है।

राजा—आत्मा है या नहीं—यह देखने के लिये मैंने एक चोर को चारो ओर से जाचा-पड़ताला, कहीं आत्मा नही दिखी। उसके छोटे-छोटे टुकड़े करवा दिये तब भी कही आत्मा नही दिखी। इसलिये आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है।

केशी —तुम तो उस लकड़हारे के समान मूर्ख हो जो लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े करके उसमे आग खोजा करता है और आग न मिलने पर निराश हो जाता है। आत्मा देह के किसी खास अवयव मे नही रहती बल्कि सम्पूर्ण देह मे व्याप्त होती है। देह की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण होती है। अत आत्मा और देह की पृथकता स्वयसिद्ध है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रश्नोत्तर सरल एव सुबोध शैली मे आत्मा तथा देह की पृथकता को समझा देते हैं जो सामान्य समझ मे भी भलीभांति वैठ सकता है।

मैं मानता हूँ कि आत्मा एव देह की पृथकता का यह विंदु तपाराधन की आधार भित्ति है, क्योंकि मुख्य रूप से तप के दो प्रकार कहे गये हैं—वाह्य एव आभ्यन्तर। वाह्य तप के छ भेद है तथा आभ्यन्तर तप के भी छ भेद है, जो कुल मिलाकर वारह भेद होते है। वाह्य तप का अभिप्राय

(२) आयबिल—नमक मसाला व विगय रहित रोटी भात आदि को धोवण या उष्ण पानी मे डाल कर आहार करना आयम्बिल कहलाता है।

(३) आयामसिक्थभोजी—चावल आदि के पानी मे पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना।

(४) अरसाहार—नमक मिर्च आदि मसालो के विना रस रहित आहार करना।

(५) विरसाहार—जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(६) अन्ताहार—जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते है ऐसे चने चबीने आदि खाना।

(७) प्रान्ताहार—बचा हुआ आहार करना।

(८) रूक्षाहार—बहुत रूखा-सूखा आहार करना। इसे तुच्छाहार भी कहा गया है अर्थात् सत्त्व रहित तुच्छ एव नि सार भोजन करना।

(९) निर्विगय—तेल, गुड़, घी आदि विगमो से रहित आहार करना।

मै रस परित्याग तप को रसना—सयम के रूप मे देखता हू, इसलिये मानता हू कि घी आदि रसो का अधिक मात्रा मे सेवन नही करना चाहिये क्योकि प्राय करके रसो का सेवन मनुष्यो के मन मे काम का उद्दीपन करता है। वैसे उद्दीप्त मनुष्य की तरफ काम वासनाए ठीक उसी तरह से दौड़ी हुई चली आती हैं जिस तरह स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की तरफ पक्षी दौड़े आते है। पौष्टिक एव रसीला भोजन विषय वासनाओं को उत्तेजना देता है अत सयम साधक को ऐसे भोजन का सदा त्याग रखना चाहिये। सासारिकता का त्याग करने वाला साधु अगर स्वादवश स्वादिष्ट भोजन वाले घरो मे भिक्षा के लिये जाता है तो मानना होगा कि वह साधुत्व से बहुत दूर है। वह साधु नही, स्वादु होगा।

रस परित्याग तप उसे कहा गया है, जब साधु या साध्वी अशनादि का आहार करते समय, स्वाद के लिये ग्रास को मुह मे बाईं ओर से दाहिनी ओर तथा दाहिनी ओर से बाईं ओर न करे। इस प्रकार स्वाद का त्याग करने से साधु आहार विपयक लधुता— निश्चिन्तता प्राप्त करता है। जिह्वा को वश मे रखने वाले अनासक्त साधु को सरस आहार मे लोलुपता का त्याग करना चाहिये तथा स्वाद के लिये नही, सयम के निर्वाह मात्र के लिये ही भोजन करना चाहिये। स्वाद रहित नीरस भिक्षा पाकर भी साधु को उस की हीलना नही करनी चाहिये। जैसे पहिये को बरावर गति मे रखने के लिये धुरे मे तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार शरीर को सयम यात्रा के योग्य रखने के लिये ही साधु को आहार करना चाहिये। साधु कभी भी न स्वाद के लिये भोजन करे, न रूप के लिये, न वर्ण के लिये और न ही वल के लिये भोजन करे।

मेरे विचार से रसना जय ही आत्मजय का मूलाधार वनता है। इसी दृष्टि से रसनेन्द्रिय पर नियत्रण साधने के लिये आहार सम्वन्धी तपो का विविध एव विस्तृत प्रकार से निरूपण किया गया है। आहार जितना मित और सादा होता है, उतना ही सादा और सीधापन विचारो मे रहता है तथा देह-मोह भी घेरता नही है। रस परित्याग तप की कठिनता का यही कारण है। स्वाद को जीत लेने

से आचरण सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का स्वत· ही समाधान निकल आता है और संयम साधना को बहुत बल मिलता है।

देह-मोह से दूर

देह-मोह को सर्वथा दूर कर लेने का कठिन तप मै मानता हू छठे प्रकार के कायाक्लेश तप को। शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को कष्टक्लेश पहुंचाना कायाक्लेश तप है। उग्र वीरासन आदि आसनो का सेवन करना, केशलोच करना, शरीर की शोभा सुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश तप के अनेक प्रकार होते हैं।

यो कायाक्लेश तप के तेरह भेद कहे गये हैं—

(१) स्थानस्थितिक (ठाणट्ठिए)—एक स्थान पर ठहर कर कायोत्सर्ग करना ध्यानावस्थित होकर रहना।

(२) स्थानातिग (ठाणाइये)—आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(३) उत्कुटुकासनिक (उक्कुडुयासणिए)—उक्कुडु आसन से बैठना।

(४) प्रतिमास्थायी (पडिमट्ठाई)—एक मास की या दो मास की पड़िमा आदि स्वीकार करके विचरण करना।

(५) वीरासनिंक (वीरासणिए)—सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है, वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

(६) नैषेधिक (नेसज्जिए)—निषेद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठना।

(७) दडायतिक (दडायए)—लम्बे डंडे की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना।

(८) लुगडशायी—इस आसन मे पैरो की दोनो एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगते है तथा बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहता है अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहता है और बाकी सिर-पैर आदि सारा शरीर जमीन से ऊपर रहता है। इस प्रकार के आसन से तप करना।

(९) आतापक (आयावए)—शीतकाल मे शीत मे बैठकर और ऊष्ण काल मे सूर्य की प्रचंड गर्मी मे बैठकर आतापना लेना। इस आतापना के तीन भेद हैं · (१) निष्पन्न—लेट कर ली जाने वाली आतापना। तीन प्रकार—(अ) अधोमुखशायिता—नीचे की ओर मुख करके सोना। (ब) पार्श्वशायिता—पार्श्वभाग—पसवाड़े से सोना व (स) उत्तानशायिता—समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना। (२) अनिष्पन्न—बैठकर आसन विशेष से आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) गोदोहिका—गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है, वह गोदोहिका आसन है। इस प्रकार के आसन से बैठकर आतापना लेना। (ब) उत्कुटासनता—उक्कुडु आसन से बैठकर आतापना लेना। (स) पर्यंकासनता—पलाथी मार कर बैठना। (३) ऊर्ध्वस्थित—खड़े रहकर आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) हस्तिशौंडिका—हाथी की सूड की तरह दोनो हाथों को नीचे की ओर सीधे लटका कर खड़े रहना और आतापना लेना। (ब) एकपादिका—एक पैर पर खड़े रहकर आतापना लेना। (स) समपादिका—दोनों पैरों को बराबर रख कर आतापना लेना। इन निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीन भेदो के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और भी हो जाते है।

(१०) अप्रावृतक (अवाडइए)—खुले मैदान मे आतापना लेना।

(११) अकंडूयक—शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

(१२) अनिष्ठीवक—निष्ठीवन (थूकना आदि) न करते हुए आतापना लेना।

(१३) धुतकेशश्मश्रुलोम (धुयकेसमसुलोम)—दाढ़ी—मूछ आदि के केशो को न सवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोड़कर आतापना लेना।

मै कायाक्लेश तप का मूल अभिप्राय यह समझता हूँ कि विविध प्रकार से शरीर को विवेकपूर्वक ऐसे कष्ट दिये जाय जिससे एक ओर तो उसकी कष्ट सहिष्णुता बढ़ जाय और दूसरी ओर देह मोह की वृत्ति दुर्बल होती जाय। ऐसा कठिन तप आत्म बल की अपूर्व निष्ठा के साथ ही सफल बनाया जा सकता है। मै ऐसे तप की आराधना करूगा और शरीर के प्रति अपने प्रगाढ़ ममत्त्व को मन्दतर बनाता जाऊंगा।

तप जितेन्द्रियता का

मेरा विचार है कि देह मोह की मन्दता के साथ इन्द्रियो की उद्दीपक शक्ति स्वयं ही नष्ट होने लगती है। फिर भी जिस प्रकार कछुआ अपने को सुरक्षित करने के लिए अपने ढालनुमा ढाचे मे सकुचित हो जाता है, उसी प्रकार से इन्द्रियो का गोपन करना आवश्यक होता है ताकि काम भोगो की वृत्तियाँ उन्हे किसी प्रकार का आघात न पहुँचा सके। इन्द्रियो का गोपन करना ही छठे प्रकार का प्रतिसलीनता का तप कहलाता है और इसी तप की सम्यक् आराधना से जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय-जयी बना जा सकता है। वस्तुत इन्द्रिय-जयी ही आत्म-जयी होता है।

प्रतिसलीनता तप के चार भेद बताये गये हैं

(१) इन्द्रिय प्रतिसलीनता—शुभ अथवा अशुभ विषयो अर्थात् भोग वृत्तियो मे रागद्वेष के भावो को छोड़ कर इन्द्रियो को वश मे करना इन्द्रिय प्रतिसलीनता का तप कहलाता है। शुभ विषय मे राग न हो तथा अशुभ विषय मे द्वेष नहीं आवे तो तटस्थ वृत्ति का विकास होगा एव जीवन में समभाव प्रभावी बनेगा।

(२) कषाय प्रतिसलीनता—क्रोधादि कषायो का अपने भावो मे उदय न होने देना तथा जो कषाय भाव उदय मे आ गये हो उन्हे विफल कर देना कषाय प्रतिसलीनता का तप है। जब इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न सफल बनने लगता है तो कषाय भावो का निरोध भी अधिक श्रमसाध्य नहीं रहता।

(३) योग प्रतिसलीनता—अकुशल मन, वचन, काया के व्यापारो को रोकना तथा कुशल व्यापारो मे उदीरणा (प्रेरणा) करना योग प्रतिसलीनता का तप होता है। अशुभता अकुशलता होती है तथा शुभता कुशलता, अत अशुभ व्यापार वृत्ति से मन, वचन, काया को शुभ व्यापार वृत्ति मे लाना तथा उन्हे वहीं बनाये रखना इस तप का मुख्य उद्देश्य होता है।

(४) विविक्त शय्यासनता—स्त्री, पशु और नपुसक से रहित एकान्त स्थान मे रहना यह विविक्त शय्यासनता का प्रतिसलीनता तप होता है। इसका अभिप्राय यह है कि काम ससर्गजनितता का कोई दोष तपाराधक को नही लगे।

इस तप के ये मुख्य चार भेद होते हैं जो अवान्तर से तेरह भी बताये गये हैं · इद्रिय प्रति संलीनता के पाच—(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसलीनता—श्रोत्रेन्द्रिय को उसके विषयो की ओर जाने से

रोकना तथा श्रोत्र द्वारा गृहीत विषयो मे राग द्वेष न करना। (२) चक्षुरिन्द्रिय प्रति संलीनता-आंखो को उनके विपयो की ओर प्रवृत्ति करने से रोकना एव आखो द्वारा ग्रहण किये गये विषयो मे राग अथवा द्वेष के भाव नहीं लाना। (३) घ्राणेन्द्रिय प्रतिसलीनता—गध के विषयो का निरोध एवं तटस्थता। (४) रसनेन्द्रिय प्रतिसलीनता—रसना के स्वादविपयो पर निग्रह रखना तथा मनोज्ञ एव अमनोज्ञ पर राग द्वेष नही करना। (५) स्पर्शेन्द्रिय प्रतिसलीनता—स्पर्श विषयो मे प्रवृत्त नही होना तथा राग द्वेप नही करना। कषाय प्रतिसलीनता के चार (६) क्रोध प्रतिसलीनता—उदय मे आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। (७) मान प्रतिसलीनता—मान कषाय पर नियत्रण रखना अर्थात् अहकार को निष्फल कर देना। (८) माया प्रतिसलीनता —माया के अशुभ भावो को रोकना व विफल करना। (९) लोभ प्रतिसलीनता—उदयित लोभ को निष्फल कर देना। योग प्रतिसलीनता के तीन (१०) मन प्रतिसलीनता—मन की अकुशल प्रवृति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति कराना तथा चित्त को एकाग्र-स्थिर वनाना। (११) वचन प्रतिसलीनता—अकुशल वचन को रोकना, कुशल वचन वोलना तथा वचन को स्थिर करना। (१२) काय प्रतिसलीनता—अच्छी तरह समाधिपूर्वक शान्त होकर हाथ पैर सकुचित करके कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय होकर आलीन प्रलीन अर्थात् स्थिर होना काय प्रतिसलीनता है। (१३) विविक्त शय्यासनता—स्त्री, पशु और नपुसक से रहित स्थान मे निर्दोष शयन आदि उपकरणो को स्वीकार करके रहना। आराम, उद्यान आदि मे सथारा अगीकार करना भी विविक्त शय्यासनता है।

मै चिन्तन करता हूँ कि प्रति सलीनता तप का आचरण वहुत महत्त्वपूर्ण है। काम भोगो के प्रति आकृष्ट होने वाली इन्द्रियाँ होती हैं और उनकी लिप्तता के साथ ही कषायो की उत्पत्ति होती है। असल मे विषय के साथ कषाय जुड़ी हुई रहती है और उससे राग द्वेष के घात—प्रतिघात शुरू हो जाते है। इनके कुप्रभाव से त्रिविध योग व्यापार की शुभता समाप्त होने लगती है। इस प्रकार जहाँ याने कि जिस आत्मा मे विषय-कषाय का प्रावल्य हो जाता है तथा योग व्यापार निरन्तर अशुभता मे भ्रमित होता रहता है, उस आत्मा का अध पतन होता रहता है। इस दृष्टि से मै प्रतिसलीनता तप के महत्व को आकता हूँ कि इसकी कठिन आराधना से इन्द्रियो, कषायो तथा योगो पर सफल नियत्रण साधने का यत्न किया जाता है।

मेरी धारणा वनती है कि प्रतिसलीनता का तप वास्तविक रूप मे जितेन्द्रियता का तप होता है जो कामाग रूप इन्द्रियो को वश मे करता है तो उस निग्रह के प्रभाव से कषायो एव योग व्यापारो पर जागृत आत्मा का नियत्रण स्थापित करता है। जव विषय और कषाय मन्दतम हो जाते है तथा मन, वचन काया का योग व्यापार अधिकाशत शुभता मे ही रमण करता है, तव आत्म विकास की महायात्रा का एक महत्त्वपूर्ण चरण सम्पन्न हो गया है—ऐसा मानना चाहिये।

ये उपरोक्त छ प्रकार के तप मुक्ति प्राप्ति के वाह्य अग रूप है। इन्हे वाह्य द्रव्य आदि की अपेक्षा रहती है तथा ये तप प्राय करके वाह्य शरीर को ही अधिक मात्रा मे तपाते है। इन तपो की आराधना का शरीर पर विशेप असर पड़ता है तथा शरीर मे आत्मिक ओज समा जाता है जो तेज रूप मे वाहर परिलक्षित होता है। इन छ प्रकारो को वाह्य तप इसलिये भी कहा गया है कि इन तपो का सफल आराधक लोक मे तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। वैसे आभ्यन्तर एव वाह्य उभय तप विशेप परस्पर सापेक्ष है। वाह्य तप मे आभ्यन्तर तप गौण भाव मे रहता है और

आभ्यतर तप मे वाह्य गौण भाव मे। एक दूसरे का परस्पर घनिष्ठ सबध है उभय प्रकार के तप यथा स्थान आत्म शुद्धि मे सहायक है। शब्द श्रवण मात्र से एक दूसरे को उपेक्षित नही किया जा सकता।

प्रायश्चित से पाप शुद्धि

प्रायश्चित—यह तपो के आभ्यन्तर वर्ग का पहला तथा पूरे क्रम मे सातवा तप है। मूलत आभ्यन्तर तपो का सम्बन्ध आत्मा के भावो से जुड़ा रहता है तथा इनका आचरण अधिकाशत भीतर ही भीतर चलता है। प्रायश्चित दो शब्दो से मिल कर बना है—प्राय अर्थात् पाप और चित्त का अर्थ है शुद्धि अर्थात् पापो से शुद्धि का नाम प्रायश्चित है और इस कारण यह आभ्यन्तर तप है। जिससे मूल गुण एव उत्तर गुण विषयक अतिचारो से मलिन तथा अनादिकालीन पाप स्थानो से मलीन आत्मा अपनी आत्म शुद्धि करले—उसे प्रायश्चित तप कहा है। इस तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ सलग्न पाप रूपी मैल धुल जाता है तथा उसका स्वरूप शुद्ध हो जाता है।

मै सोचता हूँ कि यह प्रायश्चित का तप बड़ा प्रभावकारी होता है क्योकि मनुष्य अनजाने मे भी भूले करता है तो जानकर भी भूले करता है और उसका प्रमुख कारण होता है सासारिक काम भोगो का आकर्षण। यह आकर्षण विविध रूप से कषायो को जगाता है और मनुष्य को प्रमादग्रस्त बनाता है। इस रूप मे वह भूले करता है किन्तु भूले करके भी यदि वह बाद मे शुद्ध हृदय से प्रायश्चित कर ले और आगे से वैसी भूले न करने का सकल्प ले ले तो उसकी आत्म शुद्धि हो जाती है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया मे उसकी करणीयता बनी रहे तो वह पाप मुक्त हो सकता है। प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर उसे दूर करने के लिए जो आत्मालोचना एव तपस्या विधि पूर्वक की जाती है, वही प्रायश्चित का तप है। इसके आठ भेद वताये गये है

(१) आलोचना के योग्य अर्थात् जिन पापपूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की शुद्धि अपनी आलोचना के द्वारा हो जाय।

(२) प्रतिक्रमण के योग्य अर्थात् जिनके शुद्धि करण के लिए प्रतिक्रमण करना पड़े और उन पापपूर्ण वृत्ति प्रवृत्तियो को पुन न दोहराने का सकल्प लिया जाय।

(३) आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य अर्थात् उनके लिये आत्मालोचना एव पुन न दोहराने का सकल्प दोनो करने हो।

(४) विवेक अशुद्ध भक्त पानादि परिठवने योग्य अर्थात् विवेक को अशुद्ध वनाने वाले खाद्य व पेय पदार्थो को परठा दिया जाय।

(५) कायोत्सर्ग के योग्य अर्थात् देह मोह को सर्वथा विसार कर ध्यानावस्था मे ठहरा जाय।

(६) तप के योग्य अर्थात् उनके लिये प्रायश्चित तपश्चरण के साथ किया जाय।

(७) दीक्षा पर्याय का छेद करने योग्य अर्थात् पापपूर्ण वृत्तियो एव प्रवृत्तियो की अशुभता ऐसी गहरी हो कि साधु के दीक्षा काल मे दडस्वरूप कमी की जाय।

(८) मूल के योग्य अर्थात् फिर से महाव्रत लेने के योग्य। वह अशुभता अति प्रगाढ़ हो कि जिससे साधुत्व ही समाप्त हो जाय। इसके दड स्वरूप जो प्रायश्चित लिया जाता है वह नई दीक्षा के रूप मे लिया जाता है।

अन्य अपेक्षा से प्रायश्चित तप के पचास भेद भी किये गये हैं

(१) मूल प्रायश्चित दस प्रकार का—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य, मूल के योग्य, अणवट्टप्पारिहे (तप के बाद दुबारा दीक्षा देने योग्य) पारचियारिहे (गच्छ से बाहर करने योग्य)।

(२) प्रायश्चित देने वाले के दस गुण—वह आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक (लज्जित शिष्य की मधुरता से लज्जा दूर करके आलोचना कराने वाला), प्रकुर्वक (आलोचित अपराध का प्रायश्चित देकर अतिचारो की शुद्धि कराने मे समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचना करने वाले के दोषो को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला) निर्यापक (अशक्त साधु को थोड़ा थोड़ा प्रायश्चित देकर निर्वाह करने वाला) अपायदर्शी (आलोचना नही लेने मे परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला) प्रियधर्मा (धर्म प्रेमी) तथा दृढ़धर्मा हो।

(३) प्रायश्चित लेने वाले के दस गुण—वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षमावान्, दान्त (इन्द्रियो का दमन करने वाला), अमायी (निष्कपटी) तथा अपश्चातापी हो।

(४) प्रायश्चित के दस दोष—आकपयित्ता (प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित देंगे—यह सोच कर उसे सेवा से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना) अट्ठमाणइत्ता (बिल्कुल छोटा अपराध वताने से थोड़ा दड देंगे यह हमे सोचकर अपराध को छोटा करके बताना) दिट्ठ (जिस अपराध को आचार्य ने शुरू किया हो उसी की आलोचना करना) वापक (सिर्फ बड़े बड़े अपराधो की आलोचना करना) सुहुम (जो अपने छोटे छोटे अपराधो की भी आलोचना कर देता है, वह बड़े अपराधो को कैसे छोड़ सकता है—यह विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ छोटे-छोटे अपराधो की आलोचना करना) छिन्न (अधिक लज्जा के कारण प्रछन्न स्थान मे आलोचना करना) सद्दालु अय (दूसरो को सुनाने के लिए जोर जोर से आलोचना करना) बहुजण (एक ही अतिचार की कई गुरुओं के सामने आलोचना करना) अव्वत्त (साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित दिया जाता है—इसका पूरा ज्ञान नहीं हो उसके सामने आलोचना करना) एव तस्सेवी (जिस दोष की आलोचना करनी हो उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना।

(५) दोष प्रतिसेवना के दस कारण—दर्प-अहकार, प्रमाद, अनाभोग (अज्ञान), आतुर (पीड़ा की व्याकुलता) आपत्ति (द्रव्य क्षेत्र काल भाव सम्बन्धी) सकीर्ण (सकुचित स्थान अथवा शकित दोष) सहसाकार (अकस्मात्) भय, प्रद्वेष, विमर्श।

प्रायश्चित का पहला उद्देश्य जब पाप शुद्धि होता है तो मैं मानता हूँ कि इस तप की आराधना पूर्ण शुद्ध हृदय से की जानी चाहिये। प्रायश्चित के साथ मायाचार कतई योग्य नही होता है। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य हृदय मे कपट को स्थान देकर बाहर निम्न कारणो से प्रायश्चित करने का ढोग दिखाता है (१) निन्दा और अपमान से वचने के लिए (२) उपपात की गर्हा वचाने के लिए (३) मनुष्य जन्म की गर्हा बचाने के लिए (४) विराधक न समझे जाने के लिए (५) आराधक होना दिखाने के लिए (६) आलोचना करना दिखाने के लिए (७) अपने को दोषी न दिखाने के लिए तथा (८) मायावी नहीं समझे—इस भय के लिये। किन्तु ऐसा भी होता है कि

मनुष्य मायावी आचरण करते हुए भी उसकी कैसी भी आलोचना नहीं करता, दोष के लिये प्रतिक्रमण नही करता, आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं करता, गुरु के समक्ष आत्मगर्हा नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नहीं होता, शुभ विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कीचड़ को नहीं धोता, भूल को दुबारा नहीं करने का निश्चय नहीं करता तथा दोष के लिये उचित प्रायश्चित नहीं लेता। उसकी ऐसी प्रायश्चितहीन मनोवृत्ति के ये आठ कारण बताये गये हैं जो त्याज्य हैं—(१) वह यह सोचता है कि जब मैंने अपराध कर लिया है तो अब उसका प्रायश्चित क्या करना? (२) अब भी मैं उस अपराध को कर रहा हू और निवृत्ति नही तो आलोचना कैसी? (३) मैं उस अपराध को फिर करूगा तब आलोचना क्यो? (४) आलोचना करने से अपकीर्ति होगी वरना अपराध को कौन जानता है? (५) अवर्णवाद या अपयश (चारो ओर) होगा। (६) पूजा सत्कार मिट जायगा (७) कीर्ति मिट जायगी तथा (८) यश मिट जायगा।

मैं अपने अपराध को अपराध समझते हुए भी प्रायश्चित न करू अथवा मायाचार के साथ प्रायश्चित करू—यह कतई योग्य नही है क्योंकि प्रायश्चित तभी सफल होता है जब शुद्ध हृदय से संचित पाप का छेदन किया जाय। मेरा प्रायश्चित तप का कृत्य अपने अपराध से मलिन चित्त को शुद्ध बनाने वाला होना चाहिये। चित्त की अशुद्धि न मिटे और प्रायश्चित का मात्र ढोंग किया जाय—उससे हृदय की अशुद्धि और अधिक बढ़ जाती है। मै अपनी चित्त—शुद्धि के लिये निम्न रूप मे चार प्रकार से प्रायश्चित करता हू—(१) ज्ञान प्रायश्चित —पाप को छेदने एव चित्त को शुद्ध करने वाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित रूप है—ऐसा चिन्तन करना ज्ञान प्रायश्चित होता है। ज्ञान के अतिचारो की शुद्धि के लिये विधिसम्मत आलोचना करना इस तप की आराधना करना है।

(२) दर्शन प्रायश्चित—इसी प्रकार दर्शन के सम्वन्ध में आलोचना करना।

(३) चारित्र प्रायश्चित—इसी प्रकार चारित्र के सम्बध मे आलोचना करना।

(४) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित—गीतार्थ मुनि छोटे बड़े का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप—विशोधक है। इसलिये व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित होता है।

प्रायश्चित के अन्य भेद से भी चार प्रकार कहे गये हैं—

(१) प्रतिसेवना प्रायश्चित—निषिद्ध अथवा अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना कहलाता है, उसका जो आलोचना रूप प्रायश्चित होता है, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित है।

(२) सयोजना प्रायश्चित—एक जातीय अतिचारो के मिल जाने को सयोजना कहते है। जैसे कोई साधु शय्यातर पिड लाया, वह भी गीले हाथो से और उसे भी कोई सामने लेकर आया तथा वह भी आधाकर्मी। अत· जुड़े हुए इन सभी अतिचारो का प्रायश्चित सयोजना प्रायश्चित है।

(३) आरोपणा प्रायश्चित—एक अपराध का प्रायश्चित करने पर बार बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित का आरोप करना आरोपणा प्रायश्चित है। जैसे एक अपराध के लिये पांच दिन (उपवास) का प्रायश्चित आया। फिर उसी के सेवन करने का दस दिन का। फिर उसको सेवन करने का पन्द्रह दिन का। इस प्रकार छ मास तक लगातार प्रायश्चित देना। (छ मास से अधिक तप का प्रायश्चित नही दिया जाता है।)

(४) परिकुचना प्रायश्चित—द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुचना है। इसका प्रायश्चित परिकुचना प्रायश्चित कहलाता है।

किसी पर झूठा कलक लगाने को अतीव ही जघन्य माना गया है, बल्कि उसके लिये उतने ही प्रायश्चित का निर्देश दिया गया है कि जितना स्वय उस कृत्य को करने से लिया जाना चाहिये। निम्न छ· बातो मे झूठा कलक लगाने वाले को उतना ही प्रायश्चित आता है, जितना उस दोष के स्वय वास्तविक सेवन करने पर आता है—(१) हिसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिसा का दोष लगाना। (२) झूठ न बोलने पर भी झूठ बोलने का दोष लगाना (३) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष लगाना (४) ब्रह्मचर्य का भग नही करने पर भी दुराचार का दोष लगाना (५) झूठमूठ कह देना कि कोई हिजड़ा है या (६) झूठमूठ कह देना कि कोई क्रीत दास है।

विनय : धर्म का मूल

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि विनय धर्म का मूल होता है—विनय की जड़ पर ही आत्म-धर्म फूलता फलता है। मैं विनय का अर्थ लेता हू, विशेष रूप से झुकना नम्र बनना। क्यो झुकना? इसलिये कि विनय रूप क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने का पुष्ट हेतु उत्पन्न करना। इसमे सम्माननीय, गुरुजनो के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हे आसन देना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना आदि ऐसे सभी शुभ कार्य सम्मिलित है।

मै मानता हू कि विनीत पुरुष ही सयमवन्त होता है और जो विनय रहित होता है, वह न तो सयम का सम्यक् रीति से पालन कर सकता है और न ही तप का आराधन। जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इगित तथा आकारो को समझता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है। जैसे ससार मे सुगध के कारण चन्दन, सौम्यता के कारण चद्रमा और मधुरता के कारण अमृत प्रिय होता है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य लोक प्रिय बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष विनय का माहात्म्य समझ कर विनम्र बनता है। इससे लोक मे उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानो का उसी प्रकार आधार रूप होता है जिस प्रकार यह पृथ्वी प्राणियो के लिये आधार होती है। विनीत शिष्य क्रोधी गुरु को भी अक्रोधी बना देता है।

विनय के मूल सात भेद बताये गये है जिसके अवान्तर से १३४ भेद होते हैं। वे इस प्रकार है —(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) मन विनय (५) वचन विनय (६) काया विनय तथा (७) लोकोपचार विनय। १३४ अवान्तरभेद (१) ज्ञान विनय के पाच—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान। (२) दर्शन विनय के दो—सुश्रूषा व अनाशातना। सुश्रूषा विनय के दस भेद—अभ्युत्थान, आसनाभिग्रह, आसन प्रदान, सत्कार, सम्मान, कीर्तिकर्म, अजलिप्रग्रह, अनुगमनता, पर्यूपासनता व प्रतिससाधनता। अनाशातना विनय के ४५ भेद—अरिहन्त, अरिहन्त प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, सामोगिक, क्रियावान्, मतिज्ञानवान्, श्रुतज्ञानवान्, अवधि ज्ञानवान्, मन पर्ययज्ञानवान् एव केवल ज्ञान्वान्—इन पन्द्रह की आशातना नहीं करने याने इनका विनय करने, भक्ति करने और गुणग्राम करने रूप ४५ भेद हो गये। (३) चारित्र विनय के पाच भेद—सामायिक, छेदो पस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय, यथारचात चारित्र— इन पाचो प्रकार के चारित्रधारियो का विनय करना। (४) मन विनय के दो भेद —प्रशस्त मन एव अप्रशस्त मन। अप्रशस्त मन विनय के बारह

है कि देह शुद्धि हो और आभ्यन्तर तप का उद्देश्य आत्मशुद्धि है। दोनो स्थानो मे शुद्धि का अर्थ है कि सासारिक विषय-कषायो का मैल साफ हो जाय। देह का यह मैल तब तक साफ नही होता जब तक कि शारीरिक शक्ति उन भोगो को भोगने मे लगी रहती है, अत उनसे विरत होने के लिए बाह्य तप का सेवन किया जाता है ताकि अशुभता मे लगने वाली देह की तथा उसके माध्यम से इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाय। देह शुद्धि के साथ-साथ आत्म शुद्धि का कार्य भी चलता रहना चाहिये। आभ्यन्तर तपो का आचरण भीतरी विचारो का मैल साफ करता है। वृत्तियो की शुद्धि के साथ प्रवृत्तियो की शुद्धि एव प्रवृत्तियो की शुद्धि से वृत्तियो की शुद्धि का क्रम तपाचरण से क्रमश चलता रहना चाहिये। इस शुद्धि क्रम मे आत्मा एव देह की पृथकता का विन्दु इस कारण से महत्त्वपूर्ण है कि सामान्य रूप से मनुष्य का अपनी देह पर अत्यधिक ममत्त्व होता है। यहाँ तक कि वह कई बार देह को ही 'स्वय' मानकर चलने लगता है तथा देह के सुख के लिए सभी प्रकार के कार्य-अकार्य करने पर उतारू हो जाता है। अत इस बिन्दु की स्पष्टता के बाद उसकी यह धारणा बन जानी चाहिये कि देह वह 'स्वय' नहीं है, वह 'स्वय' तो आत्मा है। इस कारण देह उससे पृथक् है। और इसी कारण देह का पोषण आत्मा का पोषण नहीं है, बल्कि स्थिति इसके एकदम विपरीत है। देह का पोषण कम किया जायेगा—उस पर से अपने ममत्त्व को घटाया जायेगा, तभी वास्तविक रूप से आत्मा का पोषण प्रारभ होगा। देह मोह जितने अशो मे मिटेगा, उन्ही अशो मे आत्म स्वरूप की विशेष रूप से अनुभूति होगी। यही आत्मानुभूति तथा उसकी परिपुष्टता तपाराधन का प्रधान लक्ष्य है।

जब मै भली भाति यह समझ लूगा कि मैं देह नही हूँ, अपितु आत्मा हूँ तथा देह एक रूप से आत्मा के लिए बधन है जो कामणि देह के रूप मे आत्मा को बाधे रखती है तथा इसी के फलस्वरूप आत्मा बार-बार भिन्न-भिन्न देहो के चोले मे बधती है, तभी मेरा देह-मोह घट और मिट सकेगा। बाह्य प्रकार के तप इसी देह मोह को क्षीणतर करते रहने के अनुष्ठान है। देह मोह की क्षीणता के बाद ही आत्मस्वरूप की अनुभूति प्रबल बनती है, जो आभ्यन्तर प्रकार के तपाचरण से प्रवलतर होती हुई चली जाती है।

मै यह भी मानता हूँ कि इस रूप मे समग्र तपश्चरण की कठोरता ज्यो-ज्यो बढ़ती जाती है, त्यो-त्यो कार्मण शरीर टूटता जाता है याने कि कर्मक्षय का क्रम चल जाता है। तपश्चरण सम्पूर्ण कर्म क्षय का आधार शास्त्र है। मैंने नव तत्त्वो के स्वरूप-विश्लेषण से जाना है कि बध तत्त्व जहाँ आश्रव तत्त्व के द्वार से कर्मों का आगमन और बध कराता है, वहॉ सवर तत्त्व की आराधना बाहर से आने और बधने वाले कर्मों को रोक देती है। तव समस्या रह जाती है पूर्व सचित कर्मों को नष्ट करके आत्मा को सम्पूर्ण स्वरूप से निर्मल बना लेने की। यह निर्जरा तत्त्व होता है जिसकी साधना से पूर्वोपार्जित कर्म नष्ट किये जाते है। यह निर्जरा की साधना ही तपाराधना है।

इस रूप मे तप के वाह्य छ एव आभ्यन्तर छ कुल बारह प्रकार क्रमश निम्नानुसार होते है

(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (४) रस परित्याग (५) कायाक्लेश (६) प्रतिसलीनता (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान तथा (१२) व्युत्सर्ग।

तपो का यह क्रम एक दूसरे से उच्चतरता का आपेक्षिक क्रम है —बाह्य भेद मे भी और आभ्यन्तर भेद मे भी। अनशन सम्पूर्ण आहार त्याग होता है और ऊनोदरी मे अल्प या मित आहार लिया जाता है तब भी ऊनोदरी तप अनशन की तुलना मे उच्चतर माना जाता है क्योंकि कुछ न खाने की अपेक्षा भूख से कम खाने की कठोरता अधिक होती है। इसी प्रकार उच्चतरता का क्रम आगे से आगे होता है। भूख से कम खाने की अपेक्षा मान मोड़कर भिक्षा माग कर लाना और खाना अधिक कठिन होता है जबकि उससे भी अधिक कठिन सारे रस छोड़कर शुष्क (सूखा) खाना खाना। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप-क्रम मे भी प्रायश्चित सबसे कम कठोर माना गया है जो अपने अकृत्य के प्रति खेद का अनुभव कराता है। उससे उच्चतर होता है विनय—अपनी सम्पूर्ण वृत्तियो मे से अभिमान को निकाल फैकना और नम्रता की प्रतिमूर्ति बन जाना। इसके बाद क्रमश वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान के तप आते है सर्वोच्च तप है व्युत्सर्ग, जिसका अर्थ होता है सासारिकता के सम्पूर्ण मोह का सर्वथा त्याग। इसमे शरीर तक का त्याग सम्मिलित होता है।

मैं तपश्चरण के इस क्रम को अनूठा मानता हूँ क्योकि कई मान्यताओं का तप तो अनशन तक ही सिमट कर रह जाता है जवकि वीतराग देवो ने अनशन को मात्र प्राथमिक तप माना है और वह भी बाह्य-शरीर से सम्वन्धित। बाह्य एव आभ्यन्तर प्रकारो मे यही अन्तर है कि बाह्य तप देह शुद्धि से प्रारभ होते है तथा आत्म शुद्धि का धरातल तैयार करते है तथा आभ्यन्तर तप आत्म शुद्धि से प्रारभ होकर उसकी परम शुद्धि तक पहुँचते है तथा उनका प्रभाव शरीर मे तेज एव ओज के रूप मे प्रकट होता है।

मै साधना के इस श्रेष्ठ अग—तपश्चरण पर जितना अधिक चिन्तन करता हूँ, उतनी ही गूढ़ता मेरे मन मे गहराती जाती है जैसे कि उस गूढ़ता का कही ओर-छोर ही न हो। इस कारण मैं जरूरी समझता हूँ कि तप के एक-एक प्रकार पर विस्तृत रूप से सोचूं तथा उनके आत्मप्रेरित आचरण मे निष्ठा का सचय करू। यह विस्तृत विश्लेषण मेरे विचार को स्पष्टता देगा तो मेरे आचार को भी परिपुष्ट बनायगा, ताकि मै अपनी आत्म विकास की इस महायात्रा मे त्वरित गति से आगे बढ़ सकू।

आहार-त्याग रूप अनशन

मै मानता हूँ कि शरीर और आत्मा को तपाना ही तप है। जैसे अग्नि मे तपा हुआ सोना पूर्ण निर्मल होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि मे तपी हुई देह और आत्मा मल से रहित होकर शुद्ध-स्वरूप हो जाती है।

तपश्चरण के इस क्रम मे पहला है अनशन तप। आहार का त्याग करना अनशन तप है। इसके दो भेद कहे गये हैं—(१) इत्वर—एक दिन के उपवास से लेकर छ मास तक का अनशन तप इत्वर अनशन है। (२) यावत्कथित भक्त परिज्ञा, इगित मरण और पादोपगमन मरण रूप अनशन यावत्कथित अनशन है। इसे मरण-काल अनशन कह सकते है।

इत्वरिक अनशन मे भोजन की आकाक्षा रहती है, इसलिये इसे साकाक्ष अनशन भी कहते हैं, जवकि मरण काल अनशन (सथारा) जीवन पर्यन्त के लिये होता है। उसमे भोजन की कतई आकाक्षा नही रहती, इस कारण वह नि काक्ष अनशन भी कहलाता है।

इत्वरिक अनशन छ प्रकार का कहा गया है -(१) श्रेणी तप—श्रेणी का अर्थ होता है क्रम या पक्ति। उपवास, वेला, तेला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप है जो क्रमिक रूप से

उपवास से लेकर छ मास तक का होता है। (२) प्रतर तप—श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर तप कहलाता है। जैसे, उपवास, बेला, तेला और चौला इन चार पदो की श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर सोलह पद होते है। प्रतर का आयाम विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) मे बराबर होता है। प्रतर की स्थापना की विधि इस प्रकार है —प्रथम पक्ति मे एक दो तीन चार रखना। दूसरी पक्ति दो से आरभ करना और तीसरी व चौथी क्रमश' तीन व चार से आरभ करना। इस प्रकार रखने मे पहली पक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेगी। जिन्हे यथायोग्य आगे की सख्या और फिर क्रमश बची हुई सख्या रख कर पूरी करना चाहिये। स्थापना यह है— १, २, ३, ४, (२) २, ३, ४, १ (३) ३, ४, १, २ तथा (४) ४, १, २, ३। (३) घन तप—प्रतर को श्रेणी से गुणा करना घन है। यहाँ सोलह को चार से गुणा करने पर आई हुई चौसठ की सख्या घन है। घन से युक्त तप घन तप कहलाता है। (४) वर्ग तप—घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ चौसठ को चौसठ से गुणा करने पर आई हुई ४०९६ की सख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप कहलाता है। (५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग-वर्ग है। यहॉ ४०९६ को ४०९६ से गुणा करने पर आई हुई १६७७७२१६ की सख्या वर्ग-वर्ग है। वर्ग-वर्ग से युक्त तप करना वर्ग-वर्ग तप कहलाता है। (६) प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि की रचना न कर यथाशक्ति फुटकर (छुटक) तप करना प्रकीर्ण तप है। नवकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप है।

एक अन्य अपेक्षा से अनशन तप के बीस भेद भी बताये गये है। इत्वरिक के १४ भेद—(१) चतुर्थ भक्त (२) षष्ठ भक्त (३) अष्टम भक्त (४) दशम भक्त (५) द्वादश भक्त (६) चतुर्दश भक्त (७) षोड्शभक्त (८) अर्धमासिक (९) मासिक (१०) द्वैमासिक (११) त्रैमासिक (१२) चातुर्मासिक (१३) पच मासिक तथा (१४) षाण्मासिक एव यावत्कथिक के ६ भेद —(१) पादोपगमन (२) भक्त प्रत्याख्यान (३) इगित मरण तथा इनके निहारी और अनिहारी के भेद से छ भेद हो जाते है।

यावत्कथिक अनशन तप (सथारा) के अन्तर्गत आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी अग को किचिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से सथारा करना पादोपगमन कहलाता है। पादोपगमन के दो भेद हैं—(१) व्याघातिम—सिह, व्याघ्र तथा दावानल (वन की आग) आदि का उपद्रव होने पर जो सथारा (अनशन) किया जाता है वह व्याघातिम पादोपगमन सथारा कहलाता है। (२) निर्व्याघातिम—जो किसी भी उपद्रव के बिना स्वेच्छा से सथारा किया जाता है, वह निर्व्याघातिम पादोपगमन सथारा कहलाता है। दूसरे, भक्त-प्रत्याख्यान यावत्कथिक अनशन तप का अर्थ होता है चार अथवा तीन प्रकार के आहार का त्याग कर लेना। और इसी अवस्था मे भक्त-परिज्ञा मरण यावत्कथिक अनशन तप भी होता है। इसके तीसरे भेद इगित मरण के अनुसार दूसरे साधुओं से सेवा सुश्रूषा न करवाते हुए नियमित प्रदेश की सीमा मे रहकर सथारा करना होता है। ये तीनो भेद निहारी और अनिहारी रूप होते है। निहारी सथारा ग्रामनगर के अन्दर किया जाता है तथा अनिहारी सथारा ग्राम-नगर से वाहर किया जाता है। जिस मुनि का मरण ग्राम-नगर मे हुआ हो और उस के मृत शरीर को ग्राम-नगर से वाहर ले जाना पड़े तो वह निहारी मरण कहलाता है। ग्रामनगर के बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि मे जो मरण हो वह अनिहारी मरण कहलाता है।

यावत्कथिक अनशन के काम चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद है—(१) सविचार—काया की क्रियासहित अवस्था तथा (२) अविचार—निष्क्रिय। दूसरी अपेक्षा से दो भेद इस प्रकार है—(१) सपरिकर्म—सथारे की अवस्था मे दूसरे मुनियो से सेवा लेना तथा (२) अपरिकर्म —सेवा की अपेक्षा नही रखना।

मैं सवसे पहले क्रम पर रखे गये इस अनशन तप के स्वरूप पर ही जब चिन्तन करता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि कितना उत्कृष्ट एव कष्ट साध्य स्वरूप है इसका? सामान्य जन को एक उपवास भी कठिन लगता है जवकि उपवासो की श्रेणियो, प्रतरो आदि की गुणात्मक आराधना के लिये तो प्रखर आत्म-बल की आवश्यकता होती है। यो भूखा रहना भी आसान नही होता है इसी कारण नीति मे कहा गया है कि बुभुक्षित (भूखा) पुरुष क्या क्या पाप नहीं कर डालता है। ऐसी दशा मे इच्छापूर्वक भूखा रहना और इन्द्रियदमन करना वस्तुत टेढ़ी खीर है। यह विचार उठ सकता है कि जब पहले तप का ही यह काठिन्य है तो आगे के तपों की आराधना कितनी कठिन होगी, किन्तु कठिनता और सरलता की समझ मनोदशा के अनुरूप होती है। मै मानता हूँ कि यदि इरादा मजवूत हो तो दूसरो को कठिन समझ मे आने वाला काम भी मजवूत इरादे वाले को आसान लगता है। इसके विरुद्ध अगर इरादा ढिलमिल रहता है तो हकीकत मे आसान काम भी उस के लिए कठिन बन जाता है। फिर तपश्चरण तो वस्तुत ही कठिन होता है। जीवितावस्था मे अनशन तथा मरणकाल मे भी अनशन याने सथारा—तव कही पहले तप की सफल आराधना बन पड़ती है।

मै सोचता हूँ कि जो साधक अपने जीवन मे तथा मरण मे अनशन व्रत की ही सफल साधना कर लेता है, वह अपनी आत्मा को तपा डालता है और अपने मरण को पडित मरण बना लेता है।

अल्पता वोधक तपस्या

अल्पता बोधक तपस्या ऊनोदरी होती है कि जिसका जितना आहार है उससे कम आहार करना अर्थात् भूख से कम खाना। भूख से कम खाने की कठिनाई अपनी ही तरह की होती है। मै सोचता हू कि यदि मै उपवास का प्रत्याख्यान कर लू तो मन मे शान्ति आ जाती है कि आज मुझे भोजन करना ही नही है—भोजन की लोलुपता सताती नहीं। किन्तु खाना खाने बैठू भी और खाऊ भी लेकिन भूख से तृप्ति न लू— तृप्ति के पहले ही खाना बन्द कर दू—यह स्थिति हकीकत मे उपवास की अपेक्षा कठिनतर होती है। खाना खाना शुरू कर देने पर विभिन्न व्यजनो का स्वाद अनुभव मे आता है तो खाने से सम्वन्धित लोलुपता भी उत्तेजित हो जाती है, वैसी अवस्था मे तृप्ति के छोर तक पहुचने से पहले ही अपने को रोक लेना अधिक निरोध शक्ति की अपेक्षा रखता है। मै समझता हू कि ऊनोदरी तप की वास्तविक आराधना से ही इस सत्य का सही अनुभव हो सकता है।

ऊनोदरी की तपस्या आहार के सम्वन्ध मे ही अल्पता वोधक नही है अपितु उपकरणो के सम्वन्ध मे भी अल्पता वोधक है। आहार के समान ही आवश्यक उपकरणो से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार तथा उपकरणो मे आवश्यकता से भी कमी करना इस ऊनोदरी तप का द्रव्य रूप है तो इसका भाव रूप यह होगा कि क्रोध आदि कषायो को मद एव अल्प किया जाय।

इस रूप मे ऊनोदरी तप के प्राथमिक दृष्टि से दो भेद हुए—(१) द्रव्य ऊनोदरी एव (२) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद वताये गये है—(१) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी तथा (२) भक्त

पान द्रव्य ऊनोदरी। पहले भेद उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद—(१) पात्र (२) वस्त्र और (३) जीर्ण उपधि। दूसरे भेद भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी के पाच भेद—(१) अल्पाहार ऊनोदरी—एक से आठ कवल (कवे) प्रमाण आहार करना। (२) उपार्ध ऊनोदरी — नौ से बारह कवल प्रमाण आहार करना। (३) अर्ध ऊनोदरी—तेरह से सोलह कवल प्रमाण आहार करना। (४) पोण ऊनोदरी—सत्तरह से चौबीस कवल प्रमाण याने पोन पाति का आहार करना। एव (५) किंचित् ऊनोदरी—पच्चीस से इकतीस कवल प्रमाण आहार करना, क्योकि पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। भाव ऊनोदरी के सामान्यत छ भेद किये जाते है—(१) अल्प क्रोध अर्थात् क्रोध का निग्रह करते चले जाने की प्रक्रिया। (२) अल्प मान—सामान्य रूप से अनुभव मे आने वाली मान वृत्ति को कम करना। (३) अल्प माया— अपने मायाचार को घटाना। (४) अल्प लोभ—तप का विचार रखते हुए अपनी लोभ वृत्ति मे कमी करना। (५) अल्प शब्द —वाणी निग्रह का ध्यान रखना। तथा (६) अल्प झज्झ (कलह)—राग द्वेष की वृत्तियो तथा कलहकारी प्रवृत्तियो मे कमी लाना।

ऊनोदरी तप की महत्ता को मै समझू तथा इसकी आराधना का व्रत लू। भोजन और उपकरणो का परिमाण मै क्रमश घटाता चलूगा तो उसका निश्चित रूप से यह प्रभाव होगा कि मै बाहरी सुख सुविधाओं के सम्बन्ध मे अपने चित्त की लिप्तता को कम कर सकूगा, क्योंकि आहार का परिमाण घटता रहेगा तो देह-मोह घटेगा और खाने के लिये जीने की नही, बल्कि जीने के लिये खाने की शुद्ध प्रवृत्ति का विकास हो सकेगा। साधु अवस्था मे भी कई बार देह मोह मिटता नहीं है तो उसकी सुख सुविधाओं का खयाल आ जाता है जिसके निराकरण के लिये आहार के साथ उपकरणो की अल्पता का बोध भी इस ऊनोदरी तप के माध्यम से होता है।

मेरा विचार है कि जब साधु के लिये शास्त्र सम्मत आहार (बत्तीस कवल) मे भी कमी की जाती है और इसी प्रकार भड, वस्त्र, पात्र एव उपकरणो मे भी मान्य परिमाण से भी अल्पता ग्रहण होती है, तब निश्चय ही उस सादगी का असर मन के भावो पर शुभ रूप मे पड़ता है। भाव ऊनोदरी के रूप मे उसके क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियो मे कमी आती है, वह मितभाषी हो जाता है तथा क्रोध के वशीभूत होकर वचन नही निकालता है एव आते हुए क्रोध को शान्त कर देता है। इस प्रकार यह ऊनोदरी तप अपने आचरण मे पहले तप अनशन की अपेक्षा कठिन तर होता है। मै भावना भाता हू कि इस तप की मेरी आराधना सफल वने ताकि मै देह—मोह से दूर हटकर आत्म स्वरूप मे अधिक रमण कर सकू एव अपने कषाय भावो को मन्दतर बना सकू। मेरे कर्म क्षय की दिशा मे मै इस दूसरे सोपान पर दृढ़ सकल्प के साथ आरूढ़ हो सकू और तीसरे सोपान पर पहुचने की शक्ति अर्जित कर सकू—ऐसी मेरी भावना है।

भिक्षा चर्या वृत्ति-सकोच

विविध अभिग्रह (प्रण) लेकर भिक्षा का सकोच करते हुए विचरना भिक्षा चर्या तप कहलाता है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का सकोच होता है। इसलिये इसे वृत्ति—सक्षेप भी कहते है।

मै ससार मे इस सामान्य तथ्य का अनुभव करता हू कि मनुष्य के मन मे अहकार वड़ी गहरी जड़े जमाकर टिका हुआ होता है। इसी कारण कोई किसी का अहसान लेने से झिझकता है।

है—इसका ज्ञान दाता को होता नही है, जिससे स्वाभाविक तौर पर ही अभिग्रह की पूर्ति हो तो मुनि भिक्षा ग्रहण करते है। अभिग्रह की पूर्ति होगी या नही अथवा कब होगी—इसकी कोई निश्चितता नही रहती। इस रूप मे भिक्षा चर्या के तप मे बहुत बड़े त्याग भाव की अपेक्षा रहती है।

मच्छ की उपमा से भिक्षा लेने वाले भिक्षुक के पाच प्रकार बताये गये है—(१) अनुस्तोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय के समीप से प्रारभ करके क्रम से भिक्षा लेना। (२) प्रतिस्रोतचारी —अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय से बहुत दूर जाकर लौटते हुए भिक्षा लेने वाला। (३) अन्तचारी—क्षेत्र के पास मे अर्थात् अन्त मे भिक्षा लेने वाला। (४) मध्यचारी—क्षेत्र के बीच-बीच के घरो से भिक्षा लेने वाला। तथा (५) सर्वस्रोतचारी—सर्व प्रकार से भिक्षा लेने वाला।

वीतराग देवो ने सच्चा भिक्षुक (साधु) उसको कहा है जो तपश्चर्या और सहिष्णुता के साथ आत्म-विकास साधता है। भिक्षा के सम्बन्ध मे वह अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियो मे आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरो से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक सयम धर्म का पालन करता है। वह किसी भी वस्तु मे मूर्छा भाव नही रखता है तथा परिषहो व उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करता है। अपने लिये आवश्यक शय्या (घासफूस) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर मे मौजूद हो किन्तु उसके द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह नही दे तो सच्चा भिक्षुक उसको जरा भी द्वेषयुक्त वचन न कहे और न अपने मन मे बुरा ही माने क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनो मे समान भाव रखना चाहिये। वह गृहस्थो से आहार, पानी, खादिम, स्वादिम जो भी पदार्थ प्राप्त करे, उन्हे पहले अपने साथी साधुओं मे बाटे और बाद मे मन, वचन व काया को वश मे रखते हुए स्वय आहार करे। गृहस्थ के घर से ओसाचण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठडा भोजन, जौ या काजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर जो भिक्षुक उसकी निन्दा नहीं करता और सामान्य स्थिति के घरो मे भी जाकर भिक्षावृत्ति करता है, वही सच्चा भिक्षुक होता है, क्योंकि साधु को अपने सयमी जीवन के निर्वाह के लिये ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शान्त करने के लिये नही। भिक्षाचर्या के तप की आराधना में श्रेष्ठ समभाव की आवश्यकता होती है तो तप की सफल आराधना से समभाव का उत्कृष्ट रूप निखरता जाता है।

मात्र जीने के लिये खाना

सयम की साधना का साध्य मै मानता हू आत्म विकास एव स्व-पर कल्याण और इस सयम को साधने का साधन रूप होता है शरीर। इस दृष्टि से शरीर जिस रीति से सयम धर्म का साधन वना रहे, उसी रीति का उसका पोषण होना चाहिये। ऐसा पोषण नही कि वह किसी भी रूप मे अधर्म का साधन वने। अत रस परित्याग का चौथे प्रकार का तप यह निर्देश देता है कि देह मे विकार पैदा करने वाले दूध, दही, घी आदि विगयो तथा उनसे वनाये जाने वाले स्निग्ध एवं गरिष्ठ खाद्य पदार्थों का त्याग किया जाय। खाना बिल्कुल सादा, वल्कि रूखा-सूखा हो। खाने के लिये जीने की लिप्सा तो कतई होनी ही नहीं चाहिये—मात्र जीने के लिये खाने का भाव होना चाहिये।

अत जिह्वा के स्वाद को छोड़ना रसपरित्याग का तप है। सामान्यत इसके नौ भेद कहे गये है —

(१) प्रणीत रस परित्याग—जिसमे घी दूध आदि की वूदे टपक रही हो ऐसे आहार का त्याग करना।

भेद—सावध, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर (फरूस) आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी एव भूतोपघातकारी। इनसे विपरीत प्रशस्त मन के भी बारह भेद होते है। (५) इसी प्रकार वचन विनय के भी प्रशस्त-अप्रशस्त के भी दो भेद तथा दोनो के क्रमश बारह-बारह भेद से चौबीस भेद होते है। (६) काय विनय के भेद —प्रशस्त एव अप्रशस्त। प्रशस्त काय विनय के सात भेद—सावधानी से गमन करना, ठहरना, बैठना, सोना, लाघना, बारबार लाघना तथा सभी इन्द्रियो व योगो की प्रवृत्ति करना। इसके विपरीत अप्रशस्त काय विनय के भी सात भेद जो सावधानी की जगह असावधानीपूर्वक होते हैं। (७) लोकोपचार विनय के सात भेद—अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना) परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना) कार्य हेतु (गुरु के कार्य को पूर्ण करने का प्रयल करना) कृत प्रतिक्रिया (अपने लिये किये उपकार का बदला चुकाना) आर्त गवैषणा (बीमार साधुओं की सार-सभाल करना) देश कालानुज्ञता (अवसर देखकर कार्य करना) तथा सर्वार्थप्रतिलोभना (सब कार्यों मे अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

इस प्रकार विनय को स्व-पर कल्याण की प्राप्ति का आधार एव श्रेष्ठ तप मानकर जो विनय की प्रधान रूप से आराधना करता है, वह विनयवादी कहलाता है। विनयवादी ३२ प्रकार के होते है—देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता—इन आठो का मन, वचन, काया एव दान रूप प्रकारो से विनय बत्तीस रूप मे होता है। किन्तु जो एकान्त रूप से विनय को ही आधार मानकर विनयवादी कहलाना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योकि विनय तप की प्रधानता भी एक अपेक्षा से कही जाती है, एकान्त रूप से नही। इसी प्रकार कोरी क्रिया ही सार्थक नहीं बनती —ज्ञान और क्रिया का सफल सयोग होना चाहिये। अत विनयी साधक को अनेकान्तवादी दृष्टिकोण वाला एव सम्यक् दृष्टि होना चाहिये।

आचार्य भी अपने विनयी शिष्य को चार प्रकार की प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है, जो निम्नानुसार विनय प्रतिपत्ति रूप कहलाती है—

(१) आचार विनय—चार प्रकार —(अ) सयम समाचारी सयम के भेदो का ज्ञान करना, सत्रह प्रकार के सयम का स्वय पालन करना तथा सयम मे उत्साह देना व सयम मे शिथिल होने वाले को स्थिर करना। (ब) तप समाचारी—तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदो का ज्ञान करना, स्वय तप करना व तप करने वाले को उत्साह देना, तथा तप मे शिथिल होते हो तो उन्हे स्थिर करना। (स) गण समाचारी—गण के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करते रहना, सारणा वारणा आदि द्वारा भलीभाति रक्षा करना, गण मे स्थित रोगी, बाल, वृद्ध एव दुर्बल साधुओं की यथोचित व्यवस्था करना। (द) एकाकी विहार समाचारी—एकाकी विहार प्रतिमा का भेदोपभेद सहित सागोपाग ज्ञान करना, उसकी विधि को ग्रहण करना, स्वय एकाकी विहार प्रतिमा को अगीकार करना एव दूसरे को ग्रहण करने हेतु उत्साहित करना। यह एकाकी विहार प्रतिमा पूर्व घर मुनि तथा क्षमा आदि यति धर्मो से सम्पन्न हो साथ ही अनुकूल प्रतिकूल परिषह उपसर्गों को सहन करने परिपक्क एव स्थिर चित्त हो वह किसी भी परिस्थिति मे सिद्धात एव सच्चरित्र निष्ठा से किचित् भी विचलित न होने की सामर्थ्य वाला है, अतिशय ज्ञानी-मुनि की आज्ञा से ही प्रतिमा ग्रहण की जाती है, इससे विपरीत प्रवर्तन वाले ससरी किया (२) श्रुतविनय—चार प्रकार (अ) मूल सूत्र पढ़ाना (व) अर्थ पढ़ाना (स)

हित वाचना देना अर्थात् शिष्य की योग्यता के अनुसार मूल व अर्थ पढ़ाना एव (द) नि शेष वाचना देना अर्थात् नय, प्रमाण आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त वाचना देना। (३) विक्षेपणा विनय—चार प्रकार (अ) धर्म नही जानने तथा सम्यक् दर्शन का लाभ नही लेने वाले को प्रेमपूर्वक सम्यक् दर्शन रूप धर्म दिखाकर सम्यत्त्वी बनाना। (ब) जो सम्यक्त्वी है, उसे सर्वविरति रूप चारित्र धर्म की शिक्षा देकर सहधर्मी बनाना। (स) जो धर्म से भ्रष्ट हो, उन्हे धर्म मे स्थिर करना। (द) चारित्र धर्म की जैसे वृद्धि हो वैसी प्रवृत्ति करना।

(४) भेद निर्धातन विनय—चार प्रकार (अ) मीठे वचनो से क्रोधी के क्रोध को शान्त करना। (ब) दोषी पुरुष के दोषो को दूर करना। (स) उचित काक्षा को निवृत्त करना तथा (द) क्रोध, दोष, काक्षा आदि मे प्रवृत्ति न करते हुए आत्मा को सुमार्ग पर लगाना।

इस प्रकार के सुकृत्यो द्वारा आचार्य अपने शिष्य की विनीतता का ऋण चुकाता है।

विनय तप का उपर्युक्त विश्लेषण मुझे प्रेरित करता है कि मै इस तप की विशुद्ध हृदय से आराधना करू। मै गुरु सेवा मे रहते हुए अहकार, क्रोध, छल तथा प्रमाद का त्याग करू और अपने गुरु को मन्द वुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जानकर भी उनकी निन्दा न करू, क्योंकि जो अविनीत शिष्य गुरु की भारी आशातना करता है, वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। ज्ञान मे न्यूनाधिक होने पर भी मै सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनो का अपमान नही करू। कारण, आचार्य की आशातना करना जलती हुई आग पर पैर रखकर चलने के समान होता है। मै अपने आचार्य को प्रसन्न रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहू जिससे मुझे अनाबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। मै अपना कर्त्तव्य समझू कि गुरुके पास आत्म विकास करने वाले धर्मशास्त्र की शिक्षा लू, उनकी पूर्ण विनय भक्ति करू, हाथ जोड़ सिर नवा कर नमस्कार करू तथा मन, वचन, काया से उनका सदा उचित सत्कार करू। मैं आचार्य द्वारा प्रदत्त उपदेशो को सुनकर अप्रशत्त भाव से उनकी सेवा करू तो अवश्य मुझे सद्गुणो की प्राप्ति होगी तथा एक दिन सिद्धि की भी प्राप्ति हो सकेगी।

मै वीतराग देवो की वाणी को आत्मसात् करता हू तो विनय तप के आचरण के प्रति अपार आस्था जागती है और जानता हू कि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका उत्कृष्ट फल। विनय से ही कीर्ति श्रुत और श्लाघा वगैरा सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है। ससार मे विनीत स्त्री और पुरुष सुख भोगते हुए, समृद्धि-सम्पन्न तथा महान् यश कीर्ति वाले देखे जाते है। मै भी विनय को अपनी समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे रमा लेना चाहता हू। मै अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन आदि सव नीचे ही रखू, आचार्य को नीचे झुककर पैरो मे नमस्कार करू तथा नीचे झुककर विनयपूर्वक हाथ जोड़ू। मै गुरु के मनोगत अभिप्रायो तथा उनकी सेवा करने के सुमचित उपायो को नाना हेतुओं से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जानकर समुचित प्रकार से उनकी सेवा करू। मुझे आशा है, कि यदि गुरु की आज्ञानुसार चलूगा तथा धर्म और अर्थ का ज्ञाता वनकर विनय मे चतुर होऊंगा तो ससार रूप दुरूत्तर सागर को पार करके एव कर्मों का क्षय करके उत्तम गति प्राप्त कर सकूगा।

मै आप्त-पुरुषो द्वारा उपदेशित विनीत के निम्न पन्द्रह लक्षणो का चिन्तन करते हुए अपने गुरुजनो की सेवा सुश्रुषा करने की भावना रखता हू—

(१) विनीत गुरुजनो के सामने नमकर रहता है, नीचे आसन पर वैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणो मे धोक लगाता है।

(२) विनीत प्रारभ किये हुए काम को नही छोड़ता, चचलता नही लाता, जल्दी-जल्दी नहीं चलता किन्तु विनयपूर्वक धीरे-धीरे चलता है एक जगह बैठ कर वह हाथ पैर आदि अगो को भी नहीं हिलाता है। वह असत्य, कठोर तथा अविचारित वचन नही बोलता एव एक काम को पूरा किये बिना दूसरा काम शुरू नही करता।

(३) विनीत सरल होता है तथा अपने गुरु जनो के साथ छल नही करता।

(४) विनीत कौतूहल—क्रीड़ा से सदा दूर रहता है और खेल तमाशे देखने की लालसा नही रखता।

(५) विनीत अपनी छोटी-सी भूल को भी दूर करने का यत्न करता है और किसी का अपमान नहीं करता।

(६) विनीत क्रोध नही करता एव क्रोध को पैदा करने वाले कारणो से भी दूर रहता है।

(७) विनीत मित्र का प्रत्युपकार करता है और कभी भी कृतघ्न नही बनता।

(८) विनीत विद्या पढ़कर अभिमान नही करता किन्तु जैसे फलो से लदने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है, उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त करके वह विशेष नम्रता धारण कर लेता है।

(६) विनीत किसी समय आचार्य आदि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (भूल) हो जाने पर भी उनका तिरस्कार या अपमान नही करता।

(१०) विनीत बड़े से बड़ा अपराध मित्रो द्वारा हो जाने पर भी कृतज्ञता दिखाते हुए उन पर क्रोध नही करता।

(११) विनीत अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नही करता, अपितु उनके लिये भी कल्याणकारी वचन ही बोलता है।

(१२) विनीत कलह और क्लेश (डमर) से सदा दूर रहता है।

(१३) विनीत कभी भी अपना कुलीनपना नही छोड़ता और अपने को सौपे हुए काम को पूरा करता है।

(१४) विनीत ज्ञानवान् होता है तथा किसी समय बुरे विचारो के आ जाने पर भी वह कुकृत्य मे प्रवृत्ति नहीं करता। तथा

(१५) विनीत विना कारण गुरुजनो के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता।

इस प्रकार के गुणो से युक्त पुरुष विनीत पुरुष कहलाता है।

सेवा की तन्मयता

मै ज़ानता हू कि सेवा धर्म को परम गहन तथा योगियो के लिये भी अगम्य कहा गया है। इसी से इसकी महत्ता स्पष्ट है। इसे ही नववे क्रम पर वैयावृत्य तप कहा गया है। धर्म साधन के लिये गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहार आदि लाकर देना तथा उन्हे सयम मे यथाशक्ति सहायता देना वैयावृत्य तप कहलाता है।

वैयावृत्य तप का मूल्याकन करते हुए मुझे समझ में आता है कि प्रायश्चित, विनय और वैयावृत्य तपो की जैसे एक कड़ी है तथा यह कड़ी लोकोपकार की महत्ता को प्रकाशित करती है। किसी को कष्ट दिया हो तो उसका खेद करना व फिर किसी को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करना प्रायश्चित तप है तो विनय तप मन-मानस को ऐसा शुभ मोड़ दे देता है कि सबके प्रति सहिष्णु बन जाय तथा सबका समादर करे। उसके बाद क्रम आता है कि अपने विचार और आचार से सभी प्राणियो को सुख पहुचावे। इस उद्देश्य की पूर्ति मे ही व्यक्तिगत सुख पहुचाने की प्रक्रिया वैयावृत्य तप से प्रारंभ होती है जो विशाल एव व्यापक रूप लेती हुई समाज, राष्ट्र एव मानवता तथा सम्पूर्ण प्राणी समूह की सेवा के रूप मे परिणत हो जाती है। इस सेवा के कई रूप हो सकते है, किन्तु उद्देश्य यही रहता है कि अपने क्रिया कलापो से अधिक से अधिक लोग या प्राणी सुख का अनुभव करे। इस तप की आराधना मे सेवा की तन्मयता इतनी गहरी हो सकती है कि तपस्वी अपने स्वार्थो को तो त्यागता ही है, लेकिन अपने हितो तक को भूल जाता है एव सेवा कार्यों मे सर्वस्व न्यौछावर करके आत्म विसर्जित बन जाता है।

मै मानता हू कि वैयावृत्य व्यक्ति की तथा सेवा समाज (अपने वृहत्तम अर्थ मे) की होती है। जैसे एक साधु होता है, वह अपने आचार्य, गुरु आदि की वैयावृत्य करता है, अपनी सेवा से उन्हे सुख शाता उपजाता है तो क्या वह वीतराग वाणी के उपदेशो का प्रसार करके और कल्याण का मार्ग दिखा कर सम्पूर्ण विश्व की सेवा नहीं करता? कोई सेवा किसी रूप मे करता है तो कोई अन्य रूप मे किन्तु सेवा का लक्ष्य एक ही होता है कि अधिक से अधिक प्राणियो को सुख मिले। दया और दान क्या होते है? इस सेवा के ही तो प्रकारान्तर हैं। किन्तु सेवा के इतने प्रकार होते हैं कि लोग उन्हे समझ नही पाते और उसके परिणामो के प्रति निष्कर्ष नही निकाल पाते है—इसी कारण सेवा धर्म को अगम्य माना गया है। वह अगम्य उनके लिये ही नही होता जो सेवा पा रहे हैं, वल्कि कई वार उनके लिये भी अगम्य रह जाता है जो स्वय सेवा कर रहे होते हैं। सेवा की गूढ़ता खोजना और उसका रसास्वादन करना महान् तपस्या का ही सुफल होता है।

वैयावृत्य या सेवा तप की एक आन्तरिकता और होती है। दूसरो को सुख पहुचावे —यह तो इस तप मे है ही किन्तु जव दूसरो को सुख पहुचाना चाहते हैं तो निश्चय ही अपना सुख गौण हो जाता है लेकिन सेवा के क्षेत्र मे एक कदम और आगे बढ़ना होता है। वह इस रूप मे कि दूसरो (गुरुजनो) की वैयावृत्य करते हुए अथवा व्यापक रूप से सेवा करते हुए स्वय को कष्ट भी उठाने पड़ते है। किन्तु सेवा तप की भावना इतनी उत्कृष्ट होती है कि तप का आराधक उन कष्टो को कष्ट रूप मानने को ही तैयार नही होता, वल्कि उन कष्टो को अपने आत्मिक आनन्द का स्रोत मानता है। इस रूप मे सेवा तप की आराधना एक सच्चे आराधक के लिये आत्म-विकास का महान् चरण रूप होती है।

मैं वीतराग वाणी का ध्यान करता हू, जिस मे कहा गया है कि वैयावृत्य तप की सम्यक् आराधना से कर्मो की महानिर्जरा होती है तथा पुन. कर्मों के उत्पन्न न होने से महापर्यवसान होता है अर्थात् उस तपस्वी आत्मा का आत्यन्तिक अन्त होता है। इस महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाच वोल वताये गये है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (सूत्र पढ़ाने वाले ज्ञानदाता) (३) स्थविर (४) तपस्वी तथा (५) ग्लान साधु की ग्लानिरहित वहुमानपूर्वक वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रंथ

महानिर्जरा वाला होता है और पुन उत्पन्न न होने से महापर्यवसान अर्थात् आत्यन्तिक अन्त वाला होता है। इसी के पाच बोल इस प्रकार भी है —(१) नवदीक्षित साधु—थोड़े समय की दीक्षा पर्याय वाले (२) कुल—एक आचार्य की शिष्य मडली को कुल कहते है। (३) गण—कुल के समुदाय को गण कहते है। (४) सघ—गणो के समुदाय को सध कहते है। एव (५) साधर्मिक—लिग और प्रवचन की अपेक्षा से समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहा जाता है, इस प्रकार इन पाचो की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्य करने वाला साधु महानिर्जरा और महापर्यवसान् वाला होता है।

यो वैयावृत्य के दस भेद बताये गये है जिनमे उपरोक्त दस बोलो का समावेश हो जाता है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शेक्ष (नवदीक्षित) (७) कुल (८) गण (९) सघ तथा (१०) साधर्मिक की वैयावृत्य करना। अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा सुश्रूषा का दूसरा नाम ही वैयावृत्य है। इन दस भेदो मे भी पीछे के चार भेद व्यक्ति वाचक से अधिक समूहवाचक है और इनकी सेवा मे सामूहिक दृष्टिकोण का समावेश करना होता है। कुल, गण या सघ का वैयावृत्य व्यक्ति से अधिक विस्तृत रूप का होता है और यही वैयावृत्य अप्रत्यक्ष रूप से जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति होता है तो वह सेवा का विशालतम रूप होता है।

मै ऐसे वैयावृत्य और सेवा धर्म मे अपने आपको इतना तन्मय बनाना चाहता हू कि अन्ततोगत्वा मै अपने आप तक को भी भूल जाऊ —सेवा की वेदी पर अपने आपको विसर्जित कर दू। यह आत्म विसर्जन सर्वोत्कृष्ट तप होगा जो आत्म कल्याण तो करेगा ही किन्तु विश्व कल्याण की भी सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण कर देगा। योगियो को भी अगम्य सेवा धर्म की आराधना एव अनुभूति अति विशिष्ठ ही होती है।

आत्म चिन्तन का अध्याय

मै स्वाध्याय तप की अचिन्त्य महिमा मानता हू, क्योंकि मेरे 'मै' से इसका गहरा सम्बन्ध होता है तथा उसके रूपान्तरण का भी यह तप सवल माध्यम बनता है। स्वाध्याय शब्द स्व+ अधि+ अय से मिल कर बना है जिसका अर्थ होता है अपने मे गमन करना अर्थात् आत्मा मे रमण करना-आत्म चिन्तन करना। इसे आत्म चिन्तन का अध्याय कह सकते है और साथ ही यह अध्याय आत्म चिन्तन के लिये भी हो। आत्मा का चिन्तन तथा आत्मा के लिये चिन्तन-इन दोनो का समावेश स्वाध्याय मे हो जाता है।

मै अपनी आत्मा का चिन्तन करता हू—इसका अभिप्राय यह होगा कि मै अपनी आत्मा के मूल स्वरूप का चिन्तन करता हू—उस मे निहित अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का चिन्तन करता हू तथा उसके परम प्रताप एव सर्वशक्तिमत्ता का चिन्तन करता हू कि वह जागृत होकर सक्रिय हो और सर्वोच्च विकास का पुरुषार्थ करे। मै अपनी आत्मा के लिये चिन्तन करता हू जिसका अर्थ होगा कि मैं उन शास्त्रो, सूत्रो अथवा ग्रथो का पठन और मनन करता हू जो आत्म विकास की सही दिशा का ज्ञान देते है। इस रूप मे स्वाध्याय तप का सम्वन्ध मूलत आध्यात्मिक याने आत्मा के प्रति होता है। आन्तरिक चिन्तन और वाह्य अध्ययन दोनो का लक्ष्य एक ही है।

इस आध्यात्मिक अध्ययन को स्वाध्याय का वाह्य रूप मानते हुए इसके पाच भेद वताये गये है —

(१) वाचना—शिष्य को सूत्र (शास्त्र) एव उनका अर्थ पढ़ाना वाचना कहलाता है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि गुरु जिस रूप मे सूत्र की वाचना दे व उच्चारण करे, उसी रूप मे वह वाचना ले तथा उच्चारण करे। वाचना मे सूत्र के शब्दो एव उसके अर्थ —भावार्थ पर पूरा ध्याय दिया जाना चाहिये। उसमे हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोषहीन आदि दोषो से बचने का पूरा यत्न होना चाहिये।

(२) पृच्छना—वाचना ग्रहण करने के बाद उस मे किसी प्रकार का सशय होने पर पुन पूछना पृच्छना कहलाता है। पहले सीखे हुए सूत्र आदि के ज्ञान मे भी शका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिष्य को वाचना लेने के बाद उस पर पहले ही अपने मन मे तर्क-वितर्क और चिन्तन मनन करना चाहिये तभी पढ़े हुए ज्ञान मे शका की स्थिति पैदा हो सकती है। ज्यो ही किसी भी प्रकार की शका उत्पन्न हो, उसे गुरु से पूछकर उसका समाधान ले लेना चाहिये।

(३) परिवर्तना—पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाय, इस उद्देश्य से उसे बार बार फेरने को परिवर्तना कहते है। एक-एक पढ़े हुए सूत्र को वार वार फेरने से उसे भुलाया नही जा सकेगा, इस कारण शिष्य को परिवर्तना पद्धति की सहायता लेनी चाहिये।

(४) अनुप्रेक्षा—सीखे हुए सूत्र के अर्थ का विस्मरण न हो जाय इस लक्ष्य से उस अर्थ का वारवार चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। यह शिष्य का दायित्व है कि वह सूत्र वाचना को ग्रहण करने के वाद तात्त्विक दृष्टि से उस पर गभीर चिन्तन-मनन बार बार करता रहे ताकि उसका अर्थ विन्यास उसके मष्तिष्क मे जम जाय। यह अनुप्रेक्षा की पद्धति बहुत महत्त्व की है क्योकि किसी भी विषय पर जव वार-बार चिन्तन-मनन किया जाता है तो उस सूत्र या वाचना के अर्थ की गूढ़ता मे प्रवेश होता जाता है एव नवीन अर्थ की प्राप्ति होती रहती है।

(५) धर्मकथा—उपरोक्त चारो प्रकार से शास्त्र एव अन्य ज्ञान का अभ्यास करने पर श्रोताओं को प्रवचन देना धर्मकथा है। सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एव अनुप्रेक्षा के उपायो से सीखे हुए ज्ञान की परिपक्वता पैदा हो जाती है और ऐसा अनुभव होने के वाद ही प्रवचन देना सार्थक हो सकता है। चिन्तन-मनन एव आत्मनिर्णय के पश्चात् ही किसी तत्त्व का स्वरूप दूसरो को वताने पर श्रोताओं की जिज्ञासा को सम्यक् रीति से शान्त की जा सकती है। अधूरे ज्ञान के साथ व्याख्यान देना समुचित नहीं कहा गया है, क्योकि उससे अज्ञान का प्रचार सभव है। धर्मकथा की इस प्रक्रिया की उपमा मधुमक्खियो की प्रक्रिया से दी जाती है। जैसे मधुमक्खी अपने विवेक से योग्य पुष्प देखकर उस पर वैठती है, उसका रस ग्रहण करती है और उस रस को पचा कर फिर अपने छत्ते मे व्यवस्थित रखती है। ऐसा रस जव शहद रूप मे लोगो को मिलता है तव वह आरोग्य प्रदायक होता है। इसी प्रकार एक शिष्य को न केवल सूत्र के शब्दो का सही उच्चारण करना आना चाहिये, वल्कि उन के अर्थ को जान कर अर्थ पर अपना गभीर चिन्तन मनन करना चाहिये। मधुमक्खी द्वारा पुष्प चयन की तरह उसे श्रेष्ठ ग्रथो का चयन करना चाहिये, उनसे ज्ञान का अपने मन मानस मे एक धारा-प्रवाह वनाना चाहिये और भीतर ही भीतर आत्म विश्वास पैदा करना चाहिये कि वह उस विषय पर अधिकारपूर्वक प्रवचन दे सकता है। इस प्रकार की आत्मविश्वस्ति के पश्चात् ही वह व्याख्यान दे और श्रोताओं की शका विशकाओं का समुचित समाधान देने का सामर्थ्य पैदा करे।

स्वाध्याय के इन भेदो पर जब मै गभीर चिन्तन करता हूॅ तो मेरा हृदय प्रकाश से भर उठता है। वीतराग देव सर्वज्ञ थे और वे जानते थे कि यदि ज्ञानार्जन पूर्ण नही होगा और उसके पहले ही प्रवचन देना प्रारभ कर दिया गया तो उसके दो परिणाम सामने आ सकते है। एक तो यह कि स्वय शका-पूर्ण हृदय वाला प्रवचन-दाता जब प्रवचन देगा और श्रोताओं की शंकाओं का निराकरण नही कर सकेगा तो उससे सद्ज्ञान के प्रसार की अपेक्षा भ्रान्तियो का ही प्रसार अधिक होगा। कई बार तो इस अधकचरेपन से सम्यक् ज्ञान भी लाछित होगा। दूसरे, यदि श्रोताओं मे अधिक ज्ञानी पुरुष हुए और उन्होंने प्रवचन दाता को सही तत्त्व स्वरूप बताना चाहा तो उससे प्रवचन दाता के प्रति सामान्य लोगो की अश्रद्धा भी पैदा हो सकती है। मै सोचता हूॅ कि यो तो ज्ञान के महासागर को आत्मसात् करना अत्यन्त श्रमसाध्य विषय है, फिर भी यथासाध्य ज्ञान की पूर्णता साधने का शिष्य का यत्न होना चाहिये और कम से कम जिन विषयो का वह प्रवचन मे उल्लेख करना चाहता है, उन पर उसका गूढ़ आत्म विश्वास एव अधिकार होना चाहिये। ऐसा होने पर ही सद्धर्म का प्रभावशाली प्रचार सभव होता है।

मै इस विश्लेषण से अनुभव करता हूॅ इस मर्म का कि स्वाध्याय को तप क्यो कहा गया है? वह भी इतना ऊँचा तप जो आभ्यन्तर तप क्रम मे भी बहुत ऊपर रखा गया है। स्वाध्याय के रूप मे आत्म चिन्तन के लिए अध्यायो का अध्ययन हो तथा उससे आत्म चिन्तन विकसित बने, तभी जाकर अपने ज्ञान की धारा बाहर प्रवाहित की जा सकती है क्योकि वैसी अजस्र धारा ही दूसरो को अपने आत्म विकास की बलवती प्रेरणा दे सकती है। वीतराग देवो ने यह भी बताया है कि गुरु शिष्य को वाचना देने एव सूत्र सिखाने के समय निम्न बोलो को ध्यान मे रखे

(१) शिष्य को शास्त्र ज्ञान का ग्रहण हो और उनके श्रुत का सग्रह हो —इस प्रयोजन से शिष्य को वाचना देवे।

(२) उपग्रह के लिए शिष्य को वाचना देवे, जिससे सूत्र सीखा हुआ शिष्य आहार, पानी, वस्त्र आदि की शुद्ध गवैषणा द्वारा प्राप्ति कर सके और जो गवैषणा उसके सयम की सहायक बन सके।

(३) सूत्रो की वाचना देने से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी—इस विचार से गुरु वाचना देवे।

(४) गुरु यह सोचकर भी वाचना देवे कि वाचना देने से मेरा सूत्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(५) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे —इस प्रयोजन से गुरु शिष्य को वाचना देवे।

शिष्यो के लिए भी निर्देश दिये गये है निम्न पाच प्रकारो मे कि वे किस प्रयोजन से ज्ञानार्जन करे

(१) तत्त्वो के ज्ञान के लिए सूत्र सीखे।

(२) तत्त्वो पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखे।

(३) चारित्र के लिए सूत्र सीखे।

(४) मिथ्याभिनिवेश छोड़ने के लिए अथवा दूसरो से छुड़वाने के लिए सूत्र सीखे।

(५) सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एव पर्यायो का ज्ञान होगा —इस विचार से सूत्र सीखे।

स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शोभन रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्याय काल का परिहार करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है जिसके अनुसार रीति एव मर्यादा के साथ काल-समय को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। इस रूप मे अस्वाध्याय के प्रकार निम्न बताये गये है

(१) दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय जिनमे उल्कापात (तारा टूटने से एक प्रहर तक), दिग्दाह (दिशा विशेष मे आग जैसी रौशनी दीखने पर एक प्रहर तक), गर्जित (मेघ गर्जना पर दो प्रहर तक) विद्युत (बिजली चमकने पर एक प्रहर तक वर्षा ऋतु मे नही) निर्घात (व्यन्तर आदि की प्रचड ध्वनि होने पर एक अहोरात्रि तक) यूपक (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सध्या के समय प्रभा के मिल जाने से रात्रि के प्रथम प्रहर तक) यक्षादीप्त (व्यन्तर कृत अग्नि दीपन पर) धूमिका (धूवर पड़ने पर पड़ने तक) महिका (जल रूप धुधल गिरने पर गिरने तक) तथा रज उद्घात (चारो ओर धूल छा जाने पर) शामिल है। ये सब अस्वाध्याय काल माने गये है।

(२) दश औदारिक सम्वन्धी अस्वाध्याय—अस्थि, मास और रक्त किसी पचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य का साठ या सौ हाथ के भीतर होने पर, अशुचि (मल मूत्र) निकट होने या उसकी दुर्गंध आने पर, श्मशान के चारो ओर सौ सौ हाथ तक, चन्द्रग्रहण होने पर आठ से बारह प्रहर तक, सूर्यग्रहण होने पर वारह से सोलह प्रहर तक, राजा के निधन पर दूसरे के सिहासनारूढ़ होने तक, राजाओं मे परस्पर युद्ध होने पर शान्ति होने तक, उपाश्रय मे तिर्यच या मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा होने पर सौ हाथ तक अस्वाध्याय होता है।

(३) चार महाप्रतिप्रदा (आषाढ़, आश्विन, कार्तिक व चैत्र पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदाएँ) तथा इन चारो महापूर्णिमाओं को स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(४) प्रात काल, मध्याह्न, सायकाल और अर्धरात्रि—इन चारो सध्या काल मे भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

मै मानता हूँ कि स्वाध्याय प्रत्येक चिन्तनशील मानव के लिये एक अनिवार्य तप और अनुष्ठान है। उसकी चिन्तनशक्ति को सत्प्रेरणा सूत्र-शास्त्र और सत्साहित्य के अध्ययन से ही मिल सकती है। उसका अध्ययन जितना गहरा, जितना अध्यवसायपूर्ण और जितना हार्दिकता के साथ होगा उतना ही उसका ज्ञान परिपुष्ट, प्रखर एव परिपक्व बनेगा। स्वाध्याय की श्रेष्ठ रीति के लिये इन नियमो का अनुपालन लाभप्रद हो सकता है

(१) स्वाध्याय के समय चित्त की एकाग्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव आवश्यक होती है। मन इधर उधर डोलता रहे और पाठो का उच्चारण चलता रहे तो अर्थ क्या शब्द भी सही तरीके से पल्ले नही पड़ेगे। चारो ओर से ध्यान हट कर अपनी अध्ययन सामग्री मे ही वह केन्द्रित हो जाना चाहिये। मानसिक चचलता मे स्वाध्याय का आनन्द आ ही नहीं सकता है।

(२) स्वाध्याय का स्थान भी इस दृष्टि से स्वच्छ, शान्त और एकान्त होना चाहिये। स्थान की अनुकूलता आवश्यक है क्योंकि चहल पहल, कोलाहल या गदगी वाले स्थान पर वैठकर मानसिक एकाग्रता नहीं साधी जा सकती है।

(३) स्वाध्याय प्रतिदिन यथासमय किया जाना चाहिये। उसमे विक्षेप नहीं होना चाहिये तथा नियम का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिये।

(४) स्वाध्याय के ग्रथो का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रहना चाहिये कि उसमे ऐसा कोई भी साहित्य सम्मिलित न हो जो किसी भी प्रकार से विषय-कषाय के दुर्गुणो को किसी भी रूप मे उत्तेजित करे। स्वाध्याय के विषय सयम एव ज्ञानार्जन को परिपुष्ट बनाने वाले ही होने चाहिये।

(५) स्वाध्याय करते समय अध्येता को यह आत्म विश्वास होना चाहिये कि वह विषय की गूढ़ता को समझ रहा है तथा स्वाध्याय से उसके हृदय मे ज्ञान के प्रकाश की किरणे प्रकाशित हो रही है। वह अपने सकल्प को दृढ़ीभूत करता रहे।

मैं स्वाध्याय के स्वरूप को समझता हूँ तथा आत्म चिन्तन रूप जागृति को निरन्तर बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ कि मै अपनी रूपान्तरण की प्रवृत्ति का प्रति समय निरीक्षण करता रहूँ कि (१) मन किसी अशुभ विचार की ओर तो उन्मुख नही हो रहा है, (२) गुणो की ओर मेरा जो आकर्षण बना है, वह अभिवृद्ध हो रहा है या नही, (३) दोषो के प्रति मेरी जो गर्हा बनी थी, वह गहरी हो रही है अथवा नही (४) गुणो के पोषक स्थान अहिसा, सत्य, क्षमा आदि और वैसे निमित्तो का सेवन भी जारी है या नही—और इन्हीं आधारो पर मैं अपने स्वाध्याय-तप का मूल्याकन करूगा तथा आत्म चिन्तन के अध्याय को सम्पन्न और सम्पूर्ण बनाऊगा।

उच्चता ध्यान साधना की

प्रायश्चित से पवित्र बना, विनय धर्म से मडित, सेवा मे तन्मय और आत्म चिन्तन का अध्येता होकर मेरा मन जव ध्यानावस्थित होगा तो निश्चय ही वह उसकी उच्चता को भी साध सकेगा। ध्यान तप की साधना से मेरी आत्म शक्तिया प्रकाशित भी होगी तथा प्रभावशाली भी। उनके सुप्रकटीकरण से मेरी आत्मा का परम प्रताप एव सर्वशक्ति वैभव मुझे असीम आनन्द की अनुभूति देगा।

ध्यान तप की महत्ता का आकलन करने के लिये पहले ध्यान के प्रकारो को समझ लेना आवश्यक है। वैसे ध्यान को योग का सातवां अग कहा गया है। वहुत देर तक चित्त को किसी एक ही तत्त्व या वात को सोचने मे लगाये रखना भी एक तरह का ध्यान कहलाता है। इस प्रकार यदि वारह सेकिड मात्र तक भी चित्त एक स्थान पर स्थिर रह जाय तो उसे धारणा भी कहते है। वस्तुत वारह धारणाओं का एक ध्यान होता है। अशुभ एव शुभ ध्यान रूप ध्यान के चार भेद एव ४८ उपभेद निम्नानुसार कहे गये हैं

(१) आर्तध्यान—दु ख के निमित्त अथवा दु ख मे होने वाला ध्यान कहलाता है। यह आर्त याने दु खी प्राणी का ध्यान होता है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग एव अमनोज्ञ वस्तु के सयोग आदि के कारणो से जव चित्त मे आकुलता-व्याकुलता फैलती और वढ़ती है और आत्मा जव मोहवश राज्य या सत्ता के उपभोग, धन वैभव, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गध, माला, मणि, रत्न, आभूषण आदि पदार्थों की जो अतिशय कामना करती है तव वह आर्तध्यान रूप अशुभ ध्यान मे रत वनती है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं—(अ) अमनोज्ञ वियोग चिन्ता-अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिच्छित शव्द, रूप, गध, रस, स्पर्श, विषय एव उनके साधन भूत पदार्थों का सयोग होने पर उनकी वियोग स्थिति की

चिन्ता करना वियोग हो जाने पर सुख का अनुभव करना तथा भविष्य में भी उनका सयोग न हो सके ऐसे प्रयलो मे व्याकुल बने रहना— यह आर्त्तध्यान का पहला प्रकार है। इस प्रकार का मूल कारण अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होता है। (ब) रोग चिन्ता—शूल, सिर दर्द आदि रोगो का आक्रमण होने पर उनकी चिकित्सा मे व्याकुल होकर रोगो के मिट जाने की चिन्ता करना और भविष्य मे रोग सयोग न हो इस के लिए आतकित रहना रोग चिन्ता आर्तध्यान है। (स) मनोज्ञ सयोग चिन्ता-पांचो इन्द्रियो के विषय एव उनके साधन रूप स्वय, माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र, धन तथा साता वेदना के सयोग में, उनका वियोग न हो ऐसी चिन्ता करना तथा भविष्य मे भी उनके सयोग की इच्छा रखना—यह आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है। इस प्रकार का मुख्य कारण राग माना गया है। (द) निदान (नियाणा)—सम्राट, इन्द्र, चक्रवर्ती वासुदेव आदि की ऋद्धि या रूप राशि देखकर अथवा सुनकर उनमे आसक्ति लाना तथा यह सोचना कि मैंने जो तप-संयम आदि के धर्मकृत्य किये है, उनके फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि और रूपराशि प्राप्ति हो —यह निदान आर्त्तध्यान है। इसे अधम चिन्ता कही गई है। इसका मूल कारण अज्ञान होता है क्योकि अज्ञानी ही दूसरो के प्राप्त सुखों मे आसक्ति भाव लाते है। ज्ञानी पुरुपो के चित्त मे तो सदा ही मोक्ष की लगन लगी रहती है।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग, द्वेष से युक्त होने के कारण ससार मे अधिक भव भ्रमण कराने वाला है आर्तध्यान के चार लक्षण बताये गये है—(अ) आक्रन्दन-ऊँचे स्वर से रोना और चिल्लाना, (व) शोचन-आखो मे आसू लाकर दीन-भाव धारण करना, (स) परिवेदना-वार-वार आर्त भापण करना तथा विलाप करना एव (द) तेपनता —झार झार आसू गिराना। इष्ट-वियोग, अनिष्ट सयोग और वेदना के निमित्त से ये चारो चिह्न एक आर्तध्यानी मे दिखाई देते है।

(२) रौद्र ध्यान—हिसा की ओर उन्मुख बनी आत्मा द्वारा प्राणियो को कष्टित कर रूलाने और सत्रस्त बनाने वाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्र ध्यान होता है। हिसा की ओर उन्मुख होने वाली आत्मा हिसा के साथ झूठ, चोरी, धन रक्षा आदि से भी अपने मन को जोड़ती है और वैसी दशा मे अतिक्रूर परिणामो से ग्रस्त वनकर वह रौद्र ध्यानी होती है। उस प्रकार के ध्यान मे छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, शोपण करना, अधीन बनाना आदि के सकल्प-विकल्प ही चलते रहते है और ऐसा रौद्र ध्यानी इन सब कुकृत्यो के प्रति राग भाव रखता है और उसके हृदय मे अनुकम्पा-दया का भाव नहीं रहता है। रौद्रध्यान के चार प्रकार कहे गये है · (अ) हिसानुवन्धी—प्राणियो को चावुक, वेत आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरा वीधना, किसी को रस्सी, जजीर आदि से वाधना, अग्नि मे जलाना, अग्नि-दाग (डाम) लगाना, तलवार आदि धारदार शस्त्र से प्राण-वध करना अथवा इस प्रकार के व्यवहार न करते हुए भी क्रोध के वश हो कर निर्दयतापूर्वक निरन्तर इन हिसाकारी व्यापारो को करने का चिन्तन करना हिसानुवधी रौद्र ध्यान है। (व) मृपानुवन्धी— रौद्रध्यान के इस प्रकार मे दूसरो को ठगने की मायावी प्रवृत्तियॉ चलाई जाती हैं तथा छिप कर पापाचरण करते हुए अनिष्ट सूचक शव्द, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थ का अपलाप एव एक के स्थान पर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन तथा प्राणियो के उपघात करने वाले कहे जाते है अथवा कहने की निरन्तर चिन्ता की जाती है। (स) चौर्यानुवन्धी —तीव्र क्रोध एव लोभ से व्यग्रचित्त वाले पुरुप की प्राणियो के उपघातक अनार्य काम जैसे, पर द्रव्य हरण आदि मे निरन्तर चित्तवृत्ति का उलझी हुई रहना चौर्यानुवन्धी रौद्र ध्यान है। (द) सरक्षणानुवन्धी—पाचो इन्द्रियो के शव्द, रूप आदि पाच विपयो के साधन रूप धन की रक्षा करने

की फिक्र मे लगे रहना एव न मालूम दूसरा क्या करेगा—इस आशका से रात-दिन ग्रस्त रहना और दूसरो का उपघात करने की कषायमयी चिन्तना करना रौद्र ध्यान के इस प्रकार मे होता है।

रौद्र ध्यान उन लोगो के साथ लगा रहता है जो राग, द्वेष एव मोह से सदा आकुल व्याकुल रहता है। हिसा, मृषा, चौर्य एव सरक्षण स्वय करना, दूसरो से कराना एव करते हुए की प्रशसा (अनुमोदना) करना—इन तीनो कारण विपयक चिन्ता करना रौद्रध्यान का रौद्र रूप होता है। रौद्रध्यान के भी चार लक्षण बताये गये है (अ) आसन्न दोष—रौद्र ध्यानी हिसा आदि से निवृत्त न होने के कारण बहुलता पूर्वक हिसा आदि मे से किसी एक पाप मे प्रवृत्ति करता है—यह आसन्न दोष है। (ब) बहुलदोष —रौद्रध्यानी हिसा आदि सभी पापो व दोषो मे प्रवृत्ति करता है —यह बहुलदोष है। (स) अज्ञान दोष —अज्ञान के कारण कुशास्त्र के कुसस्कार से नरक आदि गति दिलाने वाले अधर्म-स्वरूप हिंसा आदि कार्यों को धर्म कार्य मान कर उस बुद्धि से उन्नति के लिये प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है। इसे नानादोष भी कहते है, क्योंकि रौद्र ध्यानी विविध हिसा आदि के उपायो मे अनेक बार प्रवृत्ति करता है। (द) आमरणान्त दोष— मरण पर्यन्त क्रूर हिसा आदि के कार्यों मे अनुताप या पछतावा नहीं होना और हिसा आदि के कार्यो मे प्रवृत्ति करते रहना यह दोष है।

(३) धर्म ध्यान—वीतराग प्रणीत धर्म और उनकी आज्ञा के अनुरूप वस्तु-स्वरूप के चिन्तन मनन मे मन को एकाग्र बनाना धर्म ध्यान है। यह ध्यान श्रुत एव चारित्र धर्म से युक्त होता है। धर्मध्यानी सूत्र एव अर्थ की ज्ञान-साधना करता है, महाव्रतो को धारण करता है, बध और मोक्ष तथा गति और आगति के हेतुओं का विचार रखता है, पाचो इन्द्रियो के विषयो से निवृत्ति लेता है तथा प्राणियो के प्रति दया भाव से द्रवित होता हैं और इन सभी प्रवृत्तियो मे स्थिरचित्ती बनता है। धर्म ध्यान मे रत रहने वाली आत्मा वीतराग एव सुगुरु के गुणो का कथन करने वाली, उनकी प्रशसा करने वाली, श्रुतिशील एव सयम मे अनुरक्त होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार होते है—(अ) आज्ञा विचय—वीतराग देव की आज्ञा (उपदेश वाणी) को सत्य मानना, उस पर श्रद्धा करना तथा उसमे प्रतिपादित तत्त्वो पर चिन्तन और मनन करना। वीतराग देवो की वाणी कैसी होती है ? सूक्ष्म तत्त्वो की विवेचना करने से यह अति निपुण, अनादि-अनन्त, सभी प्राणियो के लिये हितकारी, अनेकान्त का ज्ञान कराने वाली, अमूल्य, अपरिमित, अन्य प्रवचनो से अपराभूत, महान् अर्थवाली, महाप्रभावशाली, नयभग एव प्रमाण से गहन अतएव अकुशल जनो के लिये दुरज्ञेय होती है। वीतराग आज्ञा की पूर्ण सत्यता मे ऐसा नि शक विश्वास होना चाहिये कि यदि वीतराग देवो के प्रतिपादित तत्त्व के रहस्य को समझाने वाले आचार्य महाराज समक्ष न हो, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से या दुर्बल बुद्धि के कारण कोई स्वरूप, हेतु या उदाहरण समझ मे नहीं आवे, तव भी विचारो मे किसी प्रकार का सन्देह प्रविष्ठ नही होना चाहिये। यही विचारधारा रहनी चाहिये कि वीतराग देवो द्वारा असत्य कथन का कोई कारण नही है क्योंकि वे अनुपकारी जन के प्रति भी उपकार मे तत्पर रहने वाले जगत् मे प्रधान, त्रिलोक और त्रिकाल के ज्ञाता, एव राग, द्वेष व मोह के विजेता होते हैं। इस निष्ठा के साथ वीतराग वाणी का चिन्तन-मनन करना और गूढ़ तत्त्वो के विपय मे कोई शका न रखते हुए उन्हे दृढ़तापूर्वक सत्य समझना तथा वीतराग की आज्ञा मे मन को एकाग्र करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। (व) अपाय विचय—इस प्रकार के अनुसार राग, द्वेप, कषाय आदि के अपायो के चिन्तन करने में मन को एकाग्र करना है। राग-द्वेष, कपाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव एव क्रियाओं से होने वाले ऐहिक व पारलौकिक कुफल और हानियो पर विचार करना।

जैसे कि रोग ग्रस्त व्यक्ति को अपथ्य अन्न की लालसा होती है, वैसे ही कर्मग्रस्त आत्मा प्राप्त हुए राग को अपने से चिपकाये रखना चाहती है किन्तु अपथ्य अन्न की तरह प्राप्त राग भी अतीव हानि प्रद होता है। इसी प्रकार प्राप्त हुआ द्वेष भी आत्मा को उसी प्रकार तपा देता है जैसे कोटर मे रही हुई आग वृक्ष को जल्दी ही जला डालती है। राग और द्वेष इहलोक और परलोक दोनो को बिगाड़ते हैं। यही अवस्था अनियत्रित क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायो की होती है जो वढ़ते हुए ससार रूपी वृक्ष को सीचते रहते है। कपायी आत्मा प्रशय आदि गुणो से शून्य तथा मिथ्यात्व से मूढ़ होती है। कपायो से भी अज्ञान अधिक दु खदायी होता है क्योंकि अज्ञानी आत्मा अपना हिताहित भी नहीं पहिचानती है। हिसा आदि आश्रव से अर्जित पापकर्मों के कारण आत्मा दीर्घकाल तक नीच गतियो मे भटकती हुई अनेक अपायो (दु खो) की भाजन होती है। इन दोषो से होने वाले, कुफल का चिन्तन करने वाली आत्मा इन दोषो से अपनी रक्षा करने मे सावधान हो जाती है, जिससे वह सफलतापूर्वक आत्म-कल्याण की साधना कर सकती है। (३) विपाक विचय—आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना कि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन एव सुख रूप है किन्तु कर्मावृत्त होने के कारण उसके मूल गुण दवे हुए हैं और उसी से उसका ससार परिभ्रमण चल रहा है। सम्पत्ति-विपत्ति या सयोग-वियोग आदि से होने वाले सुख-दु ख आत्मा के ही पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल होते है क्योंकि आत्मा ही अपने सुख-दु ख का भोक्ता और कर्ता होती है। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे कर्मों के ही भिन्न-भिन्न फल होते है। इस प्रकार कषाय एव योग जनित शुभाशुभ कर्म प्रकृति बध, स्थिति बध, अनुभाग वध, प्रदेश बध, उदय, उदीरणा, सत्ता इत्यादि कर्म विषयक चिन्तन मे मन को एकाग्र करना विपाक विचय धर्मध्यान है। (द) सस्थान-विचय—इस अनादि अनन्त ससार सागर का चिन्तन करना कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य एवं उनकी पर्याय, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, जीव की गति आगति एव जीवन मरण आदि संसार ससरण के रूपक हैं तथा इस ससार सागर मे आत्मा और उसके कर्म से उत्पन्न जन्म जरा रूप जीवन मरण अथाह जल रूप है, क्रोध आदि कषाय जल-तल (पाताल) है, विविध दुःख मगरमच्छ आदि हैं, अज्ञान रूपी वायु उठती रहती है तथा सयोग-वियोग रूपी लहरे रात दिन चलती रहती है। इसके साथ ही यह भी चिन्तन करना कि इस ससार सागर को पार कराने मे समर्थ चारित्र रूपी नौका होती है, जिसको सम्यक् ज्ञान रूपी नाविक चलाता है और जो सम्यक् दर्शन रूपी वधनो से सुदृढ़ होती है। यह नौका सवर से छेदरहित, तप रूपी पवन से वेगवती, वैराग्य मार्ग पर चलने वाली किन्तु अपध्यान से न डगमगाने वाली वहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण होती है। जिसे मुनि रूपी व्यापारी निर्बाध रूप से खेकर निर्वाण रूपी नगर को पहुँच जाते हैं। मोक्ष के अक्षय, अव्यावाध, स्वाभाविक व निरूपम सुखो की अभिलाषा रखते हुए वीतराग देवो द्वारा उपदेशित सिद्धान्तो के गहन अर्थ चिन्तन मे मन को एकाग्र करना सस्थान विचय धर्म ध्यान है।

धर्म ध्यान के भी चार लक्षण वताये गये हैं· (१) आज्ञा रुचि—सूत्र मे प्रतिपादित अर्थो पर रुचि धारण करना (२) निसर्ग रुचि—स्वभाव से ही विना किसी उपदेश के वीतराग भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा करना, (३) सूत्र रुचि—सूत्र द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना तथा (४) अवगाढ़ (उपदेश) रुचि—वीतराग देवो के उपदेशो जो सुगुरु द्वारा कहे जावे के भावों पर श्रद्धा करना। समुच्चय मे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व ही धर्म ध्यान का प्रमुख लक्षण होता है। धर्मध्यानी वीतराग देव एव सुगुरु के गुणों का कथन करता है, उनकी प्रशसा और स्तुति करता है, गुरु आदि का विनय करता है, दान देता है, तथा श्रुत, शील एव सयम मे अनुराग रखता है। धर्म

ध्यान रूपी महल पर चढ़ने के लिये स्वाध्याय के चार प्रकार वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा प्रधान अवलम्बन होते हैं। धर्म ध्यानी की चार भावनाएँ मुख्य होती है— (१) एकत्त्व भावना—इस ससार मे मैं अकेला आया हूँ, मेरा कोई नही है और मै किसी का नहीं हूँ। (२) अनित्य भावना—शरीर अनेक विघ्न बाधाओं एवं रोगो का स्थान है और प्रत्येक पदार्थ नश्वर हैं। (३) अशरण भावना—जन्म, जरा, मृत्यु भय से पीड़ित एव वेदना से व्यथित इस ससार मे आत्मा का त्राण रूप कोई नही है सिवाय सद्धर्म के। (४) ससार भावना—ससार की अवस्थाएँ अति विचित्र होती है।

एक अन्य अपेक्षा से भी धर्म ध्यान के चार भेद किये गये हैं · (१) पिडस्थ (पृथ्वी अग्नि आदि पाच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन करना) (२) पदस्थ (पंच परमेठि मे किसी पद पर आश्रित होकर मन को एकाग्र करना (३) रूपस्थ (अरिहत भगवान के शान्त रूप को हृदय में स्थापित करके मन को एकाग्र करना। एव (४) रूपातीत (निरंजन निर्मल सिद्ध भगवान् का आलबन लेकर उनके साथ अपनी आत्मा की एकरूपता का चिन्तन करना)।

(४) शुक्ल ध्यान—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्मों का मैल दूर करता है तथा जो सम्पूर्ण शोक को नष्ट करता है, वह शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान के माध्यम से पूर्व विषयक श्रुत के आधार पर मन की अत्यन्त स्थिरता एव योग का निरोध साधा जाता है तथा विना किसी दूसरे के अवलम्बन के निर्मल आत्म स्वरूप पर तन्मयता पूर्वक चिन्तन किया जाता है। शुक्लध्यानी इन्द्रिय-सम्बन्धित विषयो का सम्वन्ध होने पर भी अपने वैराग्य के बल से अपने चित्त को बाहरी विषयो की ओर नही ले जाता एव अपने शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर रहकर चित्त को अपने शुक्ल ध्यान से लेश मात्र भी नही डिगमिगाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद बताये गये है—(अ) पृथकत्त्व वितर्क सविचारी—शुक्ल ध्यान के इस प्रकार मे ध्यानी साधक एक द्रव्य से सम्वन्धित अनेक पर्यायो का पृथक् पृथक् रूप से पहले जाने गये श्रुत के अनुसार विस्तारपूर्वक द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयो से गभीर चिन्तन करता है। यह ध्यान विचार सहित होता है तथा विचार का स्वरूप होता है अर्थ, व्यजन (शव्द) और योगो मे सक्रमण। इस ध्यान मे अर्थ से शब्द मे, शव्द से अर्थ मे और शब्द से शब्द मे तथा अर्थ से अर्थ मे एव एक योग से दूसरे योग मे सक्रमण होता है। यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयो से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन करता है। कभी यह ध्यान उनको भी प्राप्त हो सकता है जो पूर्वधारी नहीं है। उन्हे यह ध्यान अर्थ, व्यंजन एवं योगो मे परस्पर सक्रमण रूप होता है। (ब) एकत्व वितर्क अविचारी—शुक्ल ध्यान के इस प्रकार मे ध्यानी साधक पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायो के एकत्त्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करता है। इस ध्यान मे अर्थ, व्यजन एव योगो का सक्रमण नही होता। विना हवा वाले घर मे रखे हुए दीपक के समान इस ध्यान मे चित विक्षेप रहित होकर स्थिर रहता है। (स) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती—मोक्ष गमन के पहले केवली भगवान् मन, वचन के योगो का भी निरोध कर लेते है और अर्ध काय-योग का भी निरोध कर लेते है। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामो की विशेष उच्चता के कारण इस स्तर से केवली पुन· पीछे नही हटते है। इस रूप का होता है शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार। (द) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती —शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर केवली सभी योगो का

निरोध कर लेते है। योगो के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा बना रहता है, इसी कारण इसे समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहते है। शुक्ल ध्यान का पहला प्रकार सभी योगो मे होता है, दूसरा किसी एक योग मे होता है, तीसरा केवल काय योग मे होता है तो चौथा प्रकार अयोगी को ही होता है। छदास्थ अवस्था मे मन को निश्चल बनाना तो केवल ज्ञान की अवस्था मे काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार लक्षण कहे गये है— (१) अव्यथ —शुक्लध्यानी परिषहो व उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नही होता है अत वह लिगवाला होता है। (२) असम्मोह—शुक्ल ध्यानी को अत्यन्त सूक्ष्म व गहन विषयो मे अथवा देवादि रचित माया मे सम्मोह नहीं होता, अत वह असम्मोह लिग वाला होता है। (३) विवेक—शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न तथा सर्व सयोगो को आत्मा से भिन्न समझता है अत वह विवेक लिग वाला होता है। (४) व्युत्सर्ग —शुक्लध्यानी नि सग रूप से देह एव उपधि का त्याग करता है अत. वह व्युत्सर्ग लिंग (लक्षण) वाला होता है। शुक्ल ध्यान के भी चार अवलम्बन बताये गये है —(१) क्षमा—क्रोध न करना, उदय मे आये क्रोध को दबाना व क्रोध का त्याग करना (२) मार्दव — इसी प्रकार मान का त्याग करना (३) आर्जव-इसी प्रकार माया का त्याग करके सरलता लाना एव (४) मुक्ति —लोभ का त्याग करके शोच निर्लोभता प्रकट करना। शुक्लध्यानी की चार भावनाए होती है—(१) अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा—भव परम्परा की अनन्तता की भावना करना (२) विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना (३) अशुभानुप्रेक्षा—ससार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना एव (४) अपायानुप्रेक्षा-आश्रवो से होने वाले, जीवो को दु:ख देने वाले विविध अपायो से चिन्तन करना।

मै सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान के परमोच्च स्वरूप पर चिन्तन करता हू तो मेरा हृदय आत्मोत्साह से आल्हादित हो उठता है। पापपक से कलकित बनी यह आत्मा अपने परमपुरुषार्थ से इस रूप मे परम प्रतापी बन सकती है—तव अनुत्साह का क्या कारण है ? मात्र दिशा परिवर्तन की आवश्यकता है कि मोहग्रस्त यह आत्मा अपने मोहावरण को सर्वथा समाप्त कर देने का कठिन सकल्प ग्रहण करले और शुक्ल ध्यान की श्रेणी तक पहुचने का अध्यवसाय बनावे।

समत्त्व के शिखर पर

मै भावना भाता हू कि तपाराधन के क्रम मे आठ कर्मों के बधनो को तोड़ता हुआ मै भी एक दिन व्युत्सर्ग तप का आचरण करते हुए समत्त्व के शिखर पर आरूढ़ होऊ। प्रायश्चित से लेकर व्युत्सर्ग तक के छ आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के अन्तरग कारण माने गये है।

अन्तर्दृष्टि आत्मा ही इनका सेवन करती है तथा वही इन्हे तप रूप मे जानती और देखती है। इन तपो की आराधना का असर आन्तरिक राग, द्वेष, कषाय आदि पर पड़ता है, जिसे वाह्य दृष्टि से लोग देख नही पाते है। आभ्यन्तर तपो की शृखला मे व्युत्सर्ग अन्तिम एव सर्व श्रेष्ठ तप है जिसका अर्थ है ममत्व का सर्वथा त्याग कर देना और ममत्व के सर्वथा त्याग का ही प्रतिफल होता है समत्व के शिखर पर आरूढ़ हो जाना।

सामान्य रूप से व्युत्सर्ग तप के दो भेद कहे गये है—(१) द्रव्य —गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना एव (२) भाव —कषाय, ससार और कर्म का त्याग करना। यो नि सग अर्थात् ममत्वरहित होकर शरीर और उपधि के त्याग रूप इस व्युत्सर्ग तप के सात भेद भी किये गये

हैं —(१) शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना, (२) गण व्युत्सर्ग—अपने सगे सम्वन्धी या शिष्य वगैरा का त्याग करना, (३) उपधि व्युत्सर्ग-भड, पात्र, उपकरण आदि का त्याग करना, (४) भक्तपान व्युत्सर्ग—आहार पानी का त्याग करना, (५) कषाय व्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायो का त्याग करना, (६) ससार व्युत्सर्ग—नरक आदि के आयुष्य-बध के कारण ससार के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का त्याग करना एव (७) कर्म व्युत्सर्ग—कर्म बधन के कारणो का त्याग करना। इन सात व्युत्सर्गों मे से प्रथम चार द्रव्य तथा अन्तिम तीन भाव व्युत्सर्ग कहलाते है। जैसे कषाय व्युत्सर्ग के क्रोध मान, माया, लोभ रूप चार भेद होते है, वैसे ही ससार व्युत्सर्ग के भी चार भेद है—नैरयिक, तिर्यच, मनुष्य व देव एव कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गौत्र तथा अन्तराय।

मै अपने अनुभव के आधार पर चिन्तन करता हू कि यह ममत्व ही ससार परिभ्रमण का मूल है और इसी कारण आठ कर्मो मे मोहनीय कर्म सर्वाधिक शक्तिशाली माना गया है —कर्म दल का सेनापति। अत कर्मों के सारे बधनो को तोड़कर मुक्ति मार्ग की ओर गति करनी है तो मुझे अपनी अपूर्व आत्मशक्ति का स्वरूप दर्शन करना होगा जो समीक्षण वृत्ति की सहायता से ही मै कर पाऊगा। अपनी आत्म-साक्षात्कार की अवस्था मे मै स्पष्ट जान लूगा कि मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है ? और वह मार्ग है तपाराधन का, जिसकी पूर्णाहूति होती है व्युत्सर्ग तप से। ममत्व का सर्वथा त्याग ही आध्यात्मिक जीवन का परम साध्य है क्योकि इस त्याग के पश्चात् ससार के सभी हेतु विनष्ट हो जाते है तथा समत्व योग की प्राप्ति हो जाती है। समभाव, समदृष्टि एव समता के सर्वोच्च आनन्द मे आत्मा का रमण अव्याबाध और शाश्वत बन जाता है। आत्मा की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त सुख की यह अवस्था ही उसे अनन्त शक्ति की अनुभूति देती है तथा सर्वशक्तिमान् के पद से विभूषित वनाती है।

तपस्या का अ आ इ ई

मै बारह प्रकार के तपाराधन का यह विवेचन समझता हू तो एक बात मन मे उठती है कि प्रबुद्ध, भव्य और सशक्त आत्माओं के लिये तो साधना का विशाल क्षेत्र है, किन्तु अपने आपको अशक्त मानने वाली आत्मा यदि किचित् जागरण के प्रभाव से तपाराधन प्रारभ करना चाहे तो वह क्या करे ? उसके लिये तपस्या का अ आ इ ई याने आरभ क्या हो सकता है ? उसके लिये ऐसे तप होने चाहिये जिनकी साधना सरल हो किन्तु फल की दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नही हो। ऐसे तपाराधन के प्रति सामान्य जन भी सहज रूप से प्रभावित हो सकते है।

मै समझता हू कि अति सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को भी आत्मा और शरीर के अलगाव का ज्ञान करा दिया जाय, कर्मों के मैल से आत्मा की स्वरूप विकृति का भान दिला दिया जाय और यह वता दिया जाय कि विषय कषाय के घात—प्रतिघातो से इस सासारिक जीवन मे कितने घोर कष्ट भोगने पड़ते है तो उसकी चेतना को तपाराधन की दिशा मे प्रभावकारी मोड़ दिया जा सकता है। उसे तपाराधन के निम्न सामान्य प्रयोग वताये जा सकते हैं। तथा उसे प्रेरित किया जा सकता है कि वह उस प्राथमिक अवस्था मे अपनी सकल्प शक्ति को सुदृढ़ वनाता हुआ आगे वढ़ता जावे—

(१) प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिन्तवन किया जाय। इसमे त्याग कुछ नही करना है, केवल त्याग की भावना वनानी होती है। तीन मनोरथ इस प्रकार हैं—(अ) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा,

जिस दिन मै संसार के समस्त प्राणियो से सम्बन्धित आरभ एव समारंभ तथा सभी प्रकार के बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करूगा। (ब) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा, जिस दिन मैं द्रव्य से अपने मस्तक तथा भाव से अपने मन को मुडित बना कर साधु धर्म की दीक्षा अगीकार करूगा। एव (स) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा जिस दिन मै अठारह पाप तथा चारो आहार का त्याग करके आत्मालोचना एवं सलेखना सहित पडित मरण को प्राप्त करूंगा। मनोरथ चिन्तन की निरन्तरता से आत्म भाव की पुष्टि होती रहेगी और इस रूप में यह पावन कार्य तप रूप ही होगा।

(२) प्रतिदिन इसी प्रकार चौदह नियमो का भी चिन्तवन किया जाय जिससे त्याग की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता चले। तथा सामान्य त्याग का अभ्यास भी बनता चले। चौदह नियम इस प्रकार है—(अ) सचित (आ) द्रव्य (इ) विगय (ई) उपानह (पगरखी वगैरा) (उ) ताम्बूल-पान (ऊ) वस्त्र (ए) पुष्प (ऐ) वाहन (ओ) शय्या (मलमूत्र स्थान सहित) (औ)लेपन (अ) ब्रह्मचर्य (अ) स्नान (ऋ) दिशा तथा (ॠ) भोजन मे प्रतिदिन कुछ न कुछ यथाशक्ति मर्यादा ली जाय तथा प्रतिदिन अधिकतर त्याग की भावना रखी जाय।

(३) मृत्यु अवश्यभावी है लेकिन कब होगी—यह अज्ञात है अत बिना त्याग प्रत्याख्यान के अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो आत्म सशोधन नही होगा —इस भावना से प्रतिदिन रात्रि को सोते समय आश्रव क्रियाओं का त्याग करके सागारी सथारा कर लेना चाहिये जिसकी अवधि दूसरे दिन प्रात उठने तक के समय की होगी। सुविधा के लिये यह पाठ उच्चारित कर लिया जाय —'आहार, शरीर, उपधि, पचखू पाप अठार। मरण पाऊ तो वोसिरे, जीऊ जागू तो आगार।' ऐसा ही तपोपाय दिन भर आहार क्रिया से वचने के सम्वन्ध मे भी किया जा सकता है। प्रति समय खाया तो जाता नही है किन्तु उसका त्याग भी नही होता है अत एक अगुली मे अगूठी पहिन कर व्रत ले लिया जाय कि जब भी खाना होगा अगठी उतार कर व महामत्र पढ़कर खाऊगा, वरना अगूठी पहने-पहने भोजन का त्याग रहेगा। इससे भी तपश्चरण की भावना पुष्ट होगी तथा अनावश्यक क्रिया रूप पाप वध से वचा जा सकेगा।

(४) प्रति दिन अथवा दिन रात मे शुभ समय मिलने पर वन्दना करने का नियम लिया जाय। यह वन्दना सुदेव व सुगुरु के प्रति भक्ति दर्शाने वाली हो तथा उनके गुणो का स्मरण कराने वाली हो। ऐसे भक्ति सहित वन्दन नमन से आन्तरिकता मे रही हुई कषाय वृत्तियाँ मन्द होगी तो नमने से कर्मों की निर्जरा भी होगी।

(५) अनशन तप की सीमा एक नवकारसी या पहरसी से लेकर छ माह तक की होती है। कम से कम शक्ति वाला व्यक्ति भी नवकारसी (रात्रि वारह बजे से सूर्योदय के बाद ४८ मिनिट तक कुछ भी नही खाना पीना) तथा पहरसी (एक पहर तक कुछ भी नहीं खाना पीना) की तपस्या कर सकता है। कठिनाई मामूली है लेकिन फल ऊचा माना गया है। कहते है एक नवकारसी करने से सौ वर्ष नरक मे जितने दु ख भोगे उतने अशुभ कर्मो का क्षय होता है और एक पहरसी से हजार वर्ष नरक मे जितने दु ख भोगे उतने अशुम कर्मों का क्षय होता है। एकासना तप का इससे भी अधिक फल मिलता है।

तपोपूत आत्म-शक्ति

जैसे तपस्या का अ आ इ ई होता है, वैसे उसका डि. लिट् भी होता है तपाराधना के रूप मे तथा उसमे भी सर्वोच्य आभ्यान्तर तपो की साधना मे। इन तपो का आचरण करते हुए कर्मों का

मैल प्रक्षालित होता रहता है और आत्म-स्वरूप निर्मल बनता जाता ऐसी तपोपूत आत्मा ही शक्ति का केन्द्र बनती है। मै वैसी आत्म शक्ति का दर्शन वीतराग देवो के जीवन मे करता हू और चिन्तन करता हूं कि ऐसी शक्ति का धारक बनकर मै भी लोकोपकार के नये नये आयाम साधूं।

मै इस दृष्टि से अपनी आत्मा को भी तपोपूत बनाने का निश्चय करता हू, क्योंकि मै जानता हूं कि बिना तपाराधन के मोक्ष की प्राप्ति सभव नही है, कारण, बिना तपाराधन के कर्मों की निर्जरा नही होती है। अत मैं तप करने के उद्देश्यो की मीमासा करना चाहता हूँ और उन उद्देश्यो को इस रूप मे रखता हू—

(१) आत्म रूपान्तरण—मैल से गदे बने कपड़े को साबुन सोड़े से धोने का प्रयत्न करेगे, तभी स्वच्छ निकल कर उस कपड़े का रूपान्तरण हो सकेगा। मै भी तपाराधन से इस रूप मे अपने आत्मस्वरूप का रूपान्तरण करना चाहूगा। यह रूपान्तरण अशुभता से शुभता मे होगा। आत्मा के लिये साबुन-सोड़े का काम तप करता है जो कर्म मैल को निर्जरा के रूप मे दूर कर देता है। मैं तपाराधन द्वारा कर्मक्षय करके आत्मा के रूप को निर्मलता मे परिवर्तित कर दूगा। मैं तप की आराधना अपने मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र को दृष्टि मे रखते हुए करता हू किन्तु प्रयत्न करता हू कि मेरा मनोबल निरन्तर बढ़ता रहे। मै तपश्चरण को उसी रीति मे योग्य समझता हू जिससे मन समाधि मे रहे, अमगल की चिन्ता न हो, आर्त व रौद्र ध्यान न सतावे तथा इन्द्रियो व योगो का हनन न हो। तपाराधना मे न तो प्रदर्शन की कामना होनी चाहिये तथा न ही अन्य प्रकार की ऐहिक शसाए। तपाराधन की केन्द्र स्थली आत्मा रहे तथा मै आत्म रूपान्तरण के प्रति सदा सतर्क रहू।

(२) देह-मोह-नाश—तपाराधना के क्षणो मे मै अपने आत्मस्वरूप पर गभीर चिन्तन करू तथा अनुभूति लू कि मै अर्थात् मेरी आत्मा मेरे ही शरीर से पृथक है। मै जो तप कर रहा हू, उसका उद्देश्य एक ओर आत्मा को तपा कर निर्मल बनाना है तो दूसरी ओर देह को तपाकर उसके प्रति जमे हुए मोह से भी मुझे मुक्ति लेनी है। तप का उद्देश्य देह त्याग नही, बल्कि देह बुद्धि और देह मोह का त्याग करना तथा विदेही की अनुभूति लेनी है। मै सोचता हू कि भूख प्यास, पीड़ा वेदना देह को होती है, आत्मा को नही अत अनन्त आनन्द की शाश्वत स्रोत आत्मा का धर्म अलग है तथा देह का धर्म अलग है।

(३) इच्छाओं और आसक्ति का अन्त—मै तपश्चरण का यह महत्वपूर्ण परिणाम समझता हू कि तप जितना दृढ़ सकल्प के साथ साधा जायगा, उतनी ही त्वरित गति से इच्छाओं का सशोध और आसक्ति का अन्त होता जायगा जबकि अनेकानेक इच्छाए व आसक्तिया ही आत्मा को लुभाती है और पतन के गहर मे गिराती है। मैं तप काठिन्य को बढ़ाता हुआ अज्ञान, विषय व कषाय का समूल विनाश करता रहूगा।

तपश्चरण के महान् उद्देश्यो को केन्द्रस्थ बनाकर मै तप के महात्म्य का भी निरन्तर चिन्तन करता रहूंगा ताकि तपश्चरण के प्रति मेरी अभिरुचि अभिवृद्ध होती जाय। मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की महायात्रा को सफल बनाने के लिये तप ही आध्यात्मिक उष्मा और ऊर्जा है, जो आत्म गति को ऊर्ध्वगामी बनाती है। मोह-ममत्व एव कर्मो के लेप को हटाना तप सेवन के बिना अशक्य है। तपश्चरण से आत्मा निर्मल होती है तथा बाह्य एव आन्तरिक जीवन निर्विकार बनता है। इस रूप

मे तपश्चरण शारीरिक एव मानसिक रोगो से भी मुक्ति दिलाता है। जिन आधि-व्याधियो की चिकित्सा करने मे चिकित्सक और चिकित्सा प्रणालियाँ विफल हो जाती है उन्हे तप की क्रमिक साधना जड़ मूल से दूर कर देती है। अनशन तप के नियमित नियम से व्याधियाँ नहीं आती है और शरीर निरोग बना रहता है।

मेरे अनुभव मे आया है कि तप की प्रामाविकता भी विपुल होती है। तपस्वी के समक्ष शक्तिशाली पशुबल भी हार मान लेता है क्योंकि उसका आत्मबल अजेय बन जाता है। तपश्चरण से धर्म की समूची आराधना समन्वित रूप मे हो जाती है। तप आत्मा को धर्म के सन्निकट ले जाता है। सवर के बाद तप से ही कर्म क्षय होते है और निर्जरा के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। तप ऐसी प्रखर अग्नि होती है जिसमे अनिकाचित कर्म तक नष्ट हो जाते है। बिना तप के मोक्ष नहीं है और तपश्चरण से शीघ्र मोक्ष मिलता है। अत मै तप का आराधन विवेक सहित तथा समभाव पूर्वक करता हू और यह निश्चय करके कि तपाराधना मे कोई लौकिक एषणा नही रखूगा, मात्र कर्म क्षय करने का हेतु ही समक्ष रखूगा। मेरे तपाराधन मे वन्दन-स्तुति का भाव भी नहीं रहेगा तथा तप के मूल तत्त्व धैर्य और समत्व भाव को आत्मसात् करके निश्चल बना रहूगा। इस प्रकार मेरी आत्मा तप मे तपेगी, अपने स्वकरूप मे पवित्र बनेगी एव शक्ति सचय मे अग्रगामी होगी। तपोपूत आत्मशक्ति की तभी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकेगी।

सातवां सूत्र और मेरा संकल्प

तपोपूत आत्म शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति से मेरी आत्मा का समग्र स्वरूप उल्लसित हो उठेगा क्योंकि महाप्रतापी और सर्वशक्तिमान बनने का उसका लक्ष्य समीप आता हुआ दिखाई देगा। तव मेरा सोचना भी सार्थक हो जायगा कि कर्म बधन कैसे टूटते है और मुक्ति के मार्ग पर कैसे पहुचते है ? मै उस स्तर तक पहुचने के लिये आज अपनी आत्म-शक्ति पर समीक्षण ध्यान करता हू और आत्म-साक्षात्कार तक पहुचना चाहता हू। मै जानता हू कि यह महद् कार्य मै वीतराग देवो की आज्ञा मे अपने पुरुषार्थ को नियोजित करके ही सम्पन्न कर सकूगा।

अत मै सकल्प लेता हू कि मै वीतराग देवो की आज्ञा मे ज्ञान और क्रिया का सयोग वनाकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रगामी वनूगा। इसी प्रगति मे मै बारह प्रकार के तपो की कठोर आराधना करूंगा और कर्म बधनो को तोड़ता हुआ देहमोह से भी मुक्त होने की अवस्था तक पहुंच जाऊगा।

मै अपने सकल्प मे सुदृढ़ रहते हुए अपनी अनन्त आत्मिक शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय वनाऊंगा तथा महाप्रतापी एव सर्वशक्तिमान् होने का उपक्रम करूगा।

अध्याय नौ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ८ :

मै ज्ञान पुज हूँ, समत्व योगी हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यो नही मिलती, अमिट सुख क्यो नहीं प्राप्त होता?

ज्ञान के प्रकाश मे मै अनुभव करूँगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एव विश्वकल्याण का चारण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है? तब मै वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ एकावधानता से सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना करूँगा, गुणस्थानो के सोपानो पर चढ़ता जाऊगा और समत्व योग के माध्यम से अमिट शान्ति एव अक्षय सुख को प्राप्त कर लूगा।

सूत्र आठवां

मै ज्ञानपुज हू, समत्व योगी हू। मेरी आत्मा मे अज्ञान आया हुआ है, ज्ञान मूल मे है और वह ज्ञान भी सामान्य नही, अनन्त ज्ञान है। इसीलिये मै ज्ञानी ही नही, ज्ञानपुज हू।

मैं ज्ञानपुज हू, अपार ज्ञान का धारक हू। अज्ञान इस सासारिकता मे मेरे आत्म स्वरूप से सलग्न हुआ है और उसने मेरी ज्ञान शक्ति को आछन्न कर दी है, किन्तु उस अज्ञान को दूर कर देने का सामर्थ्य भी मेरे ही भीतर रहा हुआ है—अधकार को समाप्त कर देने वाला प्रकाश भी मेरी ही आन्तरिकता मे समाया हुआ है। मै उस प्रकाश का आह्वान करू —उसे अनावृत्त करने का पुरुषार्थ करूं तो मै प्रकाश पुज बन सकता हू, ज्ञानपुज हो सकता हू। ज्ञान पुज ही प्रकाश पुज होता है।

मै ज्ञानपुज हू और उसकी ही सम्पूर्ति मे मै समत्व योगी भी हू। मेरा सम्यक् ज्ञान ही मेरा पथ दर्शक बनकर मुझे समत्व योग तक पहुचाता है—समता रस का पान कराता है। मै अपने ही ज्ञान के उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी सोपानो पर आरूढ़ होता हुआ समत्व को प्राप्त करता हू तो शिखर पर पहुच कर समत्व—योगी बन जाता हू।

मै ज्ञानपुज हू, समत्व योगी हू। मेरा ज्ञान ही चारित्र मे ढलता है, मुझे चारित्र्यशील बनाता है और ज्ञान एव चारित्र का गतिशील सामजस्य स्थापित कर देता है। मेरा ज्ञान मेरी आत्मा की आखे बन जाता है और मेरा चारित्र उसके सशक्त पाव—तब समता के मार्ग पर उसकी दौड़ आसान हो जाती है। मेरी आत्मा तब समतावादी से समता धारी और समता धारी से समतादर्शी हो जाती है। समतादर्शी हो जाना ही समत्त्व योग की चरम परिणति होती है। मैं समत्व योगी हो जाता हू।

मै समत्व योगी हू। इसी योग के सुफल स्वरूप मुझे अमिट शान्ति मिलती है और मिलता है अक्षय सुख। उस शान्ति और सुख का मै तब शाश्वत धनी हो जाता हू। वह शान्ति मुझसे फिर कभी विलग नही होती, वह सुख मुझे फिर कभी नही छोड़ता—सदा शान्ति, सदा सुख मेरी ज्योतिर्मयी आत्मा के सतत साथी वन जाते हैं।

मै समत्व योगी होता हू तो सवको-सभी जीवो एव पदार्थों को यथावत् रूप मे समता की दृष्टि से देखता हू, सवका हित चिन्तन करता हू और अभिलाषा रखता हू कि सभी अपने सम्यक् ज्ञान को जगावे, सम्यक् चारित्र को सक्रिय बनावे और समता के प्रशस्त पथ पर बढ़ चले।

मैं ज्ञानपुज होना चाहता हू और समत्व योग तक सफलता पूर्वक पहुचना चाहता हू, इसी कारण अपने लिये भी चाहता हू और सभी भव्य जीवो के लिये भी चाहता हू कि ज्ञान और क्रिया (चारित्र) का श्रेष्ठ समन्वय किया जाय और दोनो को एकरूपता मे ढाल कर आत्मविकास का शक्तिशाली माध्यम वना दे।

मै अपने ज्ञान और समता (दया या क्रिया) के सयोग से जानता हू कि पहले ज्ञान और फिर दया (क्रिया) की आवश्यकता होती है क्योंकि मै अपने ज्ञान के प्रकाश मे ही सुयोग्य क्रिया का

चयन करता हू। ज्ञान के बिना ही क्रिया को पकड़ लूगा तो मै उसके सही स्वरूप को नही जान पाऊगा और उस क्रिया की शक्ति को भी नही पहिचान पाऊगा कि वह मुझे मेरी आत्म-विकास की महायात्रा में सफलता दिला सकेगी अथवा नही। इसके विपरीत केवल ज्ञान को ही पकड़ लूगा तो प्रकाश अवश्य फैल जायगा किन्तु क्रिया के अभाव मे गति नहीं पकड़ सकूगा। प्रकाश मे ही सही—लेकिन अपने प्रस्थान के स्थान पर ही ठहरा रहूंगा तो अपने गतव्य तक पहुंचूगा कैसे ? समत्व योग तक पहुचू—उसके लिये मुझे प्रकाश भी चाहिये और गति भी। मुझे न अधकारपूर्ण गति चाहिये और न प्रकाशपूर्ण स्थिति। मेरा ज्ञान और मेरी समता ही परस्पर जुड़ कर मेरी आत्मा को ऊर्ध्वगामी प्रगति प्रदान करेगे। क्योकि ज्ञान और क्रिया—दोनो की एकरूप क्रियाशीलता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोगी स्वरूप का एक रूपक है। एक बीहड़ जगल मे एक लगड़ा व्यक्ति पड़ा हुआ था, वह पास के नगर मे पहुच कर सुख से जीवन बिताना चाहता था। उसे नगर तक पहुचने का सही मार्ग भी मालूम था, लेकिन वह एक कदम भी चल नहीं सकता था, इसलिये नगर मे पहुचे तो पहुचे कैसे ? उसकी मार्ग की सही जानकारी और सुख पाने की अभिलाषा भी उसके कुछ काम नही आ रही थी। वह असहाय बना चारो ओर नजर घुमा रहा था कि कहीं उसका कोई सहायक मिल जाय। अचानक उसे कुछ दूरी पर एक दूसरा व्यक्ति दिखाई दिया। वह कभी एक पड़े से टकरा रहा था तो कभी किसी झाड़ी मे गिर रहा था। कभी वह पत्थर से ठोकर खा जाता तो कभी उसका सिर किसी नीची डाल से टकरा जाता। कभी वह गिरते-गिरते बच जाता तो कभी गिर कर अपने घुटने तोड़ ही डालता। वह लहूलुहान था। उसकी वह दुर्दशा देखकर लगड़ा व्यक्ति चौंक उठा।

उसके दिमाग मे एक नया ही विचार कौधा। वह लगड़ा व्यक्ति समझ गया कि सामने से आने वाला व्यक्ति जरूर ही अधा है। उसने देखा कि इतनी ठोकरे खाते रहने पर भी उसके पावो मे अच्छी ताकत है, क्योंकि तव भी वह काफी स्थिर गति से चल रहा था। उसने विचार किया कि अगर वे दोनो मिल जाय तो उसकी अभिलाषा पूरी हो सकती है। उसने अधे व्यक्ति को जोर से पुकारा कि वह उसके पास चला आवे। फिर पुकारता रहा ताकि आवाज के सहारे वह उस तक पहुच सके। धीरे-धीरे वह अधा व्यक्ति भी उसके पास पहुच गया। वह बहुत घवरा रहा था। उसने पूछा—तुम कौन हो ? तुमने मुझे यहा क्यो वुलाया है ? लगड़ा व्यक्ति उसके हाव भाव समझ कर बोला—पहले, मैं पूछू कि तुम जगल मे क्या कर रहे थे ? अपनी खोज खवर लेने की हार्दिकता से अधे व्यक्ति का दिल भर आया, रूधे हुए कठ से वह वोला—भाई, तुम देख रहे होवोगे कि मै अधा हू। अपनी गलत हठ के कारण मै घर से रवाना हो गया और इस जगल मे भटक गया। अव तुम्ही मुझे पार लगादो और पास के नगर तक पहुचा दो।

एक ठडी आह भर कर लगड़े व्यक्ति ने अपनी सहानुभूति का हाथ अधे व्यक्ति की पीठ पर फिराया और कहा—भाई, तुम देख नही पा रहे हो, लेकिन मै भी तुम्हारी ही तरह अशक्त हू। मै भी पास के नगर तक जाना चाहता हू किन्तु चल नही सकता हू। मै लंगड़ा हू, इसीलिये यहाँ पड़ा हुआ हू। अधे व्यक्ति की व्याकुलता भी फूट पड़ी —भाई, हम दोनो दुखी हैं, फिर भी क्या हुआ ? दोनो मिल जाय तो कोई न कोई राह निकल ही आयगी। लगड़े व्यक्ति ने कहा—राह तो मैंने सोच भी ली है भाई, अगर तुम मान जाओ तो वेड़ा पार हो सकता है।

अधा व्यक्ति खुशी के मारे लगड़े व्यक्ति से लिपट गया क्योंकि वह अपने अधेपन के भारी कष्टो को भुगत चुका था और बोला—लो भाई हम दोनो लिपट कर एक हो गये है, अब बताओ राह। लगड़े व्यक्ति ने तब समझाते हुए कहा—मेरे पाव नहीं है और तुम्हारे पाव हैं। तुम्हारे आखे नहीं है, और मेरी आखे है। मैं तुम्हारी आखे बन जाऊं और तुम मेरे पाव बन जाओ —बस हम दोनो चल पड़ेगे। फिर जहा भी हम पहुंचना चाहेगे, खुशी से पहुंच सकेगे।

फिर क्या था ? अधे ने लगड़े को अपने कधो पर बिठा लिया। फिर लगड़ा स्पर्श के सकेतो से अधे को रास्ता बताता रहता और अधा अपने मजबूत पावो से चलता रहता। एक की चमकदार आखे और दूसरे के मजबूत पाव जब तक अलग अलग थे, दोनो व्यर्थ हो रहे थे और बीहड़ जगल मे पड़े हुए थे—भटक रहे थे। लेकिन जब दोनो एक हो गये तो गति बन गई—केवल गति ही नही, सुमार्गगामी गति बन गई।

मैं सोचता हू कि ज्ञान लगड़ा होता है और क्रिया अधी। ज्ञान चल नहीं सकता और क्रिया देख नहीं सकती। क्रिया बिना ज्ञान ठहरा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया भटकती रहेगी। और जब दोनो एक बन जायेगे तो सीधे और सपाट मार्ग पर तीव्र गति से प्रगति कर लेगे।

मै ज्ञानपुज हू इसीलिये ज्ञान को साधता हू—प्रकाश की किरणे फैलाता हू। ज्ञान के प्रकाश मे ही मै सत्य मार्ग की शोध करता हूं और अपने शाश्वत गतव्य का निर्धारण करता हू। मै समत्व योगी हू, तभी तो आचरण की महत्ता को समझता हू —गति के आनन्द का अनुभव लेता हू। प्रकाश और प्रगति मेरे सहचर बन जाते हैं।

मै ज्ञानपुज और समत्व योगी बनने की अपनी आत्मिक शक्ति को पहचान चुका हू तो मेरा दृढ़ विश्वास बनता है कि मैं एक दिन ज्ञान पुज और समत्व योगी बन भी जाऊगा।

मै ज्ञानपुज और समत्व योगी बन जाऊंगा किन्तु कब ? मै ज्ञान और क्रिया की समवेत साधना करूंगा और वह भी उन वीतराग देवो की आज्ञा मे रहकर— जिन्होने स्वय ने ऐसी समवेत साधना सिद्ध की और ससार के समक्ष न सिर्फ अपना आदर्श ही प्रस्तुत किया, अपितु वह सुपथ भी प्रशस्त किया है जिस पर चलकर सभी भव्य आत्माए ज्ञानपुज और समत्व योगी बन सकती हैं। मैं भी उसी पथ पर अटल निश्चय और निश्चल गति से आगे बढूगा—मोक्ष-पथगामी बनूगा।

मोक्ष का राजमार्ग

मेरा ज्ञान सजग वनता है और मै यह जानना चाहता हूं कि मोक्ष क्या है ? और वहां पहुचने का राजमार्ग कौनसा है ? मै आप्त वचनो का स्मरण करता हू और जानता हू कि सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और तप—ये चारो मोक्ष मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय है जिनकी आराधना करने से आत्मस्वरूप का विकास होता है। सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा जीव अजीव आदि तत्त्वो व पदार्थों को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा नवीन कर्मों को आने से रोकती है तथा तप द्वारा पुराने कर्मों को क्षय करके शुद्ध स्वरूपी बनती है।

मै चिन्तन करता हूं कि जब मैं जीव, अजीव आदि तत्त्वो को भलीभाति जान लेता हू तो सव जीवो की नानाविध नरक तिर्यंच आदि गतियो को भी जान लेता हू और तदनुसार पुण्य, पाप, वध और मोक्ष को भी जान लेता हू। जव मै पुण्य, पाप, वध और मोक्ष को जान लेता हू तो देवता और मनुष्य सम्वन्धी समस्त काम भोगो को असार जानकर उनसे विरक्त हो जाता हू एव माता पिता

व सम्पत्ति रूप वाह्य सयोग तथा राग द्वेष कषाय रूप आभ्यान्तर सयोग को भी छोड़ देता हू। जव मैं उक्त वाह्य एव आभ्यन्तर सयोग को छोड़ देता हूं तो मुडित होकर अनगार वृत्ति (मुनिधर्म) को अगीकार कर लेता हू। जब मुंडित होकर अनगार वृत्ति को अगीकार करता हूं तो मै सर्व प्राणातिपात आदि विरति रूप उत्कृष्ट सवर—चारित्र धर्म का यथावत् पालन करता हू और चारित्र धर्म के इस पालन के साथ मै मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देता हू। कर्म क्षय के पश्चात् अशेष वस्तुओं को विषय करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति आत्मा को जिन और केवली बनाकर लोक और अलोक का सम्पूर्ण ज्ञान करा देती है। केवल ज्ञानी अपनी स्थिति पूरी होने पर मन, वचन, काया रूप योगो का निरोध करता है तथा शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। तदनन्तर अशेष कर्मों का सर्वथा क्षय करके वह कर्म रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। तव वह सिद्ध गति मे रहने वाला शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

मोक्ष मार्ग पर प्रस्थान करने से लेकर गतव्य तक पहुचने का इस प्रकार मै सक्षिप्त विवरण जानता हू और इस पर मनन करता हू। इसी का सार रूप सक्षिप्ततम विवरण भी मुझे वीतराग-वाणी मे मिलता है जो इस प्रकार है—(१) सत्सग से धर्मश्रवण (२) धर्म श्रवण से तत्त्व ज्ञान (३) तत्त्वज्ञान से विज्ञान विशिष्ट तत्त्व बोध (४) विज्ञान से प्रत्याख्यान सासारिक पदार्थों से विरक्ति तथा व्रत ग्रहण (५) प्रत्याख्यान से सयम (६) सयम से अनाश्रव-नवीन कर्मागमन का अभाव (७) अनाश्रय से तप (८) तप से पूर्व बद्ध कर्मों का नाश (९) पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता—सर्वथा कर्मरहित स्थिति और (१०) निष्कर्मता से मोक्ष-सिद्धमुक्त अवस्था।

मै इस रूप मे मोक्ष प्राप्ति का मार्ग जानता हू ज्ञान और क्रिया का —इसमे श्रद्धा को स्थान देने से रत्न त्रय की रचना होती है याने कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र—ये तीन मोक्ष के मार्ग है। तप को चारित्र मे समाहित कर लिया जाता है। रत्नत्रय का सरल अर्थ मै इस रूप मे करता हू कि मै सही जानू और जो सही जानू उसे मानू— उस पर अपनी आस्था बनाऊ क्योंकि केवल जानना ही कार्य करने के लिए पर्याप्त नही होता है —उस जानने को मन से मानना भी जरूरी है। इस प्रकार जो मै जानू और मानूं, वैसा ही करू। जव ज्ञान, आस्था और कर्म (कार्य) का सगम होता है तथा इनकी एकरूपता सधती है तव कोई भी साध्य कठिन नहीं रहता। मोक्ष का साध्य भी इनकी उत्कृष्ट साधना से सिद्ध होता ही है।

यो मोक्ष प्राप्ति मे पाच कारणो का संयोग होना भी बताया गया है —(१) कालसमयावधि की परिपक्वता, (२) स्वभाव—अपने भाव मे स्थिति की अवस्था (३) नियति—भाग्य (४) पूर्वकृत कर्मक्षय—पहले के सचित कर्मों का नाश तथा (५) पुरुषकार—पुरुषार्थ। इनमे से किसी एक, दो या पाच से कम कारणो के मिल जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। पाचो कारणो का सयोग तद् हेतु आवश्यक है।

मै जानता हूं कि अनादि काल से जीव निगोद आदि गतियो मे परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे है जिन्होंने स्थावर अवस्था को छोड़कर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नहीं की है। अत त्रसत्व आदि मोक्ष के पन्द्रह अग वताये गये है। जिनकी प्राप्ति भी वहुत कठिन होती है—

(१) जगमत्व (त्रसत्व)—निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोड़कर जगम अवस्था (द्वीन्द्रिय आदि) को प्राप्त करना।

(२) पचेन्द्रियत्व—जगम अवस्था (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) से निकल कर पचेन्द्रियपना प्राप्त होना।

(३) मनुष्यत्त्व—पचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होने के बाद भी नरक, तिर्यंच आदि गतियो से निकल कर दुर्लभ मनुष्य भव मिलना।

(४) आर्यदेश—मनुष्य भव भी अनार्य (संस्कृतिविहीन) देश मे न मिलकर धर्म सस्कृति से समुन्नत आर्य देश मे मिले।

(५) उत्तम कुल—नीच कुल की अपेक्षा धर्म क्रिया की यथासाध्य सामग्री जहा प्राप्त हो—ऐसे उत्तम कुल का प्राप्त होना।

(६) उत्तम जाति—पितृपक्ष को कुल और मातृपक्ष को जाति कहते है जिसके अनुसार जाति भी सुसस्कारयुक्त मिले।

(७) रूप-समृद्धि —पाचो इन्द्रियो की पूर्णता, समर्थता एव सम्पन्नता को रूप समृद्धि कहते है ताकि धर्माराधना यथाविधि की जा सके। विकलागता से धर्म क्रियाओं मे बाधा पड़ती है।

मोक्ष तत्त्व का विचार उसके निम्न नौ द्वारो से भी किया जाता है —

(१) सत्पद प्ररूपणा—मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एव एक पद है। एक पद वाले सभी सत्स्वरूपी होते है। इस द्वार का वर्णन चौदह मार्गणाओं द्वारा भी किया जाता है जो इस प्रकार है—गति (चार) इन्द्रिय (पाच) काय (छ) योग (तीन) वेद (तीन) कषाय (चार) ज्ञान (आठ) सयम (सात) लेश्या (छ) भव्य (दो) सम्यक्त्त्व (छ), सज्ञी (दो) तथा आहार (दो)। इन ६२ भेदो मे से जीव को मोक्ष मे पहुचाने वाली मार्गणाए है—मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, भव्यसिद्धिक, सज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन। कषाय, वेद, योग, और लेश्या मार्गणाओं से जीव कभी मोक्ष मे नहीं जा सकता।

(२) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त है।

(३) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असख्यातवे भाग मे सब सिद्ध अवस्थित हैं।

(४) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग मे सिद्ध रहे हुए है।

(५) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धो की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त है।

(६) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवो मे अन्तर नहीं है। सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान हैं।

(७) भाग द्वार—सिद्ध जीव ससारी जीवो के अनन्तवे भाग हैं।

(८) भाव द्वार—सिद्ध जीवो मे पाच भावो मे से दो भाव —केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव तथा जीवत्त्व रूप पारिणामिक भाव ही होते है।

(९) अल्प वहुत्त्व द्वार—सबसे थोड़े नपुसक सिद्ध, स्त्री सिद्ध उनसे सख्यात गुणे अधिक तथा पुरुष सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार मोक्ष के राजमार्ग तथा मोक्ष के स्वरूप पर मैंने चिन्तन किया है तथा ज्ञान लिया है कि क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जव गुण स्थानो के सोपानो (गुणस्थानो का विस्तृत

वर्णन आगे इसी अध्याय मे है) पर चढ़ती हुई चार घाती कर्मों को नष्ट कर लेती है, तब उसके स्वरूप पर पड़े ज्ञान, दर्शन, मोह और अन्तराय के आवरण हट जाते है तथा उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एव अनन्त शक्ति के मूल गुण प्रकट हो जाते है। तेरहवे व चौदहवे गुणस्थानो मे गति पूरी करके आत्मा शेष चार कर्मों का भी क्षय कर लेती है। तब उसमे सिद्धों के चार गुण प्रकट होते हैं—अव्याबाध सुख, अनन्त स्थिति, अरूपीत्व तथा अगुरुलघुत्व। यो मुक्तात्मा के आठ गुण हो जाते हैं।

ऐसे मोक्ष रूपी गतव्य पर कौन भव्य आत्मा जल्दी से जल्दी नही पहुच जाना चाहेगी? किन्तु यह प्राप्ति पुरुषार्थ के विना सभव नहीं है तथा आत्मा को यह पुरुषार्थ करना पड़ेगा रत्न-त्रय की साधना मे। जानो, मानो और करो का पुरुषार्थी क्रम बिठाना होगा।

रत्न-त्रय की साधना

मैंने समझ लिया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की युति ही रत्न त्रय कहलाती है तथा रत्न त्रय की साधना ही मोक्ष प्राप्ति की साधना होती है। यह विचारणीय तथ्य है कि यह युति सम्यक् होनी चाहिये वरना विना सम्यक्त्व के तीनो रत्न नहीं रहते। ज्ञान जीव मात्र मे पाया जाता है तथा ऐसा कोई समय नहीं आता, जब जीव ज्ञान रहित हो जाय, क्योंकि ज्ञान का सर्वथा अभाव हो तो जीव जीव नहीं रहेगा, जड़ हो जायगा और जीव कभी भी अजीव (जड़) होता नहीं है। ज्ञान तो होता ही है लेकिन वह मिथ्या ज्ञान भी हो सकता है और सम्यक् ज्ञान भी। मिथ्या ज्ञान को अज्ञान भी कहा जाता है। अत मिथ्या एव सम्यक् ज्ञान के अन्तर को समझना आवश्यक है। इस अन्तर को एक शब्द मे यो कह सकते हैं कि जब ज्ञान सम्यक् दर्शन से युक्त होता है तब वह सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

इस दृष्टि से मैं समझता हू कि आस्था सही होगी तो ज्ञान भी सही होगा —दर्शन की इस कारण सही होने की अपेक्षा रहती है क्योंकि दर्शन भी मिथ्या और सम्यक् दोनो प्रकार का हो सकता है। मिथ्या दर्शन रहेगा तब ज्ञान भी मिथ्या ही रहेगा। इसलिये सम्यक्त्व की प्रथम अनिवार्यता मानी गई है। मोक्ष का अर्थ होता है आत्म शक्तियो का सम्पूर्ण विकास। इस दृष्टि से इसका यह अर्थ भी हुआ कि आत्म शक्ति के विकास मे वाधा डालने वाले तत्त्वो का विनाश। इस अर्थ के अनुसार सम्यक् ज्ञान वह होगा जो आत्म शक्तियो का विकास साधे और मिथ्या ज्ञान वह होगा जो इस विकास मे वाधाए खड़ी करे। यह कसौटी है जिस पर ज्ञान के खरेपन या खोटेपन की हर समय परीक्षा की जा सकती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा अपनी प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृति को इस कसौटी पर कसकर उसकी जाच कर सकती है। जिससे भ्रम या सशय समाप्त किया जा सकता है। वैसे भी सम्यक्त्वधारी आत्मा सदा सत्य की शोध मे रत रहती है कि वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ले सके।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि जव ज्ञान और दर्शन दोनो मे सम्यक्त्व का समावेश हो जायगा तव चारित्र भी निश्चय रूप से सम्यक् वन जायगा। सम्यक्त्वी आत्मा अपने ज्ञान का उपयोग सासारिक वासनाओं के पोषण मे नहीं करती है, अपितु उसे अपने आध्यात्मिक विकास मे नियोजित रखती है। किन्तु सम्यक्त्व रहित आत्मा का व्यवहार इसके विपरीत होता है। कई वार उसका ज्ञान सही भी होता है किन्तु आस्था सही नहीं होने से वह अपने मत के प्रति दुराग्रही होती है तथा दूसरो की सही

सम्मति को भी तुच्छ समझती है। वह अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं की पूर्ति मे करती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति का होता है अत उसका सारा पुरुषार्थ इसी ओर लगा रहता है चाहे वह सांसारिक शक्तियो से सम्बन्धित हो अथवा आध्यात्मिक शक्तियो से सम्बन्धित। इस प्रकार उद्देश्यो की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञान मिथ्या अथवा सम्यक् कहलाता है।

सम्यक् ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि प्रमाण और नय से होने वाला जीवादि तत्वो का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है जो वीर्यान्तराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से उत्पन्न होता है। अत प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानना सम्यक् ज्ञान है। तब यह समझे कि प्रमाण और नय क्या है? जो ज्ञान शब्दो मे उतारा जा सके या जिसमे वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप मे कहा जा सके उसे नय कहते है। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमे अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो उसे प्रमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे जो ज्ञान वस्तु के अनेक अशो को जाने वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक अश को मुख्य मानकर व्यवहार करना नय है। नय और प्रमाण दोनो ज्ञान है। किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों मे से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है और अनेक धर्मों वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है। जैसे दीपक मे नित्य धर्म भी रहता है और अनित्य धर्म भी। यहा अनित्यत्त्व का निषेध न करते हुए अपेक्षावश दीपक को नित्य कहना नय है। प्रमाण की अपेक्षा दीपक नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो धर्मों वाला होने से उसे नित्यानित्य कहा जायगा।

नयो के निरूपण का अर्थ है विचारो का वर्गीकरण, अत नयवाद का अर्थ हुआ विचारो की मीमासा। इस वाद मे विचारो के कारण, परिणाम या विषयों की पर्यालोचना मात्र नही है। वास्तव मे परस्पर विरुद्ध दीखने वाले किन्तु यथार्थ मे अविरोधी विचारो के मूल कारणो की खोज करना ही नयवाद का मूल उद्देश्य है। नय के सक्षेप मे दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिक नय—वस्तु के सामान्य अश पर किया गया विचार तथा (२) पर्यायार्थिक नय—वस्तु के विशेष अश पर किया गया विचार। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते समय दोनो प्रकार के नय उपयोग मे लिये जाते है। नय के विशेष रूप से सात भेद है—(१) नैगम नय —जो विचार लौकिक रूढ़ि या सस्कार का अनुसरण करे, (२) सग्रह नय—जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं या व्यक्तियो मे रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सबमे एकता बतावे (३) व्यवहार नय —जो विचार सग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओं मे व्यावहारिक प्रयोजन के लिये भेद डाले। ये तीनो नय सामान्य दृष्टि के होने से द्रव्यार्थिक वर्ग मे आते हैं। (४) ऋजुसूत्र नय—जो विचार भूत और भविष्य काल की उपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, (५) शब्द नय —जो विचार शब्द प्रधान, हो और लिग, कारक आदि शाब्दिक धर्मों के भेद से अर्थ मे भेद माने, (६) समभिरूढ़ नय—जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्ति के अर्थानुसार समान अर्थों वाले शब्दो मे भी भेद माने तथा (७) एवभूत नय—जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को उस रूप मे स्वीकार करे।

प्रमाण और नय से जाने गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर ही अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त आधारित है। वस्तु के विभिन्न धर्मों को जानकर उनका समन्वय करना स्याद्वाद है, कारण

स्याद्वाद पहले वस्तु धर्म के सारे पहलुओं की जानकारी कर लेता है। सभी पहलुओं को सप्तभगी के रूप मे बताये जाते हैं—(१) कथचित् है (२) कथचित नहीं है (३) कथचित् है और नहीं है (४) कथंचित् कहा नही जा सकता (५) कथचित् है फिर भी कहा नही जा सकता, (६) कथचित् नहीं है फिर भी कहा नहीं जा सकता तथा (७) कथचित् है, नही है, फिर भी कहा नहीं जा सकता। वस्तु के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मों के उक्त रूप मे सात प्रकार के ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते है, अतः सात ही प्रकार के उत्तर उपरोक्त सप्तभगी मे दिये गये है।

प्रमाण की परिभाषा यह बताई गई है कि यह सच्चा ज्ञान अपना और दूसरो का निश्चय कराता है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टि बिन्दुओं से जानता है अर्थात् वस्तु के सभी अशो को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। इसके चार भेद कहे गये है—

(१) प्रत्यक्ष—अक्ष का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय है अत. इन्द्रियो की सहायता के बिना आत्मा के साथ सीधा सम्वन्ध रखने वाला ज्ञान अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान होता है और इन्द्रियो से सीधा सम्बन्ध रखने वाला इन्द्रिय ज्ञान होता है। दोनो ही प्रत्यक्ष होते है। आत्मा की सहायता से होने वाला ज्ञान निश्चय मे तथा इन्द्रियो की सहायता से होने वाला ज्ञान व्यवहार मे प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

(२) अनुमान—लक्षण या कारण को ग्रहण करके सम्वन्ध या व्याप्ति के स्मरण से पदार्थ का जो ज्ञान होता है याने साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है।

(३) उपमान—जिसके द्वारा सदृशता से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते है। जैसे गवय गाय के समान होता है।

(४) आगम—शास्त्र द्वारा होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।

मैं नय और प्रमाण के विश्लेषण से यह जान पाया हूं कि वीतराग देवो ने आत्मा को स्वतंत्र विचार एव निर्णय का कितना विशाल क्षेत्र सौपा है? मात्र आगम प्रमाण के सिवाय सभी प्रमाण और नय की कसौटी पर आत्मा को ही सम्यक्त्व का ज्ञान करना होता है और उसी रूप मे अपनी वृत्तियो को परख कर निर्णय लेना होता है। इस दृष्टि से आत्मा प्रत्येक वस्तु-स्वरूप पर स्वय चिन्तन करे और निर्णय ले जिसका समाधान सम्यक्त्व की कसौटी पर और आगम प्रमाण के अनुसार किया जा सकता है।

मूलत ज्ञान एव दर्शन के समन्वित रूप को उपयोग कहा गया है। जो उपयोग पदार्थों के विशेप धर्मों का जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है वह ज्ञान है। जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म याने सत्ता का ग्राहक है वह दर्शन है। ज्ञान साकार उपयोग और दर्शन निराकार उपयोग होता है।

ज्ञान के दो भेद किये गये हैं—(१) प्रत्यक्ष व (२) परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के विना साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जैसे अवधि, मन पर्यय व केवल ज्ञान। इन्द्रियो और मन की सहायता से जो ज्ञान हो वह परोक्ष ज्ञान है जैसे मति व श्रुत ज्ञान। इस रूप मे ज्ञान के पाच भेद हुए।

(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश मे रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। इसके चार प्रकार है —(अ) अवग्रह—सामान्य प्रतिभास के बाद होने वाला अवान्तर सत्ता सहित वस्तु का सर्वप्रथम ज्ञान। जैसे दूर से किसी चीज का ज्ञान होना। (ब) ईहा—सर्वप्रथम ज्ञान मे सशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा। दूर से दीखने वाली चीज मनुष्य या पशु ऐसा सशय दूर करके यह जान लेना कि वह मनुष्य होना चाहिये। (स) अवाय-ईहा से जाने हुए पदार्थों मे यह वही है, अन्य नहीं है। ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान। जैसे यह मनुष्य ही है। (द) धारणा— से जाने हुए पदार्थों के ज्ञान का दृढ़ हो जाना कि जो विस्मृत न हो।

(२) श्रुतज्ञान—वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय और मन के कारण से होने वाला ज्ञान। यह ज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से उत्पन्न होता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर या आख से घड़े को देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रग का और इसी प्रकार के उससे सम्बन्धित भिन्न भिन्न विषयो का विचार करना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार है —(१) अगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान—जिन आगमो मे गणधरो ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है उन आगमो को अगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमे आचाराग आदि बारह अगो का ज्ञान सम्मिलित है। (२) अगबाह्य श्रुतज्ञान द्वादशागो के बाहर का शास्त्र ज्ञान बाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

(३) अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, मर्यादा लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान। यह मर्यादा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की होती है। इसके दो प्रकार है —(१) भव-प्रत्यय अवधिज्ञान—जिस अवधिज्ञान के होने मे भव ही कारण हो। जैसे नारकीयो व देवताओं को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है (२) क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान—ज्ञान, तप आदि कारणो से मनुष्यो और तिर्यचो को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। इसे गुण प्रत्यय या लब्धि-प्रत्यय भी कहते है।

(४) मन पर्यय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, मर्यादा को लिये हुए सज्ञी जीवो के मनोगत भावो का ज्ञान। इसके दो प्रकार है —(१) ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान —दूसरे के मन मे सोचे हुए भावो को सामान्य रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने घड़ा लाने का विचार किया है। (२) विपुल मति मन·पर्यय ज्ञान—दूसरे के मन मे सोचे हुए पदार्थ के विषय मे विशेष रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने अमुक रग का, अमुक आकार वाला या अमुक समय मे बना घड़ा लाने का विचार किया है। विचार की विशेष पर्यायो व अवस्थाओं को जानना।

(५) केवलज्ञान—मति आदि ज्ञान की अपेक्षा के बिना, त्रिकाल एव त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् (एक साथ हाथ मे रखे हुए आवले के समान) जानने वाला ज्ञान। केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है।

सम्यक् ज्ञान की महत्ता को हृदयंगम करते हुए मै जानता हू कि पहले ज्ञान और उसके वाद क्रिया। यह आत्मा सुनकर कल्याण का मार्ग जानती है और सुनकर ही पाप का मार्ग जानती है, अत साधक का कर्त्तव्य है कि दोनो मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो उस का आचरण करे। जैसे धागा पिरोई हुई सुई कचरे मे पड़ जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार

श्रुतज्ञान वाली आत्मा ससार मे रहकर भी आत्म स्वरूप को नहीं भुलाती है। ज्ञान इस दृष्टि से आत्म विकास का प्रकाश स्तभ होता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान् को सम्यक् दर्शन कहा है जो मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप मे परिणत हो जाते है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया जाता है, शरीर को आत्मा से अलग समझा जाता है तथा सासारिक भोगो को दु खमय एव निवृत्ति को सुखमय माना जाता है। सम्यक् दर्शन से आत्मा मे ये गुण प्रकट होते है—(१) प्रशम (२) सवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा एव (५) आस्तिक्य।

मैं सम्यक् दर्शन की शुभ भावनाओं से जब अभिभूत होता हू तो मेरी आस्था दृढ़तर बन जाती है कि जिन्होने राग-द्वेष, मद, मोह आदि आत्म शत्रुओं को जीत लिया है, वे वीतराग देव मेरे सुदेव हैं, पाच महाव्रत पालने वाले सच्चे साधु मेरे सुगुरु है तथा राग-द्वेष रहित वीतराग देवो द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूपमय धर्म ही मेरा सुधर्म है।

मैं मानता हू कि दृढ़ विश्वास और श्रद्धा सफलता की कुजी होती है तथा सभी प्रकार की आधि भौतिक एव आध्यात्मिक सिद्धियो के लिये तो आत्म-विश्वास परमावश्यक है। मोक्ष के लिये भी यह आवश्यक है कि मोक्ष के उपाय मे दृढ़ विश्वास हो और यही सम्यक् दर्शन है। विश्वास मे जो व्यक्ति डावाडोल रहता है या हो जाता है, उसकी सफलता भी सदिग्ध बन जाती है। इसलिये सम्यक् दर्शन के पाच दोष बताये गये है—(१) शका—मोक्ष मार्ग मे सन्देह करना, (२) काक्षा—मोक्ष के निश्चित मार्ग को छोड़कर दूसरी बातो की इच्छा करने लग जाना, (३) वितिगिच्छा—धर्माराधन के फल मे सन्देह करना, (४) परपाखडप्रशसा—धर्महीन ढोगी (पाखडी) की लौकिक ऋद्धि को देखकर उसकी प्रशसा करना, तथा (५) परपाखडसस्तव—ऐसे ढोगी का परिचय करना तथा उसके पास अधिक उठना-वैठना। सम्यक् दर्शन का अर्थ अन्ध विश्वास मै कतई नहीं मानता हू क्योंकि अन्ध विश्वास का अर्थ होता है हिताहित, सत्यासत्य अथवा सदोष-निर्दोष का भान नहीं रखना तथा अपने मत का हठ पकड़कर बैठ जाना। जबकि सम्यक् दर्शन का अर्थ है कि जो वस्तु स्वरूप सत्य हो, उसी पर दृढ़ विश्वास करना। मै सम्यक् दर्शन का श्रद्धान् यही मानता हूं कि जीव आदि तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त कर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने वाले महात्माओं की सेवा भक्ति करना तथा सम्यक्त्व से गिरे हुए पुरुषो एव कुदार्शनिको की सगति नहीं करना। सम्यक्त्व विहीन पुरुप को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यक् ज्ञान विना चारित्र-गुण प्रकट नहीं होते। गुणरहित पुरुष का सर्व कर्म क्षय रूप मोक्ष नही होता। यह भी कहा है कि चारित्र भ्रष्ट आत्मा भ्रष्ट नहीं है, पर दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव मे भ्रष्ट है। सम्यक् दर्शन धारी आत्मा ससार मे परिभ्रमण नहीं करती। सम्यक्त्व धारी आत्मा की भावना सम्यक् होती है, इसलिये उसे सम्यक् या असम्यक् कोई भी वात सम्यक् रूप से ही परिणत होती है।

दर्शन के चार प्रकार बताये गये है—(१) चक्षु दर्शन—चक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। (२) अचक्षुदर्शन —अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे

अचक्षु दर्शन कहते है। (३) अवधि दर्शन—अवधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, वह अवधि दर्शन है। तथा (४) केवल दर्शन—केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा ससार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे केवल दर्शन कहते हैं।

कर्मों को नाश करने की चेष्टा को मै चारित्र धर्म कहता हू जिसका कारण भूत मूल गुणो तथा उत्तर गुणो का समूह भी है तो धर्म सम्बन्धित क्रियाए भी। मै अनुभव करता हू कि आत्म विकास के मार्ग पर चलने वाले सभी लोग समान शक्ति वाले नहीं होते। कोई इतना दृढ़ होता है जो मन, वचन और काया से सब पापो को त्यागकर एक मात्र आत्म विकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा कुछ दृढ़ दुर्बल ऐसा होता है कि सासारिक इच्छाओं को एकदम रोकने का सामर्थ्य नहीं होने से धीरे-धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र के दो भेद किये गये है —

(१) सर्व विरति चारित्र, अणगार धर्म या साधु धर्म—सर्वविरति रूप धर्म मे पच महाव्रत होते है तथा तीन करण तीन योग (मन, वचन, काया तीनो से न करना, न करवाना तथा न करने का अनुमोदन करना) से त्याग होता है। साधु सदोष क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है। पूर्ण होने से ही उसके व्रत महाव्रत कहे जाते है। ये पाच होते हैं।

(२) देशविरति चारित्र, सागार धर्म या श्रावक धर्म—श्रावक द्वारा आगार सहित व्रतो के पालन को देशविरति चारित्र कहते है। पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना होने से श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादित त्याग करता है। साधु की अपेक्षा छोटे होने से श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते है। ये बारह होते हैं।

मेरी मान्यता है कि मूल रूप से विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं जो अन्य जन्म मे ग्रहण किये हुए करम सचय को दूर हटाने के लिये मोक्षाभिलाषी आत्मा को सर्वसावद्य योग से निवृत्त करता है। अन्य अपेक्षा से इसके पाच भेद हैं—

(१) सामायिक चारित्र—आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्म विशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है। सामायिक के क्रियानुष्ठान से आत्मा जन्म मरण के चक्र से होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करती है, चिन्तामणि, कामधेनु एव कल्पवृक्ष के सुखो का तिरस्कार करती है और निरूपम सुख पाती हुई ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की श्रेष्ठ पर्यायो को प्राप्त होती है। सामायिक चारित्र का अर्थ है सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एव निरवद्य व्यापार का सेवन करना। यो तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योग विरति रूप हैं और वैसा भेद सामायिक भी है किन्तु जहा दूसरे भेदो के साथ छेद आदि विशेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न बताये गये है, वहा सामायिक सामान्य रूप ही है। सामायिक के दो भेद है —(१) इत्वरकालिक सामायिक—अल्प काल की सामायिक जिसमे भविष्य मे दूसरी वार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश हो। पहले और अन्तिम तीर्थंकरो के तीर्थ मे जब तक शिष्य मे महाव्रत का आरोपण नही किया जाता तब तक उसके इत्वरकालिक सामायिक होती है। तथा (२) यावत् कथिक सामायिक—यावज्जीवन की सामायिक जो शेष बावीस तीर्थंकरो के तीर्थ मे होती है, क्योकि इन शिष्यो को दूसरी वार सामायिक व्रत नही दिया जाता।

(२) छेदोपस्थापनिक चारित्र—पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते है, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते है। इसमे पूर्व पर्याय का छेद एव महाव्रतो मे उपस्थापन-आरोपण होता

है। यह चारित्र प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकरो के तीर्थ मे ही होता है। इसके भी दो भेद कहे गये हैं—(१) निरतिचार छेदोपस्थापनिक—जो इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एव एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ मे जाने वाले साधुओं के व्रतो के आरोपण मे होता है तथा (२) सातिचार छेदोपस्थापनिक—जो मूल गुणो की घात करने वाले साधुओं के व्रत के आरोपण मे होता है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र—जिस चारित्र मे परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है। इसमे अनैषणीय आदि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है। स्वय तीर्थंकर भगवान् के सामने पहले जिसने यह चारित्र अगीकार किया हो, उसके पास ही यह प्रकार भी अगीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण परिहार तप अगीकार करता है —इनमे से जो चार तप करते हैं, वे पारिहारिक कहलाते हैं। जो चार वैयावृत्य करते है, वे अनुपारिहारिक कहलाते हैं। परिहार तप का कल्प अठ्ठारह मास मे पूर्ण होता है। इस तप के भी दो प्रकार है—(१) निर्विश्यमानक परिहार तप—तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते है और उनका चारित्र निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र, एव (२) निर्विष्टकायिक परिहार तप—तप करके वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक साधु और तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है तथा उसका चारित्र निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र—जिस चारित्र मे सम्पराय (कषाय) सूक्ष्म अर्थात् सज्वलन लोभ का सूक्ष्म अश रहता है। इसके दो भेद है —(१) विशुद्धयमान—क्षपक श्रेणी एव उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका चारित्र सूक्ष्म सम्पराय चारित्र शुद्धयमान कहलाता है, तथा (२) सक्लिश्यमान—उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम सक्लेशयुक्त होते हैं इसलिये उन का सूक्ष्म सम्पराय चारित्र सक्लिश्यमान कहलाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र—सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र होता है। इसके भी दो भेद हैं— छद्मस्थ यथाख्यात व केवली यथाख्यात इन दोनो के भी दो-दो प्रकार है (१) जो चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होता है वह उपशांत छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र होता है (२) जो चारित्र मोहनीय कर्म की पूर्ण प्रकृतियो के क्षय से प्राप्त होता है साथ ही अप्रतिपाति भी होता है यह केवल ज्ञान के पूर्व की अवस्था होती है।

संयम मे वाधक चारित्र कथा को विकथा कहते है। चारित्र विकथा के सात भेद है —(१) स्त्री कथा काम विकार को वढ़ाने वाली स्त्रियो से सम्बन्धित चर्चा करना जिसमे प्रशंसा और निन्दा दोनो शामिल है। यह जाति कथा, कुल कथा, रूप कथा और वेशकथा के रूप मे हो सकती है। स्त्री कथा करने व सुनने वालो को मोह की उत्पत्ति होती है और लोक मे भी निन्दा होती है। इससे सूत्र और अर्थ के ज्ञान मे हानि होती है, ब्रह्मचर्य मे दोष लगता है, सयम से पतन होता है तथा साधु वेश मे रहकर अनाचार सेवन करके कुलिगी हो जाता है।

(२) भक्त (भात) कथा—आहार सम्वन्धी चर्चा करने से उसमे गृद्धि होती है और आहार किये विना ही गृद्धि (आसक्ति) के कारण साधु को दोष लगते है। इससे लोकनिन्दा भी होती है कि यह साधु जितेन्द्रिय नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान आदि छोड़कर आहार की चर्चा करता है। आसक्ति

भाव से उसे षट्जीव निकाय के वध की अनुमोदना भी लगती है और उसका एषणा शुद्धि का विचार भी ढीला होता है। भक्त कथा भी चार प्रकार की होती है —आवाय कथा (भोजन बनाने की विधि की कथा), निर्वाय कथा (अन्न, व्यजन की विविधता की कथा), आरभ कथा (जीव हिसा सम्बन्धी कथा बनाने मे) तथा निष्ठान कथा (भोजन मे लागत की कथा रुपयो की)।

(३) देश कथा—देश कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या दूसरे देश से अरुचि होती है जो कर्म बंध का कारण बनता है। स्वपक्ष व परपक्ष की चर्चा मे वादविवाद से कलह भी खड़ा हो सकता है तथा कई प्रकार के दोष लग सकते है। इसके भी चार भेद है—देशविधि कथा (देश विशेष के भोजन, मणि, भूमि आदि की चर्चा) देश विकल्प कथा (देश विशेष मे धान्य उत्पत्ति, सिचाई साधन, भवन आदि की चर्चा) देश छद कथा (गम्य, अगम्य विषयक चर्चा) तथा देश नेपथ्य कथा (स्त्री पुरुषो के स्वभाव, श्रृगार आदि की चर्चा)।

(४) राज कथा—राजा या राज्य से सम्बन्धित राजनैतिक चर्चा करना। चार प्रकार—अतियान कथा (राजा के नगर प्रवेश व वैभव का वर्णन) निर्याण कथा (नगर से बाहर जाने व ऐश्वर्य का वर्णन) बल वाहन की कथा (राजा की चतुरगिणी सेना, वाहन आदि का वर्णन) तथा कोष और कोठार की कथा (राजा के खजाने और भडार का वर्णन)।

(५) मृदुकारुणिकी—पुत्र आदि के वियोग से दु खी माता आदि के करुण, क्रन्दन की चर्चा।

(६) दर्शनभेदिनी—दर्शन याने सम्यक्त्व मे दोष लगे ऐसी चर्चा करना जैसे ज्ञान आदि की अधिकता के कारण कुतीर्थी की प्रशसा करना।

(७) चारित्रभेदिनी—चारित्र की उपेक्षा या निन्दा करने वाली चर्चा जैसे आज कल साधु महाव्रतो का पालन नही कर सकते, साधुओं मे प्रमाद बहुत बढ़ गया है आदि।

चारित्र शुद्धि की दृष्टि से धर्मकथा को ही महत्व दिया गया है। यह कथा —चर्चा दान, दया, क्षमा आदि धर्म के अगो का वर्णन करने वाली तथा धर्म की उपादेयता बताने वाली होनी चाहिये। यह चार प्रकार की है —आक्षेपणी (श्रोता को मोह से हटाकर तत्व की ओर आकर्षित करना आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद की अपेक्षा से) विक्षेपणी (श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाना अपने सिद्धान्त के गुणो, स्थापना, अभिप्राय और आस्तिक्य बताकर) सवेगनी (श्रोता मे विपाक की विरसता बताकर वैराग्य उत्पन्न करना इहलोक, परलोक, स्वशरीर और पर शरीर के भेदो से) तथा निर्वेदनी (श्रोता मे पाप-पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर ससार से उदासीनता पैदा करना भव भवान्तरो की कर्म फल विचित्रता का वर्णन करके)।

मैं इससे रत्न त्रय की महत्ता को जानता हू और विचार करता हू कि इसकी सम्यक् साधना कितनी निष्ठा, वैचारिकता, विवेक, सयम तथा तपाराधना से की जानी चाहिये क्योंकि इसी का शुभ परिणाम मोक्ष प्राप्ति मे प्रतिफलित होता है।

संसार से मोक्ष कितनी दूर ?

मैने मोक्ष का स्वरूप जाना है, मोक्ष के राजमार्ग पर आगे बढ़ाने वाली रत्न-त्रय की साधना के स्वरूप को पहिचाना है और अब मैं सोचता हू कि ससार से मोक्ष की कितनी दूरी है —इसको

भी समझ लू। मोक्ष प्राप्ति ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है—इस दृष्टि से यदि मै मोक्ष की दूरी का अनुमान लगा लू तो अपनी गति की त्वरितता पर ध्यान दे सकूंगा।

ससार से मोक्ष की कितनी दूरी है—यह ज्ञान कोई सख्यात्मक नही है कि इतने कोस या मील है सो अमुक गति से चलेगे तथा इतने समय मे उसे पार लेगे। वस्तुत यह दूरी गुणात्मक है—पथिक या साधक की स्वय की गुणपूर्ण साधना पर आधारित है। यह गुणो की साधना जब भी परमोत्कृष्ट बन पड़ेगी, तभी मोक्ष प्राप्त हो जायगा। यो इस आत्मा को ससार के जन्म मरण के चक्र मे भ्रमित होते हुए अनन्त समय हो गया है और साधना की परिपक्वता न बन पड़े तो अनन्त समय और निकल सकता है। और यो इस साधना की परमोत्कृष्टता सध जाय तो मोक्ष की दूरी कुछ ही पलो मे पूरी हो सकती है।

इसमे भी मैं एक तथ्य पर और सोचता हू और वह तथ्य यह है कि क्या इस ससार की सभी आत्माए कभी न कभी मोक्ष मे चली जायगी ? यदि कभी न कभी सभी आत्माए मोक्षगामी बन जायगी तो क्या ससार का अन्त आ जायगा ? आप्त वचनो के अनुसार ऐसा कभी नहीं होगा। आत्माओं के दो वर्ग माने गये है—एक तो भवि आत्माएँ और दूसरी अभवि आत्माएँ। भवि आत्माओं मे तो कभी न कभी मोक्ष पद प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य माना गया है परन्तु अभवि आत्माए कदापि मोक्ष मे नही जायगी। वे इस दृष्टि से सामर्थ्य हीन आत्माए है। जैसे चने भिगाये जाते है और काफी समय तक भीगते रहने के बाद भी उनमे जो घोरडू (बिना भीगे चने)रह जाते हैं, वे कितने ही पानी मे कितनी ही देर रखे जाय, तब भी भीगते नहीं है, उसी प्रकार अभवि आत्माए धर्म-रस मे कभी भी भीगती नही है और धर्म रस मे भीगती नही तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकती नहीं हैं। इस प्रकार भवि आत्माओं का वर्ग ही मोक्ष प्राप्ति की साधना को सफल बना सकता है और इस साधना की सफलता उनकी अपनी गुण-विकास शक्ति पर निर्भर करती है। पर भव्यात्माए भी ससार मे अनन्त होने से अनन्त भव्यात्माओं के मोक्ष जाने पर भी, ससार कभी भी भव्यात्माओं से खाली नहीं होगा क्योंकि अनन्त भी अनन्त प्रकार का होता है, और अनन्त का कभी अन्त नही होता।

मै सोचता हू कि ससार से मोक्ष की दूरी इस रूप मे भवि-आत्माए ही पार करती है, इसीलिये इन्हे भव्य आत्माए कहा गया है। किन्तु भव्य और अभव्य आत्माए दोनो गुणो के स्थानो या सोपानो पर चढ़ती-उतरती है और अपनी भाव—सरणियो की उच्चता एव निम्नता के अनुसार ऊपर नीचे होती रहती है। कभी कभी तो वहुत ऊंचाई तक ऊपर चढ़कर भी कई आत्माए संसार-मोह के धक्को मे विचलित हो जाती है और बहुत नीचे तक गिर जाती है। विरली भव्य आत्माए ही अपनी सुस्थिर गति से ऊपर से ऊपर तक चढ़ती जाती है और अन्ततोगत्वा सभी गुण के स्थानो को पार करती हुई मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर लेती हैं।

यह सव सोचकर जव मै ध्यानमग्न होता हू तो मुझे अनुभूति होती है कि मै ससार से मोक्ष की इस दूरी को अवश्य ही पार कर सकूगा और वह भी यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र। मेरी यह अनुभूति ही मुझे अपने आत्म गुणो के विकास की सवल प्रेरणा देती है। इसी अनुभूति के प्रभाव से मैं घनान्धकार मे खड़ा हुआ भी प्रकाश की किरणे देखता हू, प्रकाश पाने के लिये मचलता हू और प्रकाश को आत्मसात करने लगता हू। प्रकाश की इस दौड़ मे मेरे भीतर और मेरे वाहर का समूचा वातावरण प्रकाशमय होने लगता है। ज्यो-ज्यो प्रकाश का घनत्व और उसकी तेजस्विता अभिवृद्ध

होती है, त्यो-त्यो मेरी आत्मा ऊर्ध्वगामी बनती है। यह ऊर्ध्वगामिता ही उसका मूल स्वभाव या धर्म होता है, जिसकी प्राप्ति के साथ वह गुणो के सोपानो पर भी ऊपर से ऊपर तक चढ़ती हुई चली जाती है।

मुझे इसी प्रकाश की अपेक्षा है। मैं अधकार से इसी प्रकाश मे आगे से आगे बढ़ते रहने का दृढ़ इच्छुक हू। मैं अधकार से जागता हू और उससे दूर हटता हू तो सासारिक मोह-व्यामोह से दूर होता हू तथा उसी परिमाण मे कर्म बधनो से मोक्ष की दिशा मे आगे बढ़ता हू। इसका अर्थ होता है कि मै विषय-कषाय की आग से दूर होता हू और सत्कृत्यो की शीतलता को प्राप्त करता हू। अशान्ति से दूर होता है और शान्ति का रसास्वादन करता हू। दु खो की असह्य वेदना को भूलता हू और आत्म सुख की अनुभूति लेता हू। यही अवस्था गुण-विकास की होती है।

आत्मा के गुण विकास की अवस्थाए

आत्मा के गुण-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान मै अपने लिये आवश्यक मानता हू, क्योकि यह ज्ञान ही मुझे ससार से मोक्ष तक की दूरी के बीच मे पड़ने वाले मील के पत्थरो की जानकारी देता है। वीतराग देवो ने ये मील के पत्थर चौदह की सख्या मे बताये है और यह भी बताया है कि किस प्रकार की साधना के बल पर एक मील के पत्थर से दूसरे मील के पत्थर तक पहुंचा जा सकता है और अपनी प्रगति की निरन्तरता को कैसे बनाई हुई रखी जा सकती है? साधना की उस उत्कृष्टता का स्वरूप भी समझाया गया है कि जिसकी सफल क्रियान्विति से ऊपर की ऊची चढ़ाई पर पहुच जाने के बाद पाव फिसल कर नीचे की ढलान पर वापस लुढ़क जाने से भी बचा जा सकता है। इन ऊर्ध्वगामी सोपानो को गुणस्थान नाम से पुकारा गया है जो चौदह है—

गुणस्थानों का द्वारो से विचार

मेरी मान्यता है कि आत्मिक गुणो के इन स्थानो का सभी अपेक्षाओं से विचार किया जाना चाहिये ताकि उनका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो सके। ये सारे गुणस्थान कषाय की तारतम्यता पर प्रमुखत· आधारिक है अत कषाय के बध, उदय, उदीरणा, सत्ता, स्थिति, क्रिया, निर्जरा आदि का ज्ञान आवश्यक है।

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—जैसे पीलिये रोग वाले को सफेद रग की वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि वाली आत्मा वस्तु स्वरूप को विपरीत रूप मे देखती है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान की ऐसी विपरीत दृष्टि बनती है। मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव मे देव बुद्धि, कुगुरु मे सुगुरु बुद्धि तथा कुधर्म मे धर्म बुद्धि रखती है। आत्मा की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते है।

आश्रव के पाच भेदो मे पहला मिथ्यात्व है, जो कर्मों के आगमन का मुख्य स्रोत होता है। इस विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व के पाच भेद होते है—आभिग्रहिक —सिद्धान्त का पक्षपात पूर्ण मडन व खडन। अनाभिग्रहिक—गुण दोष देखे बिना सव सिद्धान्तो को समान वतलाना। आभिनिवेशिक—अपने पक्ष को असत्य जानते हुए दुराग्रह करना। साशयिक—देव गुरु के स्वरूप मे शका लाना तथा अनाभोगिक इन्द्रिय—विकल जीवो को रहने वाला मिथ्यात्व। यो मिथ्यात्व दस माने गये है जो धर्म, मार्ग, जीव, साधु तथा मुक्तात्मा से सम्वन्धित है। यह विपरीत श्रद्धान् आत्मा को गुणो के निकृष्ट स्थान रूप पहले गुणस्थान मे पतित वनाये रखता है।

(२) सास्वादान सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा औपशमिक सम्यक्त्व वाली है किन्तु अनन्तानुवधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुकती है, वह आत्मा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती, तब तक सास्वादान सम्यक् दृष्टि कहलाती है। और उसकी इस प्रकार की अवस्था से इस दूसरे गुणस्थान का नाम और लक्षण है। यद्यपि आत्मा का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव मे आता है, उसी प्रकार वैसी आत्मा को भी कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव मे आता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जब आत्मा की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, तब इस सम्यक् मिथ्या दृष्टि गुण स्थान (मिश्र) का अस्तित्व रहता है। इस मे अनन्तानुवधी कषाय का उदय नहीं रहने से आत्मा मे शुद्धता तो मिथ्यात्व मोहनीय के अर्ध विशुद्ध पुज का उदय हो जाने से अशुद्धता रहती है। जैसे गुड़ मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, वही अवस्था आत्मा के श्रद्धान् की होती है जो कुछ सच्चा और कुछ मिथ्या होता है। इस कारण से आत्मा वीतराग देवो द्वारा उपदेशित तत्त्वो पर न तो एकान्त रुचि रखती है और न ही एकान्त अरुचि। जैसे नारियल वाले द्वीप के निवासी चावल नही जानते सो उसके स्वाद मे न रुचि रखते है, न अरुचि, वही अवस्था आत्मा की इस गुणस्थान में वीतराग मार्ग पर होती है। किन्तु यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त ही रहती है, फिर सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनो मे से जिसकी स्थिति प्रवल होती है उधर आत्मा मुड़ जाती है। अत इस तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही मानी गई है।

(४) अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा सम्यक् दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम को धारण नही कर सकती है, वह इस गुणस्थान मे रहती है। सावद्य व्यापारो को छोड़ देना और पापजनक कार्यों से अलग हो जाना—यह विरति कहलाता है और यही चारित्र एव व्रत होता है। इस गुणस्थान मे आत्मा अविरति रूप रहती है जिसके सात प्रकार हो सकते है—जो लोग व्रतो को न जानते है, न स्वीकारते है और न पालते है ऐसे साधारण लोग जो व्रतो को जानते नहीं, स्वीकारते नही किन्तु पालते है—ऐसे अपने आप निर्णय लेने वाले बाल तपस्वी जो व्रतों को जानते नही किन्तु स्वीकारते है और स्वीकार करके पालते नही है—ऐसे ढीले पासत्थे साधु सयम लेकर निभाते नही जिनको व्रतो का ज्ञान नही है किन्तु उनका स्वीकार और पालन बरावर करते है ऐसे अगीतार्थ मुनि जो व्रतो को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नही करते जो व्रतो को जानते हुए भी उनका स्वीकार नही कर सकते किन्तु पालन करते है जो व्रतो को जान कर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु वाद मे उसका पालन नही कर सकते। व्रत की सफलता का रहस्य सम्यक् ज्ञान, सम्यग्ग्रहण तथा सम्यक् पालन मे निहित होता है—किसी एक की भी कमी से व्रताराधन का पूरा फल नही होता है। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतो मे से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि व्रतो का यथार्थ ज्ञान ही नही है। पिछले तीन प्रकार के अविरत सम्यक् दृष्टि है क्योंकि वे व्रतो का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हे अच्छी तरह जानते है। इस गुणस्थान मे कोई औपशमिक सम्यक्त्व वाला होता है तो कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाला। व्रतो के ज्ञान के वावजूद भी पालन आत्मा इसलिये नहीं करती कि उसमे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है और उसके उदय मे रहते चारित्र का ग्रहण और पालन अवरुद्ध रहता है।

(५) देशविरत गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो आत्मा पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न होकर एक देश से निवृत्त होती है, वह उसका देशविरति अथवा श्रावक व्रत होता है। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है अथवा एकाधिक व्रत भी अगीकार करता है किन्तु उसका यह त्याग दो करण तीन योग (अनुमोदन का त्याग नही) से होता है। अनुमोदन या अनुमति तीन प्रकार की है— प्रतिसेवनानुमति—अपने या दूसरे के लिये बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना। प्रतिश्रवणानुमति—पुत्र आदि किसी सम्बन्धी द्वारा किये गये पाप कर्म को सुनकर भी पुत्र आदि को उस पाप कर्म से नहीं रोकना तथा सवासानुमति—जो श्रावक पाप जनक आरभो मे किसी प्रकार से योग नही देता, केवल सवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावको से श्रेष्ठ है।

(६) प्रमत्त सयत गुणस्थान—जो आत्मा पापजनक व्यापारो से सर्वथा निवृत्त हो जाती है वही संयत (मुनि धर्म का पालन करती हुई) होती है। सयत होने पर भी जब तक प्रमाद का सेवन चलता है तब तक वह प्रमत्त सयत कहलाती है और उसका यह छठा गुणस्थान होता है। सयत (मुनि) को सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है —वह सवासानुमति का भी सेवन नही करता। इस गुणस्थान से लेकर आगे तक किसी भी गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता।

(७) अप्रमत्त सयत गुणस्थान—जो मुनि निन्द्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादो का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त सयत होते हैं और उनका स्वरूप इस गुणस्थान वाला होता है। आत्मा मे अशुद्धि का कारण प्रमाद होता है।और प्रमाद छूटने से आत्मा की विशुद्धि बढ़ने लगती है। यही कारण है कि इस सातवे गुणस्थान से आत्मस्वरूप उत्तरोत्तर विशुद्ध होने लगता है तथा इस गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे अवस्थित मुनि-आत्माए प्रमाद का सेवन नही करती। वे मुनि जागृत होते हैं।

(८) निवृत्ति वादर गुणस्थान—जिस आत्मा के अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ चारो निवृत्त हो गये हो उसके स्वरूप विशेष को निवृत्ति वादर गुणस्थान कहते है। इस गुण स्थान से दो श्रेणिया प्रारभ होती है —उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय की प्रकृतियो का उपशम करती हुई ग्यारहवे गुणस्थान तक जाती है और क्षपक श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय कर्म का क्षपण करती हुई दसवे से सीधी वारहवे गुणस्थान मे जाकर अप्रतिपाती हो जाती है—नीचे नही गिरती है। जो आत्माए इस आठवे गुणस्थान को प्राप्त कर चुकी है, प्राप्त कर रही है और जो प्राप्त करेगी, उन सबके अध्यवसाय स्थानो की सख्या असख्यात लोकाकाशो के प्रदेशो के बरावर है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जितनी आत्माए और जितने समय, उतने ही अध्यवसायो के प्रकार। अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाओं से पर-पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न समझने चाहिये तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायो की अपेक्षा पर-पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुना विशुद्ध समझने चाहिये। आठवे गुणस्थान के समय जीव पाच वस्तुओं का विधान करता है—स्थिति घात —जो कर्म दलिक आगे उदय मे आने वाले है, उन्हे अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने-अपने उदय के नियत समयो से हटा देना रस घात —वधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना। गुणश्रेणी—जिन कर्म दलिको का स्थितिघात किया जाता है उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित कर देना। गुण सक्रमण—जिन शुभ कर्म प्रकृतियो का वध अभी हो रहा है

उनमे पहले बधी हुई अशुभ प्रकृतियो का संक्रमण कर देना। अपूर्व स्थिति बध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बाधना। जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवे गुणस्थान मे रही हुई आत्मा चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशयक या क्षपक कहलाती है। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारभ तो नवे गुणस्थान मे ही होता है, आठवे गुणस्थान मे तो केवल उसकी योग्यता होती है।

(९) अनिवृति बादर सम्पराय गुणस्थान—केवल सज्वलन क्रोध, मान, माया रूप कषाय से जिस आत्मा की निवृत्ति नहीं हुई हो, वैसी आत्मा की उस अवस्था विशेष को अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते है, उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान मे माने जाते है क्योंकि इसमे जितने जीव समसमयवर्ती रहते है उन सबके अध्यवसाय एक समान शुद्धि वाले होते हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्तगुना विशुद्ध समझना चाहिये। आठवे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान की यही विशेषता है कि उस गुणस्थान मे तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवो के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असख्यात वर्गों मे विभाजित किये जा सकते हैं जबकि इसमे समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवो के अध्यवसायो का समान बुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। कषाय सक्लेश की कमी के साथ साथ परिणामो की शुद्धि बढ़ती जाती है। इस गुणस्थान मे विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायो की भिन्नता आठवे गुण स्थान की भिन्नताओं से वहुत कम हो जाती है। दसवे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान मे स्थूल कषाय उदय मे आता है तथा नवे गुणस्थान के समसमयवर्ती जीवो के परिणामो में निवृत्ति नहीं होती। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली आत्माए दो प्रकार की होती है—एक उपशमक और दूसरी क्षपक। चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करने वाली उपशमक तथा उस का क्षय करने वाली क्षपक।

(१०) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान मे सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खडो का ही उदय रहता है और आत्माए भी उपशमक और क्षपक दोनो प्रकार की होती हैं। संज्वलन लोभ कषाय के सिवाय अन्य कषायो का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है, अत इस गुणस्थान मे आत्मा लोभ कषाय का उपशम या क्षय करती है और इसी दृष्टि से वे उपशमक या क्षपक कहलाती है।

(११) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान—जिनकी कषाय उपशान्त हो गई हैं, जिनको राग अर्थात् माया और लोभ का भी विल्कुल उदय नही है और जिनको छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए है, वे आत्माए उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाती है और उनका गुणस्थान यह ग्यारहवा गुणस्थान होता है जिसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है। इस गुणस्थान मे वर्तमान आत्मा आगे के गुणस्थानो को प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होती हैं, क्योकि जो आत्मा क्षपक श्रेणी पूर्ण करती है, वही आगे के गुणस्थान मे जा सकती है। इस गुणस्थान वाली आत्मा नियम से उपशम श्रेणी वाली ही होती है, अत वह इस गुणस्थान से पतित हो जाती है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होने से पहिले ही जो आत्मा आयुष्य के क्षय होने से काल कर जाती है, वह अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होती है। उस समय वह ग्यारहवे गुणस्थान से

गिर कर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है क्योकि अनुत्तर विमानवासी देवो मे चौथा गुणस्थान ही होता है। वहा वह आत्मा उस गुणस्थान की उदय-उदीरणा आदि शुरू कर देती है। किन्तु जिस आत्मा के आयुष्य के शेष रहते इस गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है वह आरोह क्रम से गिरती है अर्थात् इस गुणस्थान तक चढ़ते समय उस आत्मा ने जिन-जिन गुणस्थानो को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्म प्रकृतियो का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढ़ी थी, वे सब प्रकृतिया उसी क्रम से उदय मे आती है। इस प्रकार गिरने वाली कोई आत्मा बीच के गुण स्थानो मे रुक सकती है। तो कोई-कोई पहले गुणस्थान तक गिर जाती है। क्षपक श्रेणी के बिना कोई आत्मा मोक्ष मे नहीं पहुच सकती है और इस गुणस्थान मे उपशम श्रेणी वाली आत्मा ही आती है, इस कारण वह अवश्य गिरती है। एक जन्म मे दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती है और क्षपक श्रेणी तो एक बार ही होती है। जिस आत्मा ने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है किन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुकी है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नही कर सकती। अन्य सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म मे एक ही श्रेणी की जा सकती है इसलिये जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। उपशम श्रेणी के आरभ का क्रम इस प्रकार है —चौथे, पाचवे, छठे और सातवे गुणस्थान मे से किसी भी गुणस्थान मे वर्तमान आत्मा पहले अनतानुबधी कषायो का उपशम करती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे एक साथ दर्शन मोहनीय कर्म की तीनो प्रकृतियो का उपशम करती है। तदनन्तर वह छठे सातवे मे सैकड़ो बार आती जाती है, फिर आठवे गुणस्थान मे होकर नवे गुणस्थान को प्राप्त करती है और नवे गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियो की उपशम शुरू करती है। सवसे पहले वह नपुसक वेद का उपशम करती है, फिर स्त्री वेद का। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सज्वलन के क्रोध, मान और माया—इन सब प्रकृतियो का उपशम वह नवे गुणस्थान के अन्त तक करती है। सज्वलन लोभ का उपशम वह दसवे गुणस्थान मे करती है।

(१२) क्षीणकषायछद्मस्थ वीतराग गुणस्थान—जो आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देती है किन्तु शेष तीनो घाती कर्म अभी विद्यमान है उसे क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग कहते हैं और उस आत्मा का गुणस्थान यह बारहवा होता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और इसमे क्षपक श्रेणी वाली आत्माए ही आ सकती हैं। क्षपक श्रेणी का कर्म इस प्रकार है—जो आत्मा क्षपक श्रेणी वाली होती है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे सवसे पहिले अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करती है। उसके बाद वह अनन्तानुवधी कषाय के शेष अनन्तवे भाग को मिथ्यात्व मे डाल कर दोनो का एक साथ क्षय करती है। आठवे गुणस्थान मे वह अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय प्रारभ करती है। इन आठ प्रकृतियो का सर्वथा क्षय होने से पहिले ही नवे गुणस्थान को प्रारभ कर देती है और उसी समय इन सोलह प्रकृतियो का क्षय कर देती है—निद्रा, निन्द्रा प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म, आतप, उधोत, स्थावर, सूक्ष्म, तथा साधारण। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के अवशिष्ट भाग का क्षय करती है। फिर क्रमश नपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि छ ,

पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करती है और संज्वलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान मे करती है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान—जिन आत्माओं ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया है, वे सयोगी केवली कहलाती है और उनकी इस अवस्था विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। योग का अर्थ होता है आत्मा की प्रवृति या व्यापार जिसके तीन साधन हैं, इस कारण तदनुसार योग के भी तीन भेद हैं—मनोयोग, वचन योग तथा काया योग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मन पर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली को शब्द द्वारा कोई प्रश्न न पूछकर मन से ही पूछता है, उस समय केवली भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते है। प्रश्न करने वाला उस उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप मे परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देखकर ज्ञात कर लेता है। उपदेश देने के लिये केवली वचन का उपयोग करते है। हलन चलन आदि की क्रियाओं मे वे काय-योग का उपयोग करते है।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान— जो केवली भगवान् योगो से रहित है, वे अयोगी केवली कहे जाते है। उनकी इस अवस्था एव स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। तीनो प्रकार के योगो का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान् सयोगी अवस्था मे जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते है। इसके बाद जिस केवली के आयुकर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते है तथा वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते है, वे समुद्धात करते हैं, जिसके द्वारा वेदनीय, नाम और गौत्र की स्थिति आयु के समान कर ली जाती है। जिन केवली आत्माओं के वेदनीय आदि उक्त तीनो कर्मों की स्थिति तथा प्रदेशो मे आयुकर्म की समानता होती है, उन्हे समुद्धात करने की आवश्यकता नही है, इस लिये वे समुद्धात नहीं करती। सभी केवल ज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त मे एक ऐसे ध्यान के लिये योगो का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है। योगो के निरोध का क्रम इस प्रकार है— पहले वादर (स्थूल) काय योग से बादर मनोयोग तथा बादर वचन योग को रोकते है। बाद मे सूक्ष्म काय योग से वादर कामयोग को रोकते है और फिर उसी सूक्ष्म कामयोग स क्रमश सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचन योग को रोकते है। अन्त मे सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान के वल से सूक्ष्म काय योग को भी रोक देते है। इस प्रकार सव योगो का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी अयोगी वन जाते है और सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतर पोले भाग याने मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशो से पूर्ण कर देते है। इसके वाद अयोगी केवली समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते है और मध्यम रीति से पाच ह्रस्व अक्षरो (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरू पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व सवर रूप योग निरोध अवस्था को 'शैलेशी' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की गुण श्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है। इसको प्राप्त करके वे चार अघाती या भवोपग्राही या आत्मा को ससार मे वाध कर रखने वाले कर्मों का भी सर्वथा क्षय कर देते है। इस गुण स्थान मे आत्म प्रदेश

इतने घनीभूत हो जाते है कि वे उनके शरीर के दो तिहाई भाग मे ही समा जाते है। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे उसी एक समय मे ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्ध क्षेत्र मे चले जाते है। व अटल अवगाहना रूप से लोकाग्र मे स्थिर हो जाते है। उसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नही होती है क्योकि आगे गति मे सहायक धर्मास्तिकाय नही होती। कर्म मल के पूर्णत हट जाने पर शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस बिन्दु पर आकर अवस्थित हो जाती है।

समत्व योग की अवाप्ति

मेरा चिन्तन अतीव गूढ़ और गभीर हो जाता है जब मैं आत्म स्वरूप के इन चौदह गुणस्थानो की सूक्ष्मताओं पर बहुत गहराई से विचार करता हू, क्योकि यह मुझे ही निश्चित करना होता है कि मै किस गुणस्थान मे वर्तता रहता हू। गुणस्थानो मे ऊपर चढ़ना या नीचे गिरना मेरी अपनी भाव श्रेणियो की उच्चता या निम्नता पर अवलम्बित रहता है। अत मै ही अपनी भाव श्रेणी को परखू, उसकी अशुभता मिटाता रहूं और ऊपर चढ़ता रहू—यह मेरा ही पुरुषार्थ होता है।

यह मै जान गया हू कि मेरा ही सम्यक् ज्ञान और मेरी ही सम्यक् आस्था मुझे मेरे सम्यक् चारित्र मे मेरी आत्मा को अवस्थित बनायगी और इस अवस्था को ज्यो-ज्यो मै ऊर्ध्वगामी बनाता रहूगा, मेरा समत्व योग भी समुन्नत बनता रहेगा। तो मै समत्व योग की अवाप्ति करलू —यह पूरी तरह से मेरे ही ऊपर निर्भर है। इसलिये मुझे अपने दायित्व को समझ कर दृढ़ सकल्प करना होगा कि मै अपनी विषय वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के मूल कारणो को समझू, उन्हे अपनी शुभता व सयमितता से दूर हटाऊ एव अपने आत्मोत्थान की बागडोर अपने हाथ मे मजबूती से सम्हाल लू। विषमता जितने अशो मे मिटती जायगी, उतने अशो मे मै समता की अवाप्ति करता जाऊगा।

मै अपने ध्यान मे लू कि मेरी सम्पूर्ण विषमता किस प्रकार के काले विचारो से रगी हुई है? मै इसके मूल मे पाच कारण देखता हू—ये है —मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व सबसे घटाटोप अधकार की अवस्था होती है क्योंकि वहा आचरण और आस्था की बात तो दूर —सम्यक् ज्ञान के अस्तित्व की ही स्थिति नही होती है। अत तब सर्वथा विषमता का ही साम्राज्य होता है। इस कारण मै सबसे पहले इस घटाटोप अधकार मे सम्यक्त्व की प्रकाश किरणे खोजू और उस दिशा मे आगे बढ़ते हुए मिथ्यात्व की अटवी को पार करू। मै प्रतिक्षण जागृत भी रहू कि मेरे कदम कहीं भी पीछे नही हटे क्योंकि बार बार ऐसे अवसर आवेगे जव मेरा ही मन और मेरी ही इन्द्रियाँ सासारिकता के मोह मे उलझ कर मुझे बलात् पीछे धकेले। मुझे उनका निरोध करना होगा जिसके लिये मेरी अपनी सकल्प शक्ति सुदृढ़ वननी चाहिये। उद्दड सेवको को जिस प्राभाविकता एव कुशलता से अपने नियत्रण मे रखना होता है, अपनी आत्मा के इन सेवको को वश मे रखने के लिये उससे भी अधिक एकाग्र प्राभाविकता एव सतत जागृत कुशलता की आवश्यकता होगी।

जव मैं विपमता के इस पहले कारण को कमजोर वना दूगा तो मेरे समक्ष प्रकाश फैलता जायगा और उस प्रकाश मे मेरा आत्म विकास का भगीरथ कार्य भी सरल होता जायगा, क्योंकि मै अपनी आन्तरिकता का दृष्टा बन जाऊगा और आन्तरिकता को विकृत वनाने वाले विषम तत्त्वो को स्पष्टत देख पाऊगा। अधेरे मे कोई भी शत्रु कहीं भी वार कर सकता है और उसका प्रतिकार कठिन हो जाता है लेकिन सम्यक्त्व का प्रकाश मेरा सबसे वड़ा सहायक हो जायगा और इसी प्रकाश

मे मै अविरति के कारण को दूर करूंगा। मै जान जाऊंगा कि कोरा ज्ञान पंगु होता है और बिना आस्था के वह अज्ञान ही होता है अत आचरण के धरातल पर मेरे चरण जब चलेगे तो मेरा आस्थामय ज्ञान अपनी सार्थकता ग्रहण करेगा। आचरण का पहला चरण होता है व्रताराधन याने त्याग का शुभ श्री गणेश। अविरति की अवस्था टूटेगी और मैं व्रतों की उच्चतर श्रेणियो पर चढ़ता रहूगा। देश विरति याने आशिक सयम से मैं सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन मे प्रवेश करूंगा और व्रतो की कठोर आराधना करूगा।

व्रतो की कठोर आराधना से मेरा प्रमाद टूटेगा। यह प्रमाद अपनी जड़े जमाता है सासारिक काम भोगो की वासनाओं की भूमि पर, अत' मैं इस भूमि को ही खोदने लगूगा। यह भूमि मेरी आत्मा के सिवाय अन्य भूमि नहीं है। मैं मेरे संकल्पो-विकल्पो मे से विषयेच्छाओं का अन्त करता चलूंगा। मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियो को काम भोगो के रास्ते से पूरी तरह हटा लूगा तो फिर प्रमाद किस बात का रहेगा ? मै इस आप्तवचन को सदा स्मृति मे रखूगा कि एक समय (काल का सवसे छोटा भाग) के लिये भी प्रमाद नही किया जाय, क्योंकि प्रमाद ही पाप के रास्ते पर ढकेलता है। प्रमाद के घटते रहने से मेरी आत्मजागृति निरन्तर बनी रह सकेगी। तभी मुझे अनुभूति होगी कि मुनि किस प्रकार सोते हुए भी जागृत रहते है ?

मैं मानता हू कि कषाय समाप्ति का काम सवसे ज्यादा कठिन होता है और इसी विचार से कहा गया है कि कषाय से मुक्ति ही वास्तव मे मुक्ति होती है। मुझे इस तथ्य का भलीभाति ज्ञान हो गया है कि यह कपाय आत्म-स्वरूप का पल्ला बड़ी मुश्किल से छोड़ती है कषाय के चारो विकारी तत्त्वो का प्रहार बड़ा घातक होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ— साधु अवस्था मे भी पीछे पड़े रहते है। वार वार नियन्त्रित करते रहने पर भी ये फिर फिर भड़क उठते है और आत्म स्वरूप पर कालिख का लेप कर देते है। सासारिक क्षेत्रो मे तो इनका रूप विकराल वना ही रहता है, लेकिन धार्मिक क्षेत्र मे भी यदि इनके रूप को गहराई से समझ कर इन पर अकुश लगाया हुआ न रखा जाय तो ये पलो मे सयमी जीवन की अमूल्य उपलब्धियो को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। कठिन तप का आराधक तपस्वी भी क्रोध के चक्कर मे आ जाता है तो सयम से प्रदीप्त साधु भी मान की मार खा जाता है। चाहे धार्मिक अनुष्ठानो पर ही आचरण किया जा रहा हो, माया से अपना वर्चस्व दिखाने की दुर्भावना जाग उठती है तो लोभ आत्मोत्थान की कई सीढ़ियो तक प्रहार कर सकता है। इस दृष्टि से मैं अपने आपको पूर्ण सजग बनाता हू और इस प्रहारक कषाय को दूर करने मे सन्नद्ध रहना चाहता हू।

यही सावधानी मैं अपने योगो के प्रति भी कायम करना चाहता हूं। ये योग है, मेरे अपने मन के विचार, मेरे अपने वचन और मेरे अपने कार्य—ये तीनो मन, वचन और काया इन योगो के माध्यम है। जो कुछ भी मै सोचता हूं तो वैसा ही वोलता हू और वैसे ही कार्य करता हू। मन, वाणी और कर्म मे ही मेरे आत्म स्वरूप की झलक देखी जा सकती है। ये योग ही अशुभ वने रहकर मुझे नीचे गिराते है तो ये योग ही शुभता धारण करके मुझे ऊपर चढ़ाते है, योगो की अशुद्धता और शुद्धता पल पल आत्मा के पलड़ो को ऊचा नीचा करती रहती है जिसके कारण इनके प्रति सावधानी परम आवश्यक है कि ये योग एक ही ऊर्ध्वगामी दिशा की ओर प्रवाहित हो। यह तभी सभव हो सकता है जव मेरी आत्मा अपनी नियत्रण शक्ति को स्वकेन्द्रित वना ले।

मुझे यदि साम्य योग की सम्पूर्णत अवाप्ति करनी है तो वीतराग देवो द्वारा उपदेशित संयम और तप के मार्ग पर अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना होगा तथा उनकी आज्ञा मे रहकर विषमता के इन पाचो कारणो को घटाना और मिटाना होगा। इस समग्र कारण-निवारण की एक ही रामबाण औषधि है कि मैं अपने मन को वश मे करू—मन गतिशील अवश्य रहे और वह गतिशील रहेगा लेकिन उसकी गति सांसारिक विषयो मे न रहकर आत्म विकास की ऊचाइयो की ओर मुड़ जाय। मुझे अपने सारे पुरुषार्थ का प्रयोग यो समझिये कि इस एकाकी बिन्दु पर लगाना है। इस बिन्दु पर यदि मेरी एकाग्रता जम जाती है तो मैं मान सकता हू कि मेरी सफलता की जड़ भी जम जाती है। कारण, मन का नियंत्रण ही वचन और काया के नियत्रण मे आसानी से ढल जाता है।

अब मेरी धारणा स्पष्ट हो जाती है कि मन को वश मे करके मुझे क्या करना है? इसी सदर्भ मे मैं जान जाता हू कि आत्म विकास के कई सोपान साध लेने पर भी जरा-सी असावधानी किस प्रकार आत्मा को नीचे गिरा देती हैं? मैं समझ जाता हू कि गुणस्थानो मे उन्नति करना एक प्रकार से तलहटी से पर्वत के शिखर पर चढ़ना है और गुणस्थान रूपी यो मानिये कि सोपान (सीढ़िया) लगे हुए हैं। तलहटी है केश्यात्व की - निर्गुणी आत्मा की, कठिन विषमता के अधकार की। पहले सोपान ऐसे आते हैं कि आत्मा का इन पर उतार-चढ़ाव बहुत होता रहता है क्योंकि मन को वश मे करने का अभ्यास आत्मा आरभ ही करती है। उस आरभिक अवस्था मे कभी आत्मा मन को वश मे करके ऊपर चढ़ती है तो कभी मन उद्दड बन कर उससे दूर छिटक जाता है और उसको नीचे गिरा देता है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही इस अवस्था मे सुधार होने लगता है जबकि मन का खतरा कई सोपानो की चढ़ाई तक बरावर बना रहता है। अत मन को विशिष्ट आत्मिक प्राभाविकता के साथ विषमता निवारण के काम मे लगाये रहना चाहिये।

मै यह मानकर चलता हू कि मन जैसा कमर्ठ माध्यम भी दूसरा नहीं होता है। यदि वह किसी कार्य मे पागल बन कर लग जाय तो सफलता साधकर ही चैन लेता है। उसका अर्थ है कि मेरी आत्मा अपने साध्य के प्रति सर्वथा एकनिष्ठ बन जाय और उसी निष्ठा के साथ अपने मन को जोड़ ले तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल वना सकता हू।

योग शुद्धि और कषाय मुक्ति—यह अन्तिम लक्ष्य बन जाना चाहिये। यह शुद्धि और शुभता क्रमिक अभ्यास के साथ ही प्राप्त हो सकेगी। अशुभता से शुभता के इस क्रम को भी मुझे समझ लेना चाहिये। जैसे किसी के व्यवहार का यह रूप हो सकता है कि वह सवके साथ अपकार करता है—यहाँ तक कि अपना उपकार करने वाले के साथ भी वह अपकार करने से नहीं चूकता। वह कुछ सुधरे तो यह कर ले कि औरो के साथ अपकार करे, किन्तु अपना उपकार करने वाले के साथ तो अपकार न करे। अगला सशोधन यह हो सकता है कि वह किसी का अपकार न करे चाहे किसी का उपकार करे या नही करे। उसकी योग शुद्धि अधिक वढ़े तो वह सवका उपकार करने का व्रत ले सकता है कि वह किसी का अपकार कतई नहीं करेगा। अन्ततोगत्वा वह उस स्तर तक पहुच सकता है कि उसे अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करके हर्ष होगा। यह अशुभता से शुभता का क्रमिक विकास कहा जा सकता है जो योग शुद्धि की तरतमता के अनुसार लम्वे अभ्यास से या अल्पावधि मे ही साधा जा सकता है। कषाय मुक्ति का क्रम तो इससे भी कठिन होता है कि यह आत्म विजय की समस्या होती है। यह भीतर का युद्ध वाहर के युद्ध से अत्यधिक जटिल एव दुष्कर होता है।

मै देखता हू कि एक प्रकार से इसी युद्ध का चित्र खीचते है चौदह प्रकार के गुणस्थान कि किस प्रकार एक साधक आत्मयोद्धा वन अपनी आन्तरिकता के शत्रुओं से जूझता है, गिरता है, वढ़ता है और चढ़ता है? मिथ्यात्व को पछाड़ कर एक बार साधक ऊपर चढ़ने लगता है तो वह सम्यक्त्व का वरण करता है, व्रतो को ग्रहण करता है, श्रावक धर्म अगीकार कर लेता है और अप्रमत्त संयत अवस्था तक पहुच जाता है, किन्तु तनिक-सी असावधानी, तनिक-सी कषाय वृद्धि और तनिक सी मोहाविष्टता उसे वहा से गिराती है तो उसे नीचे से नीचे लुढ़काती हुई मिथ्यात्व के घटाटोप अधकार मे पटक देती है। यदि वही अप्रमत्त सयती सतत जागृत रहता है और योग शुद्धि व कपाय मुक्ति के पथ पर अविचल गति से आगे बढ़ता रहता है तो वह कषाय के तीनो प्रकारो अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ से निवृत्ति ले लेता है। उस समय सिर्फ सज्वलन कषाय से निवृत्ति लेनी शेष रहती है। साधना को उच्चता देते हुए वह अपनी कपाय को अति सूक्ष्य कर लेता है कि मात्र संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खड ही वचे रहते हैं। वहा से वह और ऊपर के सोपान पर चढ़ जाता है, जहा कषाय उपशान्त हो जाती है और छद्मस्थ वीतरागता मिल जाती है। इस विन्दु पर भी कपाय और योगो का ऐसा उद्वेग आ सकता है कि वह वहा से गिरे तो उससे नीचे की सीढ़ी पर और गिरता चला जाय तो ठेठ नीचे तलहटी मे पहुच जाता है। किन्तु यही विन्दु, ऐसा होता है कि जहा से ऊपर के सोपान की ओर दृढ़ता से पाव वढ़ गये तो वे क्षीण—कषाय वीतरागता व सयोगी केवली के उच्चस्थ स्थानो तक निश्चय रूप से पहुचा देते है। यही नहीं, अयोगी केवली वनकर वैसे साधक का मुक्तिगामी हो जाना भी सुनिश्चित हो जाता है।

मेरा आशय यह है कि आत्म विकास के क्रम मे ज्यो-ज्यो ऊचाई प्राप्त होती जाय, त्यो-त्यो सावधानी अधिकाधिक वढ़ती रहनी चाहिये। इस का यह भी अर्थ मान लिया जाय कि जहा सयम के प्रभाव से आते हुए कर्मों को रोकने मे सफलता पाई जाय, वहॉ तपाराधन की उग्रता से सचित कर्मों की निर्जरा भी की जाती रहे। गुणस्थान—सिद्धान्त का यही सकेत है कि योग शुद्धि और कपाय मुक्ति का साधनाक्रम इतना परिपुष्ट तथा परिपक्व वनता जाय कि ये सांसारिक विकार किसी भी स्तर पर आत्म स्वरूप पर आक्रमण करके सम्पादित उच्चता को व्यर्थ न कर सके।

मै इस साधना को ही विषमता के विरुद्ध युद्ध कहता हू। विषमता पहले मन मे उपजती है तभी वचन से वाहर निकलती है और कार्य से विस्तार पाती है। एक व्यक्ति इस प्रकार विपमता उगलता है जिसकी क्रिया प्रतिक्रिया की शृखला वन जाती है और यही शृखला सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विपमता का भयानक रूप ले लेती है। तव यह विपमता व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार मे इस तरह घुलमिल जाती है कि मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भुला वैठता है। तव वह अपने सामने रख लेता है मात्र अपने ही स्वार्थों को और उनको येन-केन प्रकारेण पूरे कर लेने के लिये वह पागल हो जाता है। यह पागलपन जितना फैलता है— पशुता फैलती है, राक्षसी वृत्ति फैलती है। उसे ही विषम समाज कहा जाता है।

जव सवके सामने इस फैलती हुई विपमता को दूर करने का सवाल आता है तो मैं वुनियादी रूप से सोचता हू और उस स्रोत को देखना चाहता हूं जहा से विपमता का वीज फूटता है। वह स्रोत मुझे मनुष्य का मन दिखाई देता है—यो ही कह दू कि वह मेरा स्वय का मन भी हो

सकता है। इसलिये विषमता के विरुद्ध जो युद्ध करना है, वह मनुष्य को अपनी ही आन्तरिकता मे करना है तथा अपने ही विमार्ग मे भटकते हुए मन से करना है। मै सोचता हू कि जब मेरे मन की विषमता घट या मिट जाती है तो उतना ही मै साम्ययोग का साधक बन जाता हू। विषमता को घटाने और मिटाने के लिये ममता (सांसारिकता के प्रति मोह-ग्रस्तता) को घटानी और मिटानी पड़ेगी तथा जब विषमता घटती और मिटती जायगी तो समता उसी रूप मे फूलती और फलती हुई चली जायगी।

मेरा चिन्तन गहरे उतरता है कि मै समतावादी से समताधारी बनता जाऊगा तो समतादर्शी बन जाने का साध्य भी मेरे समक्ष स्पष्ट हो जायगा। समता दर्शी हो जाना ही साम्य योग की अवाप्ति कर लेना है। समता की इस राह पर मेरा आगे बढ़ना क्या मेरे ही आत्म विकास को प्रभावित करेगा? यह तो उपलब्धि होगी ही किन्तु प्राभाविकता का क्षेत्र उससे भी कई गुना बड़ा होगा। मेरा समभाव, मेरी समदृष्टि और मेरा साम्य योग मेरे सम्पर्क मे आने वालो मे एक नये परिवर्तन का वीजारोपण करेगे। जैसे एक मन से विषमता धीरे-धीरे या जल्दी दूर तक फैल जाती है, वैसे ही एक विशुद्ध मन से उपजी समता भी चाहे धीरे-धीरे ही असर करे लेकिन, दूर-दूर तक असर जरूर करेगी। समता के इस विस्तार मे सामाजिक प्रयोग भी किये जाय तो समता का क्रियात्मक रूप अत्यधिक विस्तृत बनाया जा सकता है। सामाजिक प्रयोगो की सफलता के लिये किन्हीं प्रबुद्ध जनो की मन शुद्धि तो आवश्यक होती ही है। इस प्रकार मनुष्य के मन को ही सम्पूर्ण विकास का मूल आधार मानने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है।

इसलिये मेरा निश्चित मत है कि चाहे सामाजिक विषमता हो अथवा राष्ट्रीय विषमता या भले ही वह सम्पूर्ण मानव समाज की विषमता हो—उसका मूलोच्छेदन तो एक मनुष्य के मानस परिवर्तन के साथ ही प्रारभ किया जा सकेगा। कार्य कितना ही विशाल क्यो न हो—किन्तु उसकी सम्पूर्ति के लिये उसके किसी न किसी छोटे छोर से ही कार्यारभ करना होगा। विश्व की विषमता मिटानी है तब भी मनुष्य के मन की विषमता पर ही पहले प्रहार करना होगा। मनुष्य-मनुष्य के मन वदलते हुए एक समूह तक भी परिवर्तन का प्रसार हो जायगा तो उस सामूहिक शक्ति का प्रयोग भी साथ साथ मे प्रारभ किया जा सकेगा। व्यष्टि और समष्टि का इस रूप मे सहयोग समता के अधिकतम विस्तार का कारण भूत हो सकता है।

मै चिन्तन करता हू कि मैं साम्य योग की अवाप्ति करू और उस अवाप्ति को विश्वकल्याण का माध्यम बनाऊ। इस दृष्टि से मुझे अपने आत्म-समीक्षण मे परिपक्कता लानी होगी और एकावधानता को सुदृढ़ बनानी होगी।

ससार के समस्त जीवो का परिवार

मेरा आत्म-समीक्षण ध्यान मुझे नई अन्त प्रेरणा देगा और वह यह कि सारी वसुधा ही मेरा कुटुम्व है। दूसरे शब्दो मे यह कि ससार के समस्त जीवो का परिवार ही मेरा पूरा और सच्चा परिवार है। जैसे मै अपने छोटे घटक रूप परिवार का हितैषी और सहयोगी होता हू, वैसी ही मेरी हित भावना और सहयोगी शक्ति अपने इस वड़े परिवार के प्रति भी होनी चाहिये। यो पूछें तो वह अधिक होनी चाहिये क्योंकि मेरे छोटे घटक परिवार मे तो वयस्क होकर सभी सदस्य आत्म निर्भर एव स्वावलम्बी वन जाते है किन्तु इस वड़े परिवार मे तो पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और निगोध

आदि के ऐसे सूक्ष्म जीव तथा जीवाणु होते है जिनकी रक्षा के लिये मेरी आन्तरिक जागृति सदा प्रदीप्त रहनी चाहिये। ये सभी जीव छ काया के जीव होते है—चौरासी लाख योनियो के जीव, जिनमे से किसी के प्रति मेरी हिसक वृत्ति उत्तेजित नही बननी चाहिये। मैं उनमे से एक भी जीव के एक भी प्राण को कष्टित नहीं करू—इतना ही मेरा कर्त्तव्य नहीं है वल्कि मैं सभी जीवो के प्रति दयावान् होऊ तथा प्रत्येक जीव की रक्षा मे अनुकम्पित होकर तत्पर बनू—यह भी आवश्यक है। ये सभी जीव मेरे बड़े परिवार के सदस्य हैं और मैं समझता हू कि मेरी करुणा की इन्हे अपेक्षा है ।

यह मै समझ चुका हू कि मैं ससार के समस्त जीवो के इस परिवार का सच्चा सदस्य तभी कहला सकता हू जव मैं साधु धर्म को स्वीकार करके इन छ काया के जीवो का सच्चा रक्षक और हिताकाक्षी वनू। हृदय को इतना विशाल, उदार और विराट् बनाना सरल नहीं है। इसके लिये मै जानता हू कि मुझे कठोर साधना करनी होगी—मेरे अपने स्वार्थों को समाप्त करके सर्वहित मे अपने निजत्व को समर्पित कर देना होगा। ऐसी साधना रत्न त्रय की सर्वोच्च आराधना से ही सफल वनती है और तभी साम्ययोग की अवाप्ति होती है। साम्ययोगी बनकर ही मै समतादर्शी होता हू—सवको समदृष्टि से देखता हू और सबके हित के लिये अन्त' प्रेरित होता हू।

मुझे वीतराग देवो की वह उक्ति बरावर ध्यान मे है जिसमे कहा गया है कि समस्त मानव जाति एक है और मै इस एकता के फलस्वरूप अपने कर्तव्यो की दृष्टि से समस्त मानव जाति से जुड़ा हुआ हू। यह प्रश्न किया गया है कि सर्व शास्त्रो का सार क्या है? सम्पूर्ण आचरण का सार क्या है? और वही उत्तर भी दिया गया है कि सम्पूर्ण प्ररूपणा का सार है आचरण, जो ससार के समस्त जीवो की रक्षा तक विस्तृत वनना चाहिये और तब सम्पूर्ण आचरण का सार बताया गया है निर्वाण। कहा गया है कि नारकीयो की दिशा अधोदिशा है और देवताओं की दिशा ऊर्ध्वदिशा अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक होते है तो ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व की झलक दिखाते हैं।

सयम की साधना का मुझे दीर्घ अनुभव है और मै जानता हू कि जैसे जैसे मन, वचन, काया के सघर्पशील योग अल्पतर होते जाते है, वैसे वैसे कर्मो का बध भी अल्पतर होता जाता है। योग चक्र का पूर्णत· निरोध होने पर बध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र मे रहे हुए अच्छिद्र जलयान मे जलागमन का अभाव होता है।

साधक का जीवन मै जानता हू कि अन्तर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी होता है। कछुआ जिस प्रकार अपने अगो को अन्दर मे समेट कर खतरे से वाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखता है और अपनी सुख सुविधा की भावना से अनपेक्ष रहकर उपशान्त एव दभरहित होकर विचरता है। साधक की चार श्रेणिया मानी गई हैं—एक दर्पण के समान स्वच्छ हृदय वाला होता है, वहा दूसरा साधक हवा मे उड़ती हुई पताका के समान अस्थिर हृदय वाला भी हो सकता है। तीसरी श्रेणी का साधक स्थाणु के समान मिथ्याग्रही और चौथी श्रेणी का साधक तीक्ष्ण कटक के समान कटुभापी होता है। पिछली तीनो श्रेणिया साधक की साधना की खोट वताती है। वस्तुत· आत्मदृष्टा साधक मधुकर (भवरा) के समान होते हैं—वे कही किसी एक वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति मे आवद्ध नहीं होते।

भीतर प्रकाश, बाहर प्रकाश

मै जो ज्ञानपुज और समत्व योगी बनने का अभिलाषी हू, मै जानता हूं कि सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नही होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, मौन रखने मात्र से कोई मुनि नही होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता। वास्तव मे समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है। जो भोगो मे आसक्त है, वह कर्मों मे लिप्त होता है और जो अभोगी है—भोगासक्त नही है, वह कर्मों से लिप्त नही होता। भोगासक्त ससार मे परिभ्रमण करता है और भोगो मे अनासक्त ही ससार से मुक्त होता है। इसलिये सर्वप्रथम ज्ञान साधना आवश्यक है क्योंकि स्वाध्याय करते रहने से समस्त दु खो से मुक्ति मिलती है और हृदय के समस्त भाव प्रकाशयुक्त बनते है।

भीतर प्रकाश और बाहर प्रकाश तभी प्रसारित होता है जब वस्तु स्वरूप का यथार्थ रूप जाना जाता है जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सभव होता है। सम्यक्त्व के अभाव मे चारित्र नही हो सकता और ज्ञान से भावो का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है तथा तप से आत्म-स्वरूप निर्मल बन जाता है। यह निर्मलता ही भीतर, वाहर और सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश प्रसारित कर देती है।

मैं भावना भाता हू कि मै भी मुनिजनो के हृदय के समान अपने हृदय को बनाऊ जो शरद्कालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। मै भी मुनियो के आत्म स्वातत्र्य को प्राप्त करू जो पक्षियो की तरह बन्धनो से विमुक्त होता है तथा मै भी मुनियो के समभाव के समान अपनी आन्तरिकता मे समभाव का सृजन करू जो पृथ्वी की तरह समस्त सुखो व दु खो को सहन करता है। मै मुनि धर्म मे उत्कृष्टता प्राप्त करता हू तभी मुक्ति पथ पर अग्रगामी वनता हूं और निर्मल प्रकाश की दिव्याभा को पहिचान व प्राप्त कर सकता हू।

अमिट शान्ति और अक्षयसुख

मैं और मेरी तरह प्रत्येक प्राणी सदा ही शान्ति और सुख की अभिलाषा रखता है, किन्तु समस्या वहा यही बनी रहती है कि अपने मन, वचन तथा काया के योग उसके अनुसार नहीं बनाये जाते है। वबूल बोते रह कर आम का फल पाने की अभिलाषा रखते हैं, जिसके कारण अभिलाषा की पूर्ति नही होती है। यह मूल मे ही भूल होती रहती है अत· चाहने पर भी शान्ति नहीं मिलती, सुख प्राप्त नही होता। इसलिये सवसे पहले इस अज्ञान को दूर करके यह सम्यक् प्रतीति लेनी होगी कि क्या करने से और क्या नही करने से शान्ति मिलेगी और सुख प्राप्त होगा? यह सम्यक् प्रतीति ही आस्था तथा आचरण के चरणो को सुदृढ़ व स्थिर वनाकर अमिट शान्ति और अक्षय सुख का मार्ग दिखाएगी।

मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख मिले या यो कहू कि पहले सच्ची शान्ति और सच्चे सुख का तनिक भी रसास्वादन कर सकू, उसके लिये अशान्ति और दु.ख के कारणो की खोज करनी होगी क्योंकि एक वार भी यदि सच्ची शान्ति और सच्चे सुख के रसानन्द का मैं अनुभव कर लूगा तो फिर उस मार्ग पर चलने का मेरा उत्साह जाग उठेगा। यह खोज अपने भीतर ही करनी होगी, कारण, शान्ति भी वही से प्रवाहित होती है तथा अशान्ति भी वहीं से फूटती है और सुख-दु ख का

अनुभव भी वहीं जन्म लेता है। यह तथ्य मुझे हृदयगम कर लेना चाहिये और इसकी गाठ बाँध लेनी चाहिये कि बाहर के पदार्थ और व्यक्ति अशान्ति और दु ख पैदा करने मे निमित्त मात्र होते है —वे स्वय मेरे हृदय मे अशान्ति और दु ख पैदा नही कर सकते है। सासारिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करने के सम्बन्ध मे अनन्त इच्छाए और कामनाए जब तक भड़की हुई रहती है, उस हृदय मे शान्ति और सुख की क्षीण प्रकाश रेखा भी नहीं चमकती। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव (विभाव) देखा जाता है कि बाह्य पदार्थों की वृष्टि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, उससे वह सन्तुष्ट नही रहता तथा अपनी नजरे ऊपर रखता हुआ वह अप्राप्त की चिन्ता करता जाता है। यह दीन हीन मनुष्यो पर ही लागू नही होता बल्कि अच्छे सम्पन्न लोगो मे भी यह वृत्ति बहुलता से देखी जाती है। इसी वृत्ति को तृष्णा कहते हैं। तृष्णाग्रस्त होकर मनुष्य अपने प्राप्त सुख को भी सुख मानकर नहीं भोगता है और अधिकतम प्राप्त करने के भारी तनावो के बीच दु खभरी जिन्दगी जीता है। तब उसके मन-मानस मे अशान्ति ही उमड़ती-घुमड़ती है और अप्राप्त की चिन्ताग्रस्तता के कारण दु ख का अनुभाव बढ़कर गभीर होता रहता है। इसके विपरीत यदि अपनी आन्तरिकता को सन्तोष के शीतल जल से शान्त बनाले और अपनी नजर नीचे की तरफ घुमाते रहे तो जो कुछ प्राप्त है, उसके सुख को भी भोगा जा सकेगा तथा हृदय को भी शान्त बनाया जा सकेगा।

मै मानता हू कि शान्ति और सुख के अनुभव का विषय मुख्यत. अपनी ही अवधारणाओं पर अवलम्बित रहता है। इसके लिये इच्छाओं और कामनाओं का निरोध ही करणीय पुरुषार्थ होता है। तृष्णा पर अकुश लगाते ही कई तनाव एक साथ समाप्त हो जाते है। इच्छा निरोध का धीरे-धीरे ही सही, किन्तु क्रमिक विकास मै जानता हूं कि हृदय को सन्तुलित बना देगा और तब शान्ति एव सुख का लाभ लेना अपने ही वश की बात हो जायगी। बाहर के मनोज्ञ पदार्थ मिले या चले जाय और अमनोज्ञ पदार्थों का दुर्योग हो जाय, तब भी परतत्व मेरे निजत्व को किसी भी रूप मे प्रभावित नही कर पायेगे और न ही मेरे हृदय मे अशान्ति की ज्वाला सुलगा सकेगे या दु ख की पीड़ा पैदा कर सकेगे। यही सयम की साधना का प्रारभ होगा।

ज्यो-ज्यो मेरा सयम सुदृढ़ एव सुस्थिर बनता जायगा, त्यो-त्यो मेरी शान्ति भी अधिकाधिक शीतल और सुख भी अधिकाधिक आह्लादकारी बनता जायगा। यही नही, उत्तरोत्तर आत्म विकास के साथ मेरी शान्ति और मेरे सुख मे स्थायित्व भी आता जायगा। क्षण-क्षण शान्ति और अशान्ति के पलड़ो मे मेरा झूलना भी बध हो जायगा।

सयम और तप की आराधना के साथ कर्म बध से ज्यो-ज्यो मुक्ति मिलती जायगी और ज्यो-ज्यो मेरी आत्मा ऊपर से ऊपर के गुणस्थान के सोपानो पर आरूढ़ होती जायगी कि अन्ततोगत्वा मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख की परम उपलब्धि भी हो जायगी। तब शान्ति और सुख का रूप अव्याबाध हो जायगा।

आठवां सूत्र और मेरा सकल्प

वीतराग देवों द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश मे मैं अनुभव करूगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एव विश्व कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है, क्योंकि ज्ञान के ही प्रकाश मे मै अपने साध्य को समझकर तदनुकूल साधनो का अभिग्रहण कर सकूगा। मैं जब अपना साध्य अमिट शान्ति

तथा अक्षय सुख के रूप मे मोक्ष प्राप्ति को बना लूगा तो यह भी निश्चय कर लूगा कि मै वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ एकावधानता से रत्नत्रय की सफल आराधना करू।

मै मूल मे ज्ञानपुज हूं, समत्व योगी हू तो मुझे अपने मूल स्वरूप को अनावृत्त करना ही है कि मै व्यक्त रूप से ज्ञानपुज एवं समत्व योगी बन जाऊ। इस दृष्टि से मै सकल्प लेता हूं कि मै अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र की आराधना करूंगा तथा योग शुद्धि व कषाय मुक्ति की ऊर्ध्वगामी गति के माध्यम से आत्मिक गुणस्थानो के सोपानो पर आरूढ़ होता हुआ क्रमिक रूप मे आत्मोन्नति करता जाऊगा। मैंने जान लिया है कि समत्व योग की सर्वोच्च साधना से ही मैं अमिट शान्ति एव अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकूगा अत दृढ़ सकल्प पूर्वक मै मोक्ष के पथ पर आगे बढ़ता जाऊगा।

अध्याय दस

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : १ :

मै शुद्ध, बुद्ध, निरजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मै प्राप्त कैसे करूँ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे मुझे प्रतिभासित होगा कि मै दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुसक कहॉ हूँ और शब्द, वर्ण, गध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहॉ हूँ? मै तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, अखेदी, अलेशी आदि गुणो से सम्पन्न हूँ। मै गुणाधारित जीवन का निर्माण करूँगा, मनोरथ-नियम के चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूँगा और अपने मूल आत्मस्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होऊँगा।

सूत्र नवम

मै शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन हू। मै आत्मस्वरूप हू—ज्ञान सम्पन्न हू। इसी कारण मै जानता हू कि वास्तव मे मै क्या हू और आज मैं किस स्वरूप मे चल रहा हू? मै यह भी जानता हू कि मै जिस ससार मे अभी चल रहा हू, उसका सही स्वरूप क्या है तथा ससार के स्वरूप ने मेरे आत्म-स्वरूप को किस रूप मे प्रभावित कर रखा है?

मै यह सब जानता हू, इसीलिये मानता हू और कहता हू कि मै शुद्ध हू —सर्व प्रकारेण शुद्ध। मेरी मूल शुद्धता या निर्मलता मे किसी भी प्रकार के मल का कोई अश नहीं है। मै पूर्णतया निर्मल और शुद्ध हू।

मै शुद्ध हू इसीलिये बुद्ध हू—प्रबुद्ध हू। मेरे बोध की कोई सीमा नही है—मेरा बोध असीम है— सम्पूर्ण लोक को जानता है, लोक की प्रत्येक आत्मा और वहा रहे हुए प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्येक को द्रव्य रूप मे भी जानता है और उसकी विविध पर्यायो को भी पहिचानता है।

मै बुद्ध हू और तदनुसार सिद्ध हू—कोई सिद्धि ऐसी नहीं जो मेरे से अछूती रह सके। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य का धारक हू। मेरी बुद्धता अपार है तो मेरी सिद्धि मेरे परम स्वरूप की द्योतक है। सिद्ध होकर मै आनन्द निमग्न हो जाता हू।

मै शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हू, अत तदनुसार निरजन हू। मेरी शुद्धता, बुद्धता और सिद्धि मुझे शरीर के बधन से मुक्त बनाकर निरजन-निराकार बना देती है और वस्तुत मेरी आत्मा का वही परम और चरम स्वरूप है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज मैं शुद्ध नहीं हू, बुद्ध नहीं हू, सिद्ध नहीं हू और निरजन भी नहीं हू तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरजन स्वरूपी बन जाने का अमित सामर्थ्य मेरी ही आत्मा मे समाया हुआ है। मै अपने अपूर्व पुरुषार्थ से शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरजन बन सकता हू। यह मेरी प्रयास साध्य अवस्था है—मेरा साध्य है।

मै जानता हू कि मै आत्म स्वरूपी हू। मै आत्मा हू, शरीर नहीं। शरीर तो मात्र मेरा वस्त्र है जिसे मै अपने कर्मानुसार बदलता रहता हू। मै स्वय शरीर नहीं हू। किन्तु इस ससार मे विडम्वनाभरी स्थिति यही है कि अधिकाश प्राणी अपने को शरीर स्वरूप ही मानकर चलते हैं, अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति नही लेते है। वे 'मै' और 'मेरे शरीर' के भेद को आकते नहीं है। ऐसी अनुभूति और अकन के अभाव मे वे न तो सत्य साध्य का निर्धारण कर पाते हैं और न ही सत्य साधनो का चयन। वे संसार और वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर मोहग्रस्तता के भयानक दु खो को भोगते है। किन्तु मै अपने मूल स्वरूप को जानता और पहिचानता हू और इसीलिये मै यथार्थ स्वरूप का पूर्णत प्रतिपादन करना चाहता हू।

मै आत्मा हू और मेरा मूल स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन है। मैं अपने वर्तमान अशुद्ध, अबुद्ध, असिद्ध और शरीरी स्वरूप को आत्मा के मूल स्वरूप मे कैसे परिवर्तित करू —उस पुरुषार्थ को भी जानता हू और इसी सामर्थ्य एव पुरुषार्थ को सभी भव्य आत्माओं के समक्ष प्रकट करना चाहता हू। इस पुरुषार्थ के तीन चरण हो सकते है—एक, अपने आत्म स्वरूप पर प्रतीति हो, उसकी अनुभूति ली जाय तथा उसके ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता, एव भोक्ता शक्तियो को समझा जाय। दो, सासारिकता मे रमती हुई अपनी वर्तमान आत्मिक अवस्था के कारण जाने जाय, उन्हे दूर करने के उपाय खोजे जाय और उन उपायो की क्रियान्विति पर अपना कठोर पुरुषार्थ नियोजित किया जाय। तीन, सम्यक्त्व को आत्मसात् किया जाय, सर्वविरति त्याग के अन्तर्गत सयम एवं तप की उच्चस्थ साधना की जाय और वीतरागी बनकर शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एव निरजन अवस्था मे अपनी आत्मा को सदा काल के लिये अवस्थित बना ली जाय।

अत आवश्यक है कि मै अपने भीतर झाकू, भीतर उतरूं और भीतर की गहराई की थाह लू—मुझे अपना विराट् आत्म-स्वरूप वहीं पर दिखलाई देगा और वहीं की गूढ़ता से मै अपने मूल गुणो की पहिचान कर सकूगा। मै क्या हू और मुझे क्या होना चाहिये एव मै क्या कर रहा हू तथा मुझे क्या करना चाहिये—इस सबका वास्तविक बोध भी मुझे वही से हो सकेगा।

मै आत्म स्वरूपी हूं

इसलिये मेरा पहला चरण है कि मै आत्म स्वरूपी हू। आत्मा है, वह मै हू और मै वह नहीं हूं जो मेरा शरीर है। आत्मा और शरीर के पृथकत्व को समझकर ही मै अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचानता हू। शरीर अलग है और आत्मा अलग है और इस कारण जब एक जीवन समाप्त होता है तो उस जीवन मे प्राप्त शरीर समाप्त होता है, आत्मा समाप्त नही होती। आत्मा तो अजर अमर होती है—इस ससार मे भी और सिद्ध-स्थली मे अवस्थित हो जाने के बाद मे भी। सिद्धावस्था मे वह कर्म मुक्त हो शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन बन जाती है तब वह शाश्वत रूप से एक स्वरूपी बन जाती है।

तो मै आत्मा हू इसीलिये अनश्वर हू—अजर अमर हू। मेरी कभी मृत्यु नहीं होती और जब मेरी मृत्यु नही होती है तो शरीर की मृत्यु का अवाछित भय मै क्यो रखू? इसी कारण मैं अभय भी हू। मैं आत्मा हू, इसीलिये निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायो को प्राप्त होता हू और मेरा लक्षण उपयोग या चैतन्य रूप है। मेरा ही नहीं, ससार के समस्त जीवो का भी यही उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण है। इस दृष्टि से मेरी आत्मा और सभी जीवो की आत्माए एक है।

मै आत्मावादी भी हू क्योकि मै नरक, तिर्यच, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओं तथा पूर्व पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं मे आने जाने वाले अक्षणिक, अमूर्त आदि स्वरूप वाली आत्मा को मानता हू और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता हू। मैं आत्मा के इस स्वरूप को नही मानता कि वह सर्वव्यापी, एकान्त, नित्य या एकान्त क्षणिक है क्योकि वैसा मानने पर आत्मा का पुनर्जन्म सभव नहीं होता है।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे जो शकाशील होते है अथवा उसके अस्तित्व को नही मानते, उनका पक्ष है कि आत्मा नही है, क्योकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है जैसे कि कोई कहे — आकाश मे फूल है। जो वस्तु विद्यमान होती है, वही प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है, जैसे घड़ा।

आत्मा चूकि प्रत्यक्ष से नही जानी जा सकती है, इसीलिये वह नही है। परमाणु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष से नही जाने जा सकते है—यह तर्क आत्मा के लिये उचित नही है, क्योंकि घड़े आदि के कार्यरूप मे परिणत होने पर परमाणु प्रत्यक्ष से जाने जा सकते है। आत्मा अनुमान से भी नही जानी जा सकती है। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का अविनाभाव (एक दूसरे के बिना नहीं रहना) निश्चित हो जाने के बाद किसी दूसरी जगह एक को देखकर दूसरी वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका अविनाभाव किसी वस्तु के साथ निश्चित नही किया जा सकता अत आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती है। तीसरे, आत्मा की सिद्धि आगम से भी नही होती है, क्योकि उसी महापुरुष के वाक्य को आगम रूप से प्रमाण माना जा सकता है, जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देखी है। आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है इसलिये उसके अस्तित्व को बताने वाला आगम भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसके अलावा अलग-अलग मतो के आगम भिन्न-भिन्न प्ररूपणा करते है—कुछ आत्मा के अस्तित्व को बताते है और कुछ अभाव को। ऐसी दशा मे यह नही कहा जा सकता कि अमुक आगम ही प्रमाण है। उपमान या अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नही होता, क्योकि इन दोनो की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ मे ही हो सकती है।

वीतराग देवो की अमोघ वाणी के प्रकाश मे मै जव इन तर्कों की विवेचना करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे तर्क सारहीन है और इस कारण कुतर्क है। मै समझता हू कि आत्मा मुझे प्रत्यक्ष है क्योकि यदि मै आत्मा के अस्तित्व मे सशय भी करता हू तो वह सशय स्वय ज्ञान होने के कारण आत्मा का ही विषय है क्योकि उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है। इसी प्रकार अपने शरीर मे होने वाले सुख-दु ख आदि का ज्ञान स्वयवेदी (अपने आपको जानने वाला) होने के कारण आत्मा को ही प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है। मैने किया, मै करता हू, मै करूगा या मैंने कहा, मै कहता हू, मै कहूगा अथवा मैने जाना, मै जानता हू, मै जानूगा इत्यादि तीनो कालो को विषय करने वाले ज्ञानो मे भी 'मैं' शब्द से आत्मा का ही बोध होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भी आत्मा की सिद्धि होती है। यदि 'मै' शब्द से शरीर को लिया जाय तो मृत शरीर मे भी यही प्रतीति होनी चाहिये, जो नहीं होती है। आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान हुए विना 'मै हूँ' यह निश्चयात्मक ज्ञान नही हो सकता, क्योकि इसमे भी 'मै' शब्द का अर्थ आत्मा ही है।

मै स्पष्ट समझ रहा हू कि आत्मा के नहीं होने पर 'आत्मा है या नहीं' इस प्रकार का सशय भी पैदा नही हो सकता है, क्योंकि सशय ज्ञान रूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुणी के विना गुण नही रह सकता। ज्ञान को शरीर का गुण नही कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है तथा शरीर मूर्त और जड़ है। दो विरोधी पदार्थ गुण और गुणी नही बन सकते। जैसे विना रूप वाले आकाश का गुण रूप नही हो सकता और इसी प्रकार मूर्त और जड़ शरीर का गुण अमूर्त और वोध रूप ज्ञान नही हो सकता। सभी वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय आत्मा का निश्चय होने पर ही हो सकता है। जिसे आत्मा के अस्तित्व मे ही सन्देह हो, वह कर्म वध, मोक्ष तथा घट, पट आदि के विषय मे भी सशय रहित नही हो सकता है।

मै जान रहा हू कि आत्मा का अभाव सिद्ध करने वाले अनुमान मे भी वहुत से दोप है। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली आत्मा का अभाव सिद्ध करने से साध्य प्रत्यक्ष वाधित है तो वह अनुमान विरुद्ध भी है। सशय वाला हू। इस मे 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी उसका

निषेध करना अभ्युपगम विरोध है। लोक मे जिस वस्तु का निश्चय छोटे से लेकर बड़े सभी व्यक्तियो को हो, उस का निषेध करने से यह कथन लोक बाधित भी है। अपने ही लिये 'मैं हू या नहीं' इस प्रकार संशय करना अपनी माता को बध्या बताने के समान स्व-वचन बाधित भी है। अत आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले पक्ष में अपक्षधर्मता के कारण हेतु भी प्रसिद्ध है और प्रमाण सिद्ध आत्मा मे ही हेतु की प्रवृति होने के कारण हेतु विरुद्ध भी है।

अत· मै सूर्य के प्रकाश के समान निश्चित रूप से अनुभव करता हूं कि आत्मा प्रत्यक्ष है। क्योंकि आत्मा के गुण स्मृति, जिज्ञासा (जानने की इच्छा), चिकीर्षा करने की इच्छा और जिगमिषा, सशय आदि प्रत्यक्ष हैं। जिस वस्तु के गुण प्रत्यक्ष होते है, वह वस्तु भी प्रत्यक्ष होती है, जैसे घट के गुण, रूप आदि प्रत्यक्ष होने पर घट भी प्रत्यक्ष होता है। यदि गुणो के ग्रहण से गुणी का ग्रहण न माना जाय तो भी गुणो के ज्ञान से गुणवाले (गुणी) का अस्तित्व तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व अखडनीय है और मेरी मान्यता सुदृढ़ बन जाती है कि मै आत्म स्वरूपी हूं—मै आत्मा हू।

मै आत्मा हू तो कैसी आत्मा हू? इस चिन्तन मे मै अनुभव करता हू कि मैं अभी बहिरात्मा हू क्योंकि जब तक आत्मा को सम्यक् ज्ञान नहीं होता और वह मोहवश शरीर आदि बाह्य पदार्थों मे आसक्त रहती है कि 'यह मै ही हू—मै इनसे भिन्न नही हू' तब तक वह शरीर आदि को अपने साथ जोड़े रखने के अज्ञान के कारण बहिरात्मा होती है। मै अन्तरात्मा भी हू क्योकि जब मै बाह्य भावो को दूर हटाकर शरीर से पृथक् शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा मे ही आत्मा का निश्चय करता हू तो मै आत्म-ज्ञानी पुरुष के रूप मे अन्तरात्मा हो जाता हू। मै अपने मूल आत्म स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा हू। जब मेरी आत्मा अपने सकल कर्मों का नाश करके अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप प्राप्त कर लेगी और वीतराग तथा कृतकृत्य हो जायगी, तव वह शुद्धात्मा-परमात्मा बन जायगी।

मेरी आत्मा के तीन रूप इस प्रकार के भी होते है—बद्ध, बुद्ध और सिद्ध। जब तक मेरी आत्मा कर्म समूह से बधी हुई रहती है, तब तक वह बद्ध आत्मा है, जब वह घाती कर्म बन्धनो का क्षय करके वीतरागी हो जायगी तो वह बुद्ध आत्मा बन जायगी और जब वह सम्पूर्ण कर्म क्षय करके अन्तिम बन्धन रूप शरीर से भी मुक्त हो जायगी, तव वह सिद्ध आत्मा हो जायगी।

मेरी आत्मा के ये विभिन्न रूप उसकी पर्याये हैं, जबकि वह शुद्ध रूप मे एक द्रव्य है। गुणो के समूह को द्रव्य कहते हैं, जो पर्यायो के रूप मे बदलता रहता है। और गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य के आश्रित रहे। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है, उसका स्वतत्र कोई स्थान नहीं रहता है। द्रव्य और उसके गुणो मे रहने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहते है। कुल छ प्रकार के द्रव्यो मे पाच द्रव्य जड़ है और छठा द्रव्य आत्मा है। आत्मा का गुण चैतन्य है और उसमे परिवर्तित होने वाली अवस्थाए उसकी पर्याय कहलाती हैं। पर्याये गुण और द्रव्य दोनो मे रहती है।

मेरी आत्मा अरूपी द्रव्य है जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते है तथा जो अमूर्त है पुद्‌गल के अलावा सभी पाचो द्रव्य अरूपी होते है। मेरी आत्मा भी अरूपी है और उसका गुण या लक्षण चैतन्य है। यो उसमे चार गुण है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। मेरी आत्मा की पर्याये भी चार हैं —अव्यावाध अनवगाह, अमूर्तिकता तथा अगुरुलधुत्व अनन्त ज्ञान आदि चारो गुण केवल आत्म द्रव्य मे ही पाये जाते है, अन्य किसी द्रव्य मे नहीं। किन्तु

प्रत्येक द्रव्य के समान मेरी आत्मा मे भी आठ पक्ष है—नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तव्य और अवक्तव्य। मेरी आत्मा के चारो गुण और तीन पर्याये नित्य है, मात्र अगुरुलघुत्व पर्याय अनित्य है। यो आत्माए अनन्त हैं, एक आत्मा मे असख्यात प्रदेश है तथा अनन्त गुण और पर्याये है। इस अनैकता के उपरान्त भी सर्व आत्माओं मे जीवत्व तथा चेतना लक्षण एक समान होने से सबमे एकत्व भी है। मेरी आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् भी है तो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् भी है। मेरी आत्मा मे अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें वचन से कही जाने की अपेक्षा से वक्तव्य भी है तो वचन से नहीं कही जाने की अपेक्षा से अवक्तव्य भी है। केवली भगवान् सर्व द्रव्य और पर्यायो को देखते हैं, परन्तु वचन से उनका अनन्तवा भाग ही कह सकते है। इस प्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य विषय का स्वरूप दिखलाया गया है। नित्यअनित्य पक्ष की चौभगी के अनुसार मेरी आत्मा मे ज्ञान आदि गुण अनादि अनन्त है याने वह नित्य है। मोक्ष जाने वाली भव्य आत्मा के कर्म का सयोग अनादि सान्त है, क्योकि कर्म अनादि से लगे हुए है परन्तु भव्य आत्मा के मोक्ष मे चले जाने पर उन कर्मो का सम्बन्ध पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। आत्मा जन्मान्तर करती हुई देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और तीर्यचत्व प्राप्त करती है तो देवत्व आदि उसकी पर्याये सादि सान्त है क्योकि देव आदि जन्म मे उत्पति भी होती है तो उसका अन्त भी होता है। भव्य आत्मा कर्म क्षय करके जब मोक्ष मे चली जाती है तो उसका मुक्तत्व रूप पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी भी अन्त नहीं होने से अनन्त अर्थात् असादि अनन्त है। द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की चौभगी के अनुसार मेरी आत्मा मे स्व द्रव्य की अपेक्षा से ज्ञान आदि अनन्त गुण अनादि अनन्त है। आत्मा जितने आकाश प्रदेशो मे रहती है, वही उसका क्षेत्र है जो सादिसान्त है। आत्मा का काल अगुरुलघु पर्याय से अनादि अनन्त है परन्तु अगुरु लघु की उत्पति और नाश आदि सान्त है। आत्मा का स्वभाव गुण पर्याय अनादि अनन्त है।

गुणो की दृष्टि से मेरी आत्मा मे छ सामान्य गुण हैं—(१) अस्तित्व—द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्व गुण है। इसी गुण के होने से आत्मा मे सद्रूपता का व्यवहार होता है। (२) वस्तुत्व—द्रव्य का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण है। जैसे सुवर्ण घट मे घटत्व सामान्य गुण और सुवर्णत्व विशेष गुण है। अवग्रह ज्ञान मे सब पदार्थों के सामान्य रूप का आभास होता है और अवाय मे विशेष का भी आभास हो जाता है। (३) द्रव्यत्व—गुण और पर्यायो का होना द्रव्यत्व गुण है। (४) प्रमेयत्व—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विषय होना प्रमेयत्व गुण है। (५) अगुरुलघुत्व—द्रव्य की गुरु अर्थात् भारी या लघु अर्थात् हल्का न होना अगुरुलघुत्व गुण है। यह गुण सूक्ष्म है अत अनुभव का विषय है। (६) प्रदेशत्व—वस्तु के निरश अश को प्रदेश कहते है। द्रव्यो का प्रदेश सहित होना प्रदेशत्व गुण है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ये सामान्य गुण सभी द्रव्यो मे पाये जाते है।

द्रव्य रूप से मेरी आत्मा के समान अनन्त आत्माए है—उनके भेद इस प्रकार है—सज्ञी मनुष्य सख्यात, और उससे असज्ञी मनुष्य असख्यात गुण है। उससे नरक के जीव असख्यात गुणे है। इसी प्रकार देवता असख्यात गुण, तिर्यच पचेंन्द्रिय असंख्यात गुण, चतुरिन्द्रिय जीव असंख्यात गुण, तिइन्द्रिय जीव विशेपाधिक, बेइन्द्रिय जीव विशेशाधिक, प्रत्येक शरीर बादर वनस्पति काय असख्यात गुण, तेइ काय असख्यात गुण, पृथ्वीकाय विशेपाधिक, अपकाय विशेपाधिक वायुकायविशेपाधिक और उससे सिद्ध जीव अनन्त गुणे हैं। सिद्धो से—निगोद (अनन्त जीवो का

पिण्ड भूत एक शरीर) के जीव अनन्त गुणे है। सुई के अग्र भाग पर निगोद पिण्ड का जितना भाग आये, इतने भाग मे असख्यात प्रतर होते है, उन प्रतरो मे से एक-एक प्रतर मे असख्यात-श्रेणिया होती हैं, एक-एक श्रेणी मे असख्यात गोलक होते है। एक-एक गोलक मे असख्यात शरीर होते हैं, उन एक-एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव होते है। ये निगोद बादर और सूक्ष्म दोनो प्रकार के होते है।

प्रत्येक ससारी आत्मा के असख्यात प्रदेश है। एक-एक प्रदेश मे अनन्त कर्म वर्गणाए लगी हुई है, एक-एक वर्गणा मे अनन्त पुद्गल परमाणु है। इस तरह अनन्त परमाणु आत्मा के साथ लगे हुए है, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल परमाणु आत्मा से अलग है।

द्रव्य रूप से अपनी आत्मा का विस्तृत परिचय लेने के बाद मै अपनी आत्मा की मुख्य रूप से वर्तमान आठ पर्यायो पर विचार करता हू। मेरी आत्मा लगातार अन्यान्य स्व-पर पर्यायो को प्राप्त करती रहती है और उसमे हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाता है। इसलिये मेरी आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग की अपेक्षा से सामान्य रूप मे सभी आत्माए एक प्रकार की है किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मान कर आत्मा के आठ भेद बताये गये है जो इस प्रकार है —

(१) द्रव्यात्मा—त्रिकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है जो सभी आत्माओं के होती है।

(२) कषायात्मा—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय विशिष्ट आत्मा कषायात्मा है। उपशान्त एव क्षीण कषाय आत्माओं के सिवाय शेष सभी ससारी आत्माओं के कषायात्मा होती है।

(३) योगात्मा—मन, वचन, काया के व्यापार मे प्रवर्तित होती हुई योगप्रधान आत्मा योगात्मा है। योग वाली सभी आत्माओं के योगात्मा होती है। अयोगी केवली और सिद्धो के यह आत्मा नही होती, क्योकि वे योग रहित होती है।

(४) उपयोगात्मा—साकार-अनाकार रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। यह आत्मा सिद्ध और ससारी-सम्यक् दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी आत्माओं के होती है।

(५) ज्ञानात्मा—विशेष अनुभव रूप सम्यक् ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते है। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि जीवो के होती है।

(६) दर्शनात्मा—सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा को दर्शनात्मा कहते है। यह आत्मा सभी जीवो के होती है।

(७) चारित्रात्मा—चारित्र गुण विशिष्ट आत्मा चारित्रात्मा कहलाती है। यह आत्मा विरति ग्रहण करने वालो के होती है।

(८) वीर्यात्मा—यह आत्मा उत्थान आदि रूप कारणो से युक्त होती है तथा सभी ससारी जीवो के होती है। यहा वीर्य का अर्थ लिया जाता है सकरण वीर्य और सकरण वीर्य सिद्ध आत्माओं के नही होता अत उनमे वीर्यात्मा का सद्भाव नही माना जाता है। किन्तु उनमे भी लब्धिवीर्य की अपेक्षा से वीर्यात्मा का सद्भाव माना जाता है।

आत्मा की ये आठो एक प्रकार से पर्यायें है। मै चिन्तन करता हू कि इन आठो पर्यायो का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है ? क्या एक पर्याय की विद्यमानता मे दूसरी पर्याय का अस्तित्व रहता है

वीतराग देवो ने इन प्रश्नो के सुन्दर समाधान उपदेशित किये है। जब किसी जीव के द्रव्यात्मा होती है तो कषायात्मा होती भी है और नहीं भी होती है। सकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा होती है और अकषायी द्रव्यात्मा के नही। किन्तु जिसके कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है। क्योंकि द्रव्यत्व के बिना कषायो की सभावना नहीं होती। यही अवस्था योगात्मा की भी होती है और द्रव्यत्व के साथ ही योग व्यापार संभव होता है। परन्तु द्रव्यात्मा के साथ उपयोगात्मा नियम से होती है—दोनो का परस्पर नित्य सम्बन्ध होता है। ये दोनो आत्माए सिद्ध एव ससारी सभी जीवो के होती हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि द्रव्यात्मा के होती है, मिथ्यादृष्टि द्रव्यात्मा के नहीं, किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है, उस के द्रव्यात्मा नियम से होती है। कारण, द्रव्य के विना ज्ञान नही होता। दर्शनात्मा सभी जीवो के होती है। उपयोगात्मा की तरह दर्शनात्मा का भी द्रव्यात्मा से नित्य सम्बन्ध होता है।

ज्ञानात्मा की तरह ही चारित्रात्मा विरत द्रव्यात्मा के होती है, अविरत के नहीं, किन्तु चारित्रात्मा के द्रव्यात्मा होती ही है। यही वीर्यात्मा की अवस्था है। सक्षेप मे द्रव्यात्मा मे कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है पर उक्त आत्माओं मे द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है।

इस प्रकार मै आत्म स्वरूपी हू—अपनी द्रव्यात्मा के साथ आत्मा की अन्य पर्यायो मे रमण करता रहता हू। यह भी मैं जान गया हू कि मेरी आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियो द्वारा नहीं जानी जा सकती है और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। मेरी आत्मा के साथ जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि दोष रहे हुए होते है, उन्ही के कारण मेरे कर्म बध होता है तथा इस कर्म बध के कारण ही मेरा ससार मे परिभ्रमण चलता है।

मै जानता हू कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग मेरी आत्मा के लक्षण है। मेरी आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही मेरी आत्मा है। जो ज्ञान के द्वारा जानती है, वही मेरी आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा से ही मेरी आत्मा ज्ञानात्मा कहलाती है। इस रूप मे मैं आत्मवादी हू क्योकि मै मेरे ज्ञान एव मेरी आत्मा की एकता को जानता हू और मेरी आत्मा सयम का अनुष्ठान करके सम्यक् पर्याय को प्राप्त करती है।

अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के सचरण मे मै अनुभव करता हू कि मेरी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है और मेरी यही आत्मा अपनी उच्चस्थ स्थिति मे स्वर्ग की कामधेनु और नन्दन वन है। जब मेरी आत्मा सद् अनुष्ठानो मे रत बनती हैं तब वह सुख देने वाली और दु ख दूर करने वाली हो जाती है। परन्तु जब असद् अनुष्ठानो मे भटकने लगती है तो वही मेरी आत्मा दु ख देने वाली और सुख छीनने वाली बन जाती है। सदनुष्ठान रत आत्मा उपकारी होने से मित्र रूप है तो दुराचार मे प्रवृत्त यही आत्मा अपकारी होने से शत्रु रूप हो जाती है। अतएव मेरा अनुभव है कि मेरी आत्मा ही सुख और दु ख को देने वाली तथा मित्र एव शत्रु रूप है। इस रूप मे मैं अपने आपको उद्बोधन देता हू कि मै जागू और समझू अपनी आत्मा के स्वरूप को जो सद् अनुष्ठानो मे प्रवृत्त रहे तो वही मेरी सबसे श्रेष्ठ मित्र है, फिर मुझे अपने मित्र की बाहर कहा खोज करनी है? इस सत्य को भी मै हृदयगम करू कि दुराचार मे लगी हुई मेरी आत्मा मेरा सिर काट देने वाले शत्रु से भी अधिक मेरा अपकार करती है क्योकि दया रूप क्रिया एव करुणा से शून्य मेरी आत्मा दुराचार मे अधी प्रवृत्ति करते हुए अपने उत्थान का कोई विचार नहीं कर पाती है और जब अपने वर्तमान जीवन के अन्त तक पहुचती है तो अपने दुराचारो की याद करके दु ख ग्रस्त बनी पश्चाताप करती है।

आत्म स्वरूप के इस वृहद् विश्लेषण से मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना है, उस पर सच्ची श्रद्धा बनानी है और उस आस्थायुक्त ज्ञान को सदनुष्ठानो मे ढालना है ताकि मैं अपनी आत्मा को उसका ही ज्ञाता विज्ञाता बनाकर तथा उपकारी मित्र का रूप देकर विरत बनू —देश विरति से सर्व विरति के सोपानो पर आरोहण करूं। आत्म विकास की मेरी महायात्रा की यही गंतव्य दिशा है।

आत्मानुभव की सर्वोच्च अवस्था मे विचरण करते हुए मेरी अनुभूति होगी कि उस का वर्णन करने मे सभी शब्द लौट आते है और कोई तर्क भी प्रभावी नही होता है। बुद्धि भी उस विषय को ग्रहण करने मे सक्षम नहीं होती। मेरी आत्मा की वही अवस्था आभामय होती है और वह किसी अन्य स्थान पर नहीं, अपने ही भीतर आत्म ज्ञाता और आत्मदृष्टा के रूप मे होती है। वहीं अवस्था न बड़ी है, न छोटी है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमडल है। न वह काली है, न नीली है, न लाल है, न पीली है और न सफेद है। वह न सुगधमयी है, न दुर्गधमयी है और न तीखी है, न कडुई है, न कषैली है, न खट्टी है तथा न मीठी है। वह न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलकी है, न ठडी है, न गर्म है, न चिकनी है और न रूखी है। वह न लेश्यावान् है, न उत्पन्न होने वाली है और उसमे कोई आसक्ति भी नहीं है। न वह स्त्री है, न पुरुष और न इसके विपरीत नपुसक। वह शुद्धात्मा है, ज्ञाता है और अमूर्छित है। उसकी कोई तुलना नहीं। वह एक अमूर्तिक सत्ता है। पदातीत के लिये उसका कोई नाम भी नही है। वह शुद्धात्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है। बस इतने ही वर्णन से आत्म स्वरूप का ज्ञान पर्याप्त है। तदनुसार शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे मुझे प्रतिभासित होगा कि मै न दीर्घ, न ह्रस्व, न स्त्री, न पुरुष और न नपुसक हू और वर्ण, गध, रस एव स्पर्श वाला भी नहीं हू। मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अवेदी, अखेदी, अलेशी और अजर अमर आदि गुणों से सम्पन्न हू। ये वे आध्यात्मिक रहस्य है जिनमे प्रगति करने के लिये मेरा कर्तव्य है कि मै समतादर्शी वीतराग देवो की आज्ञा मे चलू —यही मेरी आत्मा के स्वभाव और धर्म की प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। जैसे जल मे नहीं डूबा हुआ द्वीप कष्ट मे फसे हुए समुद्र के यात्रियो के लिये आश्रय स्थल होता है, उसी प्रकार समतादर्शी द्वारा प्रतिपादित धर्म सासारिक दु खो मे फसे हुए प्राणियो के लिये आश्रय स्थल होता है।

ऐसे आत्मोत्थानकारी सिद्धान्तो के ज्ञान एव आचरण में विभोर बनकर मेरी आत्मा स्वयमेव को उद्‌बोधित करती है—हे आत्मन्, तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर की ओर मित्र की खोज क्यो करती है ? जिसे तुम ऊचे आध्यात्मिक मूल्यो मे जमा हुआ जानो, उसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो और जिसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो, उसे तुम ऊचे आध्यात्मिक मूल्यो पर जमा हुआ जानो। अत तुम अपने मन का निग्रह करके ही जीना सीखो और यदि ऐसा करोगे तो दु खो से छूट जाओगे। तुम ही सत्य का निर्णय करो क्योंकि जो सदा सत्य की आज्ञा मे उपस्थित रहता है, वही मेधावी मृत्यु को जीत लेता है। तुम सुन्दर चित्त वाले सयम युक्त बन कर जब धर्म को ग्रहण करोगे तो श्रेष्ठतम को भी भली भाति देख सकोगे। सयमयुक्त चित्तवाले होने से कभी व्याकुलता मे नही फंसोगे। तुम अपनी ही अनुपम आत्मानुभूति को जान लो तो सभी विषमताओं को भी जान लोगे। प्रमादी विषमताधारी होता है और इसी कारण सभी ओर से भयभीत भी होता है जबकि अप्रमादी समताधारी किसी ओर से भी भयभीत नहीं होता, अत तुम भी प्रमाद छोड़कर समता को ग्रहण कर लो और निर्भय वन जाओ।

यह आत्मोद्बोधन मेरी भीतरी गहराई तक मुझे छू जाता है और मै भावाभिभूत हो जाता हू कि वीतराग देवो की आज्ञा को भली प्रकार से समझ कर मै कुछ विशिष्ट आत्मिक प्रगति के चरण उठाऊ। आत्मा ही मेरी शरण है। सदाचार ही मोक्ष का सोपान है और यदि चारित्र से विशुद्ध बना हुआ ज्ञान अल्प भी है तब भी महान् फल प्रदायक है। शील गुण से रहित होना मनुष्य जन्म को निरर्थक करना है और इन्द्रियो के विषयो से विरक्त रहना ही शील है। शीलाचार के बिना इन्द्रियो के विषय मेरी आत्मा के ज्ञान को नष्ट कर देते है। जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, और तप—यह सब शील का परिवार है—आचार के अग है।

मै आत्म स्वरूपी हू—एक मात्र उपयोगमय और ज्ञानमय हू। मै तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हू। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है। मै ही मेरा कर्ता हू और मै ही मेरा भोक्ता। अपने इस स्वरूप को मैं अपनी ही आत्म प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञान रूप बुद्धि से जानता हू। अब नमस्कार महामन्त्र के पाच पदो की दृष्टि से आत्मसमीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि हमारी आत्मा को उन उन पदो से सयोजित कर चिन्तन करने पर उसकी गुणात्मकता की अनुभूति हो सके और आत्मा विकास पथ पर प्रयाण करने के सत्साहस को बढ़ा सके।

मै रत्नत्रयाराधक मुनि हू!

मै अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हू, सम्यक् दृष्टि और सुव्रती बनता हूं तथा रत्नत्रयाराधक मुनि बन जाता हू।

मै छ काया के जीवो का रक्षक हू, अत मै ऐसे किसी कार्य का उपदेश नही देता जिससे किसी भी प्रकार की जीव हिसा हो। मै अहिसा को परम धर्म मानता हू और महावीरता। जो व्यक्ति भयकर शस्त्रास्त्र एकत्रित करके स्वरक्षा और परसहार के लिये दीनहीन दु खियो के प्राण हरता है, वह कदापि वीर नही हो सकता। यदि उसे वीर कहे तो अधिक झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले, व्यभिचारी और आडम्बरी भी वीर कहलाए। वीर का अर्थ होता है उत्साहपूर्णता और यह उत्साह फूटना चाहिये अपने ही आत्मदोषो के निवारण मे। अपने ही भीतर रहे हुए द्वेष, हिसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोषो से युद्ध करना सच्ची वीरता है। अत मै वीर हू—अहिसक वीर। मै किसी भी जीव के प्राणो का व्यतिरोपण न स्वय करता हू, न दूसरे से करवाता हू तथा न करने वाले का किसी भी रूप मे अनुमोदन करता हू। इसका पालन मै अपने मन, अपने वचन और अपनी काया से करता हू। अत मै कच्चा पानी, कच्चे शाक या फल, कच्चा धान या ऐसी किसी भी वस्तु को जिसमे जीवाणुओं का अस्तित्व हो —उपयोग मे तो लेना दूर, उनका स्पर्श तक नहीं करता हू ताकि छोटे से छोटे जीवो के प्राण भी मेरे द्वारा कष्टित न हो। इतना ही नहीं, भिक्षा के समय यदि जीवाणुओं से युक्त कोई वस्तु भी मेरे लेने योग्य वस्तु से छू रही हो तो उस लेने योग्य वस्तु को भी मै ग्रहण नही करता हू। समस्त जीवो के प्रति दया, करुणा, अनुकम्पा एव रक्षा के भावो से मेरा हृदय सदा सर्वदा यतना और सजगतापूर्वक सतत सावधान रहता है।

मैं असत्य अथवा असत्कथन का भी सर्वथा त्यागी होता हू। असत् कथन तीन प्रकार से हो सकता है —(१) जो वस्तु सत् (विद्यमान) हो उसका एकदम निषेध कर देना, (२) एकदम

दिन प्रात एव साय प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने पापो की आलोचना करता हूं, प्रायश्चित लेता हू तथा भविष्य मे उन्हे न दोहराने का सकल्प ग्रहण करता हू। सयम की रक्षा के लिये कठिन परीषह भी मैं हर्षपूर्वक सहता हू। अपने आचार के अनुसार निर्दोष आहार न मिले तो मै स्वेच्छापूर्वक अनशन तप कर लेता हू तथा निर्दोष जल न मिलने पर शान्तिपूर्वक तृषा को भी सह लेता हू। मेरी प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति समता वृत्ति को बढ़ाने वाली होती है कि मै समभावी और समदृष्टि बनते हुए समताधारी बनू।

मै क्षान्त, दान्त, निरारभी हू। मेरी क्षमा और मेरी जितेन्द्रियता मुझे छ· काया के जीवो के रक्षक के रूप मे निरारभी बनाती है। समस्त त्रस एव स्थावर जीवो की रक्षा करने के कारण मैं अनाथ नही रहा, उनका नाथ हो गया। जो निर्ग्रथ धर्म को अगीकार तो कर लेते है किन्तु परीषह एव उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं करते है, यह उनकी अनाथता होती है। मै ऐसी अनाथता को समझता हू तथा उसे पास मे भी नही फटकने देता।

मै पाच समिति और तीन गुप्ति का आराधक हू। इस रूप मे मैं प्राणातिपात से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृति करता हू वही समिति है। मैं ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के निमित्त युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि मे यतनापूर्वक गमनागमन करता हू, यतनापूर्वक ही भाषण मे प्रवृत्ति करता हू, गवैषण, ग्रहण और ग्रास सम्वन्धी ऐषणा के दोषो से अदूषित विशुद्ध आहार, पानी, उपकरण, शय्या, पार आदि औपग्रहिक उपधि को ग्रहण करता हू, यतनापूर्वक भाड पात्र आदि उपकरणो को देखता, पूजता व रखता हू तथा उपयोग पूर्वक परिठवने योग्य लघुनीत, मल, मैल आदि को परिठवता हू। मै इस प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग मे प्रवृत्ति करता हू। मै मनोगुप्ति के माध्यम से पापपूर्ण सकल्प-विकल्प नहीं करते हुए योग निरोध के साथ अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त होता हू, वचन के अशुभ व्यापार को त्याग कर विकथा न करते हुए मौन रहता हू एव कायिक व्यापारो मे प्रवृत्ति न करते हुए अयतना का परिहार कर अशुभ व्यापारो का त्याग करता हू।

मैं आहार की गवैषणा की शुद्धि के लिये सोलह उद्‌गम दोष, सोलह उत्पादन दोष तथा दस ऐपणा दोष कुल बयालीस दोषो का परिहार करता हूं। उद्‌गम दोष है —(१) आधाकर्म— किसी खास साधु को मन मे रखकर उसके निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त वस्तु को पकाना। यह दोष प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, सवसन और अनुमोदन रूप चार प्रकार से लगता है। (२) औद्देशिक —सामान्य याचको को देने की बुद्धि से आहार आदि तैयार करना। किसी खास साधु के लिये बनाया गया आहार यदि वही साधु ले तो आधाकर्म दोष और दूसरा साधु ले तो औद्देशिक दोष होता है। (३) पूर्तिकर्म—शुद्ध आहार मे आधा कर्म आदि का अश मिल जाना। ऐसा थोड़ा सा अश भी पूरे निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। (४) मिश्रजात — अपने और साधु के निमित्त से एक साथ पकाना। (५) स्थापन—साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये आहार को अलग रख देना। (६) प्राभृतिका—साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमनवार या निमत्रण के समय को आगे पीछे करना। (७) प्रादुष्करण—आहार आदि को अधेरी जगह मे से प्रकाश वाली जगह मे लाना। (८) क्रीत—साधु के लिये आहार मोल लाना। (९) प्रामित्य—साधु के लिये उधार लिया हुआ आहार लाना। (१०) परिवर्तित—साधु के लिये आटा-साटा करके आहार

लाना। (११) अभिहृत—साधु के लिये एक से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार। (१२) उद्‌भिन्न—साधु को घी वगैरा देने के लिये सील बन्द कुप्पी का मुह खोलकर देना। (१३) मालापहृत—एड़िया उठाकर या निसरणी लगाकर आहार देना। (१४) आच्छेध—अपने आश्रित से छीनकर साधु को देना। (१५) अनिसृष्ट—किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सबकी इच्छा के बिना देना। (१६) अध्यवपूर्वक—साधुओं के आने का सुनकर आधण मे अधिक ऊरा हुआ देना। उत्पादना के सोलह दोष—(१) धात्री-धाय को नौकरी लगवा कर आहार लेना (२) दूती-दूत का काम करके आहार लेना (३) निमित्त—ज्योतिष बता कर आहार लेना (४) आजीव—जाति, कुल प्रकट करके आहार लेना (५) वनीपक—प्रशसा करके या दीनता दिखाकर आहार लेना (६) चिकित्सा—औषधि बताकर आहार लेना (७) क्रोध—गुस्सा करके या शाप, आदि का डर दिखाकर आहार लेना (८) मान-प्रभाव जमा कर आहार लेना (९) माया—छलावा करके आहार लेना (१०) लोभ—जिह्वा के स्वाद लोभ मे अमुक आहार के लिये भटकना (११) प्राक्पश्चात्सस्तव— पहले या पीछे दाता की तारीफ करके आहार लेना (१२) विद्या-विद्या (जप होम आदि से सिद्ध) का प्रयोग करके आहार लेना (१३) मत्र-मत्र प्रयोग से आहार लेना (१४) चूर्ण-अदृश्य करने वाले सुरमे आदि के प्रयोग से आहार लेना। (१५) योग-सिद्धिया बताकर आहार लेना (१६) मूलकर्म-सावध क्रियाए (गर्भपात आदि) बताकर आहार आदि लेना। ग्रहणैषणा के दस दोष—(१) शंकित—आधाकर्म आदि दोषो की शका हो जाने पर भी आहार लेना (२) म्रक्षित—सचित्त वस्तु से छू जाने पर भी आहार लेना (३) निक्षिप्त—सचित्त वस्तु के ऊपर रखी वस्तु लेना (४) पिहित-सचित्त वस्तु द्वारा ढकी हुई वस्तु लेना (५) साहरित—जिस बर्तन मे सचित्त वस्तु रखी हो, उसमे से सचित्त वस्तु निकाल कर उसी बर्तन से दिया हुआ आहार लेना (६) शराब पिये हुए व्यक्ति से या गर्भिणी महिला से या इसी प्रकार के किसी व्यक्ति से जो दान देने का अधिकारी न हो, उससे दान लेना (७) उन्मिश्र—सचित-अचित्त मिला हुआ आहार लेना (८) अपरिणत—पूरे पाक के बाद वस्तु के निर्जीव होने से पहिले ही उसे ले लेना (९) लिप्त—लेप करने वाली रसीली वस्तुओं को लेना (१०) छर्दित—जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हो वैसा आहार लेना। मै इन बयालीस दोषो को टालकर आहार आदि की गवैषणा करता हू और निर्दोष आहार मिलने पर ही उसे ग्रहण करता हू, अन्यथा आहार आदि से सम्बन्धित परीषहो को सहन करता हू।

मै अपने साध्वाचरण को समाचारी पूर्वक श्रेष्ठ बनाये रखता हू और उस समाचारी के इन दस नियमो का पालन करता हू—(१) इच्छाकार—मै अपने साथी साधु से किसी कार्य की प्रार्थना करते अथवा स्वयमेव उसके द्वारा मेरा कार्य करते समय इच्छाकार कहता हू अर्थात् कोई भी कार्य बलपूर्वक नही किया कराया जाता। (२) मिथ्याकार—सयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिये मै 'मिच्छामि दुक्कड़' कहकर अपने पाप के निष्फल होने का पश्चाताप करता हू। (३) तथाकार—मै सूत्र आदि के विषय मे गुरु को जब कुछ पूछता हू और वे उत्तर देते है तो मैं 'जैसा आप कहते हैं, वही ठीक है' ऐसा कहता हू। (४) आवश्यिका—आवश्यक कार्य के लिये जब मै उपाश्रय से बाहर निकलता हू तो 'आवस्सिया' कहता हू कि मै आवश्यक कार्य के लिये जाता हू। (५) नैषेधिकी—बाहर से वापस उपाश्रय मे लौटते हुए मै 'निसीहिया' कहता हू कि अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नहीं है। (६) आपृच्छना—किसी कार्य मे प्रवृति करने से पहिले मै गुरु से 'क्या मै यह करू' ऐसा पूछता हू। (७) प्रतिपृच्छा—गुरु ने पहले

जिस काम का निषेध कर दिया है, उसी कार्य मे आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्ति करनी हो तो मैं गुरु से उसकी पुन· आज्ञा प्राप्त करता हू। (८) छन्दना—पहले लाये हुए आहार के लिये अपने साथी साधुओं को आमत्रण देता हू। (६) निमत्रणा—आहार लाने के लिये अपने साथी साधुओं को निमत्रण देता हू या पूछता हू। (१०) उपसपद्—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिये मैं अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेता हू।

मुझ सर्वथा परिग्रह के त्यागी, छ काया के रक्षक सयमस्थित मुनि के लिये बावन बाते आचरण के अयोग्य, अकल्पनीय तथा अनाचीर्ण बतलाई गई है जिनका मै परिहार करता हू। वे इस प्रकार हैं—(१) औद्देशिक—साधु के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान, आहार आदि स्वीकार कर सेवन करना। (२) क्रीतकृत—साधु के लिये आहार आदि मोल लिया गया हो उसका सेवन करना। (३) नियाग—आहार पानी के लिये आमत्रित होकर गृहस्थ के घर से भिक्षा लाना। (४) अभ्याहृत—घर या गाव से सामने लाया हुआ आहार लेना। (५) रात्रि भोजन—रात्रि मे आहार लेना या दिन मे लाया हुआ रात मे खाना। (६) स्नान—देश या सर्व स्नान करना। (७) गध—चन्दन आदि सुगधित वस्तुओं का सेवन करना। (८) माल्य—पुष्पमाला का सेवन करना। (६) विजन—पखे आदि से हवा लेना। (१०) सन्निधि—गुड़ घी आदि वस्तुओं का सचय करना। (११) गृहिमात्र—गृहस्थ के बर्तनो मे भोजन करना। (१२) राजपिड—राजा के लिये तैयार किया गया आहार लेना। (१३) किमिच्छिक—'तुमको क्या चाहिये ?' —ऐसा याचक से पूछकर जहा उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है ऐसी दानशाला आदि से आहार लेना। (१४) सबाधन—अस्थि, मास, त्वचा और रोम के लिये सुखकारी मर्दन अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवो को दबाना। (१५) दन्त प्रधावन —अगुली आदि से दात साफ करना। (१६) सप्रश्न—गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावध प्रश्न पूछना। (१७) देह प्रलोकन—दर्पण आदि मे अपना शरीर देखना। (१८) अष्टापद नालिका—नाली से पाशे फैककर या अन्यथा जुआ खेलना। (१६) छत्रधारण—स्वय छत्र धारण करना या कराना। (२०) चिकित्सा—रोग का ईलाज करना या बलवर्धक औषधियो का सेवन करना। (२१) उपानह—जूते मौजे आदि पहिनना। (२२) आरभ—अग्नि का आरभ करना। (२३) शय्यातर पिड—शय्या, मकान आदि देने वाले गृहस्थ के घर से आहार लेना। (२४) आसन्दी—बेत आदि के बने हुए आसन पर बैठना। (२५) पर्यक—पलग, खाट आदि का उपयोग करना। (२६) गृहान्तर निषद्या—गृहस्थ के घर जाकर वैठना या दो घरो के बीच मे बैठना। (२७) गात्रोद्वर्तन—मैल उतारने के लिये शरीर पर उबटन करना। (२८) गृही वैयावृत्य—गृहस्थ की सेवा लेना। (२६) आजीववृत्तिता—जाति, कुल आदि बताकर भिक्षा लेना। (३०) तप्तानिवृत्तभोजित्व—मिश्र पानी का भोगना। (३१) आतुर स्मरण—भूख आदि से पीड़ित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना। (३२) सचित्त—सचित्त मूले का सेवन करना। (३३) सचित्त—अदरख का सेवन करना। (३४) सचित्त—इक्षुखड (गडेरी) का सेवन करना। (३५) कन्द—वज्रकद आदि कदो का सेवन करना। (३६) सचित्त—मूल (जड़) का सेवन करना। (३७) सचित्त—आम, नीबू आदि सचित्त फलो का सेवन करना। (३८) सचित्त—तिल आदि सचित्त बीजो का सेवन करना। (३६) सचित्त—सचल नमक का सेवन करना। (४०) सचित्त—सैधव नमक का सेवन करना। (४१) सचित्त—रूमा लवण का सेवन करना। (४२) सचित्त—समुद्री नमक का सेवन करना। (४३) सचित्त—ऊपर से नमक का सेवन करना। (४४) सचित्त—काले नमक का सेवन करना। (४५)

धूपन—अपने वस्त्रादि को धूप आदि देकर सुगधित करना। (४६) वमन—औषधि लेकर वमन करना। (४७) वस्तिकर्म—मल आदि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना। (४८) विरेचन—पेट साफ करने के लिये जुलाब लेना। (४६) अजन—आखो मे अजन लगाना। (५०) दतकाष्ठ—दतौन आदि से दात साफ करना। (५१) गात्राभ्यग—सहस्रपाक आदि तेलो से शरीर का मर्दन करना तथा (५२) विभूषण—वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर की शोभा करना। इन सभी बावन अनाचार को टालते हुए मैं अपनी सयम-यात्रा करता हू।

मेरे साधु होने का स्पष्ट अर्थ है कि मै सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना मे रत रहता हू और तदनुसार अपने मे उल्लिखित सत्ताईस गुणो का सद्भाव रहे—ऐसा यत्न करता हू। वे गुण इस प्रकार है— (१-५) अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना। (७-११) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय इन पाचो इन्द्रियो को वश मे रखना —न इष्ट मे राग और न अनिष्ट मे द्वेष। (१२) भावसत्य—अन्त करण की भावनाओं की शुद्धि रखना। (१३) करण सत्य—वस्त्र, पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य बाह्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोग पूर्वक करना। (१४) क्षमा—क्रोध और मान का निग्रह अर्थात् दोनो कषायो को उदय मे नही आने देना। (१५) विरागता—निर्लोभी वृत्ति रखना अर्थात् माया और लोभ कषायो को उदय मे नहीं आने देना। (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काया की शुभ प्रवृत्ति (१६-२४) पृथ्वीकाय, अपकाय, तेडकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप छ काय के जीवो की रक्षा करना। (२५) योग सत्य—मन, वचन, काया रूप तीनो योगो की अशुभ प्रवृति का निरोध तथा शुभता मे प्रवृत्ति। (२६) वेदनातिसहनता—शीत ताप आदि वेदना को समभाव से सहन करना तथा (२७) मारणन्तिकातिसहनता—मृत्यु के समय आने वाले कष्टो को सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे आत्म कल्याण के लिये हैं।

मै सच्चा साधु या भिक्षु बनने का निरन्तर अध्यवसाय करता रहता हू क्योंकि (१) मैं वीतराग देवो की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर उनके वचनो मे दत्तचित्त रहता हूं और न स्त्रियो के वश मे होता हू तथा न त्यागे हुए विषयो का फिर से सेवन करता हू। (२) मै पृथ्वी को न स्वय खोदता हू, न दूसरे से खुदवाता हू, सचित्त जल न स्वय पीता हू, न दूसरे को पिलाता हू, तीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न स्वय जलाता हू, न दूसरे से जलवाता हू। (३) मै पखे आदि से हवा न स्वय करता हू न दूसरे से करवाता हू, वनस्पति काय का छेदन न मै स्वय करता हू, न दूसरे से करवाता हू और न बीज आदि सचित्त वस्तुओं का आहार करता हू। (४) मै औद्देशिक या अन्य प्रकार से सावद्य आहार का सेवन नही करता और भोजन न स्वय बनाता हू, न दूसरे से बनवाता हूं न बनाने वाले को अच्छा समझता हू। (५) मै वीतराग देवो के वचनो मे अटूट श्रद्धा रखते हुए छ काय के जीवो को अपनी आत्मा के समान मानता हू, पाच महाव्रतो का पालन करता हू तथा पाच आश्रवो का निरोध करता हू। (६) मैं चार कषायो को छोड़ता हू, परिग्रह से रहित होता हू एव ग्रहस्थो के साथ आधिक ससर्ग नही रखता हू। (७) मै सम्यक् दृष्टि हू, विवेकवान हू तथा ज्ञान, तप व सयम पर विश्वास रखता हू, तपस्या द्वारा पुराने पापो की निर्जरा करता हू और अपने मन, वचन, काया को वश मे रखता हू। (८) मैं विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्त कर उन्हे दूसरे या तीसरे दिन के लिये न सचित रखता हू, न दूसरे से रखवाता हू।

(६) मै विविध प्रकार के अशन पान आदि मिलने पर साधर्मी साधुओं को निमत्रित करके स्वय आहार करता हू और स्वाध्याय मे लग जाता हू। (१०) मै क्लेश उत्पन्न करने वाली बाते नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, निज इन्द्रियो को चचल नही होने देता, सदा प्रशान्त रहता हू, मन, वचन, काया को दृढ़तापूर्वक सयम मे स्थिर रखता हू, कष्टो को शान्ति से सहता हू तथा उचित कार्य का अनादार नहीं करता हू। (११) मै इन्द्रियो को कटक के समान दु ख देने वाले आक्रोश, प्रहार तथा तर्जना आदि को शान्ति से तथा भय, भयकर शब्द व प्रहास आदि के उपसर्गों को समभाव से सहता हू। (१२) मै श्मशान मे प्रतिमा अगीकार करके भूत, पिशाच आदि के भयकर दृश्यो को देखकर भी विचलित नही होता हू और विविध प्रकार के तपाराधन मे शरीर की चिन्ता नही करता हू। (१३) मै अपने शरीर के ममत्व को भी छोड़ देता हू —बार बार धमकाये जाने पर, मारे जाने पर या घायल हो जाने पर भी शान्त रहता हू तथा निदान या कौतूहल के बिना पृथ्वी के समान सभी कष्टो को समभाव पूर्वक सहता हू। (१४) मैं अपने शरीर से परीषहो को जीत कर अपनी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से निकालता हू, जन्म मरण को महाभय समझ कर तप और सयम मे लीन रहता हू। (१५) मैं अपने हाथ, पैर, वचन और इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखता हू— सदा आत्म चिन्तन करता हुआ समाधि मे लीन रहता हू एव यथार्थ को अच्छी तरह से जानता हू। (१६) मै भडोपकरण आदि उपधि मे किसी प्रकार की मूर्छा या गृद्धि नही रखता हूं, अज्ञात कुल की गोचरी करता हू। चारित्र का घात करने वाले दोषो से अलग रहता हू। मै क्रय, विक्रय या सन्निधि से दूर रहता हू और सभी प्रकार के सगो से अलग रहता हू। (१७) मै चचलता रहित होता हू, रसो मे गृद्ध नही होता हू, जीवित रहने की भी अभिलाषा नहीं रखता हू तथा ज्ञान आदि गुणो मे आत्मा को स्थिर करके निश्छल वृत्ति से ऋद्धि, सत्कार, पूजा आदि की इच्छा नही रखता हू। (१८) मै दूसरे को कुशील नही कहता या ऐसी भी कोई बात नही कहता जिससे उसे क्रोध आवे और पुण्य व पाप के स्वरूप को जानकर मै अपने को बड़ा नही मानता। (१६) मै जाति, रूप, लाभ व श्रुत का मद नही करता और सभी मद त्याग कर धर्मध्यान मे लीन रहता हू। (२०) मै वीतराग देवो के सिद्धान्तो का सुपाठक हू तथा धर्म का शुद्ध उपदेश देता हू, स्वय धर्म मे स्थिर रहकर दूसरो को स्थिर करता हू एव दीक्षित होकर कुशील, आरभ आदि छोड़ कर निन्दनीय परिहास या कुचेष्टाए नहीं करता हू। (२१) मैं भावना भाता हू कि उपरोक्त गुण-सम्पन्नता प्राप्त करते हुए मै इस अपवित्र और नश्वर देहवास को छोड़कर मोक्षरूपी हित मे अपने को स्थिर करके जन्म मरण के बधन को तोड़ दू तथा ऐसी गति मे जाऊ जहा से वापस आगमन न हो अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लू।

मै सर्वविरति साधु के रूप मे तीन मनोरथो का चिन्तन करता हू कि (१) कब वह शुभ समय आवेगा जब मै अल्प या अधिक शास्त्र-ज्ञान सीखूगा (२) कब वह शुभ समय आवेगा, जव मै एकल विहार की भिक्षु प्रतिमा (भिक्खू पड़िमा) अगीकार कर विचरूगा तथा (३) कब वह शुभ समय आवेगा जब मै अन्त समय मे सलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर, पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन मरण की इच्छा नही करता हुआ विचरूगा।

मै अपने अभिग्रह विशेष रूप भिक्षु प्रतिमाए अगीकार करूगा। ये प्रतिमाए बारह है जो सात एक से लेकर सात मास तक की जाती है तथा आठ से दस सात दिवस रात्रि तक और ग्यारहवीं एक अहोरात्रि तक एव बारहवी प्रतिमा केवल एक रात्रि तक की होती है। बारह प्रतिमाए इस प्रकार है—(१) पहली प्रतिमा मे एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है।

एक अखड धारा को एक दत्ति कहते है। जहा एक व्यक्ति के लिये भोजन बना हो, वहीं से भिक्षा लेनी चाहिये। याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी, पुट्ठ वागरणी, आदि चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिये, तीन प्रकार के स्थान पर ठहरना चाहिये तथा विहार कष्ट सहने चाहिये। एक माह की इसकी अवधि है। तदनन्तर दूसरी से लेकर सातवीं प्रतिमा तक पहली प्रतिमा के सभी नियमो का पालन करते हुए प्रतिमा के क्रमानुसार दो से लेकर सात दत्ति अन्न व पानी ग्रहण किया जाता है। फिर आठवी प्रतिमा मे एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है तथा ध्यान मे कायक्लेश सहित समय व्यतीत किया जाता है। नवमी प्रतिमा मे चौविहार बेले बेले पारणा किया जाता है एव दडासन, लकुड़ासन और उत्कुटासन से ध्यान किया जाता है। दसवी प्रतिमा मे चौविहार तेले तेले पारणा किया जाता है तथा गोदोहनासन, वीरासन व आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। ग्यारहवी प्रतिमा मे, जो अहोरात्रिकी होती है, चौविहार बेला किया जाता है और दोनो पैरो को कुछ सकुचित कर हाथो को घुटनो तक लम्वा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। एक रात्रिकी बारहवी प्रतिमा मे चौविहार तेले के साथ अनिमेष नैत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है।

मै समता रूप सामायिक को धारण करने वाला श्रमण हू, अत (१) सर्प के समान अपना घर नही बनाता और एक ही जगह नहीं ठहरता, (२) पर्वत के समान परीषह—उपसर्गो से कम्पित नहीं होता और अनुकूलता—प्रतिकूलता को समभाव से सहते हुए सयम मे दृढ़ रहता हू (३) अग्नि के समान ज्ञान और सूत्राभ्यास से तृप्त नही होता तथा तप रूपी तेज से प्रदीप्त होता हू (४) सागर के समान मर्यादाओं का उल्लधन नही करता और छोटी-छोटी बातो से कुपित नही होते हुए ज्ञान गभीर बना रहता हू (५) आकाश के समान किसी के भी आलवन से रहित निरावलम्बी होकर ग्राम नगर आदि मे यथेच्छ विहार करता हू (६) वृक्ष के समान समभाव पूर्वक कष्टो को सहता हू तथा धर्मोपदेश के द्वारा प्राणियो को मुक्ति का मार्ग बतलाता हूं—अपमान, सम्मान मे समभाव रखता हू (७) भ्रमर के समान एक-एक घर से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता हू ताकि किसी को कष्ट न हो (८) हरिण के समान पाप कार्यों से सदा डरता हू और पाप स्थानो पर एक क्षण के लिये भी नहीं ठहरता हू (९) पृथ्वी के समान सभी कष्टो को समभाव से सहता हू तथा अपने अपकारी-उपकारी, निन्दक-प्रशसक सबको समान रूप से उपदेश देता हू, (१०) कमल के समान शरीर की उत्पत्ति काम भोगो से होने पर भी उसे काम भोगो मे लिप्त नही होने देता हू और उनसे उसे दूर रखता हू (११) सूर्य के समान नवतत्त्वो का स्वय ज्ञाता बनकर धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवो के अज्ञानान्धकार को दूर करता हू तथा (१२) वायु के समान अपनी इच्छानुसार सभी दिशाओं मे अप्रतिबद्ध विहार करता हू और जन-जन को कल्याण मार्ग बताता हू।

मै रत्नत्रयाराधक मुनि हू—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सतत आराधना करता हू, क्योंकि यही मोक्ष का मार्ग है तथा मोक्ष प्राप्ति ही मेरा साध्य है। मुनि पद ही मूल पद है जो उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहत के भी होता है और सिद्ध भी मुनि पद से ही हुआ जाता है।

मैं ज्ञान साधक उपाध्याय हू

मै रत्नत्रयाराधक मुनि होता हू, तभी ज्ञान साधक उपाध्याय हो सकता हू, क्योंकि गच्छ, गण या सघ की सुव्यवस्था के लिये योग्य साधुओं को विशेष अधिकार युक्त पदवी दी जाती है। सामान्य रूप से इस प्रकार की सात पदविया निश्चित की गई है —(१) आचार्य (२) उपाध्याय

(३) प्रवर्तक —आचार्य के आदेश से वैयावृत्य आदि धर्म कार्यो मे साधुओं को ठीक तरह से प्रवृत्ति कराने वाले, (४) स्थविर—सवर से गिरते हुए या दु खी होते हुए साधुओं को स्थिर करने वाले तथा दीक्षा, वय, शास्त्रज्ञान मे वृद्ध, (५) गणी—कुछ साधुओं के समूह एक गच्छ के स्वामी-शास्ता (६) गणधर—आचार्य की आज्ञा मे रहते हुए गुरु के कथनानुसार कुछ साधुओं को लेकर अलग विचरने वाले गण के धारक, तथा (७) गणावच्छेदक —गण की सारी व्यवस्था तथा कार्यो का ध्यान रखने वाले। यो तीन से लेकर सात तक की पदविया आचार्य के अधीन होती हैं अत· इनका उस पद मे समावेश मान लिया जाता है। उपाध्याय का पद यद्यपि आचार्य के अनुशासन मे ही होता है तथापि अपने कार्य की गरिमा के कारण पाच पदो मे एक वन्दनीय पद माना गया है।

मै ज्ञानसाधक उपाध्याय हू। मै शास्त्र और धर्म साहित्य स्वय पढ़ता हू तथा जिज्ञासा सम्पन्न साधुओं को पढ़ाता हू। ज्ञानार्जन तथा अध्ययन-अध्यापन मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। मैं शिष्यो को सूत्रो का अर्थ सिखाता हू तथा सर्वज्ञभाषित एव परम्परा से गणधर आदि द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अगो तथा बारह उपागो का अध्ययन कराता हू। मेरे उपाध्याय पद के साथ पच्चीस गुणो की सम्पन्नता होनी आवश्यक मानी गई है। धारण किये जाने वाले ये पच्चीस गुण इस प्रकार हैं —

ग्यारह अङ्ग

(१) आचाराङ्गसूत्र
(२) सूत्रकृताङ्ग सूत्र
(३) स्थानाग सूत्र
(४) समवायाङ्ग सूत्र
(५) भगवती सूत्र
(६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र
(७) उपासकदशाङ्ग सूत्र
(८) अन्त कृछशाङ्ग सूत्र
(९) अनुतरोपपातिक सूत्र
(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र
(११) विपाक सूत्र

बारह उपाङ्ग

(१) ओपपाटिक सूत्र
(२) राजप्रश्नीय सूत्र
(३) जीवाभिगम सूत्र
(४) प्रज्ञापना सूत्र
(५) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र
(६) चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र
(७) सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र
(८) बिरमावक्तिका सूत्र
(९) कल्पवतसक सूत्र
(१०) पुष्फिया सूत्र
(११) पुष्प चूलिका सूत्र
(१२) वह्निदशा सूत्र

ग्यारह अगो तथा बारह उपागो के ज्ञान रूप गुणो के सिवाय चौबीसवा गुण है चरणसप्तति अर्थात् सदा काल जिन सत्तर बोलो का आचरण किया जाता है चरण सत्तर कहलाते है जो इस प्रकार हैं—पाच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्रह सयम, दस वैयावृत्य, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, रत्नत्रय, बारह तप तथा चार कषाय निग्रह। पच्चीसवा गुण कहा गया है करणसप्तति अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर जिन सत्तर बोलो का आचरण किया जाता है, वे करण सत्तर कहलाती है जो इस प्रकार हैं—चार पिड विशुद्धि, पाच समिति, वारह भावना, बारह प्रतिभा, पाच इन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति तथा चार अभिग्रह।

ज्ञान साधना की दृष्टि से ये पच्चीस गुण रूपी ज्ञान का महासागर है, जिसमे उपाध्याय के पद पर रहते हुए निरन्तर डुबकियाँ लगाता हू और ज्ञानार्जन के अमूल्य मोती एकत्रित करता हू तथा साधर्मी साधु की भव्य आत्माओं को उनसे अलकृत बनाता हू। मेरा यह क्षेत्र ऐसा है जिसमे विचरण करते हुए मुझे असीम आत्मानन्द का अनुभव होता है और यह पूर्ण स्वाभाविक है। कारण, आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है और उस ज्ञान की गहराई मे उतरने का जब मेरी आत्मा को ऐसा सुअवसर प्राप्त है तो असीम आनन्द की अनुभूति पूर्णत स्वाभाविक है। मेरा सम्पूर्ण ससार सम्यक् ज्ञान का ससार है जिसमे मै अहर्निश रमण करता हू और ज्ञान के मर्म की शोध करता हू। यह शोध ही वस्तुत सत्य की शोध होती है।

सघ व्यवस्था की दृष्टि से भी मेरे पद के आचार्य पद के साथ कई प्रकार के कर्त्तव्य (जिनका विवरण आचार्य पद के विश्लेषण के साथ दिया गया है) निर्धारित है, जिनका सम्यक् निर्वाह भी मै करने मे यत्नरत रहता हू।

मेरे उपाध्याय पद का विशिष्ट महत्त्व है, तभी तो उसे महामत्र मे स्थान दिया गया है। पाच पदो के इस सर्वश्रेष्ठ महामत्र मे मेरा पद चौथे स्थान पर है—आचार्य के पद के पश्चात् ही उसका क्रम है। लोक मे विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार करने के बाद उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। यह नमस्कार महामत्र गुणाधारित है, व्यक्तिपरक नहीं। उस दृष्टि से उपाध्याय को नमस्कार करते हुए किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नही किया जाता, किन्तु उन सभी महापुरुषो को समुच्चय रूप से नमस्कार किया जाता है, जो उपाध्याय पद के धारक है तथा इस पद के पच्चीस गुणो से विभूषित है। अत॰ मेरी स्पष्ट मान्यता है कि मुझे उपाध्याय पद से किया जाने वाला नमस्कार मुझे नही, अपितु मेरे द्वारा अर्जित गुणो को है। इस दृष्टि से मेरी विनम्रता और अधिक बढ़ जानी चाहिये वरना यदि मैं ही अपने गुणो मे हीनता प्राप्त करता हू तो मै अपने पद का अधिकारी ही नहीं रहता हू। मै ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ और ज्ञानसाधना मे तल्लीन बना रहना चाहता हूँ।

मै अनुशासक आचार्य हूँ

मै अनुशासक आचार्य हूँ—सघ का अनुशासन मेरा दायित्व है। मै पच प्रकार के आचार का स्वय कठिनता से निष्ठापूर्वक पालन करता हू तथा सघ के सभी साधुओं से उस आचार का उसी रीति से पालन करवाने की चेष्टा मे रत रहता हू। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा गणितानुयोग रूप चारो अनुयोगो के ज्ञान को मै धारण करता हू एव चतुर्विध सघ (साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका) के सचालन मे अपना सामर्थ्य नियोजित रखता हू। मै स्वय आचार्य पद की अभिलाषा नहीं करता हूं किन्तु मेरे आचार्य गुरु जब मेरे जीवन मे वैसी योग्यता का सद्भाव देखते है और मुझे इस पद के लिये मनोनीत करते हैं तब मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है कि मै उनके द्वारा तथा चतुर्विध सघ की पूर्ण सहमति के आधार पर अपने मनोनयन के बाद सघ की सचालन व्यवस्था मे अपने दायित्व का पूर्ण नम्रता एव निष्ठा से निर्वाह करू।

यो आचार्य तीन प्रकार के माने गये है—शिल्पाचार्य, कलाचार्य तथा धर्माचार्य, किन्तु मै धर्माचार्य के रूप मे दायित्वधारी होता हू। धर्माचार्य स्वय श्रुत धर्म का पालन करने वाला, दूसरो को उसका उपदेश देने वाला और सघ का नायक होता है और उसकी सेवा पारलौकिक हित-कर्म निर्जरा आदि के लिये की जाती है। वीतराग देवो ने आचार्य पद मे तीन प्रकार की ऋद्धि का निर्देश दिया

है —(१) ज्ञानऋद्धि—विशिष्ट श्रुत की सम्पदा, (२) दर्शनऋद्धि—आगमो मे शकारहित होकर प्रवचन की प्रभावना वाले शास्त्रो का ज्ञान, एव (३) चारित्रऋद्धि—अतिचार हित शुद्ध तथा उत्कृष्ट चारित्र का पालन। इसी दृष्टि से यह भी निर्देशित किया गया है कि धर्माचार्य की पूर्ण विनय भक्ति की जाय जो इस प्रकार हो—धर्माचार्य को देखते ही उन्हे वन्दना-नमस्कार करना, सत्कार-सम्मान देना, यावत् उनकी उपासना करना, प्रासुक ऐषणीय आहार-पानी का प्रतिलाभ देना एव पीढ़, फलग, शय्या, सथारे के लिये निमत्रण देना। तदनुसार आचार्य के भी छ कर्तव्य निर्धारित किये गये है—(१) सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवाद ग्रस्त अर्थ का निश्चय करना और सूत्र एव अर्थ मे चतुर्विध सघ को स्थिर करना। (२) विनय —सबके साथ विनम्रता का व्यवहार करना। (३) गुरुपूजा—अपने से दीक्षा वृद्ध याने स्थविर साधुओं की भक्ति करना। (४) शैक्षबहुमान— शिक्षा-ग्रहण करने वाले तथा नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना। (५) दानपति श्रद्धावृद्धि—दान देने मे दाता की श्रद्धा मे अभिवृद्धि करना। एव (६) बुद्धिबलवर्धन —अपने शिष्यो की विवेक बुद्धि एवं आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना।

आचार्य पद मे छत्तीसगुणो के सद्भाव का उल्लेख है। आठ सम्पदाए तथा प्रत्येक के चार-चार भेद होने से वत्तीस एव विनय के चार भेद मिलाने से कुल छत्तीस गुण होते है। अन्य अपेक्षा से ज्ञानाचार, दर्शनाचार एव चारित्राचार के प्रत्येक के आठ-आठ भेद होने से चौबीस तथा वारह तप मिला कर छत्तीस गुण वताये गये है। एक अन्य अपेक्षा से आठ सम्पदा, दस स्थिति कल्प, बारह तप और छ आवश्यक कुल छत्तीस गुण कहे गये है। आचार्य की आठ सम्पदाए इस प्रकार मानी गई हैं—(१) आचार सम्पदा— चारित्र की दृढ़ता का सद्भाव। चार भेद (अ) सयम क्रियाओं मे ध्रुवयोग युक्त होना (ब) गर्वरहित होकर सदा विनीत भाव से रहना (स) अप्रतिवद्ध विहार करते रहना व (द) गभीर विचार एव दृढ़ स्वभाव रखना। अल्प आयु हो तब भी गुरु गभीर रहना। (२) श्रुत सम्पदा—श्रुत ज्ञान रूप शास्त्रो का पूर्ण ज्ञान। चार भेद —(अ) बहुश्रुत अर्थात् शास्त्र ज्ञानी, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के दृष्टा तथा प्रचार मे समर्थ, (ब) परिचित श्रुत अर्थात् शास्त्रो की पूर्ण स्मृति, उच्चारण शुद्धि तथा स्वाध्याय का अभ्यास, (स) विचित्र श्रुत—अपने और दूसरे मतो को जानकर शास्त्रो का तुलनात्मक ज्ञान, सोदाहरण मनोहर व्याख्यान और श्रोताओं पर प्रभाव। व (द) घोषविशुद्धि श्रुत—शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, त्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वर-व्यजनो पर पूरा ध्यान हो। (३) शरीर सम्पदा—देह का प्रभावशाली एवं सुसगठित होना। चार भेद—(अ) आरोहपरिणाह सम्पन्न—शरीर की लम्वाई-चौड़ाई-मोटाई सुडौल हो और प्रभाव पूर्ण हो, (व) विकलाग, अधूरा या वेडौल अग न हो, (स) स्थिर सहनन—शरीर का सगठन स्थिर हो—ढीलाढाला न हो, एव (द) प्रतिपूर्णेन्द्रिय—सभी इन्द्रिया पूर्ण हो, सदोष न हो। (४) वचन सम्पदा—मधुर, प्रभावी एव आदेय वचनो की सम्पन्नता। चार भेद—(अ) आदेय वचन—जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य, (व) मधुर वचन—मीठे वचन हो, कर्णकटु नहीं, (स) अनिश्चित वचन—कषाय के वशीभूत होकर वचन नही निकले, शान्त भाव से बोले। व (द) असदिग्ध वचन —आशय स्पष्ट हो, श्रोताओं मे किसी प्रकार का सदेह उत्पन्न न हो। (५) वाचना सम्पदा—शिष्यो को शास्त्र पढ़ाने की योग्यता। चार भेद—(अ) विचयोद्देश—किस शिष्य को कौनसा शास्त्र किस समय पढ़ाना चाहिये—इसका ठीक निर्देश कर सके, (ब) विचय वाचना—शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना, (स) शिष्य की ग्रहण योग्य बुद्धि देखकर उसे पढ़ाना, तथा (द) अर्थ

निर्यापकत्त्व—अर्थ की सगति करते हुए पढ़ाना। यह सगति प्रमाण, नय, कारक, समास, विभ
आदि के साथ हो। पूर्वापर सबध के साथ अर्थ विन्यास किया जाय। (६) मति सम्पदा—मतिज्ञ
की उत्कृष्टता। चार भेद (अ) अवग्रह, (ब) ईहा, (स) अवाय व (द) धारणा। (७) प्रयोगम
सम्पदा—अवसर का ज्ञाता कि शास्त्रार्थ या विवाद किस समय किया जाय। चार भेद —(अ) अप
शक्ति को पहले तोल ले, (ब) सभा को समझ कर शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त हो, (स) क्षेत्र को समझ व
उपसर्ग आदि का अनुमान लगाले, व (द) शास्त्रार्थ के विषय को भली प्रकार समझ ले। (
सग्रहपरिज्ञा सम्पदा-वर्षावास आदि के लिये मकान, पाटला, वस्त्रादि का ध्यान रखकर आचार
अनुसार सग्रह करना। चार भेद—(अ) मुनियो के लिये योग्य स्थान देखना, (ब) पीढ़, फलव
शय्या, सथारे वगैरा का ध्यान रखना, (स) समय के अनुसार सभी आचारो का पालन करना तथ
कराना, एव (द) अपने से बड़ो का विनय करना। प्रवचन सारोद्धार के टीकाकार के अनुस
आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार भी गिनाये गये है—(१) देश युत—साढ़े पच्चीस आर्य देशों
जन्म लेने वाला व आर्य भाषा जानने वाला, (२) कुल युत—पितृ पक्ष से उत्तम कुल मे उत्पन्न, (३
जातियुत—मातृपक्ष से उच्च जाति मे उत्पन्न, (४) रूपयुत—स्वरूपवान्, गुणवान् तथा आदेय वच
युक्त, (५) सहनन युत—विशिष्ट शारीरिक सामर्थ्य युक्त, (६) धृतियुत —विशिष्ट मानसिक स्थिरत
एव धैर्य का धारक, (७) अनाशसी—श्रोताओं को खरी बात सुनाने वाला निस्पृही, (८
अविकत्थन—आत्मश्लाघा नहीं करने वाला, मितभाषी (९) अमायी—अशठ और सरल परिणाम
(१०) स्थिर परिपाटी—निरन्तर अभ्यास से अनुयोग क्रम को स्थिर कर लेने वाला तथा व्याख्यान
स्खलित नही होने वाला, (११) गृहीत वाक्य—उपादेय वचन के साथ सारगर्भित बोलने वाल
(१२) जितपर्षत्—परिषदा को वश मे करने मे कुशल, (१३) जितनिद्र—निद्रा को जीतने वाल
थोड़ा सोने व अधिक चिन्तन-मनन करने वाला, (१४) मध्यस्थ—सभी शिष्यो के प्रति समभाव तथ
सभी का समान पूज्य, (१५-१७) देश, काल और भाव का ज्ञाता (१८) आसन्नलब्ध प्रतिभ—
समयानुकूल तत्काल बुद्धि की उत्पत्ति जिससे अन्य तीर्थी प्रभावित हो तथा शासन की महत
प्रभावना हो, (१९) नानाविध देश भाषज्ञ—अनेक देशो की भाषाओं का ज्ञाता, (२०-२४) ज्ञान
दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाच आचारो का उत्साह व उपयोगपूर्वक पालन करने वाला
(२५) सूत्रार्थ तदुभय विधिज्ञ—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम का ज्ञाता—व्याख्याता
(२६-२९) आहारण हेतु पनय निपुण—आहारण अर्थात् दृष्टान्त, हेतु, उपनय और नय मे कुशल
(३०) ग्राहणा कुशल—दूसरो को समझाने की कला मे कुशल, (३१-३२) स्व-पर समय वेदी अप
व अन्य तीर्थियो के सिद्धान्तो का जानकार, खडन मडन मे सिद्धहस्त, (३३) गभीर—तुच्छ व्यवहा
के अभाव मे गौरव का रक्षक, (३४) दीप्तमान् —तेजस्वी प्रभाव सहित, (३५) शिव —कोप
करने वाला लोक कल्याणी एव (३६) सोम —सौम्य एव शान्त दृष्टि वाला।

आचार्य पाच प्रकार के कहे गये है—(१) प्रव्राजकाचार्य—सामायिक आदि व्रत क
आरोपण करने वाले, (२) दिगाचार्य—सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुमति देने वाले
(३) उद्देशाचार्य—सर्वप्रथम श्रुत का कथन करने वाले या मूल पाठ सिखाने वाले (४
समुद्देशानुज्ञाचार्य—श्रुत की वाचना देने वाले तथा गुरु के न होने पर श्रुत को स्थिर परिचित कर
की अनुमति देने वाले एव (५) आम्नायार्थ वाचकाचार्य—उत्सर्ग अपवाद रूप आम्नाय अर्थ के कह
वाले।

आचार्य और उपाध्याय मे शेष साधुओं की अपेक्षा पाच अतिशय अधिक माने गये है — (१) उत्सर्ग रूप से सभी साधु जब बाहर से आते है तो उपाश्रय मे प्रवेश करने से पहिले बाहर ही पैरो को पूंजते और झटकाते है किन्तु आचार्य —उपाध्याय बाहर से लौटकर उपाश्रय के बाहर ही खड़े रहते हैं और दूसरे साधु उनके पैरो का प्रमार्जन व प्रस्फोटन करते है। बाहर न ठहर कर भीतर भी आ जाते हैं तो उनके पैरो को पूजने व झटकाने की सेवा दूसरे साधु करते है। यह उनका अतिशय माना गया है। इससे उनके साध्वाचार का अतिक्रमण नही होता। (२) आचार्य व उपाध्याय का उपाश्रय में लधुनीत, बड़ीनीत का अवसर देखना या पैर आदि मे लगी हुई अशुचि को हटाने मे साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं होता। (३) आचार्य व उपाध्याय इच्छा हो तो दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हैं और इच्छा नही हो तो नही भी करते है। (४) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय मे एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते। (५) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते।

आचार्य और उपाध्याय सात बातो का ध्यान रखने से ज्ञान अथवा शिष्यो का सग्रह कर सकते है। इनसे सघ मे व्यवस्था भी कायम रह सकती है तो दूसरे साधुओं को अपने अनुकूल व नियमानुसार भी चला सकते है। वे सात बाते या संग्रह स्थान इस प्रकार है— (१) आचार्य और उपाध्याय को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये। किसी काम के लिये विधान करने को आज्ञा कहते है और किसी बात से रोकने को धारणा। इस तरह के नियोग (आज्ञा) और नियंत्रण (धारणा) के अनुचित होने पर साधु आपस मे अथवा आचार्य के साथ कलह करने लगते है जिससे व्यवस्था टूटनी शुरू हो जाती है। उसे भी आज्ञा कहते है जब देशान्तर मे रहा हुआ गीतार्थ साधु अपने अतिचार को गीतार्थ आचार्य से निवेदन करने के लिये अगीतार्थ साधु के सामने जो कुछ गूढ़ार्थ पदो मे कहता है। उसे भी धारणा कहते है जब अपराध की बार बार आलोचना के बाद जो प्रायश्चित विशेष का निश्चय किया जाता है। इन दोनो का प्रयोग यथारीति से किया जाना चाहिये, ताकि सघ मे एकता और दृढ़ता बनी रहे। (२) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की वन्दना आदि का सम्यक् प्रयोग कराना चाहिये। दीक्षा के बाद ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे बड़ा साधु छोटे साधु द्वारा वन्दनीय समझा जाता है। यदि कोई छोटा साधु रत्नाधिक को वन्दना न करे तो आचार्य और उपाध्याय का कर्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिये प्रवृत्त करे। वन्दना व्यवहार के लोप होने से व्यवस्था के टूटने की आशका रहती है। (३) आचार्य और उपाध्याय हमेशा ध्यान रखे कि शिष्यो मे जिस समय जिस सूत्र के पढ़ने की योग्यता हो अथवा दीक्षा के बाद जब जो सूत्र पढ़ाया जाना चाहिये, यथासमय यथायोग्य सूत्र शिष्यो को पढ़ाया जावे। यह तीसरा सग्रह स्थान है। (४) आचार्य और उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करने वाले साधुओं की वैयावृत्य का समुचित प्रवन्ध करना चाहिये। (५) आचार्य और उपाध्याय को दूसरे साधुओं से पूछकर कोई भी काम करना चाहिये, मन माने ढग से नही। शिष्यो से अपने दैनिक कृत्यो के लिये भी पूछते रहना चाहिये। (६) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणो की प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रकार से व्यवस्था करनी चाहिये। साधुओं के लिये आवश्यक वस्तुओं की निर्दोष प्राप्ति का यत्न इस कारण आवश्यक है कि उनमे अकारण असतोष न फैले। (७) आचार्य और उपाध्याय को पूर्व प्राप्त उपकरणो की रक्षा का भी ध्यान रखना चाहिये। उन्हे ऐसे स्थान पर नहीं रखने देना चाहिये कि जिससे वे खराब हो या चोर आदि ले जाय। यह सातवा और अन्तिम सग्रह स्थान है।

स्वयं आचार्य या उपाध्याय भी पाच प्रकार के कारण उपस्थित होने पर सघ का परित्याग कर सकते हैं। ये कारण हैं—(१) सघ या गच्छ मे साधुओं के दुर्विनीत हो जाने पर जब 'इस प्रकार प्रवृत्ति करो और इस प्रकार न करो' इत्यादि प्रवृत्ति निवृत्ति रूप आज्ञा, धारणा आदि न प्रवर्ता सके। (२) रत्नाधिक साधुओं की यथायोग्य अथवा साधुओं मे छोटो से बड़े साधुओं की जब विनय भक्ति नहीं करा सके। (३) जो सूत्रो के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए है, वे आचार्य और उपाध्याय उनकी यथावसर वाचना न दे जिससे दोनो ओर की अयोग्यता प्रकट होवे। वाचना के प्रति इस असावधानी मे दोनो ही तथ्य जिम्मेदार हो सकते है कि या तो वाचना लेने वाले साधु अविनीत हो या आचार्य और उपाध्याय ही सुखासक्त और मन्दबुद्धि हो अथवा दोनो ही बाते हो। (४) एक संघ मे रहे हुए आचार्य या उपाध्याय अपने या दूसरे सघ की साध्वी मे मोहवश आसक्त हो जाये। (५) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हे संघ से निकाल दे। उन लोगो की बात स्वीकार कर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिये आचार्य और उपाध्याय सघ से निकल जाते है।

इस सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य का पद कितने अमित महत्त्व एवं मूल्य का होता है? तीर्थंकर तीर्थों की रचना करते है तथा उनकी सुव्यवस्था बनाते हैं तो जिस समय मे तीर्थंकर नही विराजते हैं उस समय आचार्य का भी मोटे तौर पर वैसा ही दायित्व होता है। आचार्य सघ की रचना नहीं करते किन्तु वे अपनी दूर-दर्शिता एव कुशलता से चतुर्विध सघ का सचालन इस रूप मे कर सकते है कि सघ की एकता और सुदृढ़ता व्यवस्थित बने तथा सिद्धान्तनिष्ठ सस्कृति की सुरक्षा हो। आचार्य का सघ नायकत्व इस दृष्टि से अति पूज्य होता है।

मै अनुशासक आचार्य हू याने कि मै हो सकता हू। मुझमे क्षमता है किन्तु अपने अथक पुरुषार्थ से उसे प्रकटानी है। जब मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बनाकर शुद्ध, बुद्ध, निरजन सिद्ध हो सकता हू तो भला साधु, उपाध्याय और आचार्य क्यो नहीं हो सकता हू? तब वीतरागी अरिहत भी तो हो सकता हू। मेरी आत्मा मे और सभी भव्य आत्माओं मे मूल रूप मे ऐसा उच्चतम विकास साध लेने की शक्ति रही हुई है। वह वर्तमान मे आवृत्त है किन्तु उसे अनावृत्त करने का सामर्थ्य भी इसी आत्मा मे रहा हुआ है। यथायोग्य सामर्थ्य नियोजित होगा तो उसका यथायोग्य परिणाम भी प्रकट हो सकेगा।

मैं वीतरागी अरिहत हूं

मै वीतरागी अरिहत हू। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार सर्वघाती कर्म शत्रुओं का नाश कर देने पर अरिहन्त पद प्राप्त होता है। तब वीतरागपना भी प्राप्त हो जाता है। चार घनघाती कर्मो का नाश कर देने पर आत्मा अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनो का अरिहन्तपद मे समावेश हो जाता है अरिहन्त अवस्था मे चार मूलातिशय प्रकट होते है जो इस प्रकार है—(१) अपायापगमातिशय—अट्ठारह दोष एव विघ्न बाधाओं का सर्वथा नाश हो जाना अपाय का अपगम है जो एक अतिशय है। (२) ज्ञानातिशय — ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न त्रिकाल एव त्रिलोक के समस्त द्रव्य एव पर्यायो को हस्तामलकवत् जानना तथा सम्पूर्ण अव्याबाध अप्रतिपाती ज्ञान को धारण करना। (३) पूजातिशय— अरिहन्त तीन लोक की समस्त आत्माओं के लिये पूज्य हैं तथा इन्द्रकृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप

पूजा से पूजित है। त्रिलोक पूज्यता एव इन्द्रादिकृत पूजा ही पूजातिशय है। इनके चौतिस अतिशय भी पूजा रूप ही है। (४) वागतिशय—अरिहन्त राग द्वेप से परे होते है तथा पूर्ण ज्ञान के धारक होते है अत उनके वचन सत्य एव परस्पर बाधा रहित होते है। वाणी की यह विशेषता ही वचनातिशय है।

अरिहन्त के बारह गुण ये होते है—(१) अनाश्रव (२) अमम (३) अकिञ्चन्य (४) छिन्नशोक (५) निरुपक्षेप (६) व्यपगतराग-द्वेष-मोह (७) निर्ग्रन्थ प्रवचनोपदेशकत्व (८) शास्त्रनायक (६) अनन्तज्ञानी (१०) अनन्तदर्शनी (११) अनन्त चरित्री (१२) अनन्त वीर्य सपन्न।

अरिहत देव बारह गुण सहित होते है तो इन अठ्ठारह दोषो से रहित भी होते है —(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) वीर्यान्तराय (४) भोगान्तराय (५) उपभोगान्तराय (६) मिथ्यात्व (७) अज्ञान (८) अविरति (६) काम (भोगेच्छा) (१०) हास्य (११) रति (१२) अरति (१३) शोक (१४) भय (१५) जुगुप्सा (१६) राग (१७) द्वेष तथा (१८) निद्रा। ये अठ्ठारह दोष एक अन्य अपेक्षा से इस प्रकार भी गिनाये गये है —(१) हिसा (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) क्रीड़ा (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (६) भय (१०) क्रोध (११) मान (१२) माया (१३) लोभ (१४) मद (१५) मत्सर (१६) अज्ञान (१७) निद्रा तथा (१८) राग (प्रेम)।

मै अरिहत देव हूँ वीतरागी, सर्वथा पाप एव दोष रहित। मेरा अरिहत पद इस लोक मे मगल रूप, उत्तम तथा शरण रूप माना गया है। मै मगल रूप इस कारण हूँ कि मैंने समस्त आत्माओं के मगल का मार्ग प्रशस्त बना दिया है। उत्तम रूप इस कारण कि जीवन-विकास का इससे अधिक उत्तम स्वरूप दूसरा नही हो सकता तथा शरण रूप इस कारण कि कोई भी सासारिक आत्मा इस पद की शरण मे आकर अपने स्वरूप को अशरण बना सकती है। मैने चार घनघाती रूप कर्मों का नाश कर दिया है और मेरी आत्मा सिद्ध गति के योग्य बन गई है। मुझे पूजा की कोई अभिलापा नहीं है, किन्तु देव और इन्द्र मेरे जीवन को पूजा का स्थल इसलिये बनाते है कि भव्य आत्माए प्रभावित होकर अपने उत्थान का मार्ग सरलता से खोज ले और अपने विकास की महायात्रा पर अविलम्ब प्रस्थान करदे। मैं केवल ज्ञान एव केवल दर्शन से सम्पन्न बनकर तीनो कालो तथा तीनो लोको के सभी द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायो को स्पष्ट देखता हू तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को सव पर प्रकट करता हू जिससे मिथ्यात्व का अधकार दूर हो तथा चहु ओर सम्यक्त्व का देदीप्यमान प्रकाश प्रसारित हो जाय—समतामय वातावरण बन जाय।

मै वीतरागी अरिहत हू—मेरा द्वेष भी नष्ट हो गया है तो राग भी व्यतीत हो गया है। मै समतादर्शी हो गया हू—सम्पूर्ण ससार को समभाव से जानता हू और समदृष्टि से देखता हू—सभी आत्माए मेरे लिये समान हो गई है। इसी दृष्टि से मै उपदेश देता हू जो सबके लिये समान रूप से हितकारी होते है। इसीलिये मेरी लोकोत्तमता है।

मै शुद्ध, वुद्ध, सिद्ध हू

मै अरिहंत पद मे शेष रहे चारो अघाती कर्मो का भी नाश कर देता हू और शुद्ध, वुद्ध, सिद्ध हो जाता हू। ज्यो ही मैं सर्व कर्मों का क्षय कर देता हू कि मैं जन्म-मरण रूप इस ससार से मुक्त हो जाता हू। मेरी आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और लोक के अग्र भाग पर सिद्ध-शिला से

ऊपर सदा काल के लिये अरुण ज्योति रूप बनकर अवस्थित हो जाती है। मै मुक्तात्मा हो जाता हू और पुन: इस ससार मे किसी भी रूप मे किसी भी प्रयोजन से प्रत्यावर्तित नही होता हू, अपितु किसी भी प्रकार से इस ससार से सम्वन्धित भी नहीं रहता हू। मै शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हू।

सिद्ध पद के ये पन्द्रह प्रकार माने गये है—(१) तीर्थ सिद्ध—जीव, अजीव आदि तत्त्वो की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के वचन और उन वचनो को धारण करने वाला चतुर्विध सघ तीर्थ कहलाते है अथवा यो कहे कि जिससे ससार रूपी समुद्र को तैर कर पार कर लिया जाय, वह तीर्थ है। इस प्रकार के तीर्थ की विद्यमानता मे जो आत्माए सिद्ध होती है, वे तीर्थ सिद्ध कहलाती है। (२) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ की उत्पति होने से पहिले या तीर्थ का विच्छेद हो जाने पर बीच मे जो आत्माए सिद्ध होती है, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाती है। जैसे ऋषभदेव तीर्थंकर की माता मरुदेवी तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहिले ही मोक्षगामी बन गई थीं। (३) तीर्थकर सिद्ध —तीर्थकर पद प्राप्त करके मोक्ष मे जाने वाली आत्माए तीर्थकर सिद्ध होती है। (४) अतीर्थकर सिद्ध — सामान्य रूप से केवल ज्ञान प्राप्त करके जो आत्माए मोक्ष प्राप्त करती है, वे अतीर्थकर सिद्ध कहलाती है। (५) स्वयबुद्ध सिद्ध— दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव बोध प्राप्त करके सिद्ध हो जाने वाली आत्माए स्वयं बुद्ध सिद्ध होती है। (६) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध—जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देखकर दीक्षा धारण करके मोक्ष गामी बन जाती है, वे आत्माए प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हो जाती हैं। स्वयबुद्ध एव प्रत्येक बुद्ध सिद्धो मे समानता होते हुए भी कुछ पारस्परिक विशेषताए होती हैं जो इस प्रकार है—(अ) बोधिकृत विशेपता —स्वयबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जाति स्मरण (पूर्वभव दर्शन) आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वय बुद्ध भी दो प्रकार के होते है —तीर्थकर और तीर्थकर व्यतिरिक्त (प्रत्येक बुद्ध सिद्ध)। प्रत्येक बुद्ध को किसी भी बाहरी कारण के निमित्त से वैराग्य उत्पन्न होता है जैसे बैल, बादल आदि को देखकर। प्रत्येक बुद्ध दीक्षा लेकर अकेले ही विचरण करते है। (ब) उपधिकृत विशेषता—स्वयबुद्ध, वस्त्र, पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते है और प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते है। वे वस्त्र नही रखते किन्तु मुखवस्त्रिका व रजोहरण तो रखते ही हैं। (स-द) श्रुतकृत विशेषता तथा लिग (वेश) कृत विशेषता—स्वय बुद्ध दो तरह के होते है —(१) जिन को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म मे हो जाता है व (२) जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म मे नहीं होता। पहले प्रकार के स्वय बुद्ध लिग धारण करके नियम पूर्वक सघ (गच्छ) मे रहते है और दूसरी प्रकार के गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते है जो उन्हे देवता लाकर देते है किन्तु यदि उनकी अकेले विचरने की क्षमता और इच्छा हो तो वे अकेले विचर सकते है। प्रत्येक बुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म मे अवश्यमेव होता है जो जघन्य ग्यारह अग और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हे लिग (वेश) देते है अथवा वे लिग रहित भी होते है। (७) बुद्ध बोधित सिद्ध—आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते है। (८) स्त्रिलिग सिद्ध—स्त्री जीवन से सिद्ध होने वाली आत्माए स्त्री लिग सिद्ध कहलाती है। स्त्रीत्व तीन प्रकार का बतलाया गया है—(अ) वेद (ब) शरीरकृति और (स) वेश। यहा शरीरकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद (स्त्री) के उदय मे तो कोई आत्मा सिद्ध हो ही नही सकती है और वेश अप्रमाण है अत यहा शरीर कृति रूप स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। (९) पुरुष लिगसिद्ध—पुरुष की

शरीर कृति मे रहते हुए मोक्ष मे जाने वाली आत्माए पुरुष लिग सिद्ध होती हैं। (१०) नपुंसक लिंग सिद्ध—नपुसक की शरीर कृति मे रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिग सिद्ध है। (११) स्वलिग सिद्ध—निर्ग्रंथ साधु का वेश स्ववेश (स्वलिग) होता है अत साधु के वेश मे रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिग सिद्ध कहलाते है। (१२) अन्यलिग सिद्ध—परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिग (अन्य वेश) मे रह कर मोक्ष मे जाने वाली आत्माए अन्य लिग सिद्ध कहलाती हैं। (१३) गृहस्थलिग सिद्ध—गृहस्थ के वेश मे मोक्ष जाने वाली आत्माए गृहस्थ लिग (गृहीलिंग) सिद्ध कहलाती है। (१४) एक सिद्ध—एक एक समय मे एक एक मोक्ष जाने वाली आत्माए एक सिद्ध होती हैं। तथा (१५) अनेक सिद्ध —एक समय मे एक से अधिक मोक्ष जाने वाली आत्माएं अनेक सिद्ध कहलाती हैं। एक समय मे अधिक से अधिक कितनी आत्माए मोक्ष मे जा सकती हैं —इसके विषय मे विस्तार से बताया गया है। सक्षेप मे एक समय से आठ समय तक अधिकतम बत्तीस तक आत्माएं मोक्ष मे जा सकती हैं। फिर निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है।

मै अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हू तो कर्मों के दुष्प्रभाव से जो आत्मिक शक्तिया दबी हुई रहती थीं, वे सम्पूर्ण प्राभाविक बनकर पूर्णत प्रकट हो जाती हैं। कर्म मुक्ति से सिद्ध पद मे निम्न आठ गुण पूर्ण आत्म विकास के रूप मे प्रकाशित हो जाते हैं— (१) केवल ज्ञान —ज्ञानावरणीय कर्म का पूरी तरह नाश हो जाने से आत्मा का ज्ञान गुण अपनी पूर्ण आभा के साथ प्रकट हो जाता है जिसके प्रभाव से केवल ज्ञानी महात्मा सकल पदार्थों को जानने लगती है। (२) केवल दर्शन— दर्शनावरणीय कर्म के समूल नाश से आत्मा का दर्शन गुण पूर्णतया प्रकट हो जाता है जिससे सभी पदार्थों को देखने की शक्ति अनावृत्त हो जाती हैं (३) अव्याबाध सुख—आत्मा वेदनीय कर्म के प्रभाव से वेदना का अनुभव करती है, यद्यपि साता वेदनीय कर्म से सुख का अनुभव भी होता है, किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है जबकि वास्तविक एव स्थायी आत्मिक सुख की प्राप्ति वेदनीय कर्म के नाश से ही होती है। इस कर्म के सम्पूर्ण विनाश से जो अनन्त सुख प्राप्त होता है, वह अव्यावाध होता है, क्योकि उस सुख के अनुभव मे कभी भी कोई बाधा नहीं आती है। (४) अक्षय स्थिति —आत्मा की इसी को अक्षय स्थिति कहते हैं कि मोक्ष मे पहुँच कर आत्मा वापस इस ससार मे नहीं आती, शाश्वत रूप से वही रहती है। ससार मे आयु-कर्म का प्रभाव चलता है, इस कारण एक जन्म मे जितना आयुष्य बधा हुआ होता है, उसे भोगकर आत्मा को वहा से दूसरी गति मे जाना ही पड़ता है किन्तु सिद्धात्माओं का आयु-कर्म ही नष्ट हो जाता है अत मोक्ष मे स्थिति की कोई मर्यादा नही रहती अत. मोक्ष की स्थिति ही अक्षय स्थिति मानी गई है। (५) क्षायिक सम्यक्त्व—सिद्धात्माओं के मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है जबकि मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्व गुण का घातक होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है जीव, अजीव आदि पदार्थों को उनके यथार्थ रूप मे जानना तथा जान कर उन पर विश्वास करना। अत मोहनीय कर्म के अभाव मे पूर्ण सम्यक्त्व का सद्भाव हो जाता है तथा पूर्ण सम्यक्त्व ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सिद्धात्माओं मे यही क्षायिक सम्यक्त्व सदा वर्तता है। (६) अरूपीत्व— बाहर से दिखाई देने वाले रूप की रचना नाम कर्म के उदय से शरीर रूप मे होती है और दृष्टिगत रूप ही रूपीपना कहलाता है। चूकि सिद्धात्माओं के नाम कर्म का भी नाश हो जाता है अत उनके किसी प्रकार का शरीर नही रहता। ससारी जीवो के कार्मण आदि शरीरो का सम्मिश्रण हमेशा रहता

है जिस अपेक्षा से ससारी आत्मा रूपी भी कहलाती है। किन्तु नाम कर्म के अभाव मे सिद्धात्माओं से कोई भी शरीर नहीं रहता, इसलिये उनका स्वरूप अरूपी ही रहता है। (७) अगुरुलघुत्व—अरूपी होने से सिद्धात्मा न भारी होती है न हल्की। वह निरजन होती है अत अगुरुलघु होती है। (८) अनन्त शक्ति—मूल रूप मे आत्मा मे जिस अनन्त शक्ति या बल का सद्भाव रहता है, वह सिद्धावस्था मे सम्पूर्णत प्रकट हो जाता है। अन्तराय कर्म के कारण आवृत्त बनी समस्त शक्तिया उस कर्म के नष्ट हो जाने पर पूरी स्पष्टता से अनावृत्त हो जाती है। सिद्धात्मा मे अनन्त शक्ति व्यक्त बन जाती है।

मै सिद्ध होता हू आठो कर्मों का समूल विनाश कर देने से—तो उस अपेक्षा से मेरे पद मे इकत्तीस गुणो का उल्लेख भी किया गया है, क्योंकि आठो कर्मों की विदृष्टि से कुल प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म की पाच, दर्शनावरणीय कर्म की नौ, वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय की दो, अन्तराय कर्म की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र कर्म की दो तथा अन्तराय कर्म की पाच मिलाकर इकत्तीस प्रकृतिया होती है। इन्हीं इकत्तीस प्रकृतियो के क्षय हो जाने से सिद्धात्माओं मे ये इकत्तीस गुण प्रकट होते है—(१) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण (२) क्षीण श्रुत ज्ञानावरण (३) क्षीण अवधि ज्ञानावरण (४) क्षीण मन पर्यय ज्ञानावरण (५) क्षीण केवल ज्ञानावरण (६) क्षीण चक्षुदर्शनावरण (७) क्षीण अचक्षुदर्शनावरण (८) क्षीण अवधिदर्शनावरण (९) क्षीण केवल दर्शनावरण (१०) क्षीणनिद्रा (११) क्षीण निद्रा-निद्रा (१२) क्षीण प्रचला (१३) क्षीण प्रचला-प्रचला (१४) क्षीण सत्यानगृद्धि (१५) क्षीण सातावेदनीय (१६) क्षीण असातावेदनीय (१७) क्षीण दर्शन-मोहनीय (१८) क्षीण चारित्र मोहनीय (१९) क्षीण नैरयिकायु (२०) क्षीण तिर्यचायु (२१) क्षीण मनुष्यायु (२२) क्षीण देवायु (२३) क्षीण उच्च गौत्र (२४) क्षीण नीच गौत्र (२५) क्षीण शुभ नाम (२६) क्षीण अशुभ नाम (२७) क्षीण दानान्तराय (२८) क्षीण लाभान्तराय (२९) क्षीण भोगान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय तथा (३१) क्षीण वीर्यान्तराय।

सिद्ध पद के गुण इस प्रकार भी बतलाये गये हैं कि सिद्धात्मा पाच सस्थान, पाच वर्ण, दो गध, पाच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद तथा काय, सग एव रुह (पुनरुत्पत्ति) को क्षय कर देती है, जिनके क्षय से प्रकट होने वाले गुण भी इकतीस होते है। वैसे बीज के जल जाने पर अकुर पैदा नही होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने से सिद्ध आत्माओं के ससार रूपी अकुर पैदा नही होता।

जब मै अपने को सिद्ध कहता हू तो मैं अपनी ही आत्मा के मूल स्वरूप का वर्णन करता हू। मेरी आत्मा भी सिद्धात्मा जैसी ही है, क्यो कि जो आत्मा होती है वही सिद्ध होती है। आत्मा और सिद्धात्मा के बीच मात्र आठो कर्मों के आवरण होते है जो जब सम्पूर्णत नष्ट कर दिये जाते हैं तब आत्मा अपने मूल स्वरूप को तथा अपने गुणो को प्राप्त करके स्व-स्वभाव मे अथवा स्वधर्म मे अवस्थित हो जाती है। स्वधर्म स्थित आत्मा ही सिद्धात्मा होती है अत सिद्धात्मा के स्वरूप के अनुसार ही मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी होता है। इसीलिये मैं कहता और मानता हू कि अपने मूल स्वरूप मे मै न दीर्घ हू, न ह्रस्व, न वृत्त हू, न त्रिकोण या चतुष्कोण और मै मडलाकार भी नहीं हू। मै न काला हू, न हरा हू, न लाल, न पीला और न सफेद हू। मैं न सुगंध रूप हू, न दुर्गध रूप। मै न तीखा, न कड़वा, न कषैला, न खट्टा व न मीठा हू तो मै न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का, न ठडा, न गर्म, न चिकना और न रूखा हू। मै न स्त्री हू, न पुरुष हू तथा न ही नपुसक

हूं। मै सर्व सग रहित अमूर्त हूं। मै ज्ञाता हू, विज्ञाता हू और अनन्त ज्ञान, दर्शन तथा अनन्त सुखो से सम्पन्न हू। मैं अरूपी हूं अत. मेरे स्वरूप का वर्णन रूपी शब्दो द्वारा समव नहीं है।

ऐसा है मेरी आत्मा का मूल स्वरूप और ऐसा ही होता है सिद्धात्माओं का सदा काल वर्तता हुआ स्वरूप जो रूपी न होकर अरूपी होता है। वे अनन्त सुखो मे विराजमान रहती हैं। उनके ज्ञान और सुख के लिये कोई उपमा नहीं दी जा सकती है क्योंकि ससार मे ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। उनका स्वरूप अरूपी होता है, उसका वर्णन रूपी शब्दो के माध्यम से नहीं किया जा सकता है।

मैं अनश्वर ओऽम् हूं

मै अनश्वर ओऽम् हू। ओऽम् शब्द पांच अक्षरो से बना है—अ अ आ उ तथा म् और ये पांचो अक्षर महान् आध्यात्मिक पदो के प्रतीक है जो इस प्रकार हैं —अ = अरिहंत, अ = अशरीरी (सिद्ध), आ = आचार्य, उ = उपाध्याय एव म् = मुनि (साधु)। इन अक्षरो की सधि इस प्रकार है—अ + अ = अ, आ+उ=ओ तथा ओ+म्=ओम्। इस प्रकार ओंकार पाचो पदो का प्रतीक सक्षेप हो गया। ओंकार से कुछ वड़ा पद होता है —असिआउसा, जो पाचो पदो के प्रथमाक्षर से मिल कर वना है।

मै अपनी आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से पच परमेष्ठी हू। ये ही पाचो पद पच परमेष्ठी के नाम से उल्लिखित किये जाते है। ये पद पाच अवश्य है, किन्तु है सभी पद इसी आत्मा के। अपने परम स्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट आध्यात्मिक स्वरूप मे अवस्थित आत्मा को ही परमेष्ठी कहा जाता है। ये पाचो पद आत्मा की ही विभिन्न गुण-अवस्थाए है। इन गुण-अवस्थाओं के उल्लेख का क्रम इस प्रकार रखा गया है—सवसे पहिले अरिहन्त। यद्यपि इस क्रम मे सिद्ध पद का पहिले उल्लेख होना चाहिये क्योकि अरिहन्त चारो घाती कर्मों का ही नाश करते है, जब कि सिद्ध आठो कर्मों का नाश करके सर्वया कर्म-मुक्त हो जाते है। किन्तु सिद्ध पद को दूसरे क्रम पर इस दृष्टि से रखा गया है कि स्वय सिद्ध—अवस्था का ज्ञान भी अरिहन्त के द्वारा ही होता है तथा आत्मोद्धार का सम्पूर्ण उपदेश भी अरिहन्त के द्वारा ही मिलता है। अत पहले क्रम पर अरिहन्त तथा दूसरे क्रम पर सिद्ध पद को रखा गया है। तीसरा पद आचार्य का है व चौथा उपाध्याय का। पाचवा पद सर्वविरति साधु का है। इस प्रकार इन पांचो पदो को वन्दनीय माना गया है तथा इस वन्दन को महामत्र की सज्ञा दी गई है जो इस प्रकार है —अरिहन्तो को नमस्कार, सिद्धो को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायो को नमस्कार, लोक मे स्थित सर्व साधुओं को नमस्कार। यह महामत्र का मुख्यभाग है तथा इसी के अन्तिम भाग मे इन नमस्कारों की महत्ता स्पष्ट की गई है जो इन शब्दो मे है—ये पाचो नमस्कार सर्व पापो को नष्ट करने वाले है, सर्व मगलो मे प्रथम मंगल रूप होते हैं।

इसी महामत्र का सक्षिप्त रूप है—असिआऊसा नम ऐसा कहा जाता है, पर महामन्त्र के साधक को तो नमस्कार मन्त्र के पाच पदो का पूरा उच्चारण करना चाहिये। क्योंकि जिनेश्वरो ने जैसा कहा, मन्त्र को उसी रूप मे बोलना चाहिए तथा अति सक्षिप्त रूप है ओम् नम इन पाचो आध्यात्मिक पदो को अथवा आत्मोत्थान की इन पाच उत्कृष्ट अवस्याओं को नमस्कार करना परम मगल, परम उत्तम तथा परम शरण रूप माना गया है। ऐसा क्यो है? यह विषयवस्तु गहराई से समझने लायक है। यह अटल नियम है कि गुण गुणी के विना नहीं टिकता तथा गुणी के माध्यम से

ही गुण प्रकाशित होता है किन्तु गुण और गुणी के भेद मे किसको श्रेष्ठतर माना जाय ? जैसे क्षमा एक गुण है। इसके स्वरूप का विवेचन करते समय इस गुण के सभी पहलुओं पर विचार करेगे तथा इसके सर्वोत्कृष्ट विकास का भी प्रतिमान लेगे, क्योकि इसी प्रतिमान के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकेगा कि किस व्यक्ति मे यह क्षमा गुण कितने अशो मे विकसित हुआ है ? सामान्य रूप से भिन्न भिन्न व्यक्तियो मे मूल्यांकन करने पर इस क्षमा गुण का विकास भिन्न भिन्न स्तरो का मिलेगा। अत गुण का विकास भिन्न-भिन्न गुणियो मे भिन्न-भिन्न रूप से परिलक्षित होता है। गुणी का सम्मान या उसकी मान्यता इस दृष्टि से गुण-विकास पर आधारित रहती है।

गुण और गुणी मे इस प्रकार गुण की प्रमुखता मानी जानी चाहिये क्योंकि गुण का सर्व स्वरूप गुणी के समक्ष आदर्श रूप होता है और गुणी की सर्वोत्कृष्ट सफलता तभी मानी जाती है जब वह गुण के उस आदर्श रूप को आत्मसात् करले। गुण को प्रमुखता देने से गुण —गौरव तथा गुण ग्राहकता मे वृद्धि होती रहती है। आध्यात्मिक उन्नति के उपरोक्त पाचो प्रतीक भी गुण वाचक है और गुणो को सर्वोच्च सम्मान देने की दृष्टि से ही नमस्कार महामत्र को सर्वोच्च महिमा प्रदान की गई है।

गुणवत्ता की कसौटी पर ही पाचो पदो का विश्लेषण इस सत्य को स्पष्ट कर देता है कि आत्मा किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार नही करती बल्कि गुण विकास को ही नमस्कार करती है। इस रूप मे विशिष्ट से विशिष्ट हो किन्तु व्यक्ति की प्रभुता आत्मानुभूति को दबा नही पाती है। गुण दृष्टि ही बनी रहती है जिससे गुण ग्रहण करने की प्रेरणा भी बनी रहती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मा स्वय को ही नमस्कार करती है—अपनी ही इच्छित अथवा सभावित अवस्थाओं को नमस्कार करती है कि वे अवस्थाए उसके निज स्वरूप मे उद्घाटित हो।

गुण दृष्टि को प्रधानता देने मे एक और तथ्य या सत्य उभर कर समक्ष उपस्थित होता है और वह यह कि यह आत्मा और मात्र आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट विकास की मूल है —कोई और कैसा भी व्यक्तित्व इस की प्रमुखता को आच्छादित नही कर सकता है। कई बार और कई स्थानो पर देखा जाता है कि व्यक्ति का वर्चस्व बढ़ता जाता है और उस वर्चस्व से प्रभावित व्यक्ति अपने महत्त्व को खोते हुए चले जाते है। कई बार राजनीति के क्षेत्र मे भी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति का वर्चस्व सर्व प्रमुख हो जाता है और उसके शासन या दल के अन्य सदस्य उसके सामने अपना महत्त्व—यहा तक कि प्रभावपूर्ण अस्तित्व तक खो देते है। कहा जाता है कि बरगद के पेड़ की छाया मे कोई दूसरा पौधा नही पनपता। व्यक्तिवादी वर्चस्व की ऐसी ही विदशा को समझ कर वीतराग देवो ने सम्पूर्ण सघ व्यवस्था को गुणाधारित स्वरूप प्रदान किया। गुण की ही महिमा, गुण की ही स्तुति और गुण को ही नमस्कार और इसी श्रेष्ठता के उच्चतम स्वरूप मे पाचो पद भी गुण विकास के क्रम पर आधारित है। गुणी कोई भी हो, वह वन्दनीय है। विकासशील आत्मा उप गुण का सम्यक् रीति से अनुपालन कर सके। उसके समक्ष गुणी का व्यक्तित्व कम और गुण-स्वरूप की श्रेष्ठता अधिकाश मे रहनी चाहिये।

ससार मे रहते हुए गुण विकास के श्रेष्ठ प्रतीक होते है अरिहन्त। यह अरिहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, आत्मिक अवस्था विशेष का नाम है कि जिन्होने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय रूप चार घनघाती कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान एव केवल दर्शन को प्रकट

कर लिया है तथा जो राग द्वेष को जीत कर वीतराग व अन्तराय रूप बाधा को जीत कर अनन्त वीर्यवन्त हो गये है। वे महापुरुष अरिहन्त होते है—अपने भीतर के अरियो-शत्रुओं को जिन्होंने नष्ट कर दिया है। उनकी आत्मा तव सिद्धि के योग्य हो जाती है तथा अपने पूर्ण ज्ञान के प्रकाश मे वे ससार की सभी आत्माओं को आत्म विकास का मार्ग दिखाते है। दूसरा सिद्ध पद भी गुणवत्ता पर आधारित है कि वे ससार के भव चक्र को समाप्त करके मुक्तात्मा वन जाते है। तीर्थंकर की विद्यमानता न होने पर सघ सचालन का भार आचार्य उठाते है अत उनका तीसरा पद है। ज्ञान साधना और ज्ञान दान का महत्त्वपूर्ण कार्य करने वालो का चौथा उपाध्याय का पद है तो पाचवा पद ससार त्याग करके सर्व विरति एव निर्ग्रंथ बनने वाले साधु का है जो अपना सम्पूर्ण जीवन महाव्रतो के पूर्ण पालन के साथ स्व-पर कल्याण मे नियोजित कर देता है। नमस्कार योग्य पद साधु अवस्था से ही प्रारभ होता है और सामान्यतया साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहन्त के चार पद साधु जीवन से ही सम्वन्धित होते हैं और साध्वाचार की उत्कृष्टता ही दिखाते है। सिद्ध अवस्था भी एक दृष्टि से श्रेष्ठ साधु जीवन की उच्चतम श्रेष्ठता की ही उपसंहार रूप होती है। यह समग्र क्रम आत्मा के गुण-विकास का ही क्रम है। आत्मा किस नाम धारी व्यक्ति के शरीर मे अवस्थित है—इससे उन आत्मिक गुणो तथा उनकी प्राप्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है जिनका विकास आत्मा को अपनी उन्नति के विभिन्न चरणो मे ऊर्ध्वगामी वनाता है। आत्मा को ऐसी निरन्तर गतिशील ऊर्ध्वगामिता प्राप्त हो—यही परम लक्ष्य है क्योकि इसी का चरम विन्दु मोक्ष प्राप्ति के रूप मे प्रतिफलित होता है।

सदासद् संग्राम

यह सव मैने एक अपेक्षा से कहा है कि मै रत्नत्रयाराधक मुनि हू, ज्ञानसाधक उपाध्याय हू, अनुशासक आचार्य हू, वीतरागी अरिहन्त हू, अथवा शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध या अनश्वर ओऽम् हू, क्योकि ऐसा कहने और विचारने मे 'सोहऽम्' की अनुभूति होती है तथा विकासोन्मुख आत्मा अपने परम व चरम साध्य का निर्धारण करती है।

किन्तु इन उच्च पदो की उपलब्धियां मुझे प्राप्त हो सकेगी एक सग्राम जीत लेने के बाद। यह सग्राम है अपनी ही आत्मा की असद् वृत्ति तथा प्रवृत्तियो का अपनी ही आत्मा की सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के वीच मे और यह आत्मा ही योद्धा है। इसे सदासद् सग्राम कह सकते है। आठ कर्मों के रूप मे असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना एक ओर खड़ी है और दूसरी ओर सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना जो एक दूसरे के साथ लड़ रही है तथा इस लड़ाई की प्रयोजक है स्वयं आत्मा, मन और उसकी इन्द्रिया। आत्मा की सुप्तावस्था और जागृतावस्था का तारतम्य ही इस संग्राम मे हार और जीत का निर्णय करने वाला है। यदि सुप्तावस्था घटती जाती है और आत्म-जागृति अभिवृद्ध होती जाती है तो यो समझिये कि असद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया मिटती जाती हैं और उनके स्थान पर सद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया आत्मा का सुरक्षा कवच बना लेती है जिस पर फिर असद् वृत्तियो तथा प्रवृतियो का बलप्रयोग व्यर्थ हो जाता है। एक एक करके असद् वृत्तिया तथा प्रवृतिया पराजय का मुख देखती हुई नष्ट होती जाती है। तव इस सग्राम मे आत्मा की सद् वृत्तिया तथा प्रवृत्तियाँ विजय की ओर अग्रसर वन जाती है।

यह सदासद् सग्राम आत्मा की आन्तरिकता मे प्रतिपल चल रहा है —एक पल के लिये भी वह रुकता नही है। असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सेना मे मिथ्यात्व और मोहनीय बहुत जोरदार होते है। ये आत्मा के शत्रु ऐसा मारक प्रहार करते है कि आत्मा तिलमिला उठती है—उसके मन

और उसकी इन्द्रियो मे बेचैनी और बेहोशी फैल जाती है इसलिये इन दोनो शत्रुओं के प्रति आत्मा की पूरी सावधानी होनी चाहिये। आत्मा के पास इन दोनो शत्रुओं को परास्त कर देने के लिये रत्नत्रय का सुदर्शन चक्र है। सम्यक्त्व के जगमगाते प्रकाश के सामने मिथ्यात्व का अधेरा टिक नही सकता है और ज्यो ही सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, इस आत्मा के समक्ष सदा सद् सग्राम का पूरा दृश्य अति स्पष्ट हो जाता है और उसका सुदर्शन चक्र भी सक्रिय बन जाता है। वह सम्यक् ज्ञान से सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र को पूर्ण रूप से जब मोहनीय कर्म पर प्रहार करती है तो अष्ट कर्म का यह सेनापति बौखला उठता है। वह बार बार आत्मा पर अपने प्रहार करता है, किन्तु बार बार आत्मा का सुदर्शन चक्र मोहनीय कर्म को नीचे पटकता रहता है और तब एक ही झटके मे उसका शिरच्छेद कर देता है। मोहनीय कर्म के विनाश के साथ ही आत्मा की शक्ति अनन्त गुना बढ़ जाती है उसका सम्यक् चारित्र सर्व विरति साधु-आचार के रूप मे उत्कृष्टता के नये-नये सोपानो पर आरूढ़ होता रहता है। रत्न-त्रय की साधना श्रेष्ठतर होती जाती है और शेष कर्म शत्रु भी नष्ट होते चले जाते है। तब वह शुभ दिवस और समय भी आता है, जब पहले चारो घाती कर्म पूर्णत नष्ट हो जाते है तथा आत्मा का वीतराग भाव जगमगा उठता है। फिर उसके लिये शेष सग्राम विशेष पुरुषार्थ साध्य नही रहता। चारो अघाती कर्मो का नाश करके वह सिद्ध गति की ओर प्रयाण कर देती है और इस प्रकार सदासद् सग्राम मे पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती है। तब आत्मा स्व-भाव तथा स्व-धर्म मे अवस्थित होकर विजेता बन जाती है।

वर्तमान परिस्थितियो मे जबकि मेरे सामने सद् वृत्तियो तथा प्रवृतियो एव असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की चतुरगिणी सेनाए आमने सामने खड़ी है। और ज्ञाता-विज्ञाता एव जागृत दृष्टा बना मै इस दृश्य को देखता हू तो मुझे दृढ़ निश्चय करना होता है कि इस सग्राम मे चाहे जो हो—मुझे अपनी अन्तिम विजय प्राप्त करनी ही है। सारी रणस्थली मे मै ही योद्धा हू—मुझे ही लड़ना है अपनी असद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो से अपनी सद् वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो की सहायता लेकर। यह ऐसा समय है जब मै कई बार अर्जुन की तरह घबराता हू कि मै कैसे लड़ सकूगा उन मनोज्ञ विषयो के विरुद्ध जिनसे मेरा मन और मेरी इन्द्रिया सुखाभास लेती रही हैं? कैसे लड़ सकूगा मै अपने ही विद्रोही मन और इन्द्रियो से जो मनोज्ञ शब्द, दृश्य, गध, रस और स्पर्श के घेरो मे बार-बार दौड़े हुए चले जाते है? किन्तु मेरी आत्मा तब श्रीकृष्ण बन जायगी और अर्जुन की नपुसकता को दूर करेगी, उसमे योद्धा भाव को जगायगी और उसे अपने रत्न-त्रय का सुदर्शन चक्र चलाने के लिये उत्साहरत बना देगी। यह सब कुछ मेरी ही आत्मा को करना होगा। आत्मा ही सोने लगेगी तो आत्मा ही अपने को जगायगी। आत्मा ही आत्मा से लड़ेगी और आत्मा ही आत्मा को समझायगी। अन्ततोगत्वा यह आत्मा ही अपने द्वन्द्वो को समाप्त करेगी और विजेता बन कर अपने उत्थान के ऊचे से ऊचे आयामो को अवाप्त करेगी।

अन्तिम विजय मेरी होगी

मेरी यह निश्चित धारणा बन चुकी है कि इस सदासद् सग्राम मे अन्तिम विजय मेरी ही होगी। मै दृढ़ चेता होकर अपने नये कर्म बधन को रोकूगा, पूर्वार्जित कर्मो को तपस्या की अग्नि मे भस्म कर दूंगा और अपने आत्म स्वरूप को कुन्दन बना लूगा। गुणस्थानो के सोपान रूपी कसौटियो पर आत्मा की शुद्धता की जाच मै हर समय करता रहूगा और ऊर्ध्वगामी बना रहूगा। मै अपने दृढ़

सकल्प के बल पर रत्न-त्रय की कठिनतर साधना करता रहूगा और नीचे नहीं गिरूगा। मेरी आत्मा क्रमश· पदोन्नति करती रहेगी और कर्मों के साथ निरन्तर युद्ध करती हुई अन्तिम विजय के सर्वोच्च छोर तक पहुच कर ही चैन लेगी। यही मेरी आत्म विकास की महायात्रा का सानन्द समापन होगा जहा फिर मेरी आत्मा आनन्द की अजस्र धारा मे ही सदा सदा के लिये आल्हादित बनी रहेगी।

मेरी अन्तिम विजय के प्रेरक ये आप्त वचन हैं और मै उनका निरन्तर चिन्तन करता हू कि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही मै भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को क्यो त्यागू? जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के वाद पुन वृन्त से नही लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी सपूर्ण रूप से मेरी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुन मेरी वीतरागी आत्मा के साथ नहीं लग सकते है। जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्ध भाव को भी प्राप्त करता है, क्योकि सम्यक् इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मेरी आत्मा भी अन्तिम विजय की ओर स्वस्थ तथा स्थिर गति से आगे बढ़ती ही जायगी।

मैं अनुभव करता हू कि मेरी अपनी आत्मा ही ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है और चारित्र रूप है। शास्त्र स्वय ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र स्वय मे कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। जो ज्ञान है, वह मै हू और मैं ही शास्त्रो के स्रोत से ज्ञानार्जन करता हू। चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, क्योंकि वही मेरी आत्मा को उसके धर्म मे प्रतिष्ठित करता है और जो धर्म है, वही समत्व है। मोह और लोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है। अत· आत्मा ही धर्म है अर्थात् धर्म आत्म स्वरूप होता है। समत्व से विभूषित आत्मा सुख दु ख मे समान भाव रखती है और तब वह वीतरागी और शुद्धोपयोगी हो जाती है। आत्मा ज्ञान प्रमाण (ज्ञान जितनी) है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है जिससे ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है। यही आत्मा का सर्वव्यापी स्वरूप है।

मै जव अपने इस अनुभव मे विराट् होता हूं तो अपने आत्म स्वरूप को वैसा ही विराट् बना लेने का दृढ़ निश्चयी भी बन जाता हू। यही दृढ़ निश्चय मेरे आत्म-विकास की महायात्रा का सवल सगी होता है तथा उस के सफल समापन का श्रेयी भी। मेरी दृढ़ता ही मुझे सदासद् सग्राम मे विजेता बनाती है तो वही मेरी अन्तिम विजय की प्रतीक बनती है।

नवम सूत्र और मेरा संकल्प

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरजन हू। मैने अनुभव कर लिया है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है तथा जान लिया है कि मैं उसे कैसे प्राप्त करू? यह सारी विधि वीतराग देव बता चुके हैं तथा उनकी चेतावनियो पर भी मैं निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहता हू कि जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं और भूमि पर झड़ जाते है, उसी प्रकार मेरा यह जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जायगा, अतएव मै क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। जैसे कुशा (घास) की नोक पर हिलती हुई ओस की वूद वहुत थोड़े समय के लिये टिक पाती है, ठीक वैसा ही मेरा यह जीवन भी क्षणभगुर है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। मेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सव बल क्षीण होता जा रहा है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करू। मैं इस ससार रूपी महासमुद्र को तैर चुका हू, फिर किनारे पर आकर क्यो वैठ गया हू? मै उस पार पहुचने की शीघ्रता करू। समय वड़ा भयकर है और इधर

प्रतिक्षण जीर्ण शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतएव मै सदा अप्रमत्त होकर भारड पक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करू। मै सोये हुओं के बीच मे भी सदा जागृत रहूं और सदा अप्रमत्त बनू। सकल इच्छाओं का निरोध करके अपनी स्वय की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसधान करू। क्योकि सत्य ही ससार मे सारभूत है।

अत इस नवम सूत्र के सदर्भ मे मै सकल्प लेता हू कि मै निरन्तर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करूगा, गुणाधारित धर्म का पालन करूगा तथा ज्ञानी व ध्यानी बनूगा। ऐसा करके मै अपने कर्मों के आवरण को उसी प्रकार उतार फैकूगा, जिस प्रकार सर्प अपनी केचुली को उतार कर छोड़ देता है। मुझे यह मत्र शीघ्र आत्मा विजेता बनने मे सहायता करेगा कि जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह भी तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है। जिसे जाना जाता है, वह आत्मा है तथा जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है। यही प्रतीति मेरी अन्तिम विजय की मूल भित्ति है। इसी भित्ति पर मै अपने गुणाधारित जीवन का निर्माण करता हू और अपने मूल आत्म स्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होता हू।

तदनन्तर गुण विकास की क्रमिकता मे समुन्नत होता हुआ, मनोरथो एव नियमो का चिन्तन करता हुआ और उत्कृष्ट भाव-श्रेणियो मे विचरण करता हुआ मै अपने मूल स्वरूप के आलोक को प्राप्त कर लूगा और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध बन जाऊगा।

अध्याय ग्यारह

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

समता की जययात्रा

अग्ग च मूल च विगिच धीरे,
पलिछिदियाण णिक्कम्मदसी।

हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर तथा उसका छेदन करके करमो से रहित अवस्था अर्थात् समता क द्रष्टा बन जा।

अध्याय ग्यारह

समता जीवन विकास का मूलमत्र तथा जीवन का चरम साध्य है। आत्म-समीक्षण से लेकर समता अवाप्ति तक की जय-यात्रा ही जीवन की जय यात्रा है। समीक्षण का अर्थ है समान रूप से देखना और आत्म समीक्षण होता है अपनी आत्मा को समान रूप से देखना तथा यही समान रूप से देखना होता है ससार की समस्त आत्माओं के सदर्भ मे। यह समीक्षण ही बोध देता है आत्म-समता का कि सभी आत्माए समान है—एक है। यह अनुमान और यह दृष्टि ही समता का मूल है अर्थात् समीक्षण मूल है और समता उसका वट वृक्ष जो समस्त ससार को अपनी शीतल एव सुखदायक छाया मे लपेट लेना चाहती है। समीक्षण कारण है तो समता उसका कार्य। समीक्षण मूल है तो समता उसका सुवासयुक्त फूल।

समीक्षण सम्पूर्ण ससार को समान दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है तो समता समस्त ससार को समानता मे ढाल देने के अपूर्व कृतित्व को अनुप्राणित करती है। दृष्टि से कृति तक की यह यात्रा ही आत्म विकास की महायात्रा है जो मन, वाणी और कर्म को एकरूपता तथा समरसता प्रदान करती है। समीक्षण ध्यान की साधना से यह आत्मा एक निष्ठ बनती है और मन तथा इन्द्रियां एकाग्र तो इनमे जो एक है और जिसके प्रति एक निष्ठ तथा एकाग्र होना है, वही एक है समता। समता स्थिति भी है तो आचरण भी। समता साध्य भी है तो साधन भी।

सच पूछे तो समता एक व्यक्ति का ही साध्य नही अथवा एक आत्मा का ही साध्य नही, अपितु सम्पूर्ण ससार का साध्य है। साध्य इस दृष्टि से कि एक व्यक्ति या आत्मा अपनी आन्तरिकता को समता से ओतप्रोत बनाले और अन्ततोगत्वा समत्त्व योगी या समतादर्शी बन जाय। समता सम्पूर्ण ससार का साध्य इस दृष्टि से कही जायगी कि ससार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रो मे तथा स्वय व्यक्तियो के सामूहिक रहन सहन तथा व्यवहार मे जितना अधिक समता का प्रसार होता जायगा, एक व्यक्ति को समत्व योगी के लक्ष्य तक पहुचने मे उतनी ही सुविधा और सरलता बढ़ती जायगी, क्योंकि सासारिक जीवन मे बढ़ती हुई समता निश्चित रूप से उन मानवीय गुणो को प्राणवान बनायगी जो एक आत्मा को सभी आत्माओं के साथ समान सहृदयता से जोड़ते है। तो इस रूप मे समानता किसी एक ही व्यक्ति, वर्ग अथवा समूह का ही साध्य नहीं, बल्कि समस्त ससार का साध्य है।

और समता साधन भी है समता ही के व्यापक साध्य को अवाप्त करने का। वही साधन है एक व्यक्ति या आत्मा के लिये तो वही साधन है समूह, समाज या सकल विश्व के लिये भी। समता, समत्व अथवा साम्यवाद एक विचार भी है तो कृति भी है और कृति है तो साधन है। साधन इस कारण कि समता आचरण का सोपान भी है। समता के आचरण की विभिन्न सीढ़िया है जिन पर क्रमिक रूप से आरोहण करते हुए समता के शिखर तक पहुंचा जा सकता है। अत समता की साधना समग्र जीवन की साधना है।

एक आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है कर्म मुक्त हो जाना याने कि आत्मा के मूल स्वभाव पर जितने विकारो के आवरण है, उन्हे हटाकर आत्मा को उसके मूल निर्मल स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर देना। यही आत्मा का मोक्ष होता है, उसकी सिद्धि होती है। सिद्धात्मा ही समत्व योगी और समतादर्शी होती है। ये जो कर्म है, आत्मा के विकारो के—पापो के प्रतीक हैं—आत्मा की विकृत कृतियो के द्योतक है। कर्म पुण्य रूप भी होते है और उनका फल सुखद भी होता है, फिर भी सभी प्रकार के कर्मों का अन्त ही आत्मा को मोक्ष मे पहुंचाता है क्योकि कर्म सदा ही विषमता का परिचायक होता है। जहा तक लेश मात्र भी विषमता है, पूर्ण समता की अवाप्ति नहीं होती है।

पूर्ण समता आध्यात्मिक समता ही हो सकती है और इस दृष्टि से पूर्ण समता की अवाप्ति एक आत्मा द्वारा ही संभव है जो अपनी सजग एव कठिन साधना द्वारा अपने उत्थान के चरम के रूप मे अवाप्त करती है। पूर्ण समता आन्तरिक समता होती है। इसी आन्तरिक समता से बाह्य समता होती है जो बाह्य वातावरण को समानता के सांचे मे ढालने का यत्न करती है। बाह्य वातावरण इतना विषम होता है और अनेकानेक आत्माओं के सचरण से इतना जटिल कि वहा पूर्ण समता की कल्पना दु साध्य है यह अवश्य है कि यदि पूर्ण समता को साध्य के रूप मे सदैव समक्ष रखे तो जटिल विषमता का अन्त किया जा सकता है तथा ससार के बाह्य वातावरण को भी सुखद मानवीय मूल्यो से विभूषित बनाया जा सकता है। आदर्श ही नीचा हो तो उसकी प्राप्ति बहुत नीची होगी, लेकिन सर्वोच्च आदर्श को दृष्टि में रखकर जो भी प्रगति सामूहिक रूप से साधी जा सकेगी, वह भी अति मूल्यवान सिद्ध हो सकेगी।

जीवन का उद्भव और संचरण

सासारिक दृष्टि से एक जीवन का उद्भव वर्तमान जन्म के आरभ से माना जायगा, जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के उद्भव का प्रश्न ही नहीं है, क्योकि यह आत्मा अनादिकाल से इस ससार के जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण कर रही है तथा वर्तमान जीवन उसी की एक कड़ी है। दोनो दृष्टियो का समन्वय यो किया जा सकता है कि एक बालक जब गर्भावस्था मे आता है तो वह अपने साथ अपने पूर्वजन्म के सस्कार (कर्म बध) भी लाता है तो वर्तमान जन्म के सस्कारो को भी ग्रहण करता है जो उसे अपने निकट के वातावरण से प्राप्त होते है। फिर भी एक बालक और एक वयस्क की तुलना मे वह बालक अधिक निश्छल और निर्दोष दिखाई देता है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही माना जा सकता है कि यह बाह्य ससार जिसमे सभी जीते है और जिसको सभी देखते हैं, बहुत अधिक विषम परिस्थितियो मे चल रहा है। तभी तो ये विषम सस्कार एक बालक को वयस्क बनते-बनते इतना अधिक जकड़ लेते है कि तुलनात्मक दृष्टि से उसका जीवन अधिकाधिक विषम वनता चला जाता है।

आशय यह है कि ससार की वर्तमान परिस्थितिया दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विषम होती जा रही हैं जो एक बालक से उसकी जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता को छीन लेती हैं। कल्पना करे कि यदि एक सीमा तक संसार की इस विषमता को बढ़ने से रोक दे अथवा एक सीमा तक समतामय व्यवस्था की स्थापना कर दे तो क्या यह नही हो सकता कि एक बालक की जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता सामान्य रूप से अधिक समुन्नत न बन सके तो अधिक विकृत तो न बने। ससार के बाह्य वातावरण को इस सीमा तक तो समतामय बनाया जाय कि एक बालक को, एक

व्यक्ति को या एक आत्मा को अपने शुभ सस्कारो से विगड़ या गिर कर अशुभता से लिप्त हो जाने के लिये विवश तो न होना पड़े। जीवन के उद्भव और सचरण का दृष्टिकोण यही है कि वर्तमान जीवन के उद्भव से लेकर सचरण तक के बाह्य वातावरण को अधिकाधिक समतामय बनाने का सुप्रयास किया जाय जिससे सुप्रभावित होकर भव्य आत्माए सरलता एव सहजतापूर्वक ऊर्ध्वगामी बने तथा समतादर्शन की सर्वोच्चता को साध सके।

मनुष्य के जीवन का उद्भव उसकी गर्भावस्था से ही हो जाता है। गर्भावस्था मे भी बालक नये संस्कारो को अपनी माता की चेतना के माध्यम से ग्रहण करता है। महाभारत काल मे अभिमन्यु इसका ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है जिसने गर्भावस्था मे चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की विधि तो जान ली किन्तु उसको भेद कर बाहर निकल आने की विधि न सुन पाने से उससे अज्ञात रही, फलस्वरूप उसके जीवन मे जब चक्रव्यूह को भेदने का अवसर आया तब वह उसमे प्रवेश तो कर गया किन्तु वापस बाहर नही निकल सका। कहने का अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था मे भी बालक की चेतना बाह्यवातावरण से बहुत कुछ सस्कार ग्रहण करती है। फिर जन्म ले लेने के बाद बालक अपने आसपास के वातावरण से भी सीखता है और ज्यो-ज्यो उसकी आयु बढ़ती है, उसके सीखने का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि वालक को यदि शुभ सस्कारो से भरा-पूरा वातावरण दिया जाय तो उसका निर्माण श्रेष्ठ सस्कार युक्त जीवन के रूप मे किया जा सकता है। बाल-शिक्षा का इसी दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व भी माना जाता है कि एक कुम्हार गीली मिट्टी को चाहे तो दीवड़ मे बदल सकता है और चाहे तो मल-पात्र मे या कोमल टहनी को ऊपर उठाकर ऊपर बढ़ने की दिशा मे मोड़ सकते हैं तो नीचे झुकाकर भू लुठित कर सकते है। बालक को इस रूप मे गीली मिट्टी या कोमल टहनी मानकर उसके जीवन को सुरचनात्मक बनाने का प्रयास किया जाता है।

यह सुप्रयास इसी दिशा का परिचायक है कि जीवन का उद्भव उसके भावी सचरण की स्वस्थ प्रक्रिया मे ढाला जाय जिससे उस जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो तो वैसे स्वस्थ वातावरण मे पलने वाले सभी जीवनो का श्रेष्ठ निर्माण हो और फलस्वरूप एक समूह, एक वर्ग, एक समाज और परिणामत सकल विश्व का वातावरण स्वस्थ बने तथा उसमे जन्मने और पलने वाले बालको के जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो। कम से कम जीवन के उद्भव की श्रेष्ठता उसके भावी सचरण मे बनी रहे—इतना प्रयास तो सफल वने ही। जीवन निर्माण की ऐसी श्रेष्ठता ही मन, वाणी और कर्म मे समाहित होकर समता की आदर्शता तक प्रतिफलित हो सकती है।

इस विश्लेषण से दो परस्पर विरोधी तथ्य उभर कर सामने आते हैं। एक तो यह कि वर्तमान समय मे विश्व मे विविध प्रकार की विषमताओं ने अति ही जटिल स्वरूप ले रखा है तो दूसरे, उसके बावजूद सामान्य जीवन मे यह शुभाकाक्षा और किन्ही अशो मे यह शुभ चेष्टा विद्यमान है कि नई पीढ़ी के बालको मे श्रेष्ठ सस्कारो का निर्माण हो—उन्हे शुभ, सुभग एव समुन्नतकारी शिक्षा मिले। एक निराशाजनक स्थिति है तो दूसरी आशापूर्ण। अत यह आवश्यक है कि वर्तमान विश्व मे फैली और फैलती जा रही विषमताओं तथा उनके कारणो का आकलन किया जाय और यह निर्णय लिया जाय कि क्या इस वातावरण मे सामान्य रूप से ही सही, किन्तु शुभतामय परिवर्तन लाया जा सकता है ? क्या परिवर्तन की ऐसी सभावना मे, नई पीढ़ी के सस्कारो को अधिक शुभता के ढाचे मे ढालकर समता के वातावरण को अधिक पुष्ट बनाया जा सकता है ?

जीवन विकास का गतिक्रम

इस ज्ञात संसार के ज्ञात समय के इतिहास को यदि देखा जाय तो उससे मानव जीवन के वर्तमान विकास के गतिक्रम की एक रूपरेखा समझ मे आती है। प्रारभ मे मनुष्य जीवन केवल प्रकृति की कृपा पर चलता रहा जब वन के वृक्षो से वह फल और निर्झर नदियो से जल प्राप्त करके अपना निर्वाह चलाया करता था। जीवन निर्वाह के लिये वह कोई पुरुषार्थ नही करता था। ऐसा ही उल्लेख युगलिया काल का भी आता है जब पुत्र और पुत्री का एक ही युगल जन्म लेता था जो बड़ा होकर प्रकृति पर ही निर्भर रहा करता था। इस युगलिया काल की परिसमाप्ति ऋषभदेव द्वारा धर्म-कर्म के प्रारभ के साथ हुई। उन्होने ही उस युग मे असि (रण कौशल), मसि (स्याही-महाजन व्यापार) तथा कसि (कृषि) के व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया। इसी अवस्था को आधुनिक इतिहासकारो ने आदिम काल कहा है जब प्रारम मे अग्नि का आविष्कार भी नहीं हुआ था। अग्नि के आविष्कार के बाद भोजन पकाने की विधि शुरू हुई। इस आदिमकाल मे जब प्रकृति द्वारा निर्वाह पूर्ति मे अल्पता आने लगी, तव मनुष्य ने खेती तथा पशु पालन का व्यवसाय आरभ किया। अव तक मनुष्य घूमन्तु बना हुआ था, लेकिन खेती ने उसे एक स्थान पर ठहरने के लिये विवश कर दिया। उसके बाद ही बस्तियो और ग्रामो का क्रम शुरू हुआ। नदियो के किनारे किनारे ग्रामो और नगरो का विकास होने लगा। इस विकास से दो प्रकार की समस्याए उत्पन्न हुई। एक तो सुरक्षा की समस्या तो दूसरी आवश्यक पदार्थो की पूर्ति की समस्या। सुरक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय जाति का निर्धारण हुआ कि वे अपने ग्राम, नगर या क्षेत्र की अपनी तलवार के बल पर रक्षा करे और समूह उनका जीवन निर्वाह। आवश्यक पदाथो की पूर्ति की दृष्टि से वैश्यजाति बनी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवश्यक पदार्थ पहुचा कर समुचित लाभ अर्जित करने लगी। यही क्षत्रिय जाति धीरे-धीरे अपनी तलवार ही के बल पर शासक जाति बन गई जिसने सामन्त प्रथा तथा राजतत्र को जन्म दिया। वैश्य जाति ने अपने व्यापार के क्षेत्र को बढ़ाते और क्षत्रिय जाति से रक्षा पाते हुए अपना वर्चस्व दूर दूर तक फैला दिया। चूकि प्रकृति की विविध शक्तियो से मनुष्य का साक्षात्कार होने लगा और तब तक प्रकृति की उसकी जानकारी पर्याप्त नहीं थी अत प्रत्येक शक्ति के अनुभव से उसकी पूजा और तदनुसार धार्मिक क्रियाकाडो का श्रीगणेश हुआ। इसकी जिम्मेदारी ब्राह्मण जाति ने ली। प्रारभ से कृषि आदि व्यवसाय करने वाली उत्पादक जाति उसकी ही पीठ पर बनी दूसरी जातियो से दवती गई और उसका कार्य इन तीनो प्रभावशाली जातियो की सेवा के रूप मे ढल गया जो शूद्र जाति कहलाने लगी। इस प्रकार जहा आदिमकाल मे मनुष्यो के बीच मे प्राकृतिक समानता थी, वह विभिन्न जातियो ने अपने अपने शक्ति सन्तुलन के आधार पर समाप्त कर दी। व्यवसायो के जातिगत वर्गीकरण के साथ इस रूप मे सबसे पहिले विषमता ने जन्म लिया।

पहिले मनुष्य का अपना कहलाने को कुछ नहीं था। वृक्ष सवके थे और नदी निर्झर भी सवके थे। स्वामित्व नाम की कोई स्थिति नही थी। उसको खेत का स्वामित्व आया, पदार्थों का स्वामित्व पैदा हुआ तो सम्पति और राज्य का स्वामित्व बना। इस प्रकार शुद्ध समता के वातावरण मे रहने वाले मनुष्य अपने-अपने स्वामित्व की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जातियो तथा वर्गों मे बट गये। फिर भी प्रारभ मे मानवीय मूल्यो की वहुलता थी, हृदय की सरलता और निर्मलता भी थी जिस के कारण वे एक दूसरे के सहायक और सपोपक रहे। किन्तु सत्ता और सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व ने मनुष्य के मन मे अधिकार और तृष्णा की आग लगा दी। अपने लिये अधिक से अधिक सचित करना तथा अपने व अपनो के लिये ही उसका व्यय करना—ऐसी सकुचितता पैदा होने लगी—बढ़ने लगी।

फलस्वरूप मनुष्य गलत दिशा का महत्त्वाकाक्षी बनने लगा। राज्य प्रसार और व्यवसाय प्रसार की होड़ लग गई कि कौन कितना अधिक उपार्जन करता है और कौन अपना अधिक से अधिक वर्चस्व और प्रभाव बनाता है। मनुष्य तब पदार्थी से स्वार्थी बनने लगा और स्वार्थ बढ़ता गया तो उसमे सामूहिक हित की भावना क्षीण होने लगी। उसकी इसी वृत्ति ने बड़े-बड़े राज्यो की और साम्राज्यो की रचना की जिसके साथ ही दमन और शोषण का दौर दौरा भी शुरू हुआ। सेवा करने वाली जाति का काम सेवा करना है—परिश्रम करना है। यह जरूरी नहीं रहा कि परिश्रम करने वालो को उसके परिश्रम का उचित मूल्य मिले ही। वे परिश्रम पूरा करे और प्रभावशाली वर्ग उसे उसके जीवन निर्वाह के लिये जितना दे दे, उससे वह सतोष कर ले। इस व्यवस्था के चलने से राजनीति और अर्थ के नये ही ढाचे खड़े हो गये। राज तत्र की स्थापना करके राजा सेवक रूप से ईश्वर रूप बन गया—ईश्वर का इस ससार का प्रतिनिधि। उसकी भिक्षा पर पलने वाले ब्राह्मण वर्ग ने राजा की शान मे चार चाद लगाने शुरू कर दिये। उधर व्यापारी वर्ग ने भी राजा की सेवा करते हुए अपना व्यापार ही नही बढ़ाया बल्कि अपने लाभाशो का भी विस्तार कर दिया। इस प्रकार राजनीति और अर्थ ने अपना गठजोड़ा जोड़ कर समाज मे एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग को जन्म दे दिया जो समूचे समाज का शासक और भाग्य नियन्ता बन गया।

यह शक्तिशाली वर्ग जरूर बना किन्तु इसी वर्ग मे व्यक्तिवादी होड़ भी जारी रही। वे व्यक्तिगत प्रभाव के लिए परस्पर सघर्षशील बन गये। इस कारण साम्राज्यवाद के विकास के साथ भीषण युद्धो का और युद्धास्त्रो का विकास भी होने लगा। धीरे-धीरे सभी देशो मे यह विकृति पनपने लगी तथा क्षेत्रवाद और समूहवाद से ऊपर राष्ट्रवाद भी एक आक्रामक शक्ति के रूप मे उभरने लगा। यहीं से भयकर युद्धो का प्रारभ हुआ। प्रथम विश्व युद्ध (सन् १६१४) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् १६३६) तो आज भी कई लोगो की स्मृति मे होगे। इन युद्धो के बाद यह परिस्थिति स्पष्ट होती जा रही है कि अर्थ का वर्चस्व प्रमुख है और वही राजनीति को चलाता है।

इस सारे विषम विकास के बीच मे भी मनुष्य के मन मे बसी हुई समता कभी टूटी नहीं। वह अपनी समता की रक्षा के लिये निरन्तर सावधान भी रहा है। एक ओर तो अर्थ तथा राजनीति की शक्तियो ने अपना अलग वर्ग खड़ा कर दिया और समूचे समाज पर शासक के रूप मे वे छा गई तो दूसरी ओर सामान्य जन अपने दमन और शोषण के विरूद्ध लड़ते भी रहे। समता की प्रबल आकाक्षा ने ही लोकतत्रीय पद्धति को जन्म दिया है कि जिसमे सभी नागरिक समानता के आधार पर जी सके। यह दूसरी बात है कि वह लोकतत्रीय पद्धति सत्ता और सम्पत्ति के प्रपची स्वामियो के सामने अपने शुद्ध रूप मे विकसित नहीं हो सकी है, लेकिन सघर्ष जारी है।

इस दौरान भौतिक विज्ञान का भी अकल्पनीय विकास हुआ। नये-नये अनुसधानो तथा आविष्कारो ने अपार शक्ति के स्रोत खोल दिये, जिन्हे सत्ता और सम्पत्ति के स्वामियो ने अपने अधिकार मे ले लिये। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विज्ञान की शक्ति उनकी शासन शक्ति बन गई। जिस वैज्ञानिक विकास को सामान्य जन का सहायक बनना चाहिये था, वह सभव नहीं हो पाया। उसी का कुफल है कि आज का यह विश्व भयानक अणु-शस्त्रो के अम्बार पर बैठा है जिसमे जब भी किसी घोर सत्ता-लिप्सु ने अगार रख दिया तो सारा विश्व धू धू करके जल उठेगा। उस आग मे सिर्फ सत्ता और सम्पत्ति की अन्यायी शक्तिया ही नही जलेगी किन्तु वह सब कुछ अमूल्य

सहायता की अपेक्षा है। आप कल्पना करे कि उसकी दो प्रकार से सहायता करते है। एक तो आपने उसको खड़ा किया, अपने कधे का सहारा दिया और उसे ले चले उसकी नही अपनी मर्जी या अपनी सुविधा से। समझिये कि आपने उसे शहर के बाहर एकान्त मे छोड़ दिया और चले आये बिना यह परवाह किये कि उसका वहा क्या होगा? दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आप उसे अस्पताल ले गये, उसकी टाग का ईलाज कराया और जब वह तन्दुरुस्त हो गया तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताने के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया। अब सोचिये कि कौनसा प्रकार सही है और किस प्रकार से जीवन का स्वस्थ विकास हो सकेगा?

बालक के साथ भी यही बात है। प्रारभिक सस्कारो और शिक्षा से उसमे यह शक्ति पैदा की जाय कि वह स्वतत्रतापूर्वक अपने जीवन विकास के सम्बन्ध मे स्वय निर्णय ले सके। उसे सहयोग दिया जाय लेकिन वास्तविक विकास भी उस पर थोपा नहीं जाय, क्योंकि थोपने पर मानसिकता अच्छाई तक के भी विरुद्ध हो जाती है। स्वय के विवेक से जो ग्रहण किया जाता है, वही स्थिरता से पकड़ा जाता है। अत· स्वयं सक्षम बन कर बालक जो निर्णय लेगा, वह अधिकाशत सही निर्णय होगा। यदि ऐसी निर्णायक शक्ति का विवेक प्रारभ मे ही सजग बना दिया जाता है तो निश्चय मानिये कि उस जीवन का विकास सदा स्वस्थ रीति से चलेगा।

सम्यक् निर्णायक शक्ति के स्थापित हो जाने के बाद समता का मार्ग खोज लेना और उस पर दृढ़ता पूर्वक गति करना कठिन नही रह जायगा, क्योंकि समता की आकांक्षा मानव मन के मूल मे रहती है और वह प्रत्येक परिस्थिति मे जब बाहर प्रकट होने का रास्ता ढूढ़ती है तो अनुकूल परिस्थितियो मे समता की आकाक्षा का फूलना और फलना अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता मानव-मन के मूल मे होती है, जो गुण मूल मे होता है, वह कभी न कभी अवसर एव अनुकूलताएं प्राप्त करके अकुरित होता ही है और तदनुसार पल्लवित एव पुष्पित भी होता है। अत समता का मूल्याकन करने की अपेक्षा हम समता को मूल्य ही माने तो वह एक अधिक सत्य मान्यता होगी। जो स्वय जीवन का एक मूल्य है तथा सर्वोच्च मूल्य है, वह मूल्यांकन का गुण नहीं, सर्वभावेन ग्रहण करने वाला मूल्य होता है।

अत· समता दृष्टि भी है और कृति भी। दृष्टि जागृत होती है तो कृति आचरण मे प्रकट होती है और कृति ज्यो-ज्यो परिपुष्ट होती है, त्यो त्यो दृष्टि निर्मल एव प्रखर बनती जाती है। अन्ततोगत्वा कृति अपनी समुन्नति के शिखर पर पहुच जाती है तो दृष्टि भी त्रिकाल एव त्रिलोक दर्शी बन जाती है। तब दृष्टि ही दृष्टि सर्व सत्य हो जाती है। वही समत्व योग का पूर्ण सत्य होता है।

समता की यह दृष्टि तीन चरणो मे पूर्णत्व प्राप्त करती है व्यक्ति के विकासशील जीवन मे। पहले वह सम्यक् दृष्टि होती है, फिर गुण दृष्टि बनकर ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के विभिन्न सोपानो पर आरूढ़ होती है और अन्त मे समता दृष्टि बनकर सर्वजग हितकारिणी हो जाती है। एक व्यक्ति की अन्तरात्मा मे समता का इस रूप मे उच्चतम विकास होता है तो उसका बाह्य जगत् मे भी यथाविध प्रसार होता है। भीतर की समुन्नत समता बाहर के वातावरण को भी समानता के रूप मे प्रभावित करती है और परिवार के घटक से लेकर, समाज, राष्ट्र एव सम्पूर्ण ससार मे पारस्परिक सहृदयता

एव सहयोग की परिपाटी को प्रारंभ करती है। समता मानव मन मे पल्लवित एवं पुष्पित बनकर समग्र ससार को अपनी सुवास से आनन्दित बनाती है।

समता के ये तीन चरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते है जो मानव-मन को आन्दोलित, आप्लावित और आह्लादित बनाते है। अपनी अविकास की अवस्था में मानव-मन अज्ञान के अधकार मे भटकता है, तव उसे अपने ही हिताहित की सज्ञा नही होती। अपने ही भौतिक सुख की वितृष्णा मे वह भ्रमित होता रहता है और उस सुख की भी उसे प्राप्ति कम और पीड़ा अधिक रहती है। उस समय उसे आवश्यकता होती है सम्यक् दृष्टि की याने कि उसकी मिथ्या दृष्टि मिटे और दृष्टि उन सत्यो को देखे जो उसके लिये अपने स्वस्थ आत्मविकास के प्रेरक होते है। उन सत्यो को देखना, समझना, परखना तथा अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि का वरण कहलाता है। असत्य को सत्य मानकर तथा दु.खदायक को सुखदायक मानकर चलने वाले मिथ्यात्व से मुक्त होना सबसे पहिले जरूरी है। मिथ्यात्व जब तक बना रहता है तब तक विपथगामिता चलती रहती है और जो विपथगामिता है, वही भटकाव है। इस भटकाव से सत्य-पथ मिले और सत्य-पथ पर चलने की धारणा बने—यही सम्यक् दृष्टि है।

यह सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञान की अवधारणा से उत्पन्न होती है। यो तो ज्ञान प्रत्येक आत्मा मे लक्षण रूप होता ही है क्योकि ज्ञान के सर्वथा अभाव मे जीवत्व ही नही रहता है, किन्तु वह ज्ञान अपने आत्म विकास के पथ को परख ले और अपने साध्य को भलीभाति पहिचान ले — तभी वह सम्यक्त्व मे ढलता है। यो मनुष्य ससार की विविध कलाओं का अनूठा ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करले, किन्तु जब तक वह अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियो के निग्रह तथा अपनी अनन्त इच्छाओं के निरोध का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को अहिसक, सत्यमय एव सुस्थिर नही बना पाता है, तब तक उसका अन्य कलाओं सम्बन्धी सारा ज्ञान और विज्ञान अपूर्ण ही कहलायगा। इसका स्पष्ट कारण है। जो स्वय अपने जीवन को सर्वहितकारी बनाने की कला सीख नहीं पाता, वह दूसरा कितना ही क्यो न सीख जाय—जीवन जीने की कला नही सीख पाएगा। जीवन जीने की कला को दो शब्दो मे परिभाषित करे कि जीओ और जीने दो। स्वय इस तरह जीओ कि दूसरे भी सहजतापूर्वक जी सके। यह दीखने मे जितनी छोटी बात है, आचरण करने मे उतनी ही कठिन और महत्त्व की बात है।

जीवन जीने की सच्ची कला का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि का निर्माता बनता है। व्यक्ति अपने जीवन मे अकेला नही रहता, वह सदा ही समूह या समाज मे रहता है, जहा उसका अपने ही साथी मनुष्यो से तो अन्य सभी तरह के छोटे बड़े प्राणियो से हर समय सम्पर्क होता रहता है। उन सबके बीच मे सबको सुख देते हुए और सुख लेते हुए वह कैसे जी सकता है—यही इसलिये कि प्रकाश तो है लेकिन वह उतने मोटे पर्दों से ढका हुआ है कि उसकी झलक भी नही दिखाई देती। ये पर्दे अपनी ही अकर्मण्यता के होते हैं जिन्हे कर्मों के पर्दे कहते है। कर्म सिद्धान्त के कर्म कोई अन्य नही, अपने ही किये हुए कर्म होते है। कल्पना करे कि कोई जान से या अनजान से अपनी ही आख मे कीला चुभो ले तो आख जरूर फूट जायगी, दृष्टिहीन हो जायगी। तो यह अपना कर्म हुआ कि अपने हाथो अपनी आख फोड़ली। अब दृष्टि वापस तभी प्राप्त हो सकती है जव उसकी योग्य चिकित्सा कराई जाय तथा वह चिकित्सा भी अपना श्रम और समय लेगी ही। इसके बावजूद भी

दृष्टिहीनता का दु ख लम्बा भी हो सकता है। आख मे यह कीला चुभोते हुए तो आदमी को उसके कुफल का भान रहता है लेकिन अपने सुख के लिये दूसरो को दु ख देते हुए—तड़पाते और कलपाते हुए आदमी को—सभी देखते है—अपनी ताकत के गरूर मे जरा भी भान नहीं रहता। ऐसा कुकृत्य अपना कुफल तो देगा ही जल्दी या देर से। ऐसे कुकृत्य ही कर्म बध रूप होते हैं और उनका कुफल मिलना कर्मों का उदय मे आना कहा जाता है। कर्म बुरे भी होते है तो अच्छे भी। अच्छो का फल अच्छा मिलेगा। यही पाप और पुण्य है। दूसरो को दु ख दोगे तो दु ख मिलेगा और सुख दोगे तो सुख मिलेगा इसलिये अपने आचरण को सुधारो और सन्तुलित बनाओ कि कुकृत्य कम से कम हो और सुकृत्य अधिक से अधिक। तब बुरे कर्म कम बधेगे और अच्छे कर्म अधिक—तदनुसार बुरा फल कम मिलेगा और अच्छा फल अधिक। अच्छा फल यह होगा कि आत्मिक स्वरूप में विकास हो, अनावृत्तता आवे तथा आचरण की सुघड़ता पैदा हो। आचरण धीरे-धीरे इतना सुघड़ और स्वस्थ होता जायगा कि नया कर्मबध नही होगा और पुराना झड़ता जायगा। यही गुण-दृष्टि के विकास का क्रम होगा।

गुण दृष्टि के विकास का प्रारभ होगा श्रेष्ठ आचरण के शुभारभ से कि जीवन मे नियम का अनुपालन शुरू किया जाय। नियम, व्रत या प्रत्याख्यान—एक ही बात है। ये व्रत स्वय से भी सम्बन्धित होते है तो उनका हितकारी प्रभाव दूसरो पर भी पड़ता है। व्रत को दूसरे शब्दो मे त्याग भी कह सकते है। अपने पास जो भौतिक सुख सामग्री है, उस पर से अपनी आसक्ति कम करते जावे—उसे छोड़ते जावे। यह पदार्थों का व्यक्तिगत त्याग उनके समाज मे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया का रूप भी ले लेता है। सविभाग तब आचरण का अभिन्न अग हो जाता है। त्याग सामान्य से आशिक होता है तब श्रावकत्व का व्रत होता है और जब वह त्याग सर्वथा पूर्ण हो जाता है तब साधुत्व का महाव्रत हो जाता है। यह साधुत्व की निसरणी ही अन्तिम साध्य तक पहुचाती है। साधु 'जीओ और जीने दो' याने कि जीने की कला की जीवन्त मिसाल होता है। इसी अवस्था मे गुण दृष्टि परिपक्व होती है—गुणस्थानो के उच्चतर सोपानो पर समुन्नत बनती हुई।

जीवन मे श्रेष्ठ आचरण का अवरोधक माना गया है विषय और कषाय को। विषय कहते है इन्द्रियो के सुख को, इच्छाओं की लालसा को और सत्ता व सम्पत्ति की लिप्सा को। विषय ही राग द्वेष को जन्म देते है। जो अपने को अच्छा लगे—मनोज्ञ हो—उससे राग होता है और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष। राग द्वेष की प्रतिक्रियाए कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जन्म देती है—राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान मुख्यत फूटता है। विषय और कषाय के सम्मिलित कुप्रभाव से सम्पूर्ण जीवन प्रक्रिया मे प्रमाद फैलता है और यही प्रमाद श्रेष्ठ आचरण को पनपने नही देता। गुण दृष्टि के विकास क्रम मे इन्ही विकारो को जड़ से उखाड़ना होता है और आचरण का प्रबल पुरुषार्थ नियम, सयम एव तप के रूप मे करना होता है। तभी ये सारे जीवन के विकार नष्ट होते है। जीवन तब निर्मल होता है और वही निर्मल जीवन दूसरो के लिये आदर्श बन जाता है।

यही गुण दृष्टि जब अपनी परिपूर्णता के चरम विन्दु तक पहुच जाती है, तब वही समता दृष्टि बन जाती है—सबको समान दृष्टि से देखने वाली और सबको सत्य की कसौटी पर परखने वाली। समता दृष्टि का वह चरमादर्श रूप होता है। इसका यह अर्थ नही कि समता जीवन मे इससे

पहले आती ही नहीं है। समता तो शुरू हो जाती है सम्यक् दृष्टि के आगमन के साथ ही, जो तदनन्तर दृष्टि और कृति मे समुन्नत बनती रहती है। अपनी पूर्णता की प्रक्रिया मे समता अपने साधक के आचरण को सयमित और सन्तुलित बनाती है तो उसके अन्दर-बाहर को सुधारती है। साधक का ऐसा सशोधित जीवन बाहर की दुनिया मे भी नये नये सुधारो को प्रेरणा देता है। इस प्रकार समता का सर्वागीण स्वरूप क्रियान्विति मे अभिवृद्ध होता रहता है।

विषमता का मूल व विस्तार

विषमता भी दृष्टि और कृति में होती है तथा उसका मूल भी विभाव के रूप में मानव-मन मे ही उभरता है। मन का यह वैभाविक मूल ही मन के भीतर, मन के बाहर, अपने आसपास के वातावरण मे तथा समाज, राष्ट्र व विश्व मे विस्तार पा लेता है।

एक प्रश्न उठता है कि समता स्वाभाविक है अथवा विषमता ? स्वभाव उसे कहते है जो अपने भाव मे—अपने विचार मे अच्छा लगे। इस अच्छेपन की कसौटी कहीं बाहर नही होती और न ही इस अच्छेपन पर फैसला कोई बाहर वाला दे सकता है। यह आत्मानुभव का विषय है। व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव की परख करता है। किन्तु यहा एक समस्या भी पैदा होती है। क्या व्यक्ति सदा ही सही परख कर सकता है या कर लेता है ? बाहर के क्रिया कलापो से ऐसा नहीं दिखाई देता। कइयो को वास्तव मे वैसा आचरण करते हुए देखते है जो उनका स्वभाव नही होना चाहिये फिर भी वे उसे अपना स्वभाव मान कर वैसा आचरण करते है। यह क्या है ? यह भ्रमपूर्ण दशा होती है जिसमे जो स्वभाव नही होता, उसे स्वभाव मान लिया जाता है। इसे ही विभाव कहते है—अपने भाव से विपरीत भाव।

प्रश्न उठता है कि इस स्वभाव—विभाव को जाचेगा कौन और कौन विभाव को मिटाने की प्रेरणा देगा ? यह सब अपना खुद का मन अपनी आत्मा ही करेगी। यह सही है कि व्यक्ति विपरीत आचरण करता है—विषमता से खुल कर खेलता है और फिर भी चेतता नहीं है, किन्तु यह उसका विभाव ही होता है। एक क्रूर से क्रूर व्यक्ति को भी उसके दिल की बात पूछो तो वह कहेगा कि किसी की दयापूर्ण सहायता का वह छोटा सा काम भी कर लेता है तो उसे मन मे खुशी होती है। लेकिन अपने स्वार्थ के लिये या अन्य किसी परिस्थिति के वशीभूत होकर वह क्रूर और हिसक कार्य करता है। इसमे भी वह अपने मन को मारता है। क्रूर कर्म के पहिले या बीच-बीच मे उसके अन्तर्मन से यह आवाज जरूर उठती है कि वह ऐसा न करे, किन्तु उस आवाज को वह अनसुनी कर देता है और धीरे-धीरे उसकी वह आत्मा की आवाज उपेक्षित होकर दब जाती है तब यो समझिये कि उसका स्वभाव भी दब जाता है। स्वभाव नष्ट नही होता, दबता ही है, इस कारण दबे हुए स्वभाव को फिर से प्रकट करने के लिये चहुमुखी प्रयासो की आवश्यकता होती है। व्यक्ति मे भी जागृति लाई जाय और सामूहिक वातावरण मे भी ऐसा सुधार कि जहां विभाव की अवमानना हो और स्वभाव को प्रोत्साहन मिले। मुख्यत पहिचान और विभाव परिवर्तन की प्रेरणा अपने ही भीतर से उठनी चाहिये, क्योंकि भीतर से उठी हुई प्रेरणा ही कर्मठतापूर्वक क्रियाशील होती है।

विषमता और विभाव एक दूसरे को फैलाने वाले होते हैं। व्यक्ति जब अपने विचार, वचन तथा कार्य मे स्वभाव से फिसलता है, तब उसके मन मे विभाव अपनी जड़े जमाता है और जिस रूप मे विभाव फैलता है, उतनी ही विषमता उग्र रूप धारण करती है। मन से उपजी हुई विषमता

न सिर्फ वृत्तियो को विषम बनाती है, बल्कि उस व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियो मे वह विष घोल देती है और प्रवृत्तियो का वह विष ही सम्पर्क से परिवार, समाज और राष्ट्र मे फैल कर जन-जन को विषमता से रगने लगता है। और ज्यो-ज्यो विषमता फैलती है, उन्मत्तता मे, मूर्खता मे या कि विवशता मे स्वभाव की समता और समरसता कट्ठ बनती रहती है—विभाव का आतक बढ़ता जाता है।

इसलिये विषमता के विस्तार को रोकने के लिये तथा उसका मूलोच्छेद करने के लिये सवसे पहिले व्यक्ति को अपने विभाव को ही रोकना होगा—विभाव का ही मूलोच्छेद करना होगा। किन्तु इस दिशा मे व्यक्ति का पुरुषार्थ तभी जगेगा जब वह विषमता और विभाव के सम्बन्धगत कारणो को भलीभाति समझले।

इस ससार मे जन्म लेने के बाद सवसे पहिले जो समस्या मनुष्य के सामने खड़ी होती है, वह होती है जीवन निर्वाह की समस्या। इस समस्या का समाधान अनिवार्य होता है—इस से मुह नही मोड़ा जा सकता। जीवन निर्वाह के साधन और पदार्थ सामान्यतया विपुल नही होते या कि सुलभ भी नही होते कि सभी लोगो को वे अनायास प्राप्त हो जावे। जीवन निर्वाह के लिये अति आवश्यक पदार्थ भी आयास प्रयास के उपरान्त न मिले तव भी समस्या खड़ी होती है और जिनको वे पदार्थ विपुलता से मिल जाये तथा वे उनको सचित करके अपने अधिकार मे दबाये रखे—तब भी समस्या खड़ी होती है। समस्या तव नहीं रहती जब समान हार्दिकता से सभी प्राप्त पदार्थों का सभी लोगो मे सविभाग होता रहे। तब यदि पदार्थों की अल्पता भी रहती है तो भी समस्या नहीं आयगी क्योकि सविभाग और समान न्याय से सभी मन से सतुष्ट रहेगे। पदार्थ अल्प हो और असविभाग भी रहे तब समस्या जटिलतर हो जाती है।

समस्या की जटिलता इस तरह फूटती है कि जब कोई हमदर्दी छोड़कर निर्दयी बनता है, साथियो के आसुओं को पीकर स्वार्थान्ध हो जाता है तो वह अपने ही लिये येन केन प्रकारेण आवश्यक पदार्थों को जुटाने की कुचेष्टा करता है। कुचेष्टा इसलिये कहा जाय कि वह उपार्जन उसका नीतिमय नही होता। अनीति और अन्याय से ही वह अधिक पदार्थ लूटता है और उनका सचय भी करता है। ऐसा सचय पहले से पदार्थों की अल्पता को अधिक भयावह और कष्टदायक बना देता है। जिन्हे आवश्यक पदार्थ नहीं मिलते, उनकी सहन शक्ति जबाब दे देती है, उनका धैर्य छूट जाता है। विभाव की बाढ़ के सामने वे भी अपना स्वभाव भूल जाते है। इस प्रकार आचरण मे आरभ होती है हिसा और हिसा ही समस्या की जटिलता की जड़ होती है। हिसा ही रक्षक सस्कारो को भक्षक के रूप मे विकृत वनाने लगती है। हिसा की तरफ झुक जाने से व्यक्ति अपने स्वभाव की और अपनी आत्मा की आवाज की निरन्तर उपेक्षा करने लग जाता है क्योकि हिसा उसके हृदय के कोमल भावो को कुचल डालती है।

आचरण मे हिंसा के फूट पड़ने के वाद जीवन का सारा सतुलन टूट जाता है। फिर हर रास्ता विषमता का रास्ता वन जाता है। यह विस्तृत विषमता का वातावरण कैसा होता है —उसका प्रत्यक्ष अनुभव आज शायद सभी को हो रहा होगा। आज पारस्परिक सवधो की मर्यादाए टूट रही हैं, पारम्परिक शिष्टाचार मिट रहा है और अपने स्वार्थों को पूरे करने के लिये कोई भी बेरोकटोक आक्रामक और हिसक वन जाता है। यही कारण है कि अपराध वृत्ति, दगे और सघर्ष सामान्य वात

हो गये है। हिसा का द्वार जिस व्यक्ति के अथवा समाज या राष्ट्र के जीवन मे खुल जाता है फिर उसकी सस्कृति और सभ्यता भी नष्ट होने लगती है। हिसा सभी प्रकार के दुर्गुणो तथा पापमय आचरणो की जननी होती है। यह हिसा रूई मे पड़ी चिनगारी से लगी आग की तरह तेज गति से फैलती ही जाती है, तब उस पर काबू पाना भी एक अति कठिन कार्य हो जाता है।

हिसा का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी का वध कर देना ही हिसा नहीं, अपितु दस प्राणो मे से किसी भी प्राण का हनन करना या उसको कष्ट पहुचाना भी हिसा है। किसी को आतकित करना, डराना या उसे अपने अधीन बनाना भी हिसा है। ये सब हिसा के रूप जब फैलते हैं तो मानवीय गुणो का ह्रास होता है और जीवन-मूल्य नष्ट होते है। इसे एक द्रष्टान्त से समझे। एक परिवार मे सभी खून के सम्बन्ध में बधे होते है अत स्पष्ट है कि हृदय से अपेक्षित या अधिक निकट होते है। सोचे कि एक परिवार मे पाच छ सदस्य है। उनमे वृद्ध भी है तो बच्चे भी हैं। यद्यपि धनार्जन का श्रमपूर्ण कार्य युवक सदस्य करते हैं, तब भी अधिक व्यय वृद्धो और बच्चो पर किया जाता है क्योकि उन्हे पोषक तत्त्वो की अधिक आवश्यकता होती है। कमाने वाले सदस्य ऐसा करके अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ मानते है और यह नही सोचते कि कमाते वे है और खर्च उन सदस्यो पर अधिक होता है जो कमाते नही है। इस प्रकार की पारिवारिक मर्यादाए स्वस्थ रूप से ढल जाती है और चलती रहती है। यह पारिवारिक कर्त्तव्य और शिष्टाचार बन जाता है। अब सोचे कि उस परिवार मे अर्जन मे कमी आ जाय और पदार्थों की अल्पता होने लगे तब भी पारिवारिक मर्यादाओं के रहते प्रचलित व्यवहार मे परिवर्तन नही आवेगा। सभी एक दूसरे के लिये कष्ट भोग को तैयार रहेगे और स्नेह यथावत् रहेगा। इस अल्पता के कष्ट यदि बढने लगे और कोई युवा सदस्य उत्तेजना पकड़ले या फिर क्रूरता अपनाले तो निश्चय मानिये कि दिलो मे दरार पड़ जायगी और एक सुखी परिवार दु खपूर्ण मानसिकता से घिर जायगा। हिसा का द्वार किसी भी रूप मे खुला नही कि दु खो की बाढ़ आई नही। कारण, विभावगत विषमता सबके मन-मानस मे कटुता भर देगी और देखते देखते परिवार की एकता नष्ट हो जायगी। ऐसा ही सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी घटित होता है।

इस रूप मे विषमता का विस्तार हिसा के द्वार से आरभ होता है और गुण-मूल्य की क्षति के साथ बेरोकटोक फैलता रहता है। सोचना है कि विषमता के इस विस्तार का मूल कहा है? एक शब्द मे कहे कि यह मूल है जड़ सम्पर्क से जड़ के प्रति सघन बन जाने वाला चेतन का व्यामोह। विषमता इसी से उपजती है और आध्यात्मिक दृष्टि से कर्मबधन तथा ससार परिभ्रमण भी इसी से होता है। जब तक इस सत्य को हृदयंगम नही करेगे कि आत्मा चेतना गुण वाली होकर ससार के सभी जड़ पदार्थों से पृथक् है और जड़चेतन सयोग तथा उसके प्रति जटिल व्यामोह इस पृथकत्व को स्पष्ट नहीं होने देता है, तब तक यह व्यामोह कम नहीं होगा और वैसी दशा मे विषमता भी कम नहीं होगी।

अधिक जड़ग्रस्तता · अधिक विषमता

संसार मे जो कुछ इन बाहर की आखो से दिखाई देता है, यह सब जड़तत्त्वो की रचना है। आत्म तत्त्व चर्म चक्षुओं का विषय नही होता, अनुभूति का विषय होता है और यह अनुभूति अभ्यास से मिलती है। अत सम्यक् ज्ञान के अभाव मे इन जड़ तत्त्वो के प्रति ही झुकाव पैदा होता

है और इन्हीं की प्राप्ति मे सुख की कल्पनाए की जाती है। अपने शरीर और अपनी वस्तुओं के प्रति पनपने वाला यह झुकाव ही प्रगाढ़ बनकर ममत्व का रूप ले लेता है।

ममत्व की इस भूमिका पर ही विषमता की विष बेल उगती है। ममत्व का अर्थ है मेरापना। यह मेरा है और यह तेरा है—इसी बिंदु से विषमता शुरू होती है। मेरा मै रखता हू और तेरा तू रख की वृत्ति तब तक ही चलती है, जब तक मानवीय मूल्यो का सद्भाव रहता है। यह सद्भाव जब घटने लगता है और जो घटता है ममत्व की मूर्छा के बढ़ते रहने के साथ-तब मेरा भी मैं रखता हू और तेरा भी मै रखूगा—ऐसा क्रूर अनीतिमय स्वार्थ जागता है। इसके साथ ही हिसा का द्वार खुल जाता है।

ममत्व पैदा होता है आसक्ति से और आसक्ति मूर्छारूप होती है जिससे सदासद् की सज्ञा क्षीण हो जाती है। शरीर मेरा है और इन्द्रियो का सुख मेरा है—इस मान्यता के साथ कामनाएँ जागती है कि मुझे शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के ऊचे से ऊचे सुविधापूर्ण साधन मिलें ताकि मै अपनी इन्द्रियो को तृप्त करू। यह तृप्ति भी बड़ी अनोखी होती है जो मिलती कभी नही और साधनो की प्राप्ति के साथ ज्यादा से ज्यादा भड़कती रहती है। जिन साधनो की कामना की जाती है, उनको पाने मे आसक्ति की बहुलता के कारण विचार और व्यवहार की उचितता अथवा नैतिकता भुला दी जाती है। फिर ज्यो-ज्यो इच्छित साधनो की प्राप्ति होती जाती है, त्यो-त्यो प्राप्त का सुख भोगने की अपेक्षा अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता अधिक सताती है। तथ्यात्मक स्थिति यह होती है कि तृप्ति कभी होती नही, सुख कभी मिलता नही। जो सुख महसूस करते है, वह सुख भी वैसा ही होता है जैसा सुख एक कुत्ता सूखी हड्डी चबाते रहकर अपने ही खून का स्वाद लेता है और सुख महसूस करता है। जड़ पदार्थों का सुख भी सूखी हड्डी जैसा होता है जो आत्म गुणो का नाश करके इन्द्रियो के सुखाभास मे जीवन को भ्रमित बनाता है और विषमता के जाल मे फसाता है।

इसी कारण परिग्रह—सत्ता और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति भावना रूप मूर्छा को कहा है क्योंकि यही आसक्ति-भावना परिग्रह धारी या परिग्रह हीन को भी घोर परिग्रहवादी बनाती है। परिग्रहवाद है वही है जड़ग्रस्तता और जीवन मे जितनी अधिक जड़ग्रस्तता सघन बनती है, उतनी ही विषमता भी जटिल बनती है। इस विषमता से व्यक्ति के जीवन मे शक्तिस्रोतो का सन्तुलन बिगड़ जाता है तो व्यक्ति का असंयमित एव असन्तुलित जीवन समाज और राष्ट्र के बृहद् शक्ति स्रोतों को भी विकृति की राह पर धकेलता है। जब व्यक्ति की विषमताग्रस्त अवस्था मे उस की मानवीय गुणवत्ता, सौजन्यता तथा हार्दिकता कुठाग्रस्त बन जाती है तो वही कुठा व्यापक बन कर राष्ट्रीय चेतना पर प्रहार करती है। जड़ग्रस्तता के फैलाव मे भोग स्वार्थ और मूर्छा का फैलाव होता है। यह एक ऐसे अँधेपन का फैलाव होता है जिसमे मनुष्य निजी स्वार्थों का सकुचित घेरा बनाकर उसी मे अपने को कैद कर लेता है। वह परहित को भूल जाता है, बल्कि अपने निकटस्थो के सुख दु ख से भी द्रवित नहीं होता और अपनी ममत्व-मूर्छा मे ही उन्मत्त बन जाता है। तव वह आध्यात्मिक ज्ञान से तो शून्य होता ही है, किन्तु लौकिक व्यवहार से भी शून्य होता जाता है। यही उसके सर्वमुखी पतन का मार्ग होता है।

जड़ग्रस्तताजन्य विषमता छूत के रोग के समान होती है जो अधिक सत्ता और सम्पति येन केन प्रकारेण अर्जित कर लेने का प्रलोभन विखेरती हुई अधिक लोगो को तीव्र गति से जड़ग्रस्त

बनाती है, इस कारण इसकी रोक व निवारण के उपाय भी उसी स्तर से किये जाने चाहिये जो किसी संक्रामक रोग के लिये किये जाते है। यह कार्य प्रबुद्ध जनो, धर्मोपदेशको आदि का होता है जो जड़ग्रस्तता की हानियो को भली प्रकार समझा कर सामान्य रूप से ऐसी विषमता के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास करते है। इसी से त्याग का रूझान भी बढ़ता है और आत्मोन्मुखी वृत्ति विकसित होती है।

समता की दृष्टियां

विषमता एवं हिंसा से आवृत्त वर्तमान जटिल वातावरण में आशा की किरणे दिखाई देती है जो दो प्रकार से मन मानस को हताश नही होने देती है। एक तो यह बुनियादी तथ्य है कि मनुष्य का स्वभाव समतामय है और विभावगत विषमता के कितने ही गहरे कीचड़ मे वह चाहे फंस जाय, उसका स्वभाव समय समय पर समता की बलवती प्रेरणा के झटके लगाता ही रहता है। अव्यक्त तरीके से तो यह स्वभाव मनुष्य को उसकी प्रत्येक विकृत वृत्ति या प्रवृत्ति के कार्यरत होने से आरम्भ मे ही चेतावनी देता रहता है, जिसे अनसुनी करते करते भी कभी यह चेतावनी असर कर ही देती है।

इसका पुष्ट कारण यह है कि कोई कितना ही पतन के गढ्ढे मे चला जाय, मनुष्य का मन अपनी चचलता के कारण क्रिया और प्रतिक्रिया के चक्र मे घूमना नही छोड़ता। जड़तापूर्ण विषमता के प्रति जागी हुई मन की रागात्मक क्रिया भी जब एक सीमा तक कार्यरत हो जाती है तो उसी से उसकी प्रतिक्रिया भी फूटती है। उस प्रतिक्रिया के क्षणो मे वह मन अगर सम्यक् बोध पा जाय तो प्रभावशाली परिवर्तन भी सभव हो जाता है।

दूसरी प्रकार की आशा की किरण यह होती है कि सामूहिक और सामाजिक रूप से विषम परिस्थितिया उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी कई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसे होते है जो उस पतनावस्था के विरुद्ध विद्रोह और सघर्ष करते हैं तथा अपनी सदाशयता से नीति एव समतामय परिवर्तन लाने का प्रयास करते है। प्रयत्नो की यह निरन्तरता एक ओर विषमताओं को अति सघन नही बनने देती तो दूसरी ओर पतनोन्मुख व्यक्तियो के हृदयस्थ भावो मे शुभ परिवर्तन का आन्दोलन जगाती रहती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने ही मन की बदलती विचारणाओं के कारण और समूह या समाज प्रबुद्ध व्यक्तियो द्वारा बदली जाने वाली धारणाओं के कारण समता के साध्य से पूर्णत विस्मृत कभी नहीं होता है। इस कारण हताशा कभी भी उत्साही मनो को शिथिल न बनावे—यह शिक्षा लेनी आवश्यक है। विषमता का जितना गहरा घटाटोप अंधकार है, उसमे समता की एक तीली भी कोई जला सके तो वह भी यत्किंचित् प्रकाश की रेखा अवश्य अकित करेगी। एक व्यक्ति के कई प्रयास या निरन्तर प्रयास जब कई व्यक्तियो के निरन्तर प्रयासो मे परिपुष्ट बनते है और जब आर्थिक एव राजनीतिक प्रयास भी समाज मे सामूहिक परिवर्तन की दृष्टि से किये जाते हैं तो कोई कारण नही कि विषमताओं का चलन बहुत हद तक न घटे और समता को प्रोत्साहन देने वाला सामान्य धरातल भी न बने। ऐसे शुभ कार्य मे त्याग और बलिदान की अपेक्षा तो रहेगी ही। रेगिस्तान की तपती हुई रेत मे पड़ने वाली और तुरन्त विलुप्त हो जाने वाली वर्षा की पहली बूदो की तरह विषमताओं को मिटाने के भगीरथ कार्य मे भी समर्पित भावना अनिवार्य मानी जानी चाहिये। आज की स्थिति भी इस दृष्टि से असाध्य किसी हालत मे नहीं है।

ममता (ममत्व) को घटाने वाले जितने सार्थक प्रयास किये जायेगे व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो स्तरो पर, उतनी ही समता की सृष्टि सर्जित होती हुई चली जायगी। समता के ऐसे चहुमुखी विकास के लिये समता के मूल्यो को आत्मसात् कर लेने के साथ समता की दृष्टियो का भी यथार्थ ज्ञान कर लिया जाना चाहिये। प्रधानत समता की दो दृष्टिया मानी जाती है। पहली आभ्यन्तर दृष्टि तो दूसरी बाह्य दृष्टि। ये दोनो दृष्टिया एकदम पृथक्-पृथक् नही होती है, बल्कि दोनो दृष्टिया अधिकाशत एक दूसरे की पूरक भी होती रहती है। कारण, दोनो प्रकार की दृष्टियो का धारक दृष्टा व्यक्तिश एक ही होता है, अत दोनो दृष्टियो का सामजस्यपूर्ण सहयोग भी समता की पृष्ठभूमि को सुदृढ़ बनाता है।

इस तथ्य मे कोई विवाद नही कि किसी भी सामूहिक सुकृति अथवा दुष्कृति का आरभ व्यक्ति रूपी घटक से ही होता है तथा व्यक्ति का वह सुकृति अथवा दुष्कृति रूपी कार्य बाहर क्रियान्वित होने से पहिले उसके हृदय मे विचार रूप मे जन्म लेता है। इस रूप मे मनुष्य के ही हृत्तल से विषमता भी फूटती हैं तो उसी हृत्तल पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे विद्यमान समता भी वहीं से पल्लवित एव पुष्पित होती है। किसी भी बाह्य कार्य का कारण सदैव आभ्यन्तर के अनुभाव मे पैदा होता है। अत इस दृष्टि से दोनो दृष्टियो मे आभ्यन्तर दृष्टि का महत्त्व ही अधिकतर माना जायगा। इस महत्त्व का सही अकन यही हो सकता है कि समता को व्यापक रूप से प्रसारित करने का कोई भी अभियान मानव हृदय से आरभ किया जाना चाहिये, जिसका सम्यक् परिवर्तन ही सम्पूर्ण विषम परिस्थितियो मे या यो कहे कि जड़ग्रस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे शुभ परिवर्तन का वीजारोपण कर सकता है।

समता स्वभावगत होने से सत्य होती है और विभावरूप विषमता असत्य। इस सत्य का उद्घाटन उसी आन्तरिकता मे किया जा सकता है और किया जाना चाहिये जहा सत्य आवृत्त और आछन्न वनकर दवा हुआ पड़ा है। इस का अर्थ है कि उस आन्तरिकता मे आत्मीय अनुभूति का सचार किया जाय। आत्मीय अनुभूति यह कि ससार की सभी आत्माए अपने मूल स्वरूप से एक है तथा ससार परिभ्रमण मे कही न कही किसी न किसी रूप मे सम्बन्धित रहने के कारण प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मीय भी है। आत्मीयता की इस अनुभूति से ममता घटेगी कि सब कुछ मेरे ही लिये क्यो ? सब पदार्थ सबके लिये है और जब सभी परस्पर आत्मीयता के सूत्र से वधे हुए है तो उन पदार्थों का उपभोग भी सबके लिये सुलभ क्यो न हो ? ममता घटेगी तो समता वढ़ेगी कि सव पदार्थ ही क्यो, मै स्वय भी सबका हित क्यो नहीं साधू ? सबका हित साधने का सकल्प ही स्व-कल्याण और सर्वस्व त्याग की भूमिका बनाता है। एक हृदय के समत्व स्वभाव को भी यदि उभार कर क्रियाशील वना दिया जाता है तो वह एक बुनियादी काम होगा। एक की आभ्यन्तर दृष्टि मे आया हुआ शुभ परिवर्तन न केवल उस व्यक्ति के वचन और व्यवहार को समता का जामा पहिनाएगा, बल्कि उस व्यक्ति की आभ्यन्तर दृष्टि मे आया वह परिवर्तन उसकी वाह्य दृष्टि मे उतरेगा तथा वह अन्यान्य कई व्यक्तियो को दोनो दृष्टियो से प्रभावित बनाएगा। वाह्य दृष्टि मे सुप्रकट समता का स्वरूप उन अनुभव लेने वाले व्यक्तियो की आभ्यन्तर दृष्टि मे उतरेगा और उनकी आन्तरिकता मे भी समता के समर्थन मे एक सफल आन्दोलन चलेगा। आभ्यन्तर और बाह्य दृष्टियो की प्रक्रिया के चक्र मे प्रवाहित होता हुआ समता का अनुभाव जब व्यक्ति और समाज की कृति मे उतरेगा, तब जो नवनिर्माण होगा, उसी की नींव पर समतावादी समाज की रूपरेखा को साकार रूप दिया जा सकेगा।

समता की आभ्यन्तर दृष्टि को उभारने मे आध्यात्मिकता का ही प्रमुख योगदान हो सकता है। मानस परिवर्तन बलात् सभव नहीं होता और बलात् परिवर्तन ला भी दिया जाय तो उसका स्थायित्व सदा संदिग्ध रहेगा। इस कारण शुभ योगमय परिवर्तन की इच्छा ही आन्तरिकता मे जगानी होगी। यह इच्छा जगेगी सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप को समझ कर तथा आत्मा के सर्वोच्च विकास को चरम साध्य मानकर। यह दृष्टि आध्यात्मिकता ही प्रदान करती है। वीतराग देवो ने इच्छा निरोध रूप सयम, जड़ पदार्थों से ममत्व त्याग तथा आठो कर्मों के क्षय रूप तप का मार्ग प्रशस्त कर रखा है और इसी मार्ग की प्रेरणा से व्यक्ति के हृदय मे परिवर्तन लाकर उसके मन, वचन, काया के अशुभ योगो को शुभता मे परिणत कर सकते हैं जिनके आधार पर भीतर और बाहर समता की संरचना की जाय। इस रूप मे आत्मीय समता की अनुभूति ही समता की भावना को स्थिरता प्रदान करेगी तो उसे कृतित्व के साचे मे भी ढालेगी। बाह्य वातावरण मे जब समता का विस्तार होगा तो उससे बाह्य वातावरण भी सुधरेगा और जन-जन की आन्तरिकता मे भी समता का उदय होने लगेगा। अत· समता की दोनो प्रकार की दृष्टियो मे शुभ परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्न करने के साथ साथ दोनो के पारस्परिक सामजस्य को भी क्रियाशील बनाते जाना चाहिये ताकि व्यक्ति की आन्तरिकता मे और बाह्य वातावरण मे याने कि ससार की आन्तरिकता मे भी यथोचित परिवर्तन पूर्ण किये जा सके।

समता का दार्शनिक स्वरूप

समता के दार्शनिक स्वरूप को समता के आचरण का आधार स्तभ माना जाना चाहिये। दर्शन होता है वह वैचारिक मूल—जिस पर सरचना का सृजन किया जाता है। वैचारिकता यदि यथार्थ, बोधगम्य एव सानुभव हो तो उसके अनुसार किया जाने वाला कृतित्व सदा ही सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगा।

यहा हम समता दर्शन को चार प्रकार के वर्गीकरण से इस रूप मे समझने का यत्न करेगे कि उसकी दार्शनिकता के साथ उसकी व्यावहारिकता भी सुप्रकट हो सके। यदि कोई भी दर्शन व्यवहार्य न हो तो उसकी उपादेयता कम हो जाती है। समता के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन करके यही स्पष्ट किया जायगा कि उसे व्यवहार रूप मे ढालने पर व्यापक सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात किया जा सकता है, क्योंकि समता दर्शन और उसके व्यवहार से प्रभावित साधको की बहुत बड़ी सख्या और वह भी स्थान-स्थान पर पहले ही तैयार की जा सकती है। इस दृष्टि से समता का दार्शनिक स्वरूप एक नई ही उत्क्रान्ति का कारणभूत हो सकता है।

किसी भी अच्छे विचार या व्यवहार को गतिशील बनाने के लिये उसके वाहको की आवश्यकता होती है। विचार दिये की बाती की तरह यदि एक से अनगिन बातियो को नहीं जला पाता तो समझिये कि वह अपने समुचित विकास को प्राप्त नही कर सकेगा, किन्तु विचार के ऐसे विकास मे उस हाथ की सदा जरूरत रहेगी जो दिए को हाथ मे उठा कर उसकी जलती हुई लौ को दूसरे दियो की बातियो से छुआ छुआ कर प्रदीप्त बनाता रहे। इसी तरह व्यवहार को भी उसके चालको की जरूरत होती है इसलिये समता के विचार और व्यवहार को कार्यक्षम सफलता दिलाने के लिये वाहको और चालको की सेना याने नि स्वार्थ साधको की टोलिया एकदम जरूरी है जिनके प्राणवान् सहयोग के बिना समता की ज्योति के प्रकाश को भी अधेरे दिलो मे भरा नहीं जा सकेगा।

इस योजना पर उसी अध्याय मे आगे जाकर प्रकाश डाला जायगा कि समता साधको को समता प्रसार के लिये कैसे तत्पर बनाया जाय और कैसे समता समाज के नव निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की जाय। व्यवहार की योजना के पहले समता के विचार के सभी पक्षो पर गहराई के साथ चिन्तन-मनन करके तत् सम्बन्धी सम्यक् निर्णायक शक्ति को अवश्य ही जागृत बना लेनी चाहिये जो प्रत्येक चरण पर आत्माधारित सम्बल का रूप ले सकेगी।

समता के दार्शनिक स्वरूप को निम्न चार वर्गों के रूप मे समझ कर वैचारिक एकरूपता एवं व्यावहारिक कार्यक्षमता का निर्माण किया जाना चाहिए—

(१) सिद्धान्त दर्शन—समता का समारभ भी स्वय से शुरू होना चाहिये। पहले हम निज को सम वनावे अर्थात् सम सोचे, सम जाने, सम माने, सम देखे और सम करे। सम का अर्थ होता है समानता याने सन्तुलित। एक तुला के दोनो पलड़े जब समान होते है तब उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला सन्तुलित है याने बराबर तोल रही है जिसका सही सकेत मिलता है उस तुला के काटे से। तुला के समान जब मन का काटा भेद को भूलकर और केन्द्रित बनकर वस्तु स्थिति को देखता है, उस पर सोचता है एव तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—वैसे मन को सन्तुलित कहा जाता है। ऐसा सन्तुलन कव रह सकता है ? जब मन इच्छाओं का दास बनकर न भटकता हो बल्कि सयम का आराधक बनकर एक निष्ठा अपना लेता हो। अपने हित पर चोट भी पड़े तब भी मन का सन्तुलन न विगड़े —ऐसा अभ्यास सयम कराता है। सयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नहीं है। यदि सम टूट जाय या दुर्बल हो जाय तो विषमता तेज प्रहार करने से नहीं चूकती और उसके प्रहार से आहत होकर मन स्वार्थ, भोग एव विकार से पुन घिर जाता है। अत साधे गये सम की सुरक्षा होती है सयम से तथा सयम सुदृढ़ बनता रहता है त्याग से। त्याग का अर्थ है जो अपने पास है उसे किसी प्रयोजन के हित मे छोड़ना। ऐसा छोड़ना हृदय को एक अलग ही प्रकार का आनन्द देता है। इसलिये यह त्याग ही समता का पीठवल होता है।

त्याग और भोग ये जीवन के दो पहलू हैं। एक समता का वाहक है तो दूसरा विषमता का जनक। त्याग के धरातल पर निर्मित हृदय की उदारता से ही समता का प्रसार किया जा सकता है। जवकि भोग मनुष्य को उसकी आन्तरिकता से हटाकर उसे उसके शरीर से बाधता है, परिग्रह की मूर्छा मे पटकता है और जड़ ग्रस्त स्वार्थों की अधी दौड़ मे घुटने तुड़वाता है। राग द्वेष और विषय कषाय की आधियो मे आत्मा को धकेल कर वह उसे अविचार पूर्वक अन्याय, अनीति और अत्याचार की राह पर आगे कर देता है। इसलिये अहिसक जीवन प्रणाली को अपनाने तथा सत्य की शोध मे निकल पड़ने के वाद स्वाभाविक और स्वैच्छिक रूप से जो उत्कृष्ट त्याग उभरता है, वह त्याग ही समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है। यह कह सकते हैं कि जितना ऊचा त्याग, उतनी ही ऊची समता। समता की साधना के समय विचार एव कार्य दृष्टि निरन्तर इसी केन्द्र विन्दु पर लगी रहनी चाहिये। त्याग समतल पर अकुरित होकर कितनी ऊचाई तक उठ सकता है—उसकी कोई सीमा नही है—अवसर और भावना से ही उसका मूल्याकन किया जा सकता है। ऐसे त्याग के बल पर ही समता का उच्चादर्श उपलब्ध किया जा सकता है। त्याग की यह सामान्य निष्ठा कही जायगी जब मै यह प्रण लू कि मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात नही करूंगा। किन्तु त्याग की यह विशेष निष्ठा होगी और उस निष्ठा की उच्चता किसी भी सीमा तक निखर सकती है जव मैं

यह निश्चय करू कि मै दूसरे प्राणियो के हितो की रक्षा के लिये अपने हितो को भी छोड़ दूगा, अपितु अपने सर्वस्व तक को न्यौछावर कर दूगा। ज्यो-ज्यो त्याग सामान्य बिन्दु से विशेषता की सीढ़िया चढ़ता हुआ ऊपर उठता जाता है, त्यो-त्यो समता की समरसता भी भीतर, बाहर और चारो ओर दूर-दूर तक फैलती जाती है तथा छोटे बड़े सभी स्तरों के मनुष्यो एव प्राणियो तक के बीच मे सबको सुख देने वाला वातावरण रच देती है। यो कह दे कि त्याग समता का पीठ बल होता है जिसके विना समता की सुस्थिर प्रतिष्ठा संभव नहीं है। इसलिये समता का सिद्धान्त दर्शन सभी मानवीय मूल्यो के हृदय रूप त्याग मे प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आत्मीय गुणो का सार गूथ कर समता के सिद्धान्त दर्शन की सप्तवर्णी पुष्प माला बनाई गई है जो इस प्रकार है—(अ) आत्मीय समता—अपने मूल स्वरूप मे और विकास के चरम में सभी आत्माओं मे समता विद्यमान है और उसकी अनुभूति आत्मीय समता को प्रेरित करती है। इस आत्मिक स्वरूप के आधार पर मनुष्य मे यह स्वभान जागना चाहिये कि वह किसी भी प्रकार से शूद्र या हीन नही है। वह कर्मावरणो को हटाकर अपनी आत्मा को मूल रूप मे प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है। उस मे कर्मण्यता का भाव जागना चाहिये कि वह सिद्धात्माओं की समता मे पहुचने का सत्पुरुषार्थ करे। अपने से ऊपर की आत्माओं के साथ समता प्राप्त करने का वह पराक्रम दिखावे तो नीचे के स्तर पर रही हुई आत्माओं पर अपनी करुणा बरसा कर उन्हे भी समता का महत्त्व सिखावे और अपना आश्रय देकर ऊपर उठावे। यही आत्मीय समता के सिद्धान्त का मर्म है। समता के सिद्धान्त दर्शन का इस प्रकार पहला सिद्धान्त यह होगा कि सभी आत्माओं के लिये अपना परम विकास तक सम्पादित करने मे अवसर की समानता है—कोई विषमता या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और क्रिया के सच्चे रास्ते पर आगे बढ़ेगा, निरपेक्ष भाव से श्रेष्ठता अर्जित करेगा तथा ससार के समस्त प्राणियो का हिताकाक्षी बनेगा, वह स्वय समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा। वह समत्व योगी बन जायगा। (ब) 'दु' का परित्याग—आत्मीय समता को उपलब्ध करने के लिये अपने सम स्वभाव का निर्माण होना चाहिये और सम स्वभाव के निर्माण के लिये मन, वाणी एव कर्म की एकरूपता तथा शुभता आवश्यक है। अपना सोचना, अपना बोलना और अपना करना अपनी मन स्थिति को व्यक्त करता है जिसकी समता की कसौटी यही होगी कि इन तीनो मे समानता है। मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता से ही किसी की विश्वसनीयता तथा प्रतिष्ठा का आधार बनता है और उसे भद्र पुरुष कहा जाता है। किन्तु जो सोचता एक बात है और बोलता दूसरी बात है तथा करता तीसरी बात है—उसको धूर्त कहा जाता है तथा उसका विश्वास कोई नहीं करता।

मन, वाणी और कर्म की समता बनेगी उनकी शुभता से और शुभता के लिये 'दु' का परित्याग करना होगा। दुर्भावना, दुर्वचन और दुष्प्रवृत्ति रूप अशुभ योग व्यापार जब तक चलता रहता है, पूर्ण शुभता नही आती और पूर्ण समता अवाप्त नहीं होती । समता का अर्थ है ससार के सभी प्राणियो के प्रति सद्भावना और भावना सद् होगी, तभी वचन और कर्म सद् बन सकेगा। सद् बनाने से असद् छूटेगा, शुभ वरने से अशुभ मिटेगा और विषमता को दूर हटाने से समता जागेगी तथा यह तथ्य-परिवर्तन होना चाहिये समस्त योग व्यापार मे। योग व्यापार की शुभता और समता आन्तरिकता से लेकर विश्व के विस्तृत वातावरण तक प्रभावशाली बनेगी। भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना मे कर्मनिष्ठ बनाती है तथा 'सु' से विभूषित कर देती

है। यह 'सु' ही समता का विवेक सम्पन्न वाहक होता है। (स) जी ओ और जीने दो — यह सिद्धान्त अहिसक जीवन की प्रतिकृति है। समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य, बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते है तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे का अस्तित्व मिटाने का उसको कोई अधिकार नही है। वस्तुत उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक प्राणी के स्वतत्र अस्तित्व की रक्षा मे नियोजित करे। यह रक्षा का भाव करुणा और अनुकम्पा से उपजता है। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता और समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्वल जीवन मे नये प्राणो का सचार कर देता है।

इस अहिसक जीवन शैली मे इस सीमा और मर्यादा का पालन करना होता है कि एक अहिसक कहीं भी किसी अन्य जीवन के साथ टकराव की स्थिति मे न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। अपनी आत्मा वैसी सबकी ही आत्मा ऐसा अनुभाव तब पैदा होता है जब मनुष्य अपने दायित्वो के प्रति सजग और सावधान हो जाता है। सब जीवो के प्रति समान रूप से स्नेह, सहानुभूति एव सहृदयता की वर्षा करने मे ही समता की तरल सार्थकता रही हुई है। प्रत्येक प्राणी के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकारने से ही मनुष्य के समूचे जीवन मे एक ऐसा समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन विधा को ही बदल देता है। ऐसे मनुष्य मे कभी दभ या हठवाद नहीं भड़कता, क्योकि उसके विचार मे विनम्रता समा जाती है। वह कभी यह नही मानता कि मै ही सब कुछ हू। वह सबका समादर करता है, इसलिये वह सबके सुख दु ख का सहभागी भी होता है। अहिसक जीवन शैली की गुण सम्पन्नता समूचे वातावरण को समता के अमृत से आप्लावित बना देती है—विभोर कर देती है। (स) यथायोग्य वितरण—यह सही है कि जड़ पदार्थों के प्रति मनुष्य की मूर्छा घटनी और मिटनी चाहिये लेकिन यह उतना ही सही है कि जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नहीं सकता और जब इन्ही जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध मे अन्यायपूर्ण नीति चलती हो तो पहला काम उसे मिटाना होगा। मूल आवश्यकताए होती हैं—भोजन, वस्त्र और निवास। सभी जीवनधारियो की मूल आवश्यकताए पूरी हो—यह पहली बात, परन्तु दूसरी वात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नहीं होनी चाहिये जो पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष की कटुता को पैदा करे। यही कारण है कि समता के सिद्धान्त दर्शन मे समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास यथायोग्य वितरण पर बल दिया जाता है।

यथाविकास एव यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर दशा, धधे या अन्य परिस्थितियो के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिये, वैसा उसे दिया जाय। यही अपने तात्पर्य मे सम वितरण होगा। अव जहा सम वितरण का प्रश्न है—ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी होनी चाहिये जो ऐसे वितरण को सुचारू रूप से चलावे। इस दृष्टि से वितरण को सुचारू वनाने के लिये उत्पादन के साधनो पर भी किसी न किसी रूप मे समाज का नियत्रण आवश्यक होगा ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बनादे। उपभोग-परिभोग के पदार्थों की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा वाधने से भी सम वितरण मे सुविधा हो सकेगी। मूल आवश्यकता के अलावा सुविधापूर्ण पदार्थों का भी वितरण ऐसा हो जो आर्थिक विपमता का चित्र न दिखावे। कारण, पदार्थों का अभाव उतना घातक नहीं होता जितना पदार्थों का विषम वितरण, अत· यथाविकास यथायोग्य वितरण का सिद्धान्त मान्य किया जाय। (द) सपरित्याग मे आस्था—समता के एक साधक को सपरित्याग मे सदा आस्था रखनी चाहिये तथा अवसर आवे तव सर्वस्व-त्याग की तत्परता

भी दिखानी चाहिये। ऐसा सकट काल हो अथवा शुभ प्रयोजन की पूर्ति मे आवश्यक हो तो व्यापक जन कल्याण की भावना से अपने पास जो कुछ हो, उसे त्यागने मे भी तनिक हिचकिचाहट नही होनी चाहिये। इस प्रकार की वृत्ति मे आस्था होने का यही आशय है कि समता साधक अपनी सचित सम्पत्ति मे ममत्व न रखे बल्कि उसे भी समाज का न्यास समझे तथा यथावसर सविभाग हेतु समाज को समर्पित करदे। जन कल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझना चाहिये। जैसे अकाल आदि का प्राकृतिक संकट हो, लोग धनाभाव मे भूख से मर रहे हो और समता साधक अपनी सम्पत्ति को दबा कर बैठा रहे तो यह उसकी समता साधना नहीं होगी। सामूहिक हित को व्यक्ति के हित से ऊपर मानना होगा। सामूहिक हित साधना मे व्यक्ति के त्याग को सदा ही प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सर्वजन हितकारी इसी निष्ठा के साथ बनाई जा सकती है।

समता का सिद्धान्त दर्शन तो सपरित्याग की आस्था को मनुष्य के मन मे अधिकाधिक विकसित रूप मे देखना चाहेगा क्योकि यह आस्था जितनी गहरी होगी, उतनी ही सम्पत्ति और सत्ता के प्रति मनुष्य की मूर्छा क्षीण होगी। इसका सीधा प्रहार विषमता पर होगा जिससे अर्थ लोलुप परम्पराए मिटेगी, वितृष्णाजन्य वृत्तियॉ बदलेगी और सामूहिक जीवन मे सरसता की नई शक्तियो का उदय होगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था यदि सम बन जाती है तो सही जानिये कि व्यक्ति व्यक्ति का चारित्र भी शुभता और शुद्धता का वरण करने लगेगा। (य) गुण और कर्म का आधार — वर्तमान युग अर्थ प्रधान बना हुआ है तथा इसमे श्रेणी, विभाग या वर्गीकरण आदि का आधार अर्थ ही बना हुआ है। अर्थ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदड बना हुआ है किन्तु समता की साधना मे यह सब मान्य नही हो सकता। जब अर्थ को जीवन के शीर्षस्थ स्थान से नीचे उतार दिया जाय और मानवीय मूल्यो से उसे नियत्रित कर दे तो वर्तमान समाज का सारा ढाचा ही बदल जायगा। जब अर्थ नीचे उतरेगा तो स्वय ही गुण ऊपर आ जायगा और यही समता के सिद्धान्त दर्शन को अभीष्ट है कि समाज के सारे मानदड गुणाधारित हो। राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समता के परिवेश मे तब धन सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा, अपितु गुण एव कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। ऐसा विभाजन मानवता का तिरस्कार करने वाला नही होगा बल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिये स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का अवसर देने वाला होगा। एक बात तब और होगी। अर्थ के नियत्रण मे जब चेतना शक्ति सजग रहेगी तो वितृष्णा की जड़ता कभी पैदा नही होगी। वैसी दशा मे वह अर्थ भी समाज सुधार मे सहायक बन जायगा।

इस कारण सिद्धान्त रूप से एक समता साधक का गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग मे विश्वास होना चाहिये। गुण और कर्म का आधार किस रूप मे हो—इसे भी समझ लेना चाहिये। समाज मे ऊची श्रेणी, ऊचा आदर और ऊची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिये जिसने अपने जीवन मे ऊचे मानवीय गुणो का सम्पादन किया हो और जिसके कार्य सदा लोकोपकार की दिशा मे गतिशील रहते हो। गुण कर्म युक्त विभाजन का यह सुप्रभाव होगा कि नीचे की श्रेणियो वाला स्वय अधिक गुणार्जन के साथ ऊपर की श्रेणी मे चढ़ने का सत्प्रयास करता रहेगा। गुण और कर्म ही मनुष्यता की महानता एव समाज की प्रतिष्ठा के प्रतीक हो तथा पौद्‌गलिक उपलब्धिया उनके समक्ष हीन दृष्टि से देखी जाय यही वाछनीय है। गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और उसमे सर्वागीण समता की साधना सुलभ हो जायगी।

से ऐसे बहुमुखी दायित्वो पर ईमानदारी से विचार किया जाय तथा इन्ही सब 'यथा' के साथ उन दायित्वो का विचारपूर्ण निर्वहन भी किया जाय। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति एव परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने सभी दायित्वो एव कर्त्तव्यो का समुचित रीति से निर्वहन कर सकेगा तथा सर्वत्र समता के स्थायी भाव को सचरित भी बना सकेगा। कर्त्तव्यहीनता यो विषमता का लक्षण बनती है या विषमता की वाहिका, अत विचारपूर्ण निर्वहन का सदाग्रह सदा प्रदीप्त रहना चाहिये।

(ऊ) सवमे एक एक मे सब—समता के जीवन दर्शन का यह प्रमुख अग होगा कि सवमे एक और एक मे सबकी धारणा बलवती बने तथा अपने व्यवहार मे सब एक के लिये और एक सबके लिये सदैव सन्नद्ध रहे। इस सूत्र पर आचरण इतना प्रभावी होगा कि विषमता के विष की आखरी बूदे भी सूख कर नष्ट हो जायगी और सारा समाज पारस्परिक हित-सहयोग तथा एकता के सूत्र मे आबद्ध होकर आध्यात्मिक एव आत्मोन्मुखी बन जायगा। सहयोग एवं सहानुभूति के सुखद वातावरण से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा मे तेजी से आगे बढ़ सकेगे। विचार, वचन और व्यवहार मे सर्वत्र समता का समावेश दिखाई देगा।

(ए) व्यापक आत्मीय निष्ठा—जैसे अपने परिवार मे रहता हुआ एक व्यक्ति सामान्य रूप से सारे भेद भाव भूल जाता है और अपने सभी कर्त्तव्यो के प्रति सजग रहते हुए सबकी यथायोग्य सेवा भी करता है, उससे भी उन्नत रूप मे एक समता साधक समूचे विश्व को अपना परिवार मानकर अपने नैतिक एव आध्यात्मिक कर्त्तव्यो का एकनिष्ठा से पालन करता है। परिवार मे रक्त सम्वन्ध की प्रबलता होती है, परन्तु वसुधा के विशाल परिवार मे भावना की सघनता रक्त सम्बन्ध को बहुत पीछे छोड़ देती है, क्योकि उस भावना का आधार व्यापक आत्मीय निष्ठा पर टिका हुआ होता है। मानव जीवन मे विकास के लिये कोई भी ऊचाई असाध्य नही होती। जो सोचता है कि वैसी ऊचाई नही मिलेगी तो यह उसकी दुर्बलता ही होती है। जो जीवन दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से ओतप्रोत होकर समता मार्ग पर आगे बढ़ जाता है, वह सबसे ऊची ऊचाई को भी प्राप्त करके रहता है।

(३) आत्म दर्शन—आत्मदर्शन का अर्थ होता है मूल आत्म स्वरूप का दृष्टा बनना, क्योंकि दृष्टा बनकर ही ज्ञाता और विज्ञाता बना जा सकता है तथा यह जाना जा सकता है कि यह आत्मा ही स्वय कर्त्ता एव अपने ही किये हुए कर्मों का भोक्ता है। न इसको कोई अन्य चलाने वाला है या सुख दु ख देने वाला है। यही इसकी भाग्य विधाता है—स्वय भाग्य बनाती है और उसका फल भोगती है।

यह आत्म दर्शन अपनी स्वतत्र सत्ता और शक्ति का प्रेरक बनेगा। ससार मे कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इस आत्मा को सुख या दु ख देती हो। जैसा यह आत्मा कर्म करती है अच्छा या बुरा अथवा शुभ या अशुभ, वैसा ही उसका वह फल भोगती है जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा कि यदि उसे सुख चाहिये तो शुभ कर्म करने चाहिये। दूसरो को सुख देने वाले कर्म शुभ या पुण्य रूप होते है और दूसरो को दु ख देने वाले कर्म अशुभ तथा पाप रूप होते है। आत्मा को याने कि मनुष्य को इससे सार यह लेना है कि सुख दोगे तो सुख मिलेगा और दु ख दोगे तो दु ख मिलेगा। यो सुख पाने की प्रत्येक आत्मा को अभिलाषा रहती है किन्तु अज्ञानवश या कि जड़ग्रस्तता से वह सुख के

कारण रूप कार्य करती नही है और बवूल बोकर आम के फल लेना चाहती है। आत्म दर्शन की साधना से यह जानकारी और सीख मिलती है कि सुख और शाश्वत सुख पाने के कौनसे उपाय है तथा उसकी प्राप्ति का कौनसा मार्ग है ?

समता का आत्म दर्शन सबसे पहिले 'मै' की अनुभूति कराना चाहता है और जड़ चेतन तत्त्व का स्वरूप बोध कराता है। इसके साथ ही आत्मा और शरीर के पृथकत्व का ज्ञान देकर आत्मा के चरम साध्य मोक्ष की साधना विधि बताता है। आत्म दर्शन से ही कर्म सिद्धान्त की जानकारी मिलती है कि कैसे और क्यो कर्म बधते है, किस उपाय से कर्मबध रुकता है तथा किस साधना से कर्मो का क्षय किया जा सकता है ? यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वार्जित कर्मों का फल कैसे उदय मे आता है और कैसे कर्म फल की शुभता का योग लेकर कर्म मुक्ति का सफल पुरुषार्थ किया जा सकता है ? आत्म दर्शन मे इस आत्म पुरुषार्थ की फलवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है कि कैसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए व उत्तरोत्तर उच्चस्थ गुणस्थानों मे आरोहण करते हुए आत्मा वीतरागी सयोगी केवली होकर अयोगी और सिद्ध हो जाती है ? यही समता की अवाप्ति का चरम होता है।

आत्म दर्शन से ही आत्म समत्व का ज्ञान होता है और चिन्तन, मनन एव स्वानुभूति के आनन्दमय क्षणो का रसास्वादन। तपो की अग्नि मे तपकर जब आत्मा शोधित स्वर्ण के समान निर्मल हो जाती है तब वह ससार की सब आत्माओं मे एकत्व और समत्व की प्रतीति लेती है। आत्म दर्शन की दिशा मे पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता-साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने चाहिये जो इस प्रकार के हो सकते है —

(अ) आत्म चिन्तन एव आत्मालोचना स्वय के बारे मे सोचे और स्वय की स्वय आलोचना करे—यह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। स्वय के बारे मे सोचने का मतलव है आत्म स्वरूप के बारे मे सोचना, वर्तमान आत्म-दशा पर सोचना, शुद्धता पर लगे आवरणो के बारे मे सोचना तथा उन आवरणो को हटाकर आत्म गुणो के प्रकटीकरण के बारे मे सोचना। इस सोच का क्या अभिप्राय ? यही कि मनुष्य बाह्य वातावरण और भौतिक सुखो मे ही इतना न रम जाय अथवा विषय-कषाय प्रमाद के दल दल मे इतना न फस जाय कि निजत्व को ही भूल जाय तथा अपने स्वरूप सशोधन के उपाय न करे। प्रतिदिन भीतर झाकते रहने से आत्म स्वरूप ओझल नही होता और उसके ओझल नहीं होने से उसकी विदशा को सशोधित और परिमार्जित करने का ध्यान सदा बना रहता है।

इस ध्यान मे असावधानी हो अथवा सशोधन व परिमार्जन के काम मे भूले होती रहे उसके लिये आत्मालोचना की प्रक्रिया है कि सही रास्ते से जहा भी या जितने भी दूर हटे उस पर विचार करे और अपनी उस असावधानी या भूल के लिये प्रायश्चित ले। जो किया उसका पश्चाताप और उसे आगे से नही दोहराने का सकल्प—यह आत्मालोचना है।

अत प्रतिदिन प्रात एव साय समता साधक को आत्म दर्शन करना चाहिये याने कि एक दो घड़ी आत्म चिन्तन करना चाहिये तथा विचार पूर्वक आत्मालोचना भी करनी चाहिये। इससे निरन्तर आत्म जागृति वनी रहेगी और प्रमाद न करते हुए समय के मूल्य की अनुभूति होती जायगी।

(ब) सत्साधना का नियम—समता साधना की अन्तरग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहनी चाहिये किन्तु इस सतत प्रवाह को पुष्ट करने के उद्देश्य से सत्साधना के लिये नियमित समय

निर्धारण का नियम भी आवश्यक है कि प्रति दिन निर्धारित समय पर सत्साधना मे बैठा ही जाय और उस समय के कर्त्तव्यो को निष्ठा पूर्वक पूरे किये ही जाय।

सत्साधना के क्षेत्र मे किन्ही विशिष्ट प्रवृत्तियो को भी हाथ मे ले सकते है जो स्व-पर कल्याण से सम्बन्धित हो तथा यथाशक्ति यथाविकास सम्पन्न की जा सकती हो किन्तु अभ्यास अवाध रूप से नियम पूर्वक चलना ही चाहिये ताकि सभी क्षेत्रो मे समता के लिये चाह निरन्तर प्रगाढ़ वनती जाय। इस सत्साधना से आभ्यन्तर एव बाह्य समता स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजने की प्रेरणा मिलेगी तथा ऐसी पद्धतियो के विकास का अवसर भी मिलेगा जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन के साथ समाज के विस्तृत क्षेत्र मे भी भावात्मक एव कार्यात्मक एकरूपता पैदा की जा सके। स्वतत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता से ही समतामय वातावरण को सुदृढ़ एव सुस्थिर बनाया जा सकेगा।

(स) स्वाध्याय—चिन्तन की प्रक्रिया एव निर्णायक शक्ति तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक आगम-शास्त्र एव सत्साहित्य का अध्ययन न हो तथा उनकी नित्य प्रति स्वाध्याय नहीं की जाती हो। यो स्वाध्याय को स्व का अध्याय भी कहते है जो आत्म स्वरूप दर्शन की प्रक्रिया हो जाती है। स्वाध्याय की परिपाटी से उन महापुरुषो के उपदेशो को हृदयगम कर सकते है जिन्होंने आत्मदर्शन करके परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर ली। इसी परिपाटी से हम उनके उपदेशो पर स्वय चिन्तन करके उनकी उपादेयता का मूल्याकन कर सकते है। चिन्तन और मनन का अभ्यास स्वाध्याय से ही परिपक्व न बनता है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है, तव यह सर्वथा सभव है कि चिन्तन की धारा मे कोई भी आत्मा विपुल गहराई मे उतर कर विचारो के नये नये मोती ढूढ लावे।

अत समता के साधक को प्रति दिन नियमित रूप से स्वाध्याय करनी चाहिये ताकि चिन्तन-मनन की वृत्ति सजग बने। पढ़े और सोचे—फिर अपना निर्णय ले —यह क्रम ही मनुष्य को सदा विवेकशील एव प्रगतिशील बनाये रखता है। स्वाध्याय, चिन्तन और स्वानुभूति—ये एक ही आत्म पुरुषार्थ के तीन चरण हैं।

(द) लोकोपकार की भावना—आत्म दर्शन का सार मनुष्य के मन मे इस रूप से जागना चाहिये कि क्रमश यह प्रगति साधी जाय। पहली भावना—मै किसी को दु ख न दू। दूसरी भावना—मै सबको सुख दू तथा तीसरी भावना—मै सवको सुख देने मे स्वय को दु ख सहने पड़े तो उन्हे सुखपूर्वक सहू। ये है लोकोपकार की भावना के विकास के तीन स्तर, जो मनुष्य को अधिकाधिक त्याग के लिये अनुप्राणित बनाते है। अहिसक जीवन शैली का सीधा सुप्रभाव लोकोपकार पर पड़ता है क्योकि निषेध रूप अहिसा किसी भी प्रकार के हिसाचरण को रोकती है तो अहिसा का विधि रूप अनुकम्पा और रक्षा का सर्वोच्च भावात्मक सम्वल होता है।

सबको अपने कठिन त्याग के आधार पर सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि लोकोपकार के क्षेत्र को विस्तृत बनाया जाय—उसे सर्वमुखी समता का समतल धरातल प्रदान किया जाय। इस वृत्ति मे मनुष्य अपनी आत्मा की सेवा शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ समता को सकल विश्व की परिधि तक फैला देने मे सक्षम बन जायगा। स्वार्थों को समेटो और आत्मीयता को सर्वत्र फैलाओ —यही एक समता साधक का प्रमुख आचरण —सूत्र बन जाना चाहिये।

(य) आत्म विसर्जन—आत्म दर्शन की आखिरी मजिल होती है आत्म विसर्जन याने कि त्याग, सेवा और समता दृष्टि से वृहत्तर समता —स्थिति के निर्माण हित अपने आपको भी भुला देना और साध्य मे स्वय को विलीन कर देना। आध्यात्मिक भाषा मे यह कायोत्सर्ग की सर्वोच्च तपस्या होगी जव आत्मा देह के ममत्व से भी सर्वथा दूर हो जाती है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म विकास की उस अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के वाद परमात्म दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्म दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की सम्पन्नता आत्म विसर्जन के महाद्वार मे से होकर गुजरने के बाद ही होती है। यह यात्रा गहन एव उच्च चिन्तन पर चलती है और कभी कभी विचार श्रेणी इतनी ऊची एव समुन्नत बन जाती है कि युगो और वर्षों का मार्ग कुछ पलो मे ही तय हो जाता है। समता साधना की सफलता के लिये साधक को आत्म विसर्जन रूप उच्चस्थ विचार श्रेणियो मे आरूढ़ होने का प्रयत्न करना चाहिये।

(४) परमात्म दर्शन—आत्मा ही परमात्मा होती है तथा आत्मा ही परमात्मा बनती है। आत्मा और उसकी परम अवस्था मे जो अन्तर है, वह उसकी कर्मवद्धता का अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने अर्थात् कर्मावरणो को अपने ज्योतिस्वरूप पर से हटाने के बाद यही आत्मा ज्योतिस्वरूप परमात्मा बन जाती है। परमात्म दर्शन का यही सारपूर्ण सिद्धान्त है।

इस दृष्टि से परमात्म दर्शन की मूल प्रेरणा कर्मण्यता है कि आत्मा अपनी कर्मण्यता जगाकर ऐसे कर्म (पुरुषार्थ) करे कि कर्मों के पूर्व सचित दलिक सम्पूर्णत नष्ट हो जाय। कोई अन्य शक्ति इस आत्मा का उद्धार करेगी—ऐसी वस्तु स्थिति नही है। यह आत्मा स्वय ही स्वय को सजग बनाकर अपना उद्धार करेगी और वैसा उद्धार उसकी अपनी ही कर्मण्य शक्ति पर आधारित होगा। कोई भी विकास या विकास का चरम बिदु इस आत्म शक्ति की पहुच के बाहर का साध्य नही होता है। वस्तुत आत्म शक्ति के शव्द कोष मे असभव शब्द होता ही नही है। इस दृष्टिकोण से मानव जीवन मे सत्साहस की वृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायरता के लिये सब कुछ असभव है और साहस के लिये सब कुछ सभव। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप मे प्रकट होता है।

मनुष्य जब तक सज्ञाशून्य होकर पतन के खड्ड मे गिरा रहता है, तब तक उसके जीवन के सभी पहलू और उसकी सभी शक्तिया विषम बनकर विकास की अवरोधक के रूप मे अड़ी रहती है। विषमता की अवस्था मे अधिकाधिक विकारो का आक्रमण होता रहता है और आत्म शक्ति उनसे परास्त होकर हताशा मे डूबी रहती है किन्तु जिस क्षण कायरता दूर होकर सत्साहस का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी क्षण विकास के चरण गतिमान हो जाते है।

आत्मा का ऐसा सत्साहस कैसे प्रकट हो ? कहते है कि चोर कायर होता है, क्योकि उसके पैर कच्चे होते है। यदि अपने भीतर कायरता महसूस करते है तो सोचना होगा कि अपने भीतर किन किन रूपो मे चौर्य्य वृत्तिया अपनी दुष्ट प्रवृत्तियो मे लगी हुई है और उनके कारण अपनी आत्म शक्ति के पैर कहा कहा कच्चे पड़े हुए है ? यह अपनी ही आत्मा की आलोचना का विषय है और अपने ही जागरण का प्रश्न है। जो काम छिप कर करने की इच्छा होती है, जिन विचारो को सहजतापूर्वक प्रकट नहीं किये जा सकते हो अथवा जिन शब्दो को निर्भयता से बोलने की क्षमता न हो तो

समझना चाहिये कि मन, वाणी और कर्म के उन क्षेत्रो मे चौर्य्य वृत्ति कार्य कर रही है जिसके कारण आत्म शक्ति के पैर कच्चे पड़े हुए है। तब उस कच्चाई को एक एक करके दूर करने की जरूरत पड़ती है। विकास की दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ जब सत्साहस का पुट लग जाता है तो उस कायरता को फिर दूर कर देने मे देर नही लगती। अत परमात्म दर्शन सिखाता है कि पग पग पर पैदा होने वाली अपनी ही दुर्बलताओं के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना चाहिये। समता के सिद्धान्त दर्शन, जीवन दर्शन तथा आत्म दर्शन की अनुभूति के पश्चात् परमात्म-दर्शन की ओर सहजता से प्रगति की जा सकती है तथा इसी आत्मा को परमात्म स्वरूप मे ढाल सकते है। एक शब्द मे इस सत्साहस को परिभाषित करे तो वह यह होगा कि यह सत्साहस आत्म स्वरूप मे पर से विषमता के अन्तिम अश तक को मिटा डाले और उसे पूर्ण समता की उज्ज्वलता से विभूषित बना दे।

परमात्म पद की दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार से समझ लेनी चाहिये। आत्मा को अपनी ही विषमता पर प्रहार प्रारभ करने होते है जो अपने कर्म बध को समाप्त करने के रूप मे होते है। कर्म ज्यो ज्यो क्षीण होते जाते है, आत्मा मे रही हुई विषमता भी त्यो-त्यो क्षीण होती जाती है तथा आत्मा अपने मूल गुणो को अवाप्त करती रहती है। गुणो के स्थानो मे तब उसकी ऊर्ध्वगामिता आरभ होती है और गणस्थानो की यात्रा को जब वह आत्मा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है तो अपने मूल गुणो को प्रकाशमान बनाकर परमात्म पद की अधिकारिणी बन जाती है।

यह दृश्यमान् जगत् जीव और अजीव इन दो तत्त्वो के सयोग—श्रम पर निर्मित हुआ है। यह जीव तत्त्व भी यहा स्वतत्र नही है —अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म बधनो के कारण बधा हुआ है। जीव और अजीव के सयोग से ही समस्त जीवधारी दिखाई देते है और अजीव के बधन से ही वे अजीव तत्त्वो के प्रति मोहाविष्ट बनते हैं। यह मोह चाहे अपने या दूसरे के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति, सत्ता या अन्य पदार्थों व परिस्थितियो के प्रति—उसकी रागात्मक वृत्तिया ही जीव को विषय, कषाय तथा प्रमाद मे भ्रमित बनाये रखती है। इसी दशा मे राग और द्वेष के घात प्रतिघात चलते है और जीव उन प्रकृतियो के वशीभूत होकर विविध शुभाशुभ कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं। जीव-अजीव तत्त्वो के साथ इस तरह बध तत्त्व जुड़ा है जो पतन का प्रतीक है। जीव का सर्वोच्च विकास का प्रतीक है मोक्ष तत्त्व, जिसकी साधना मे वह कर्म बध रूप आश्रव तत्त्व को रोकता है सवर तत्त्व की सहायता से। फिर सम्पूर्ण कर्म विनाशक रूप होता है निर्जरा तत्त्व, जिसकी सिद्धि से मोक्ष तत्त्व अवाप्त होता है। कर्म बंध के दो शुभाशुभ रूप होते है पुण्य तत्त्व तथा पाप तत्त्व। पाप तत्त्व को मिटाने से पुण्य तत्त्व बलवान बनता है जो मोक्षतत्त्व को मिलाने मे सहायता करता है लेकिन मोक्ष तत्त्व की अवाप्ति पर पुण्य तत्त्व भी छूट जाता याने कि अजीव तत्त्व का जीव तत्त्व से सयोग सम्पूर्णत समाप्त हो जाता है। जीव तत्त्व सम्पूर्णत अजीव तत्त्व (कर्म) से मुक्त हो जाय—यही उसका मोक्ष है। जीव की ईश्वर मे इसी रूप से परिणति होती है।

समता का व्यवहार्य पक्ष

किसी वस्तु स्वरूप का ज्ञान होना अपेक्षतया सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है तथा उससे अधिक कठिन है उस सम्यक् ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार मे उतारना तथा अपने

जीवन के समस्त आचरण को तदनुसार ढाल लेना। व्यवहार के मार्ग मे ऐसे ऐसे थपेड़े आते है कि कई बार अच्छे अच्छे साधक भी चलायमान हो जाते है। यह व्यक्तिगत जीवन की बात है लेकिन सामाजिक जीवन मे भी ऐसे थपेड़े कभी इतने प्रबलतम होते है जो सारी सामाजिक व्यवस्था को अस्त व्यस्त करके व्यक्ति-व्यक्ति के सामान्य जीवन को भी दु खपूर्ण बना देते है। समता के व्यवहार्य पक्ष मे भी व्यक्ति और समाज के जीवन—क्षेत्रो मे ऐसी कठिनता आवे यह अनहोनी बात नही है।

समतामय जीवन को व्यवहार रूप मे अपनाने के बीच मे भी व्यक्तिगत एव समाजगत बाधाओं का आरपार नही रहता है। समाज मे जिस वर्ग के स्वार्थ किसी भी रूप मे निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अधेपन मे सदैव विषमता का पक्षधर बनकर समता का विरोध करने लगता है। तब उसके हृदय परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होती है। इसलिये जहा समता के व्यवहार्य पक्ष पर विचार करना होता है, वहा गहराई से यह खोजना जरूरी है कि व्यवहार्य पक्ष की मूल कमजोरियां कौन कौनसी है और उनके विरुद्ध किन किन उपायो से सघर्ष किया जा सकता है एवं व्यवहार्य पक्ष को व्यक्ति एव समाज दोनो के आधारों पर सुदृढ़ बनाया जा सकता है ?

समता के व्यवहार्य पक्ष को सुदृढ़ बनाने कि लिये प्रत्येक आत्मा मे रही हुई स्वहित की सज्ञा एव उसके उचितानुचित विकास प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये। बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही चाहे और कुछ समझे या न समझे, वह अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और जब भी भूख से पीड़ित होता है, वह स्तन पान के लिये मुंह फाड़ फाड़कर रोना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ ही नहीं है, छोटे से छोटे जन्तु मे भी स्व-हित की या स्व-रक्षा की सज्ञा होती है। जहा चीटिया चल रही हो, वहा जब कोई राख बिखेर देता है तो चीटिया उसे अपने लिये खतरा मानकर बचाव के लिये वहा से तुरन्त खिसक जाती हैं। आशय यह है कि छोटे बड़े प्रत्येक जीव मे आरभ से ही स्वहित एव स्वरक्षा की जागृत चेतना रहती है। स्वहित की इस आरभिक सज्ञा का विकास निम्न रूप मे तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा— (१) पहला प्रकार यह हो सकता है कि यह स्वहित की सज्ञा एकागी एव जटिल वनकर कुटिल स्वार्थ के रूप मे ढल जाय कि मनुष्य को उसके आगे और कुछ भला बुरा सूझे ही नही। अपना स्वार्थ है तो सब है और वह नहीं तो अपना कोई नहीं —दूसरो के हित की तरफ दृष्टि तक न मुड़े। ऐसी प्रकृति उसके अपने जीवन और अपने ससर्गगत सामाजिक वातावरण मे गहन विषमता को जन्म देती है। और समता की जड़ो को मूल से ही काटती है। (२) स्वहित —परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक रूप मे समन्वय का प्रकार हो सकता कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरो के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने व दूसरों के हितो का वह इतना सन्तुलन बनादे कि कहीं दोनो के बीच टकराव का मौका नहीं आवे। साधारण रूप से समाज मे समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा होगी।

(३) तीसरा ऊचे त्यागियो और महापुरुषो का प्रकार हो सकता है जो परहित के लिये स्वहित का भी बलिदान कर देते हैं। ऐसे बलिदानी सर्वस्व त्याग की ऊची सीमाओं तक भी पहुच जाते हैं। सच कहे तो विश्व को समता का दिशा दान ऐसे महापुरुष ही किया करते है। उन के त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्रकाशित होती है।

वातावरण के तदनुकूल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि स्वहित की आरभिक सज्ञा रूढ एव भ्रष्ट हो जाय अथवा जागृति और उन्नति की दिशा मे मुड़ जाय। प्रत्येक जीवधारी मे स्वरक्षा की संज्ञा हो—यह अस्वाभाविक नही है, किन्तु स्वाभाविक यह होगा कि सबकी स्वरक्षा की सज्ञा को सचेतन बनाई जाय कि कोई भी किसी की इस सज्ञा पर प्रहार न करे या न कर सके। सर्वहित के इस प्रयास के बीच आने वाली बाधाओं को समझना, उनके कारणो को दूर करना तथा उनको जीत कर स्वहित को सर्वहित के समत्व भाव से रग देना—यही समता का सजग एव सफल व्यवहार्य पक्ष हो सकता है।

विषमता से समता मे परिवर्तन अपनी अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा मे समाया हुआ रहता है। कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नही आ सकता है। बिच्छू काटे की दवा कोई जानता है लेकिन बिच्छू के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमड करता रहे या उसे ही दोहराता रहे तो क्या बिच्छू का जहर उतर जायगा ? यही विषमता का हाल होता है। विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया, किन्तु उस ज्ञान के अनुसार अपने आचरण को नहीं ढाला तो क्या विषमता मिट जायगी ? विषमता मिटाने के लिये उस ज्ञान के निषेध और विधि के दोनो रूप आचरण मे उतरने चाहिये। ज्यो-ज्यो निषेध रूप से विकारो की विषमता घटती जायगी त्यो-त्यो विधि रूप से समता की अमिय-वर्षा गहराती जायगी।

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू और रूप हो सकते है परन्तु सारे तत्त्वो और समस्त परिस्थितियो को समन्वित करके उसके सारे रूप मे निम्न इक्कीस आचरण सूत्रो की रचना की गई है जिन पर यदि मनुष्य अमल करके अपने भीतर और बाहर को सुधारे व बदले तो समता की गहन साधना भी आरभ की जा सकती है। तथा बाह्य विस्तृत वातावरण मे भी समताभरा तालमेल विठाया जा सकता है—

(१) हिसा का परित्याग—हिसा के आशिकत्यागी श्रावक को अनावश्यक हिसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिसा की अवस्था मे भी भावना तो प्राणी रक्षा की रखनी चाहिये, लेकिन विवशता से होने वाली हिसा मे लाचारी अनुभव की जानी चाहिये, न कि प्रसन्नता। साध्वाचार मे तो हिसा का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। समता साधना के प्रारभ मे स्थूल रूप हिसा का तो परित्याग कर ही देना चाहिये कि वह अपने हित के लिये परहित पर किसी प्रकार का आघात नही पहुचाएगा। सन्तुलन के इस बिन्दु से जब साधना आरभ की जायगी तो स्वार्थों का सघर्ष अवश्य कम होता जायगा। स्वहित की रक्षा मे यदि उसे आवश्यक हिसा करनी भी पड़ी तो वह उस का आचरण अति खेदपूर्वक ही करेगा जिसका विकास इस रूप मे होगा कि आगे जाकर वह परहित के लिये स्वहित का त्याग करने की शुभ भावना का निर्माण कर लेगा। यही विकास जब और आगे बढ़ेगा, तब वह पूर्ण अहिसक व्रत अगीकार कर सकेगा।

(२) मिथ्याचार-मुक्ति—कहावत है कि एक झूठ बोल कर उसे टिकाये रखने के लिये सौ झूठ बोलने पड़ते है। इसी झूठ पर यह मिथ्याचार पनपता है जो केवल वचन तक ही सीमित नहीं रहता है। कथनी को मिथ्या बनाकर करनी को वह मिथ्याचारी बनाता रहता है। जितना मिथ्याचार उतनी ही अधिक विषमता। इस कारण विषमता से मुक्ति पाने के लिये मिथ्याचार से मुक्ति अनिवार्य

है। मिथ्याचार त्याग कर ही विषमता के विविध रूपो से सफल सघर्ष किया जा सकता है और समता भावना के विस्तार मे सत्याचरण एव सदाचार के बल पर रचनात्मक सहयोग दिया जा सकता है।

(३) चौर्य्य कर्म से छुटकारा—ताला तोड़कर चाबी लगाकर या सेध लगाकर वस्तु की चोरी करने की कला आज के अर्थ युग मे बहुत ही जटिल और व्यापक हो गई है। वस्तु चुराने की बजाय आज मनुष्यता चुराई जाती है, उस का श्रम चुराया जाता है और शोषण की चौड़ी खाइया खोद दी जाती है। चौर्य कर्म से छुटकारा पाने के लिये स्वार्थान्धता और तृष्णाग्रस्तता से दूर हटना पड़ेगा तथा अपने जीवन निर्वाह को उस सीमित स्तर तक सादा बनाना होगा, जहा हिंसा, चोरी या अनीति का तनिक भी आश्रय न लेना पड़े।

(४) ब्रह्मचर्य का मार्ग—वासनाओं पर विजय पाने के अनुक्रम मे शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ वासनाओं की मानसिकता पर भी नियत्रण साधना होता है। एक व्यक्ति के जीवन मे फले फूले सदाचार से चारो ओर के वातावरण मे भी चारित्र्य-शुद्धि की एक नई हवा बहेगी। ब्रह्मचर्य का पालन सब ओर सयम वृत्ति को बलवती बनायगा तो सयम के सबल से समता के विकास को प्रशस्त करेगा। विषय वासनाओं की आसक्ति के घटने और मिटने से योग व्यापार की त्रिधारा मे शुद्धि व शुभता का सचार होगा।

(५) तृष्णा पर अंकुश—मनुष्य का अपने स्वार्थों तथा अपनी तृष्णा पर अकुश लगाना वहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह अकुश ही उसके मन की मूर्छा को दूर करके उसे अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बनाता है। अपनी अल्पतम आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपनी नीति व अपने श्रम से यदि धनार्जन की व्यवस्था ढल जाय तो अर्थ का भूत अधिकाश रूप से माथे से उतर जायगा। तब अनावश्यक सग्रह का चक्कर भी खत्म हो जायगा। उसका स्वार्थ जब सीमा से बाहर नहीं निकलेगा तो वह घातक भी नहीं बनेगा। अत समता-साधक अपनी तृष्णा पर कठोर अकुश लगाते हुए अपने धधे का फैलाव इतना ही करे जिससे नीति भी नही छूटे और सम्पत्ति का मोह भी नहीं जागे।

(६) निष्कलक चारित्र—समता की साधना करने वाले साधक को कभी भी ऐसा कोई काम नही करना चाहिये जिससे उसके चारित्र पर कलक लगे। व्यक्ति यदि अपनी आवश्यकताओं को सीमा मे रखकर चले तो वह कभी भी ऐसे कार्यो मे नहीं उलझेगा जो स्वय, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के चारित्र्य पर किसी भी रूप मे कलक कालिमा पोते। उसे अपने आचरण को भी नियमित एव सयमित रखना चाहिये।

(७) अधिकारो का सदुपयोग—समता साधक को अपना यह कर्त्तव्य मानना चाहिये कि वह अपने प्राप्त अधिकारो का दुरुपयोग कतई नहीं करे बल्कि उनका सर्वत्र व्यापक जन कल्याण के हित मे निष्ठापूर्वक सदुपयोग करे। समाज या राष्ट्र मे अपनी योग्यता, कार्य कुशलता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बड़े पदो पर पहुचते हैं जहा उनके हाथ मे अपने पद के अनुसार अधिकारो का वर्चस्व आता है। उन अधिकारो का प्रयोग अपने स्वार्थों या अन्य विषम उद्देश्यो के लिये कभी भी नही किया जाना चाहिये। उन अधिकारो के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका प्रयोग नियमानुसार तथा सार्वजनिक लाभ के लिये किया जाय।

(८) अनासक्त भाव—सत्ता या सम्पति मे आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भड़कती है और उनके सचय की मूर्छा पैदा होती है इसलिये समता साधक को सदा अनासक्त भाव का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नहीं बनेगी तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूकता निरन्तर बनी रहेगी।

(९) सेवा की मनोवृत्ति—एक समता साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एव सत्ता को मानव सेवा और प्राणी सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप मे विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नही रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यों मे समता भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका सचय भी अपने पास नहीं बढ़ाता और अधिकाश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिये आवश्यक साधनो को भी अपने से ज्यादा आवश्यकता वालो को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(१०) सरल व्यक्तित्व—समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से सघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता है। सादगी, सरलता तथा विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यो की रचना मे सक्रिय बने रहना—इसे वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(११) स्वाध्याय और चिन्तन—मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्ति करता रहता है अत उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामो का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनो कार्य नियमित स्वाध्याय एव चिन्तन की प्रवृत्तियो से ही पूरे किये जा सकते है। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तिया शुभ और उपादेय होती है तथा किन अशुभ प्रवृत्तियो मे मनुष्य को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। चिन्तन की धारा मे प्रवृत्तियो की शुभाशुभता का अकन भी हो सकेगा तो प्रवृत्तियो के परिणामो पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी प्रवृत्तियो की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(१२) कुरीतियो का त्याग—जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतिया वे ही होती हैं या कहलाती है जो किसी न किसी रूप मे विषमता पैदा करती है। रूढ़ परम्पराओं या कुरीतियो का निर्वाह दभी और निहित स्वार्थी इसलिये करते है कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन मे वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं। सामान्य जन के लिये कुरीतिया सद्गुणो और श्रेष्ठता का ह्रास करने वाली होती है। इस कारण समता साधक को स्वय कुरीतियो का त्याग करना चाहिये तथा जीवन मे इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिये

(१३) नैतिकता का पालन—चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य—उसमे समता साधक को सदा शुद्ध नीति याने नैतिकता का पालन करना चाहिये। व्यापार को जव सीधा और सच्चा नहीं रखा जाता—उसमे कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है तव शोषण और लूट का व्यवहार वन जाता है। जहा अपने श्रम के रूप मे लाभाश होना चाहिये, वहा आज के व्यवसाय और व्यापार मे लाभ लूट का पर्याय बन गया है जो कतई

अनीतिपूर्ण कहलायगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक वृत्ति मे नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिये जिसके बिना समता का विस्तार सभव नही होता।

(१४) यथायोग्य सम वितरण—समता साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हें यथायोग्य सम वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौप दे अथवा स्वय जन कल्याण मे नियोजित कर दे। आवश्यकताओं का भी जहां तक प्रश्न है, वे एक समता साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिये और जीवन निर्वाह मे अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिये। इस विधि से धन सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नही होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अत आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक समता साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखे और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओं की अपेक्षा से ताकि बाकी को न्यास समझे तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण मे उसका सम वितरण कर दे।

(१५) आध्यात्मिकता का रग—नैतिक एव मर्यादित जीवन विधि से समता साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रग मे अपने आपको रगता जायगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब मे जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रग से अपना अन्दर-बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायगी तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(१६) सुधार का अहिसक प्रयोग—आत्मिक एव सामाजिक अनुशासन तथा सयम की मर्यादाओं को भग करने वाले लोगो को एक समता साधक अहिसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमे लेश मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नहीं होगी। उसका अहिसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकाक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप मे तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र मे भी द्वेष एव प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयोग किया जा सके। घृणा पाप से हो, पापी से कभी नही लवलेश के अहिसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमो का सचालन करेगा।

(१७) गुण कर्म से वर्गीकरण—एक समता-साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय मे अपना विश्वास नहीं रखेगा और व्यक्ति का अकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज मे भी गुण एव कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णों, वर्गों या सम्प्रदायो मे व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणो की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड़ चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिये गुण सम्पन्नता को मुख्य मान लेगा।

(१८) भावात्मक एकता—सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देगा तथा ऐसी एकता के लिये

(८) अनासक्त भाव—सत्ता या सम्पति मे आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भड़कती है और उनके सचय की मूर्छा पैदा होती है इसलिये समता साधक को सदा अनासक्त भाव का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नही बनेगी तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूकता निरन्तर बनी रहेगी।

(६) सेवा की मनोवृत्ति—एक समता साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एव सत्ता को मानव सेवा और प्राणी सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप मे विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नहीं रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यों मे समता भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका सचय भी अपने पास नहीं बढ़ाता और अधिकाश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिये आवश्यक साधनो को भी अपने से ज्यादा आवश्यकता वालो को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(१०) सरल व्यक्तित्व—समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से सघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता है। सादगी, सरलता तथा विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना मे सक्रिय बने रहना—इसे वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(११) स्वाध्याय और चिन्तन—मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्ति करता रहता है अत उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामो का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनो कार्य नियमित स्वाध्याय एव चिन्तन की प्रवृत्तियो से ही पूरे किये जा सकते हैं। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तिया शुभ और उपादेय होती है तथा किन अशुभ प्रवृत्तियो मे मनुष्य को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। चिन्तन की धारा मे प्रवृत्तियो की शुभाशुभता का अकन भी हो सकेगा तो प्रवृत्तियो के परिणामो पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी प्रवृत्तियो की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(१२) कुरीतियो का त्याग—जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतिया वे ही होती है या कहलाती है जो किसी न किसी रूप मे विषमता पैदा करती है। रूढ़ परम्पराओं या कुरीतियो का निर्वाह दभी और निहित स्वार्थी इसलिये करते है कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन मे वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं। सामान्य जन के लिये कुरीतिया सद्‌गुणो और श्रेष्ठता का ह्रास करने वाली होती है। इस कारण समता साधक को स्वय कुरीतियो का त्याग करना चाहिये तथा जीवन मे इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिये

(१३) नैतिकता का पालन—चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य—उसमे समता साधक को सदा शुद्ध नीति याने नैतिकता का पालन करना चाहिये। व्यापार को जव सीधा और सच्चा नही रखा जाता—उसमे कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है तव शोषण और लूट का व्यवहार वन जाता है। जहां अपने श्रम के रूप मे लाभाश होना चाहिये, वहा आज के व्यवसाय और व्यापार मे लाभ लूट का पर्याय वन गया है जो कतई

अनीतिपूर्ण कहलायगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक वृत्ति मे नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिये जिसके बिना समता का विस्तार सभव नहीं होता।

(१४) यथायोग्य सम वितरण—समता साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हें यथायोग्य सम वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौंप दें अथवा स्वय जन कल्याण मे नियोजित कर दे। आवश्यकताओं का भी जहा तक प्रश्न है, वे एक समता साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिये और जीवन निर्वाह मे अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिये। इस विधि से धन सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नही होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अत. आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक समता साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखे और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओं की अपेक्षा से ताकि बाकी को न्यास समझे तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण मे उसका सम वितरण कर दे।

(१५) आध्यात्मिकता का रग—नैतिक एव मर्यादित जीवन विधि से समता साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रग मे अपने आपको रगता जायगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब मे जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रग से अपना अन्दर-बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायगी तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(१६) सुधार का अहिंसक प्रयोग—आत्मिक एव सामाजिक अनुशासन तथा सयम की मर्यादाओं को भग करने वाले लोगो को एक समता साधक अहिसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमे लेश मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नहीं होगी। उसका अहिसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकाक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप मे तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र मे भी द्वेष एवं प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयोग किया जा सके। घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश के अहिसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमो का सचालन करेगा।

(१७) गुण कर्म से वर्गीकरण—एक समता-साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय मे अपना विश्वास नही रखेगा और व्यक्ति का अकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज मे भी गुण एव कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णों, वर्गों या सम्प्रदायो मे व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणो की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड़ चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिये गुण सम्पन्नता को मुख्य मान लेगा।

(१८) भावात्मक एकता—सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को वल देगा तथा ऐसी एकता के लिये

(८) अनासक्त भाव—सत्ता या सम्पति मे आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भड़कती है और उनके सचय की मूर्छा पैदा होती है इसलिये समता साधक को सदा अनासक्त भाव का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नहीं बनेगी तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूकता निरन्तर बनी रहेगी।

(६) सेवा की मनोवृत्ति—एक समता साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एव सत्ता को मानव सेवा और प्राणी सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप मे विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नही रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यों मे समता भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका सचय भी अपने पास नही बढ़ाता और अधिकांश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिये आवश्यक साधनो को भी अपने से ज्यादा आवश्यकता वालो को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(१०) सरल व्यक्तित्व—समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से सघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता है। सादगी, सरलता तथा विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यो की रचना मे सक्रिय बने रहना—इसे वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(११) स्वाध्याय और चिन्तन—मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्ति करता रहता है अत उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामो का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनो कार्य नियमित स्वाध्याय एव चिन्तन की प्रवृत्तियो से ही पूरे किये जा सकते हैं। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तिया शुभ और उपादेय होती हैं तथा किन अशुभ प्रवृत्तियो मे मनुष्य को प्रवृत्त नही होना चाहिये। चिन्तन की धारा मे प्रवृत्तियो की शुभाशुभता का अकन भी हो सकेगा तो प्रवृत्तियो के परिणामो पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी प्रवृत्तियो की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(१२) कुरीतियो का त्याग—जीवन मे व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतिया वे ही होती हैं या कहलाती है जो किसी न किसी रूप मे विषमता पैदा करती है। रूढ़ परम्पराओं या कुरीतियो का निर्वाह दभी और निहित स्वार्थी इसलिये करते है कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन मे वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते है। सामान्य जन के लिये कुरीतिया सद्गुणो और श्रेष्ठता का ह्रास करने वाली होती है। इस कारण समता साधक को स्वय कुरीतियो का त्याग करना चाहिये तथा जीवन मे इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिये

(१३) नैतिकता का पालन—चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य—उसमे समता साधक को सदा शुद्ध नीति याने नैतिकता का पालन करना चाहिये। व्यापार को जव सीधा और सच्चा नहीं रखा जाता—उसमे कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है तव शोषण और लूट का व्यवहार वन जाता है। जहा अपने श्रम के रूप मे लाभाश होना चाहिये, वहा आज के व्यवसाय और व्यापार मे लाभ लूट का पर्याय वन गया है जो कतई

अनीतिपूर्ण कहलायगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक वृत्ति मे नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिये जिसके बिना समता का विस्तार सभव नही होता।

(१४) यथायोग्य सम वितरण—समता साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हे यथायोग्य सम वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौंप दें अथवा स्वयं जन कल्याण मे नियोजित कर दे। आवश्यकताओं का भी जहां तक प्रश्न है, वे एक समता साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिये और जीवन निर्वाह मे अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिये। इस विधि से धन सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नही होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अत आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक समता साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखे और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओं की अपेक्षा से ताकि बाकी को न्यास समझे तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण मे उसका सम वितरण कर दे।

(१५) आध्यात्मिकता का रग—नैतिक एव मर्यादित जीवन विधि से समता साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रग मे अपने आपको रगता जायगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब मे जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रग से अपना अन्दर-बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायगी तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(१६) सुधार का अहिंसक प्रयोग—आत्मिक एव सामाजिक अनुशासन तथा सयम की मर्यादाओं को भग करने वाले लोगो को एक समता साधक अहिसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमे लेश मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नही होगी। उसका अहिसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकाक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप मे तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र मे भी द्वेष एव प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयोग किया जा सके। घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश के अहिसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमो का सचालन करेगा।

(१७) गुण कर्म से वर्गीकरण—एक समता-साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय मे अपना विश्वास नही रखेगा और व्यक्ति का अकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज मे भी गुण एव कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णों, वर्गों या सम्प्रदायो मे व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणो की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड़ चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिये गुण सम्पन्नता को मुख्य मान लेगा।

(१८) भावात्मक एकता—सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देगा तथा ऐसी एकता के लिये

मन, वाणी एव कर्म की एकरूपता को प्रोत्साहित करेगा। इस प्रयोग से मनुष्यता को शक्ति मिलेगी तथा जीवन मे जड़ तत्त्वो का प्रभुत्व घटेगा। ऐसी एकता केवल बाह्य रूपो मे ही नही अटक जानी चाहिये बल्कि अनुभावो, उद्देश्यो तथा आदर्शों की एकता के रूप मे वह निरन्तर विकसित होती रहनी चाहिये। समता साधक को अपने अन्त करण मे हो अथवा समाज या राष्ट्र के विशाल अन्तर्हृदय मे—ऐसी भावात्मक एकता को स्थिरता पूर्वक स्थापित करने के प्रयास हमेशा जारी रखने चाहिये। कारण, भावात्मक एकता चिरस्थायी एव शान्ति प्रदायक होती है तथा सभी स्तरो पर समता के वातावरण को परिपुष्ट बनाती है।

(१९) लोकतत्रीय प्रणाली—एक कथन है कि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णतया भ्रष्ट करती है। इसी दृष्टि से सत्ता को एक या कुछ हाथो से हटाकर सम्पूर्ण जनता को सौपने के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही लोकतत्रीय प्रणाली का विकास हुआ है। यह पारस्परिक नियत्रण एव सन्तुलन की प्रणाली के रूप मे शासन को चलाती है तो समाज की सारी व्यवस्था को लोकेच्छा एव लोकशक्ति के आधार पर चलाने के आदर्श को सामने रखती है। राष्ट्र या समाज का समग्र सचालन जनता द्वारा, जनता के लिये तथा जनता का होना चाहिये—यह लोकतत्रीय प्रणाली की अन्त प्रेरणा कही जाती है। सत्ता और सम्पत्ति के निहित स्वार्थी अपने भ्रष्ट एव विकृत उद्देश्यो के लिये ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने की चेष्टा करते है अत समता साधक को ऐसी प्रवृत्तियो का विरोध करना चाहिये तथा समग्र जनता मे स्वस्थ चेतना जगानी चाहिये।

(२०) ग्राम से विश्वधर्म—प्रत्येक समता साधक को ग्राम धर्म, नगर धर्म, समाज धर्म, राष्ट्र धर्म एवं विश्वधर्म की निष्ठा के प्रति सतर्क रहना चाहिये एव उनके अन्तर्गत पहले अपने कर्त्तव्यो एव नियमो का निर्वाह करना चाहिये, फिर अपने उदाहरण को सामने रख कर दूसरो से उनका अनुपालन करवाने की जागरूकता पैदा करनी चाहिये। ऐसा जन मत, प्रभावी रूप से बनाना चाहिये कि इन धर्मों के निष्ठापूर्वक पालन मे कोई किसी तरह की दुर्व्यवस्था पैदा नही करे तथा किन्ही उद्दंड या समाज विरोधी तत्त्वो द्वारा वैसा करने पर अन्य लोग उनके साथ अहिसक असहयोग का प्रयोग करे।

(२१) समता पर आधारित समाज—एक समता साधक समता के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षो के आधार पर निर्मित किये जाने वाले नये समाज की रचना मे विश्वास रखे तथा उसके निर्माण मे सक्रिय सहयोग प्रदान करे। पहले वह अपने भीतर और बाहर समतापूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो का समावेश करे और उसके बाद व्यापक क्षेत्र मे रही हुई विषमताओं को समाप्त करने एव सर्वत्र समतामयी एकरूपता तथा समरसता को सचारित करने मे अपना कठोर पुरुषार्थ लगावे। वह अपनी प्रबल प्रेरणा से प्रत्येक व्यक्ति, समूह या सगठन को समता का सशक्त आधार ग्रहण करने के लिये तत्पर बनावे। इसका अन्तिम लक्ष्य यही होगा कि समता का प्रत्येक मानव हृदय मे शीतल प्रकाश फैल जाय और एक समता समाज के निर्माण के साथ वह प्रकाश चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण करले और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी एव आगे तक पारम्परिक प्रकाश स्तभ बन जाय।

आचरण के इन इक्कीस सूत्रो का दोहरा प्रभाव पड़ेगा। एक ओर व्यक्ति इन के अनुसार अपने जीवन-व्यवहार को ढालते हुए अपने आभ्यन्तर और बाह्य जीवन मे शुद्धता, शुभता तथा समता की स्थिति को सुस्थिर बनायगा तो दूसरी ओर उसकी उस सुस्थिरता का स्वयमेव भी समाज

के विभिन्न क्षेत्रो मे अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और समता साधक जब अपने आदर्श उदाहरण के साथ समता का प्रवल प्रचारक बनेगा तब उसकी प्रभावशाली शैली से जन-जन के जीवन मे नई समता-चेतना का विकास होगा क्योकि दूसरो को वास्तविक रीति से प्रभावित करने मे शब्दो की अपेक्षा अपना प्रत्यक्ष आचरण हजार गुना अधिक काम करता है।

समताचरण के तीन चरण

साधुत्व की पूर्व स्थिति मे समता की साधना करने वाले साधक के लिये अपनी साधना के यथोचित विकास की दृष्टि से तीन चरण स्थापित किये गये है, जिनके अनुसार साधक को पहले समता की उपादेयता मे स्वय की प्रतीति स्पष्ट हो, फिर वह समता की अपनी सुस्पष्ट धारणा को क्रियान्वित करे तथा तदनन्तर अपनी समदृष्टि का उच्चतम विकास साधते हुए समतादर्शी बन जाय। सम्यक् प्रतीति तथा वास्तविक पहिचान के पहले चरण के साथ ही साधक के अन्त करण मे समुन्नति के लिये तीव्र आकाक्षा तथा कठोर पुरुषार्थ की भावना जाग जानी चाहिये। इन्ही के आधार पर वह द्वितीय चरण की सुदीर्घ साधना की कठिनाइयो का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा एव तीसरे चरण की सिद्धि के विराट् क्षेत्र मे प्रविष्ट हो सकेगा।

इस रूप मे समताचरण के तीन चरण निम्नानुसार होगे—

(१) समतावादी—पहली और प्रारभिक श्रेणी उन समता साधको की हो जो समता-दर्शन मे गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा तथा अपनी परिस्थितियो की सुविधा से समता के आचरण मे सचेष्टता ग्रहण करने की हार्दिक अभिलाषा रखते हो। इस श्रेणी वालो को 'वादी' इस कारण कहा गया है कि वे समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का सर्वत्र समर्थन एव प्रचार करते हो एव सबके समक्ष समताचरण की श्रेष्ठता को जानने, मानने तथा तदनुसार अपने-अपने व्यवहार को ढालने का सदाशयपूर्ण आग्रह करते हो। स्वय भी आचरण के क्षेत्र मे अग्रगामी बनने की तैयारी करते हो एव दूसरो को भी उसके लिये तैयार होने की प्रेरणा देते हो। यह नहीं कि एक समतावादी सिर्फ समता का वाद ही करेगा और समताचरण को स्वीकार किन्ही भी अशो मे नही करेगा। वह समता का वाद करते हुए आचरण के क्षेत्र मे भी पग धर देगा, लेकिन अपनी परिस्थितियो की विवशता से आचरण की उग्रता का पालन नहीं कर सकेगा। उसके हृदय मे समताचरण को पूर्णता प्रदान करने की तीव्र अभिलाषा मे कोई न्यूनता नही होगी।

समतावादी श्रेणी के साधको के लिये निम्न नियम आचरणीय हो सकते है—(अ) विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो मे मूल स्थिति को स्वीकार करना तथा गुण व कर्म के अनुसार उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदो तथा विषमताओं को अस्वीकार करना और गुण कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थितियो के निर्माण का सकल्प स्वीकार करना। (ब) समस्त प्राणीवर्ग मे एकता मानते हुए प्रत्येक के स्वतत्र अस्तित्व को भी स्वीकारना तथा अन्य प्राणो के कष्ट क्लेश को स्व-कष्ट के समान मानना। (स) किसी भी पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्त्तव्यो को अधिक महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना। (द) सप्त कुव्यसनो को धीरे-धीरे ही सही किन्तु त्यागते रहने की दिशा मे आगे बढ़ना। (य) प्रात काल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घटा नियमित रूप से समतादर्शन की स्वाध्याय, चिन्तन, आत्मालोचना मे व्यतीत करना तथा उस प्रवृत्ति को समीक्षण ध्यान के स्तर तक ले जाना। (र) कदापि और किन्ही भी परिस्थितियो मे आत्मघात नहीं करने एव प्राणीघात को

बन्द कर उनकी रक्षा करने का सकल्प लेना। (ल) सामाजिक कुरीतियो को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराए ढालना।

(२) समताधारी—समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक धरातल पर सक्रिय बनकर जो दृढ़ चरणो से चलना आरभ कर दें, उन्हे समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी मे लिया जाय। समताधारी साधक समता के चारों दर्शनो— सिद्धान्त, जीवन आत्म एव परमात्म को हृदयंगम करके व्यवहार के इक्कीस सूत्रो के आचरण पथ पर रचनात्मक प्रगति प्रारभ कर देता है और निरन्तर प्रगतिशील रहता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वागीणता एव सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समता धारी कहा जाय।

समताधारी साधको की इस श्रेणी का विशिष्ट महत्त्व माना जाय, क्योंकि ये साधक ही वास्तव मे तथा जनता की आंखो मे समता की मशाल चमकाकर चलने वाले साधक होगे, इन्हे और इनके आचरण को प्रत्यक्ष देखकर ही दूसरे लोग इनके प्रति तथा समता के प्रति प्रभावित बनेगे। इस श्रेणी के साधको का इस दृष्टि से दायित्व भी गभीर होगा क्योंकि उनकी छोटी असावधानिया या भूले भी समता के लक्ष्य को दुर्बल बना सकती है और जनता की नजरो मे उसके प्रति प्रभाव को कम कर सकती है। अत समताधारी निम्न अग्रगामी नियमो का अनुपालन करे —(अ) विषमता जन्य अपने विचारो, सस्कारो एव आचारो को स्वय समझना तथा उन्हे विवेकपूर्वक दूर करना। अपने आचरण से किसी भी प्राणी या उसके किसी भी प्राण को क्लेश नहीं पहुंचाना तथा सबके साथ सहानुभूति रखना। (ब) धन, सम्पत्ति तथा सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एव कर्त्तव्य-निष्ठा को मुख्यता देना। (स) अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एव अनेकान्तवाद के स्थूल नियमो का पालन करना, उनकी मर्यादाओं मे उच्चता प्राप्त करना तथा भावना की सूक्ष्मता तक गहरे पैठने का वैचारिकता के साथ प्रयास करते रहना। (द) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवितरण मे आस्था रखना एव व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथा विकास, यथा योग्य जनकल्याणार्थ अपने पास से परित्याग करना। (य) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एव विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि तथा सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वो के साथ निभाना। (र) जीवन मे जिस किसी पद पर या कार्य क्षेत्र मे प्रवृत्त हो वहा भ्रष्टाचरण से मुक्त रहकर समताभरी नैतिकता एव प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना। (ल) स्व-जीवन मे सयम को तो सामाजिक जीवन मे सर्वदा नियमो को प्राथमिकता देना एव अनुशासन को प्रतिष्ठित बनाना।

(३) समतादर्शी—समतादर्शी की श्रेणी मे साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ़कर ससार, राष्ट्र व समाज को समतापूर्ण बनाने व देखने की क्षमता प्राप्त करने लगे—दृष्टित्व को कृतित्व के साथ जोड़ने लगे। तब वैसा साधक अपने व्यक्तिगत व्यक्तित्व से ऊपर उठकर स्वय एक समाज, सगठन, सस्था या आन्दोलन का रूप ले लेता है, क्योंकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन मे समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुच जाता है जहा वह स्वहित को भी परहित मे विलीन कर देता है तथा सम्पूर्ण समाज मे सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बना रहने की बजाय तब समता का वाहक बन जाता है।

एक समतादर्शी साधक इन उच्चस्थ नियमो को अपने जीवन मे रमा ले · (अ) समस्त प्राणीवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना तथा आचरना एव समग्र आत्मीय शक्तियो के विकास मे अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी सामान्य विषमताभरी प्रवृतियो को भी त्यागते हुए अपना जीवनादर्श स्थापित करना एव सबमे समता पूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के विकास को बल देना। (ब) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि न अन्य प्राणियो के साथ और न स्वय के साथ जाने या अनजाने मे विश्वासघात की स्थिति पैदा हो। (स) जीवन क्रम के चौबीसो घटो मे समतामय भावना तथा आचरण का विवेकपूर्वक अभ्यास करना एव जो कुछ करता रहे उसकी नित्यप्रति विशुद्ध भाव से आत्मालोचना भी अवश्य करना। (द) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एव सहयोग रखते हुए दूसरो के सुख दु ख को अपना सुख दु ख समझना तथा पर दु ख निवारण की शुभता मे प्रवृत्त रहना। (य) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान मे रखकर चाहे राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र मे हो अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र मे —सदा आत्म बल के आधार पर अन्याय की शक्तियो से संघर्ष करना एव अहिसक असहयोग एव अहिसामय प्रयोग से सुधार लाने का प्रयास करते हुए समता के समस्त अवरोधो पर विजय प्राप्त करना। (र) चेतन व जड़ तत्त्वो के पृथकत्व को समझकर जड़ पदार्थों प्रर से ममत्व हटाना, सर्वत्र जड़ तत्त्वो की प्रधानता दूर करने मे सक्रिय योगदान करना तथा चेतना को स्व-धर्म मानकर उसकी विकासपूर्ण समता मे अपने समग्र जीवन को नियोजित कर देना। (ल) अपने जीवन मे और बाहर के वातावरण मे राग और द्वेष दोनो को संयमित करते हुए सर्व प्राणियो मे समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना तथा अपनी चिन्तन धारा मे उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता की अवाप्ति को जीवन की समस्त उपलब्धियो का सार समझकर उस दिशा मे एकनिष्ठा के साथ अग्रसर होते रहना।

समता साधना की इन तीनो श्रेणियो को इस रूप मे देखना और समझना चाहिये कि तीसरी श्रेणी का समुचित विकास साध लेने पर साधुत्व की स्थिति सन्निकट आ जाती है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ धर्म के सर्वोच्च विकास के रूप मे देख सकते है। ये जो तीनो श्रेणियो के नियम बताये गये है, इनके अनुरूप एक से दूसरी तथा दूसरी से तीसरी श्रेणी मे आगे बढ़ने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एव विवेक पूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सन्तुलित एव सयमित वनाते रहना चाहिये ताकि समता व्यक्ति के मन मे और समाज के जीवन मे चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर सके। यही आत्म कल्याण एव विश्व कल्याण का प्रेरक पाथेय है। समता साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एव अनुप्रेरक रूप देने की दृष्टि से एक समता समाज की स्थापना का निर्णय भी लिया जा सकता है तथा चाहे छोटे पैमाने से ही प्रारभ किया जाय—उसके नियमोपनियमो का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसा समता समाज सीमित सदस्यो के साथ ही भले प्रारभ किया जाय किन्तु उन सदस्यो को गहरे दायित्व भाव से अपनी प्रवृत्तियो का सचालन करना होगा। क्योकि वे समूचे समता दर्शन एव व्यवहार के ज्योतिधारक तथा सदेशवाहक होगे।

समता समाज की वैचारिक रूपरेखा

यह सत्य है कि किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल मे महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु उसे अधिक प्राभाविक, अधिक बोधगम्य तथा अधिक कार्यक्षम बनाने के लिये उसके बाह्य स्वरूप की रचना करनी होती है। अपनी गभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह

प्रेरणा एव अनुकरण का प्रतीक भी बन जाता है। अन्त करण मे जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ़ हो सकता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप मे बाहर प्रकट नही करे, उसकी विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता है। समता दर्शन के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी वाह्य प्रतीक निर्मित कर दिये जाय तो इसके प्रचार-प्रसार मे विशेष सुविधा होगी।

समता दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधको को एक सूत्र मे बाधने तथा बाधे रखकर प्रचार माध्यमो को सशक्त बनाने के लिये किसी सगठन की रचना की जाय तो समता अभियान का एकीकृत रूप बनेगा और साधक भी परस्पर के सम्पर्क से अभियान को विशेष सबल दे सकेगे। समता अभियान के ऐसे एकीकृत एव सगठित स्वरूप से अधिकाधिक जन समुदाय इसकी तरफ आकर्षित हो सकेगे तथा यथायोग्य रुचि लेना चाहेगे। एक प्रकार से समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का मूर्त रूप ऐसा समता समाज होना चाहिये जो समता मार्ग पर स्वस्थ एव स्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर अधिकाधिक लोगो को प्रभावित करे।

समाज मे वर्तमान अनेक सगठनो मे एक और सगठन की वृद्धि से क्या लाभ ? मानव समाज कई राष्ट्रो मे विभक्त होकर इतना विशाल समाज है कि एक ही वार मे उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहे तो वह एक कठिनतम कार्य होगा और महान् कार्य भी एक साथ नहीं साधा जा सकता है। इसी कारण क्रमवद्ध रूप से आगे बढ़ना होता है। समतामय जीवन प्रणाली की स्थापना का कार्य और वह भी आज की विषमतम परिस्थितियो मे अतीव दुरूह कार्य है। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे समता के विचार बिन्दुओं को हृदयगम कराने तथा उसके आचरण को व्यापक रूप से अमल मे लिवाने के लिये क्रमवद्ध कार्यक्रम सहित किसी जीवन्त सगठन का होना अत्यावश्यक है। सगठन की जीवन्तता उसके सदस्यो पर निर्भर करेगी, इसलिये समता समाज के सदस्य इच्छा और कर्मठ शक्ति के धनी होने चाहिये। उनका विचार पक्ष स्पष्ट होना चाहिये, हृदय पक्ष सत्य शोधक तथा आचरण पक्ष परम पुरुषार्थी। सदस्यो की कर्मठता पर ही समता समाज को प्राभाविक बनाया जा सकेगा।

समता समाज के इस रूप मे उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते है—(१) व्यक्तिगत रूप से समता-साधक को समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी की श्रेणियो मे साधनारत बनाना तथा उनके व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की दिशा मे उन्हे प्रगति कराना। (२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रो की विपमताओं से सघर्ष करना एव सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना। (३) व्यक्ति और समाज के हितो मे ऐसे तालमेल विठाना, जिससे दोनो पक्ष समतामय स्थिति वनाने मे एक दूसरे की पूरक शक्तियां वन सके—समाज व्यक्ति के लिये समतल धरातल वनावे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे। (४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एव वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छेड़कर स्वार्थो तथा विचारो के सघर्षो को रोकना तथा सामाजिक न्याय एव सत्य को सर्वोपरि महत्त्व देना। (५) स्थान-स्थान पर समता साधको को सगठित करके समाज की शाखाओं उपशाखाओं की स्थापना करना, सामान्य जन को समता का महत्त्व समझाने की दृष्टि से विविध सयत प्रवृत्तियो का सचालन करना एव सम्पूर्ण समता उत्क्रान्ति की दिशा मे सचेष्ट रहना।

यह समाज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, वर्ग या जाति समूह का नही होना चाहिये तथा न ही इसे किसी व्यक्ति विशेष से ही प्रभावित रखा जाना चाहिये। सच कहे तो यह सगठन सभी समता साधको का होगा जो समता के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षो के विचार तथा आचरण मे एकनिष्ठा रखते होगे एव सगठन को अपने प्राणपण से अभिवृद्ध बनायेगे। कर्मठ क्रियाशीलता ही सगठन की शक्ति होगी।

समता समाज के सगठन एव सचालन का कार्य गृहस्थो के अधीन ही रहे क्योंकि समता अभियान के प्रसार का मुख्य कार्य क्षेत्र भी तो मूल रूप मे सासारिक क्षेत्र ही होगा। सासारिक जीवन की विषमताओं के विरुद्ध ही इस संगठन को पहला मोर्चा साधना होगा और वहा की सफलता के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी कार्य का विस्तार हो सकेगा। यो साधको की साधना मुख्य रूप से समीक्षण ध्यान पद्धति पर आधारित होगी तथा उनकी व्यक्तिगत जीवन शैली अधिकाधिक आध्यात्मिक ही होगी। प्रारभ मे तो समता समाज का अपना विधान हो, उत्तरदायी पदाधिकारी हो तथा अभियान को फैलाते जाने की सुगठ योजना हो। अभियान मे ज्यो-ज्यो सफलता मिलती जावे, सगठन के कार्य एव क्षेत्र का विस्तार होता रहे।

समता समाज के सगठन के सम्वन्ध मे एक तथ्य सदा ध्यान मे रखा जावे कि यह सगठन अनेकानेक सगठनो की तरह नगण्य सगठन ही बनकर न रह जाय अथवा समग्र सामाजिक दृष्टिकोण से अलग-थलग न पड़ जाय। समता समाज का प्रारभ इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिये कि उसका उद्देश्य समूची मानव जाति मे समता स्थापित करना है। आरभ भले छोटे समुदाय से और छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक क्षेत्र मे होना चाहिये। यह विस्तार इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि सगठन सदा व्यापक जनहितो से जुड़ा रहता है और उसके सदस्य विशाल दृष्टिकोण, गहरी आस्था तथा अमित उत्साह से ओतप्रोत बने रहते है। किसी भी सगठन को जीवन्त बनाने के लिये उसमे जीवनी शक्ति लगानी पड़ती है तथा आत्मयोग देना पड़ता है।

समता की जय यात्रा

मशाल कुछ हाथ ही थामते है किन्तु उसकी रोशनी से अनेक चेहरो को वे रोशन बनाते है तो उन चेहरो को रोशनी की आब देकर उन हाथो को भी मशाले उठाने के लिये तैयार कर देते है। इसे ही एक बाती से दो और हजार बतिया जलाने की प्रक्रिया कहते है। प्रकाश-दान से प्रकाश विस्तार होता है, उसी तरह समता लेने और समता देने से समता का विस्तार और प्रसार होगा।

समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी के स्थूल चरणो मे समता का स्वरूप विकसित बनकर छ काय के रक्षक रूप मे परिणत हो सकेगा और तब तक समीक्षण ध्यान की साधना मे परिपक्वता प्राप्त कर लेगा। फिर समीक्षण ध्यान से समता की यात्रा समता की जय यात्रा के रूप मे चलेगी जो चौदह गुणस्थानो के सोपानो पर आरूढ़ होती हुई समदर्शिता के शिखर तक पहुच जायगी। इस जय यात्रा का समापन सिद्धावस्था मे शाश्वत आनन्द, अव्याबाध सुख एव अक्षय शान्ति के साथ होगा और यही जय यात्रा आत्म विकास की जय यात्रा वन जायगी जो सदा काल के लिये आत्मिक जय विजय का रूप ले लेगी।